ॐ

सर्वज्ञ वीतरागाय नमः

गुरु कहान : दृष्टि महान

(भाग-८)

आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
द्रव्यदृष्टि प्रधान आध्यात्मिक प्रवचन

: गुजराती संकलन :

जीतुभाई नागरदास मोदी

प्रशम जीतुभाई मोदी

सोनगढ़

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान मोक्षार्थी परिवार

सोनगढ़, जिला-भावनगर (गुजरात)

मोबा. 09722833143

प्रथम आवृत्ति : प्रति 1000

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
2. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.) फोन : 09997996346, 2410010/11
3. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
4. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
5. **चिन्तन जीतुभाई मोदी,** क्रमबद्ध निवास, 45 कहान नगर सोसाइटी, सोनगढ़ - 364250 (सौराष्ट्र)
   मोबा : 09662524460
6. **पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन**
   द्वारा मुकेश आयरन स्टोर, गुरु कहान मार्केट, बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)
   मोबा : 09461768086
7. **श्री प्रदीप मानोरिया,** मिल रोड, अशोकनगर, (म.प्र.), मोबा : 09425132060
8. **श्री दिगम्बर जैन कुन्दकुन्द परमागम ट्रस्ट,**
   पंच बालयति जिनालय, एरोड्रम रोड, साधनानगर, इन्दौर (म.प्र.)
9. **श्री अश्विनभाई ए. शाह,**
   बी-21, रुस्तमजी आदर्श हेरीटेज ऑफ मार्वे रोड,
   आदर्श काम्पलेक्स विहार, मलाड (वेस्ट) मुम्बई-64 , मोबा : 09820124378

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

प्रकाशकीय

तीर्थंकरदेव का जन्म जगत के कल्याण के लिये होता है, इसी प्रकार अनन्त-अनन्त उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का जन्म, इस निकृष्ट काल में यहाँ जन्मे हुए और भविष्य में भी यहाँ जन्म लेनेवाले अल्प संसारी जीवों को भाग्यशाली बनाने के लिये तथा उन्हें संसार-समुद्र से पार उतारने के लिये हुआ था। अन्तिम सैंकड़ों वर्षों का जैन इतिहास कहता है कि भव्य जीवों के तारणहार ऐसे महान सन्त यदि कोई हुए हों तो उनमें कृपासिन्धु पूज्य गुरुदेवश्री ही प्रधान पुरुष हैं। उन्होंने इस भौतिक युग को अध्यात्मयुग में परिवर्तित करके पंचम काल के अन्त तक टिका रहे - ऐसा अध्यात्मयुग सृजित किया है।

ऐसे अध्यात्मयुगसृष्टा, अध्यात्म क्रान्तिवीर पूज्य गुरुदेवश्री की 45-45 वर्ष प्रवाहित अध्यात्म गंगा का अमृतपान करनेवाले महान भाग्यशाली भव्य मुमुक्षुओं को तो उनके द्वारा प्ररूपित तत्त्वज्ञान के अभ्यास द्वारा आज भी पूज्य गुरुदेवश्री साक्षात्रूप से अनुभव में आ रहे हैं, परन्तु उनके दर्शन-श्रवण और सत्संग का जिन्हें साक्षात् लाभ प्राप्त नहीं हुआ, ऐसे भव्य जीवों को, इन महापुरुष ने जो द्रव्यदृष्टि प्रधान दिव्यदेशना का प्रपात बहाया, उसका साक्षात्वत् लाभ मिले, वह इस **गुरु कहान : दृष्टि महान** के प्रकाशन का हेतु है।

यह जीव अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक तक जा आया, अनन्त बार नग्न दिगम्बर द्रव्यलिंग धारण किया, अनन्त बार समवसरण में जा आया, तथापि कोरा रह गया, उसका मुख्य कारण यदि कोई हो तो वह एक ही है कि द्रव्यदृष्टि प्रधान देशना को इस जीव ने कभी ग्रहण नहीं किया—ऐसा पूज्य गुरुदेवश्री करुणा से बारम्बार कहते थे और इसीलिए उस द्रव्यदृष्टि प्रधान देशना का उन्होंने जीवनपर्यन्त प्रपात बहाया है। पूज्य बहिनश्री भी कहती थीं कि 'मानो कोई बड़े आचार्य उपदेश देते हों, वैसे दृष्टि के विषय का अपूर्व स्पष्टीकरण होता था' ....'दृष्टि का विषय आवे, तब उछल जाते थे।' यद्यपि उनकी सर्वांगी उपदेश गंगा में न्यूनाधिक योग्यतावाले सर्व जीवों को आत्म-लाभ हो, ऐसा निश्चय-व्यवहार का सम्पूर्ण उपदेश बोध बहा है। मुमुक्षु की पात्रता कैसी हो, अशुभ से बचने को शुभ में जुड़ान कैसा हो, इत्यादि उपदेश देने पर भी कहीं किसी को मुख्यता न हो जाये तथा उसमें जोर दिये बिना उस व्यवहारमार्ग प्रकाशन के साथ मुख्यरूप से तो द्रव्यदृष्टि मार्ग प्रकाशक निश्चय की ही मूसलाधार वर्षा की है। जिससे भद्र जीव अनादि के संस्कारवश मन्दकषाय आदि व्यवहारमार्ग में न अटककर, निश्चयमोक्षमार्ग को यथार्थ समझकर उसका ही ग्रहण करके यह भव सफल करने के लिये स्वानुभूति का सत्पुरुषार्थ अपनायें।

पूज्य गुरुदेवश्री ने अध्यात्मयुग का सृजन किया ही है परन्तु बहुत स्पष्ट कहें तो वस्तुत: वे द्रव्यदृष्टि प्रधान अध्यात्मयुग के सर्जक हैं क्योंकि जिस द्रव्यदृष्टि प्रधान निश्चय के बोध से जीव निश्चयाभास के डर से भयभीत होते थे, उसके बदले आपश्री के प्रताप से भव्यजीव दिन-रात उस निश्चय का घोलन, चिन्तन श्रवण करने में ही जीवन की धन्यता अनुभव करते हैं।

द्रव्यदृष्टि प्रधान अध्यात्मयुग के सर्जक पूज्य गुरुदेवश्री की उपदेश अमृत वाणी को श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट के तत्कालीन प्रमुख श्री नवनीतभाई झवेरी की दीर्घदृष्टि से टेप में संगृहित करके चिरकालपर्यन्त सुरक्षित बनायी तथा लगभग 9000 घण्टे की इस गुरुवाणी को स्वर्गीय श्री शान्तिलाल रतिलाल शाह परिवार ने अद्यतन टेक्नोलॉजी द्वारा मात्र 16 डीवीडी में तथा तीन वीडी (Blueray Disk) में (जनवरी 2010 तक में) प्रसिद्ध करके मुमुक्षु जगत पर परम उपकार किया है, जिस कारण भावी के भव्य जीव भी आत्महित के मार्ग में सरलरूप से प्रयाण कर सकेंगे। ऐसे होने पर भी, पंचम काल के प्रभाववश कितने ही तत्त्व के अभ्यासियों द्वारा द्रव्यदृष्टि प्रधान तत्त्वज्ञान के पुरुषार्थ में भय प्रकाशन करते देखकर पूज्य गुरुदेवश्री के 9000 टेप प्रवचनों में से द्रव्यदृष्टि प्रधान विशेष पुरुषार्थ प्रेरणादायक प्रवचन चुन-चुनकर **गुरु कहान : दृष्टि महान** रूप से सीडी प्रवचन मुमुक्षु समाज को उपलब्ध कराने की हमें भावना जागृत होने से हमने भाग 1 से 11 तक प्रसिद्ध किया, जिसका श्रवणपान करते हुए गुरु-भक्तों का ध्यान गया कि सीडी प्रवचन का श्रवण करते समय हाथ में अक्षरश: गुरुवाणी की पुस्तक हो तो प्रवचन का भाव विशेषरूप से समझना सरल बने। इसलिए गुरु भक्तों की भावना को साकार करने का निर्णय किया और हिन्दी भाषी समाज भी इन प्रवचनों का लाभ ले, इस भावना से एक मुमुक्षु परिवार द्वारा इस प्रकल्प की आठवीं पुस्तक प्रकाशित हो रही है। मुमुक्षु परिवार की अनिच्छा के कारण उनका नाम प्रसिद्ध नहीं किया जा रहा है।

इस पुस्तक प्रकाशन के दो मुख्य प्रयोजन हैं - (1) जिन्हें करुणासागर गुरुदेवश्री के प्रत्यक्ष दर्शन-श्रवण का लाभ नहीं मिला, ऐसे भव्य जीवों को गुरुदेवश्री के द्रव्यदृष्टि प्रधान अन्त:करण समझने का सौभाग्य प्राप्त हो तथा (2) पंचम काल के प्रभाव में आकर प्रमाण के लोभ में अटककर द्रव्यदृष्टि के मार्ग में नि:शंकरूप से प्रयाण करने में हिचकिचाहट न हो, इस प्रकार पूज्य गुरुदेवश्री की भव्य जीवों को संसार-समुद्र से उभर लेने की करुणा सफलता को प्राप्त हो।

अन्त में, पूज्य गुरुदेवश्री 91 वर्ष की उम्र में भी जिस द्रव्यदृष्टि की प्ररूपणा करते हुए अन्दर से उछल पड़ते थे उस द्रव्यदृष्टि प्रधान उपदेश को **गुरु कहान : दृष्टि महान** के माध्यम से शीघ्र ग्रहण करके भावी अनन्त काल गुरु के सान्निध्य को प्राप्त करे - ऐसी भावना के साथ....

संकलनकार / अनुवादक

अर्पण

जो वर्तमान युग में क्रमबद्धपर्याय का शंखनाद करनेवाले के रूप में जैन जगत् में प्रसिद्ध हैं; जो जैन जगत् में समयसार के प्रखर प्रचारक के रूप में मशहूर हैं; जो द्रव्यदृष्टि प्रधान अध्यात्मयुग के सर्जनहार हैं; जिन्होंने शास्त्रों के शब्दों में छिपे हुए आचार्यों के गूढ़ भावों को खोलने की अद्‌भुत शक्ति द्वारा भव्य जीवों पर वचनातीत परम उपकार किया है; जिनकी शीतल छत्रछाया में जीवन व्यतीत करने का परम सौभाग्य हमारे पिताश्री को प्राप्त हुआ था, उन असीम करुणासागर, पुरुषार्थप्रेरणामूर्ति धर्मपिता पूज्य गुरुदेवश्री को, उनके ही द्रव्यदृष्टि प्रधान आध्यात्मिक प्रवचनों के अमूल्य खजाने में से चुने हुए 25 प्रवचनों के संकलनरूप यह **'गुरु कहान : दृष्टि महान'** भाग-८ अर्पण करते हुए हम जीवन की धन्यता अनुभव कर रहे हैं।

– संकलनकार

श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृतने पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।

श्री सद्‌गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्‌घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्म युगस्त्रष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(सम्पूर्ण जीवनदर्शन, संक्षिप्त में)

ऐवा ए कलिकालमां जगतनां कंई पुण्य बाकी हतां,
जिज्ञासु हृदयो हतां तलसतां सद्वस्तुने भेटवा;
ऐवा कंईक प्रभावथी गगनथी ओ कहान! तुं ऊतरे,
अंधारे डूबतां अखंड सत्ने तुं प्राणवंतुं करे।

वर्तमान चौबीसी के प्रथम तीर्थंकरदेव के पूर्व के भोगभूमि के एक भव में, सम्यक्त्वप्राप्ति की इनकी काललब्धि पकने पर आकाश में से दो-दो मुनिराज उतरते हैं। अन्तिम तीर्थंकरदेव के पूर्व के सिंह के भव में, सम्यक्त्वप्राप्ति की उनकी काललब्धि पकने पर, आकाश में से दो-दो मुनिराज घोर जंगल में उतरते हैं। उपादान तैयार होने पर मानो कि निमित्त को स्वयं उपस्थित होना पड़ता है-इस न्याय से, लाखों भव्य जीवों की तत्त्वजिज्ञासा-तृप्ति का काल पकने पर, सीमन्धर सभा में देशना का श्रवण-पान करके स्वर्ग जाने को सक्षम ऐसे राजकुमार का जीव, मानो कि भवीजन भाग्यवश अपना मार्ग बदलकर गगन में से यहाँ भरतभूमि में उतरा!

भगवान श्री महावीरस्वामी द्वारा समुपदिष्ठ तथा आचार्य शिरोमणि श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव तथा श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव आदि निर्ग्रन्थ दिगम्बर सन्तों द्वारा शास्त्र में सुरक्षित वीतरागमार्ग जब रूढ़िगत साम्प्रदायिकता की देहाश्रित बाह्यक्रिया और अध्यात्म तत्त्वज्ञान शून्य भक्तिमार्ग के अन्धकार में डूब रहा था, ऐसे इस कलिकाल में वीतरागमार्ग के अखण्ड सत् को प्रवर्तन करने के लिये भारतदेश के गुजरात राज्य में भावनगर जिला के उमराला गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा के गर्भ से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज दिनांक 21-04-1890, रविवार को प्रात: सबेरे तेजस्वी कहान सूर्य का उदय हुआ।

सात वर्ष की उम्र में पाठशाला में लौकिक शिक्षा ग्रहण करना शुरु किया। प्रत्येक वस्तु के हार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि प्रतिभा, मधुर भाषीपना, शान्तस्वभाव, गम्भीर मुखमुद्रा तथा स्वयं करने का स्वभाव होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों में तथा विद्यार्थियों में प्रिय हो गये। विद्यालय में तथा जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था परन्तु विद्यालय के लौकिक अभ्यास से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ और गहरे-गहरे ऐसा लगता था कि मैं जिसकी शोध में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में मातुश्री के अवसान से पिताजी के साथ पालेज जाना हुआ। चार वर्ष पश्चात् पिताजी का स्वर्गवास होने पर सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यापार में संलग्न हुए।

व्यापार की प्रवृत्ति के समय भी वे किंचित् भी अप्रमाणिकता चला नहीं लेते थे। सत्यनिष्ठ, नीतिमत्ता, निखालिसता, और निर्दोषता से उनका व्यवहारिक जीवन सुगन्धित था; इसके साथ ही उनका

आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध की ओर ही था। दुकान में भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते। वैरागीचित्तवाले कहान कुँवर रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते, तब उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते, जिसके फलस्वरूप सत्रह वर्ष की उम्र में उज्ज्वल भविष्य की सूचना करता बारह लाईन का काव्य — 'शिवरमणी रमनार तुं, तुं ही देवनो देव' की रचना की थी।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि के आहार-पानी तथा अथाणा (अचार) का त्याग किया था। सत्य की शोध के लिये दीक्षा लेने के भाव से बाईस वर्ष की युवावय से दुकान का परित्याग किया और गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत अंगीकार किया था। पश्चात् चौबीस वर्ष की उम्र में (विक्रम संवत् 1970) जन्मनगरी उमराला में लगभग 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय के वैरागी साधु हीराजी महाराज के समीप दीक्षा अंगीकार की थी। दीक्षा के समय हाथी पर बैठने जाते हुए धोती फटने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक गुरुवर को शंका हो जाती है कि कुछ गलत हो रहा है।

दीक्षा लेने के पश्चात् सत्य के शोधक इस महात्मा ने स्थानकवासी तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में ही पूरा किया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चाएँ चलीं—कर्म है तो विकार होता है न? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र तो प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व के संस्कार के बल से उन्होंने दृढ़तापूर्वक सिंह-गर्जना की कि 'जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म और पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुलटे पुरुषार्थ से नाश करता है।'

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन उद्धार का और लाखों मुमुक्षुओं के महान् पुण्योदय सूचक एक मंगलकारी पवित्र प्रसंग बना :

बत्तीस वर्ष की उम्र में विधि की किसी धन्य पल में दामनगर में दामोदर सेठ द्वारा श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित समयसार नामक महान परमागम, गुरुदेवश्री के कर-कमल में आया और उसका अध्ययन तथा चिन्तवन करते-करते पूर्व के संस्कार के बल से अन्तर में आनन्द और उल्लास उमड़ने से इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — 'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।' इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी हुई परिणति ने निज घर देखा अर्थात् आपश्री को वैशाख कृष्ण आठ के दिन सम्यग्दर्शन हुआ।

विक्रम संवत् 1982 के चातुर्मास से पूर्व राजकोट में श्री दामोदरभाई लाखाणी ने मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ पूज्य गुरुदेवश्री को प्रदान किया। जिसे पढ़ने से स्वयं के हृदय की अनेक बातों का समर्थन इस ग्रन्थ में से प्राप्त हो जाने से वे उसके वाँचन में इतने ओतप्रोत हो जाते थे कि उस समय उन्हें खाना-पीना और सोना भी नहीं रुचता था। तत्पश्चात् अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेश कुछ ऐसी स्थिति उन्हें असह्य हो गयी; इसलिए अन्तर में बहुत मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय छोड़ने का निर्णय किया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थल की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में 1991 के फाल्गुन कृष्ण पंचमी के दिन निवास किया और महावीर जन्मकल्याणक के दिन (विक्रम संवत् 1991, चैत्र शुक्ल तेरह) दोपहर सवा बजे भगवान पार्श्वनाथ के फोटो के समक्ष सम्प्रदाय के चिह्न मुँहपत्ती का त्याग किया और घोषित किया कि — 'अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं, मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।' सिंह समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने, पैंतालीस वर्ष की उम्र में अन्तर में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

'स्टार ऑफ इण्डिया' में सवा तीन वर्ष दौरान जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान अत्यन्त छोटा पड़ने लगा; इसलिए भक्तों ने इन परम प्रतापी सत्‌पुरुष के लिये निवास और प्रवचन का मकान 'श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने विक्रम संवत् 1994 के वैशाख कृष्ण आठ के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह 'स्वाध्यायमन्दिर' जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीर शासन की प्रभावना का केन्द्र बना रहा।

यहाँ दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे-बड़े लगभग 183 ग्रन्थों का गहराई से अभ्यास किया। उनमें से 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये; जिसमें समयसार पर तो 19 बार अध्यात्म वर्षा की थी। प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय संग्रह, अष्टपाहुड, परमात्मप्रकाश, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी अनेक बार प्रवचन किये।

विक्रम संवत् 1981 में गडढ़ा में पन्द्रह वर्ष की उम्र में पूज्य शान्ताबेन को पूज्य गुरुदेवश्री के प्रथम दर्शन और प्रवचन श्रवण का लाभ प्राप्त हुआ। विक्रम संवत् 1985 में वढ़वाण में पन्द्रह वर्ष की उम्र में पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन को पूज्य गुरुदेवश्री के प्रथम दर्शन और प्रवचन श्रवण का लाभ प्राप्त हुआ। विक्रम संवत् 1986 में वींछिया में पूज्य गुरुदेवश्री के दर्शन और प्रवचन श्रवण के लिये दोनों बहिनों को जाना होने पर वहाँ प्रथम बार दोनों बहिनों का परिचय हुआ। पूज्य गुरुदेवश्री ने परिवर्तन करने के पश्चात् सोनगढ़ में दोनों बहिनों ने साथ में रहना शुरु करके जीवनपर्यन्त साथ रहकर पूज्य गुरुदेवश्री की देशना द्वारा अपनी-अपनी आत्मसाधना करते रहकर शासन की अत्यन्त भक्तिपूर्वक सेवा की थी। गुरुशासन-प्रभावना में दोनों बहिनों का उल्लेखनीय विशेष योगदान रहा था।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 के फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन श्री नानालालभाई इत्यादि जसाणी भाईयों के योगदान द्वारा नवनिर्मित श्री दिगम्बर जिन मन्दिर में कहानगुरु के मंगल हस्त से श्री सीमन्धरादि भगवन्तों की पंचकल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर जिन मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही देखने को मिलते थे। ऐसे क्षेत्र में गुरुदेवश्री की पावन प्रेरणा से प्रथम जिन मन्दिर निर्मित हुआ। प्रतिदिन दोपहर प्रवचन के पश्चात् जिन मन्दिर में

आधे घण्टे भक्ति में जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे। बहुत बार आपश्री अति भाववाही भक्तिपान कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धिपूर्वक का था।

विक्रम संवत् 1997 में दिगम्बर जैन समाज के तत्कालीन प्रमुख दिगम्बर जैनाचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज, श्री शत्रुंजय सिद्धक्षेत्र की यात्रा करके सोनगढ़ पधारे; पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन सुनकर तथा तत्त्वचर्चा करके इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने गुरुदेवश्री को लक्ष्य करके कहा कि — 'तीर्थंकर अकेले मोक्ष नहीं जाते; यहाँ कुछ ऐसा योग है-ऐसा हमें लगता है।'—अर्थात् पूज्य गुरुदेवश्री भविष्य में तीर्थंकर होंगे—ऐसा दिगम्बर जैन समाज के प्रमुख आचार्य को लगा था।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों-मुनिवरों तथा आत्मानुभवी पण्डितवर्यों के ग्रन्थों, पण्डित श्री हिम्मतभाई जे. शाह के गुजराती में अनुवादित श्री समयसारादि परमागम और पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर प्रवचनों की पुस्तकें प्रकाशित करने का कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943) से शुरु हुआ। उस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहरा रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने हम सब पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश देश-विदेश के समस्त मुमुक्षुओं को नियमित प्राप्त होता रहे, इस हेतु से सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के मगसर (दिसम्बर 1943) महीने से 'आत्मधर्म' नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट के स्थापक आध्यप्रमुख मुरब्बी श्री रामजीभाई माणेकचन्द दोशी के सम्पादन तले प्रारम्भ हुआ। आज भी आत्मधर्म गुजराती तथा हिन्दी भाषा में नियमितरूप से प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्ध करता हुआ 'श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद' सितम्बर 1950 से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभूतिविभूषित इन चैतन्य विहारी महापुरुष की मंगल वाणी पढ़कर तथा सुनकर हजारों स्थानकवासी, श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैन धर्म के अनुयायी हुए। अरे... मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का सिंचन हो इस हेतु से सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वी सन् 1941) के मई महीने से गर्मी का बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षणवर्ग शुरु हुआ। बड़ों के लिये प्रौढ़ शिक्षणवर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने में प्रारम्भ किया गया था।

पूज्य गुरुदेवश्री की देशना का सामर्थ्य प्रसिद्ध करता एक प्रसंग ईस्वी सन् 1946 में बना। अजमेर निवासी श्री निहालचन्द्रभाई सोगानी सोनगढ़ आये और प्रथम बार ही पूज्य गुरुदेवश्री के दर्शन का लाभ सम्प्राप्त हुआ। पूज्य गुरुदेवश्री का एक ही प्रवचन सुनकर रात भर आत्म मन्थन करते-करते प्रातः काल

अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव प्राप्त करके जैन जगत को प्रतीति करायी कि यदि तुम्हारा पुरुषार्थ और गुरु के प्रति अर्पणता गाढ़ हो तो इन महापुरुष की देशना इतनी प्रखर है कि इनका एक ही प्रवचन-श्रवण भव्यजीवों के भवान्त का प्रबल निमित्त बनने की सामर्थ्य रखता है।

विक्रम संवत् 2003 में निर्मित भगवान श्री कुन्दकुन्द प्रवचनमण्डप के शिलान्यास प्रसंग पर इन्दौर के सर सेठ हुकमचन्दजी, पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति अत्यन्त अहोभाव से बोले थे कि 'आपके पास मोक्ष जाने का सीधा रास्ता है।'

विक्रम संवत् 2003 में पूज्य गुरुदेवश्री की मंगल छत्रछाया में 'भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद' का तीसरा अधिवेशन पण्डित श्री कैलाशचन्द्रजी (बनारस) की अध्यक्षता में आयोजित किया गया था, जिसमें दिगम्बर जैन समाज के सुप्रसिद्ध बत्तीस विद्वानों ने लाभ लिया था। पूज्य गुरुदेवश्री की देशना से प्रभावित होकर उन्होंने सर्व सम्मति से एक विशाल प्रस्ताव पारित किया था जिसमें स्पष्टरूप से उल्लेख किया गया कि '....भगवान कुन्दकुन्द की वाणी समझकर महाराजश्री ने मात्र स्वयं को ही पहचान है—ऐसा नहीं परन्तु हजारों-लाखों मनुष्यों को एक जीवन उद्धार के सत्यमार्ग पर चलने का उपाय दर्शा दिया है.....'

दिगम्बर जैन समाज के मूर्धन्य पण्डितश्री कैलाशचन्द्रजी ने अपनी पत्रिका के सम्पादकीय लेख में पूज्य गुरुदेवश्री की विशेषता दर्शाते हुए लिखा कि यदि कानजीस्वामी इस युग में न हुए होते तो हमारे लिये समयसार ग्रन्थ मात्र दर्शनीय रह जाता अर्थात् पूज्य गुरुदेवश्री के कारण समयसार जैसे ग्रन्थ का स्वयं को अभ्यास करने का सुयोग प्राप्त हुआ था। फिर से उसी पत्रिका के सम्पादकीय लेख में पूज्य गुरुदेवश्री का दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा कि कानजीस्वामी निमित्त को नहीं मानते, ऐसा नहीं है लेकिन वे निमित्त से कुछ नहीं होता है - ऐसा मानते हैं। इस प्रकार मूल दिगम्बर सम्प्रदाय में भी समयसार स्वाध्याय युग सृजक पूज्य गुरुदेवश्री की प्रतिभा प्रसिद्धि को प्राप्त हुई थी।

लाडनूँ निवासी श्री रतनलाल गंगवाल के पिताश्री बच्छराजजी, पूज्य गुरुदेवश्री की महिमा सुनकर सोनगढ़ आये; अत्यन्त प्रभावित होकर उन्होंने पूज्य बहिनश्री बेन की छत्रछाया में बालब्रह्मचारी बहिनों के आवास के लिये 'श्री गोगीदेवी दिगम्बर जैन श्राविका ब्रह्मचर्याश्रम' का विक्रम संवत् 2008 में निर्माण किया।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित श्री समयसारादि पाँचों परमागम संगमरमर में उत्कीर्ण करके 'श्री महावीर कुन्दकुन्द परमागममन्दिर' का उद्घाटन विक्रम संवत् 2030 में सोनगढ़ में छब्बीस हजार भक्तों की उपस्थिति में श्री साहू शान्तिप्रसादजी के हस्त से हुआ था।

ट्रस्टी श्री नेमिचन्दजी पाटनी (आगरा) के सफल संचालन में श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त विक्रम संवत् 2013 (ईस्वी सन् 1957) तथा विक्रम संवत् 2023 (ईस्वी सन् 1967) में — इस

तरह दो बार समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मंगल विहार हुआ था। इसी प्रकार विक्रम संवत् 2015 (ईस्वी सन् 1959) और विक्रम संवत् 2020 (ईस्वी सन् 1964) में — इस तरह दो बार दक्षिण और मध्य भारत में मंगल विहार हुआ था। इस मंगल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासु जीवों ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये और आपश्री की भवान्तकारी अमृतमयी वाणी सुनकर अनेक भव्यजीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। फलस्वरूप भारत भर में महती धर्म प्रभावना हुई और सोनगढ़ के इन सन्त के प्रति लोगों में श्रद्धाभक्ति का उत्साह जागृत हो उठा। यात्रा के दौरान अनेक स्थानों से लगभग 80 अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये।

पौने छह महीने की 800 मुमुक्षु यात्रियों के साथ निकली हुई विक्रम संवत् 2013 की श्री सम्मेदशिखरजी की प्रथम यात्रा के समय ईसरी आश्रम में दिगम्बर जैन समाज के अनेक प्रसिद्ध विद्वानों की उपस्थिति में क्षुल्लक श्री गणेशप्रसादजी वर्णीजी के साथ पूज्य गुरुदेवश्री की वात्सल्यता भरी बातचीत हुई; तब वर्णीजी ने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा कि 'स्वामीजी की प्रसन्न मुद्रा मुझे बहुत पसन्द आयी और मुझे ऐसा लगा कि इस आत्मा के द्वारा समाज का कल्याण होगा।' तत्पश्चात् मधुवन (शिखरजी) में अनेक दिगम्बर मुनियों, विद्वानों, वर्णीजी सहित अनेक त्यागियों और पाँच हजार से अधिक श्रोतागण के समक्ष पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन हुआ। पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन श्रवण से प्रभावित होकर सैकड़ों पण्डितों के विद्यापति पण्डित बंशीधरजी (इन्दौर) ने हिम्मतपूर्वक स्पष्ट प्रसिद्ध किया कि '.....आपकी वाणी में तीर्थंकरों का और कुन्दकुन्दस्वामी का ही हृदय है।' भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद के अध्यक्ष पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री, पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन-सत्समागम से इतने अधिक प्रभावित हुए कि वे अपनी रूढ़िगत मान्यता छोड़कर पूज्य गुरुदेवश्री के अनुयायी बन गये।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले तथा कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों का रहस्योद्घाटन करनेवाले इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को श्री नवनीतभाई झबेरी की दीर्घ दृष्टि के कारण श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट द्वारा ईस्वी सन् 1959 से नवम्बर 1980 तक टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षितरूप से उपलब्ध हैं। पूज्य गुरुदेवश्री की मंगल उपस्थिति में ही भारत भर में-विशेषरूप से हिन्दी समाज में तथा नैरोबी, लन्दन, स्वीटजरलैण्ड, हांगकांग, अमेरिका, केनाड़ा आदि विदेशों में अगणित संख्या में टेप रील तथा कैसेटों से ट्रस्ट के कैसेट विभाग द्वारा पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों का मुमुक्षुओं ने लाभ प्राप्त किया था। हाल में सी.डी. युग शुरु होने पर स्वर्गीय शान्तिलाल रतिलाल शाह के परिवार द्वारा यह मंगलवाणी देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है, यह ऐसा प्रसिद्ध करती है कि भरतक्षेत्र के भव्य जीवों को पंचम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

दशलक्षण पर्यूषण पर्व के दौरान भारतभर में अनेक स्थलों से पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्ररूपित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिये प्रवचनकार भेजे जाते हैं। पर्यूषण में सर्व प्रथम बाहर गाँव-राजधानी दिल्ली में-वाँचन करने के लिये सोनगढ़ से खीमचन्दभाई सेठ गये थे। वे तथा श्री लालचन्दभाई मोदी (राजकोट) और श्री जुगलकिशोरजी 'युगल' (कोटा), पूज्य गुरुदेवश्री की सूक्ष्म तत्त्व प्ररूपणा का प्रचार करनेवाले अग्रेसर वक्ताओं में थे / हैं। प्रवचनकारों को भेजने की इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में जागृति आयी थी और आज भी देश-विदेश में पर्यूषण पर्व में सैंकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतराग वाणी का डंका बजाते हैं। डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल के निर्देशन में नये-नये विद्वान तैयार करने के लिये श्री पूरणचन्दजी गोदिका द्वारा आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमलजी की स्मृतिरूप से जयपुर में श्री टोडरमल स्मारक भवन का ईस्वी सन् 1967 में निर्माण हुआ, जिसका उद्घाटन पूज्य गुरुदेवश्री की मंगल उपस्थिति में आपश्री के आशीर्वाद से हुआ था। नये प्रवचनकार विद्वानों को प्रवचन पद्धति के लिये प्रशिक्षित करने के लिये प्रतिवर्ष प्रशिक्षण वर्ग जयपुर से प्रारम्भ किया गया था। उत्तर गुजरात तथा हिन्दी प्रान्त में पूज्य गुरुदेवश्री ने प्ररूपित तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में पण्डित श्री बाबूभाई फतेपुरवाले का विशेष योगदान रहा था।

भगवान श्री महावीरस्वामी के पश्चात् इस युग में जब बौद्ध सम्प्रदाय का बहुत प्रभाव था, तब समर्थ आचार्यश्री अकलंकदेव ने तत्कालीन प्रमुख बौद्ध आचार्य के साथ वाद-विवाद करके उनकी पराजय करने से जैन समाज में जय-जयकार हुआ था; इसी प्रकार अक्टूबर 1963 में खानियां (जयपुर) में दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के प्रखर पण्डितों और कानजीस्वामी के अनुयायीरूप से प्रसिद्ध पण्डित श्री फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री के बीच कितने ही दिनों तक लिखित प्रश्नोत्तर द्वारा तत्त्वचर्चा होने पर, पण्डित श्री फूलचन्दजी द्वारा उन पण्डितों की रूढ़िगत मान्यताओं का शास्त्रों के आधार द्वारा पराजय होने से पूज्य गुरुदेवश्री ने अत्यन्त भावविभोर होकर जैनदर्शन के सत्यमार्ग की विजय सम्बन्धी पण्डित फूलचन्दजी के लिये अत्यन्त प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा था कि — पण्डित फूलचन्दजी ने बहुत काम किया है, बहुत मेहनत की है। शास्त्र से आधार देकर बराबर सच्ची श्रद्धा को टिका रखा है। ऐसा यह एक पण्डित निकला! शास्त्र के पण्डितरूप से पढ़कर स्व-आश्रय और पर-आश्रय इस बोल को टिका रखा; बहुत जोरदार बात है। हजारों बोल ओहो...हो... ! बहुत ज्ञान है। अभी चलता यह पन्थ-विपन्थ, उसमें यह बात बाहर रखना! बहुत हिम्मत की है। इस ऐतिहासिक प्रसंग में पूज्य गुरुदेवश्री की अत्यन्त भावविभोर प्रसन्न मुखमुद्रा देखकर भक्त रोमांचित हो गये थे।

जन्म-मरण से रहित होने के सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्य विहारी पुरुष के मंगलकारी जन्मोत्सव मनाने की शुरुआत 59 वें वर्ष से हुई। 75 वीं हीरक जयन्ती के प्रसंग पर समस्त भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित 800 पृष्ठ का एक सजिल्द अभिनन्दन ग्रन्थ इन भावी तीर्थाधिनाथ को भारत

सरकार के तत्कालीन मन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में मुम्बई में अर्पण हुआ था। योगानुयोग थोड़े ही दिनों में वे भारत के प्रधानमन्त्री बने थे।

विक्रम संवत् 2037 के कार्तिक कृष्ण सात, दिनांक 28-11-1980, शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष देहादि का लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तर्ध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज ज्ञायक में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने भरतक्षेत्र में से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। जैसे नव पल्लवित वटवृक्ष शुरुआत में स्वयं अपनी विशालता को समृद्ध करता हुआ विशालकाय बन जाने के बाद, उसमें से अनेक वटवृक्षों का नवसृजन करता है, इसी प्रकार सोनगढ़ के इन सन्त ने शुरुआत में स्वयंभूरूप से अध्यात्मयुग का नवसृजन किया और उनकी विशाल प्रभावना छाया में देश-विदेश में—जयपुर, देवलाली, अलीगढ़, दिल्ली, गाँधीनगर, सोनागिर, बांसवाड़ा, इन्दौर, द्रोणागिर, नागपुर, गजपंथा, कोटा इत्यादि तथा नैरोबी, लन्दन, अमेरिका इत्यादि क्षेत्रों में-स्थापित संस्थाओं द्वारा आपश्री ने प्ररूपित तत्त्वज्ञान के प्रचार द्वारा आपश्री द्वारा नवसृजित अध्यात्मयुग को युग के अन्त तक टिका रखने का भी आपके पुण्य प्रताप से बना है। इस प्रकार आपश्री वीतरागी शासन को प्राणवन्त करते गये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग के एक महान और असाधारण व्यक्ति थे। उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से बहुत दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से आत्मसात भी किया।

श्री वीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् इन धारावाही 45 वर्षों का समय (वीर संवत् 2061 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980।) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्ण काल था। जो कोई मुमुक्षु अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी जाते थे, उन्हें तो वहाँ चतुर्थकाल का ही अनुभव होता था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वी सन् 1980 दौरान पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के निर्देशन में तथा पूज्य शान्ताबेन के भक्ति उल्लासपूर्ण संचालन में सौराष्ट्र-गुजरात उपरान्त भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में-इस प्रकार कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मंगल प्रतिष्ठा इन धर्मयुगस्त्रष्टा सत्पुरुष के करकमल द्वारा हुई थी।

आपश्री की अध्यात्मदेशना के प्रभाव से श्री सीमन्धरस्वामी दिगम्बर जिनमन्दिर, श्री समवसरण मन्दिर, श्री मानस्तम्भजी, श्री महावीर कुन्दकुन्द परमागममन्दिर, श्री पंचमेरु-नन्दिश्वर जिनालय जैसे जिनायतनों के निर्माण से आज स्वर्णपुरी जैनजगत में आत्मसाधना का तीर्थधाम बन गया है और निकट भविष्य में 41 फीट की भगवान श्री बाहुबली के खड्गासन जिनबिम्ब की तथा जम्बूद्वीप के अनेक जिनबिम्बों की स्थापना होने पर पूज्य गुरुदेवश्री की साधनाभूमि स्वर्णपुरी आकर्षक अजायबीरूप से विश्व के नक्शे में स्थान प्राप्त करेगी।

इन विदेहदशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्जवल था, उतना बाह्य जीवन भी पवित्र था। पवित्रता और पुण्य का सहजयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही देखने को मिलता है। उनकी अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत सम्भाषण, करुण और सुकोमल हृदय उनके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव थे। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तन और स्वाध्याय, यही उनका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति वे हमेशा सतर्क और सावधान थे। वे जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित, मात्र अपनी ही साधना में तत्पर रहे। भावलिंगी मुनियों के वे परम उपासक थे।

स्वयं चतुर्थ गुणस्थानवर्ती साधक होने पर भी उनका जीवन-व्यवहार और परिणाम की स्थिति अत्यन्त उच्चकोटि की थी। तीर्थंकर का द्रव्य होने से जगत के जीव आत्मकल्याण को प्राप्त करें-ऐसी करुणा वर्तती होने से 91 वें वर्ष में भी गाँव-गाँव में विहार करके भव्यजीवों की तत्त्व जिज्ञासा शान्त करते थे, तथापि वे इतने निस्पृही थे कि उन्होंने कभी भी किसी को भी जिनमन्दिर बनाओ या स्वाध्यायमन्दिर बनाओ, ऐसा कहना तो दूर रहा, संकेत तक नहीं किया था।

जीवों के आत्मकल्याण की करुणा होने पर भी इतने निर्ममत्वी थे कि कभी किसी को भी पूछा नहीं था कि तुम रोज स्वाध्याय करते हो न?

कोई व्यक्ति जीवनपर्यन्त तत्त्वज्ञान न समझने से पूज्य गुरुदेवश्री का विरोध करता हो और उस व्यक्ति को अपने अज्ञान के लिये पश्चाताप होने पर पूज्य गुरुदेवश्री से क्षमा याचना करता हो, तब पूज्य गुरुदेवश्री को शर्म... शर्म... अनुभव में आती थी और कहते थे कि भूल जाओ... भूल जाओ... भगवान ने भी अपने भूतकाल में भूल करने में कुछ बाकी नहीं रखा था। तुम भगवान हो-ऐसा हम देखते हैं और तुम भगवानरूप से देखो-ऐसी तो निर्मानता थी।

तत्त्वविरोध के कारण दैनिक पत्र में और पत्रिका में पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति अनुचित लेख छपें तो भक्त उनका विरोध करनेवाले हों तो आपश्री कहते है कि भाई! हमारा कोई विरोधी नहीं है। कोई हमारा विरोध नहीं करता, हम किसी को विरोधी नहीं देखते, हम तो सबको भगवानरूप से देखते हैं। चाहे जैसा लेख लिखकर विरोध करनेवाला भी यदि प्रवचन सुनने आता हो तो उसे सभा में आगे बैठने बुलाते और प्रवचन में वात्सल्यभाव से उसे सम्बोधित करते। पूरे जीवन दौरान किसी भी व्यक्ति ने कैसा भी विरोध किया हो, वह भी यदि एक बार पूज्य गुरुदेवश्री के प्रत्यक्ष दर्शन-सत्समागम में आता तो वह जीवन भर उनका अनुयायी बन जाता। क्षमावाणी के दिन प्रवचन सभा में प्रसिद्धरूप से कहते कि किसी जीव को हमारे द्वारा पर्यायदृष्टि से देख लिया गया हो तो हम क्षमा चाहते हैं। सब जीव भगवान हैं - ऐसी तो उनकी करुणामय क्षमा भावना थी।

जीवन में निस्परिग्रही तो ऐसे कि पैंतालीस-पैंतालीस वर्षों तक स्वाध्यायमन्दिर के एक ही कमरे

में रहे कि जहाँ जिनवाणी-स्वाध्याय के लिये एक बैठक, सोने के लिये एक गद्देवाली बैंच और त्यागी को योग्य मात्र चार जोड़ी कपड़े! और स्वाध्याय के लिये सैकड़ों शास्त्रों से भरी हुई अलमारियाँ!!

देश और दुनिया में क्या हो रहा है, यह जानने का कौतुहल नहीं होने से कभी भी न्यूज पेपर तक पढ़ा नहीं था।

रसना के अलोलुपी-नि:स्वादी तो इतने कि जीवनभर कभी भी दो-तीन सब्जी के अतिरिक्त न तो कोई सब्जी चखी थी, मूँग की दाल के सिवाय न तो कोई दाल या कढ़ी चखी थी, न तो कोई चटनी, मिर्च चखी थी, न तो कोई मिठाई या फरसाण अथवा मुखवास चखा था। मानो कि कोई त्यागी-व्रती हो, वैसा उनका जीवन था।

करुणाशीलता का सागर होने पर भी, तत्त्व में इतने निर्भीक और सत्यमार्ग प्रवक्ता थे कि किसी भी लौकिक महानुभाव का उन पर प्रभाव नहीं पड़ता था। एक प्रतिष्ठित श्रेष्ठी तथा एक त्यागी व्रती द्वारा उद्दिष्ठ भोजन सम्बन्धी कुछ स्वयं कहने सम्बन्धी पूज्य गुरुदेवश्री को संकेत किया जाने पर आपश्री ने बहुत स्पष्टरूप से कहा कि अपने लिये बनाया हुआ आहार—उद्दिष्ट भोजन—प्राण जाये तो भी मुनिराज नहीं लेते। देशकाल के नाम से सर्वज्ञ कथित शुद्ध आम्नाय का उल्लंघन कैसे किया जाये? विक्रम संवत् 1994 में स्वाध्यायमन्दिर के उद्घाटन प्रसंग पर भावनगर के महाराजा श्री कृष्णकुमारसिंहजी (देश के प्रथम राज्यपाल-मद्रास के) सोनगढ़ आये; उन्हें आपश्री ने प्रवचन में कहा कि थोड़ा माँगे वह छोटा भिखारी, बड़ा माँगे वह बड़ा भिखारी-वर्ष में पाँच हजार चाहिए हो, वह छोटा भिखारी और पाँच लाख चाहिए हो, वह बड़ा भिखारी! श्रीमद् राजचन्द्रजी को अपने धर्मगुरु माननेवाले राष्ट्रपिता गाँधीजी विक्रम संवत् 1995 में राजकोट में प्रवचन में आये। पूज्य गुरुदेवश्री ने अपनी तत्त्व की मस्ती में कहा कि मैं दूसरे की सेवा कर सकता हूँ - ऐसा माननेवाला मूढ़ है। यह बात गाँधीजी को इतनी अधिक स्पर्श कर गयी कि कितने ही वर्षों के बाद उन्होंने किसी से पूछा कि मुझे मूढ़ कहनेवाले महाराज अभी कहाँ विचरते हैं?

गुण प्रशंसक तो इतने कि किसी ने भी शासन सम्बन्धी प्रशंसनीय कार्य किया हो - चाहे वह अपना शिष्य भले हो तो भी उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते थे।

- ऐसी अनेक उच्चकोटि की परिणति और अध्यात्म तत्त्वज्ञान से भरपूर उपदेश के सुसंगम के कारण प्रथम परिचय में ही श्रोता उनके प्रति भावविभोर बनकर उनके अनुयायी बन जाते थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन अनुभूति विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से, सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा, युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से समझाया था। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन और उसका विषय, समयग्ज्ञान

और ज्ञान का स्वपरप्रकाशकपना इत्यादि समस्त आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से बाहर आये थे। 'सैंकड़ों शास्त्रों के हमारे मन्थन का यह सार अन्दर से आया है।' — इस 'क्रमबद्धपर्याय' के शंखनाद द्वारा आपश्री ने जैन जगत को आन्दोलित किया। जैसे श्री समयसार का स्मरण करे तो कानजीस्वामी का स्मरण हुए बिना नहीं रहता; इसी प्रकार क्रमबद्धपर्याय शब्द कान में पड़े तो कानजीस्वामी का स्मरण हुए बिना रहना असम्भव है। आज देश-विदेश में लाखों जीव मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं, यह आपश्री का ही परम प्रताप है।

करुणासागर, पुरुषार्थप्रेरणामूर्ति, सम्यग्ज्ञानविभूषित इन महात्मा की महिमा का वर्णन शब्दातीत है; मात्र अहोभाव से अनुभवगम्य है।

'तू परमात्मा है-ऐसा निर्णय कर! तू परमात्मा है-ऐसा निर्णय कर!' — ऐसा महामन्त्र मुमुक्षुओं को देकर, भक्तों को भगवान बनने की प्रेरणा करनेवाले इन महापुरुष ने प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पन्थ जगत् में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थंकर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासनस्तम्भ श्री कहान गुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!

भवभीरु भव्यात्मा के भव का अभाव करनेवाले सत्पुरुष का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!

हे ज्ञान पोषक सुमेघ तुझे नमूँ मैं
इस दास के जीवनशिल्पी तुझे नमूँ मैं॥

- जीतूभाई नागरदास मोदी, सोनगढ़

अनुक्रमणिका

क्र.	शास्त्र	गाथा/श्लोक	तारीख	प्रवचन नं.	पृष्ठ
१.	बहिनश्री के वचनामृत	१४०-१४१	२९-०७-१९७८	५१	१
२.	श्री पंचास्तिकाय	२०	११-१२-१९६९	२७	१५
३.	श्री समयसार कलश-टीका	२५६	२५-१२-१९६५	२५३	३२
४.	श्री समयसार	३८३-३८४ / २२७-२२८	१४-०७-१९८०	४३३	४८
५.	श्री परमात्मप्रकाश	६८	२७-०७-१९७६	४५	६१
६.	श्री समयसार कलश टीका	१९८-१९९	०३-०२-१९७८	२२२	७३
७.	श्री समयसार	२७८-२७९/१७५-१७६,	२८-१०-१९७९	३४३	८४
८.	श्री समयसार	२७०-२७१	२४-०७-१९६८	५७७	१००
९.	श्री समयसार कलश-टीका	२५३-२५४	१५-१२-१९६५	२५०	११५
१०.	श्री समयसार कलश-टीका	२५३-२५४	१६-१२-१९६५	२५१	१३१
११.	श्री समयसार	१५५-१५६/१०६-१०७	२६-११-१९६१	१६५	१४७
१२.	श्री नियमसार	१६६ / २८२,	३०-०७-१९८०	१९७	१६४
१३.	श्री नियमसार	९३ / १२३	०३-१२-१९७९	९५	१७६
१४.	श्री समयसार कलश टीका	१९५	२८-०१-१९७८	२१७	१८८
१५.	श्री परमात्मप्रकाश	१८-१९	२५-१२-१९६५	८५	१९८
१६.	श्री समयसार कलश टीका	२३५-२३६	२७-११-१९६५	२३२	२१३
१७.	श्री समयसार,	१	२९-०७-१९६६	२	२२७
१८.	श्री समयसार	३६	०४-०९-१९६१	५८	२४५
१९.	श्री समयसार कलश टीका	२४८	०६-१२-१९६५	२४१	२६१
२०.	बहिनश्री के वचनामृत	७८-७९	३०-०६-१९७८	२५	२७८
२१.	श्री परमात्मप्रकाश	३६-३७	३०-०६-१९७६	२२	२९२
२२.	बहिनश्री के वचनामृत	१७५-१७६	१४-०८-१९७८	६४	३०३
२३.	श्री समयसार कलश टीका	२२२	१२-११-१९६५	२१७	३१६
२४.	श्री पुरुषार्थसिद्धि-उपाय	२२३ से २२६	१५-०८-१९६७	८९	३३१
२५.	श्री समयसार कलश टीका	२६४	२२-०९-१९७७	५१९	३५०

गुरु कहान : रहस्योद्‌घाटक महान

अर्थ न समझ में आये तो क्या हो?

टोडरमलजी ने शैली ही दूसरी प्रयोग की है :

काललब्धि और भवितव्य है अवश्य; नहीं - ऐसा नहीं,

परन्तु वह अलग चीज़ नहीं।

काललब्धि का निषेध नहीं, परन्तु वह वस्तु अलग नहीं।

काललब्धि उड़ाई नहीं....

इसके परिणमन में यह बात न बैठे तब तक विवाद... विवाद...

✶ ✶ ✶

नियत का अर्थ अकेला नियत नहीं। नियत का निर्णय करने जाए, वहाँ पाँचों ही समवाय साथ ही है, तब उसे नियत होता है। नियत का अर्थ ही कि जिस समय में जो पर्याय होने का काल... टोडरमलजी ने शैली ही ऐसी प्रयोग की है। काल को रखा है। काललब्धि का आता है न! उनकी भाषा ही ऐसी है। जिस काल में कार्य बने—काल तो बराबर है—जिस काल में कार्य बने, वही काललब्धि।

श्रोता : काललब्धि, वह कोई वस्तु नहीं—ऐसा कहा है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : काललब्धि, वह कोई वस्तु नहीं अर्थात् वह कोई अलग चीज़ नहीं, ऐसा कहते हैं। अर्थ न समझे तो... ! जिस काल में कार्य बने, वही काललब्धि है। जिस समय में कार्य बने, वह काललब्धि। जो कार्य हुआ, वह भवितव्य। होना, वह भवितव्य।

यह आत्मा जिस कारण से कार्यसिद्धि अवश्य हो, उस कारण का उद्यम करे, वहाँ तो अन्य कारण अवश्य मिलते ही हैं... काललब्धि का तो कारण साथ है ही। ऐसे पुरुषार्थ करता है, तब काललब्धि का कारण साथ है ही; भवितव्य का भी साथ है ही; नहीं है, ऐसा नहीं है—ऐसा कहा है। यह शैली ऐसी की है।

जो मोक्ष का पुरुषार्थ करता है, उसे तो काललब्धि और भवितव्य भी हो चुके। हो चुके

अर्थात् उसमें है ही। नहीं है, ऐसा नहीं कहा। यह आत्मा ज्ञानानन्द है, शुद्ध है, ऐसा जहाँ स्वभावसन्मुख का पुरुषार्थ किया, तब वह पुरुषार्थ करने का कार्य उसका है, यह बताते हैं; काल में हुआ है, यह बतावे इसे ? काल में हुआ, वह तो वस्तु में एक स्थिति है ही। उसे काल में इस ओर में पुरुषार्थ करे, उस समय काललब्धि है ही, भवितव्य है ही, पुरुषार्थ है ही, स्वभाव है ही, कर्म का अभाव है ही। काललब्धि का निषेध नहीं, कोई अलग वस्तु नहीं है— ऐसा कहते हैं।

पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय करे, तब सर्वकारण मिलते ही हैं; उसमें काललब्धि आदि मिलते हैं—उसमें काललब्धि आदि है ही, ऐसा कहते हैं। स्वभावसन्मुख का पुरुषार्थ नहीं करता तो उसे काललब्धि का जो काल है, उसके वह हुआ नहीं, ऐसा कहते हैं। सब बात ली है; बात उड़ाई नहीं। काल में... काल में... जिस काल में कार्य हुआ, उसका नाम काललब्धि है। जिस समय में काल होने का है, तब पुरुषार्थ से ऐसे देखा, पुरुषार्थ से किया, तब काल में हुआ, ऐसा काल का ज्ञान हुआ। कार्य जो हुआ, वह भवितव्य। जिस काल में कार्य बना, वह काललब्धि और हुआ वह भवितव्य।

भगवान आत्मा सच्चिदानन्दमूर्ति ज्ञानानन्द की खान है, ऐसी अन्तर्मुख की दशा, वह ज्ञानचेतना, वही आदरणीय है। वह आदरणीय होने पर काल साथ ही आ गया—ऐसा यहाँ कहना है। काललब्धि हो गयी, भवितव्य हो गया, स्वभाव प्रगट हुआ, पुरुषार्थ आया और कर्म का अभाव भी होता ही है।

जो शुद्ध उपादान से काम हुआ, वह काल में हुआ, भवितव्य हुआ, विकल्प निमित्त था, उससे हुआ नहीं अर्थात् व्यवहार से इसे हुआ नहीं—यह सब इसमें आ जाता है। पाँचों ही इसमें आ जाते हैं। उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार और काल/ क्रमबद्ध। ऐसे पाँच कहे।

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यवस्तु का ऐसा भान हुआ, ज्ञानचेतना प्रगट हुई, उस ज्ञानचेतना में उपादेय हुआ, वहाँ आनन्द आदि आया, वह स्वभाव हुआ, पुरुषार्थ से हुआ, इसलिए पुरुषार्थ आया; उसी काल में हुआ, इसलिए काल आया; यह भाव हुआ, वह भवितव्य हुआ; उस समय कर्म का अभाव है—ये पाँच।

दूसरे पाँच ये आये कि शुद्ध उपादान से काम हुआ, वहाँ आगे संहनन आदि दूसरी चीज़ भले निमित्त हो या विकल्प आदि पहले भले निमित्त हो। शुद्ध उपादान और वह निमित्त। यहाँ निश्चय हुआ, वहाँ विकल्प वह व्यवहार और उसी समय काल में वह पुरुषार्थ हुआ, वह

काललब्धि—उस समय में वही था : उपादान निमित्त, निश्चय-व्यवहार, काल यह क्रमबद्ध। सब पाँचों इस प्रकार आ गये। निश्चय-व्यवहार और क्रमबद्ध अर्थात् काल में होना है वह।

जब स्वभाव का पुरुषार्थ हुआ, तब शुद्ध उपादान आया और उस काल में हुआ तो काललब्धि आ गयी और पुरुषार्थ हुआ, वहाँ वह राग पूर्व का निमित्त था, वह ज्ञान में आ गया। यह व्यवहार और वह निश्चय। व्यवहार का लक्ष्य छूटा और यहाँ निश्चय हुआ; इसलिए व्यवहार से निश्चय हुआ, यह रहा नहीं, इसलिए निश्चय और व्यवहार साथ में है, उपादान और निमित्त साथ में है, काल तो उस समय ही पक गया है।

कर्मचेतना, कर्मफलचेतना हेय और ज्ञानचेतना उपादेय। लो, इसमें सब आ गया। राग का विकल्प है, वह निमित्त है कहो या व्यवहार है कहो, वह हेय हो गया। इस स्वरूप में एकाग्र हुआ, वह ज्ञानचेतना उपादेय हो गयी। निश्चय, वहाँ व्यवहार; उपादान, वहाँ निमित्त और उस समय-काल में उसका काल पका—कारण यहाँ हुआ। तब वह कार्य काल में ही हुआ है और वह कार्य जो है, वह भवितव्य है।

आहाहा! क्या हो? यह कहीं किसी के दिये दी जा सके, ऐसी बात है? इसके परिणाम में यह बात न बैठे, तब तक विवाद... विवाद..! **—पुरुषार्थप्रेरणामूर्ति पूज्य गुरुदेवश्री**

✶ ✶ ✶

जब काललब्धि के बल से ही सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है, तब क्षयोपशम आदि पाँचों लब्धियों का उपदेश क्यों दिया गया है? इस शंका का समाधान करते हुए श्री धवला में आचार्यदेव कहते हैं कि प्रति समय अनन्त गुणहीन अनुभाग की उदीरणा, अनन्त गुणित क्रम से वर्धमान विशुद्धि और आचार्य का उपदेश यह सब बाह्य सामग्री की प्राप्ति एक काललब्धि के होने पर ही होती है। **— श्री धवला**

✶ ✶ ✶

यह जीव संसार में भ्रमते-भ्रमते जब अर्धपुद्गलपरावर्तनमात्र रहता है, तब ही सम्यक्त्व उपजने के योग्य है। इसका नाम काललब्धि कहा जाता है। यद्यपि सम्यक्त्वरूप जीवद्रव्य परिणमता है, तथापि काललब्धि के बिना यदि करोड़ों उपाय किये जाएँ तो भी जीव सम्यक्त्वरूप परिणमने के योग्य नहीं है, ऐसा नियम है। इससे जानना कि सम्यक्त्व वस्तु यत्नसाध्य नहीं, सहजरूप है। **—पण्डित श्री राजमलजी पाण्डे**

✶ ✶ ✶

यदि तुम सद्गुरु के उपदेश द्वारा जिनशासन के रहस्य को बराबर समझे हो तो 'मैं करता हूँ' – ऐसे अहंकारपूर्ण कर्तृत्व की भावना का त्याग करो और 'भगवती भवितव्यता' का आश्रय करो।

— पण्डित श्री आशाधरजी

✶ ✶ ✶

और इस अवसर में भी तत्त्वनिर्णय करने का पुरुषार्थ न करे, प्रमाद से काल गँवावे, या तो मन्दरागादि से विषय कषाय के कार्यों में प्रवर्ते अथवा व्यवहारधर्म कार्यों में प्रवर्ते, तब अवसर तो चला जाएगा, संसार ही में भ्रमण होगा... सो मुख्यरूप से तो तत्त्वनिर्णय में उपयोग लगाने का पुरुषार्थ करना। अब सर्व प्रकार से अवसर आया है, ऐसा अवसर प्राप्त करना कठिन है।

— आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी

✶ ✶ ✶

प्रवचन शुरु करने से पहले पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा किया जानेवाला

मांगलिक

॥ णमो लोए सव्व अरिहंताणम् ॥

॥ णमो लोए सव्व सिद्धाणम् ॥

॥ णमो लोए सव्व आयरियाणम् ॥

॥ णमो लोए सव्व उवज्झायाणम् ॥

॥ णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती साहूणम् ॥

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावायभावाय सर्वभावान्तरच्छिद ॥

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी ।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥

त्रिकाल दिव्यध्वनि दातार....

ॐ

श्री परमात्मने नमः

गुरु कहान : दृष्टि महान

अध्यात्म युगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के द्रव्यदृष्टिप्रधान आध्यात्मिक प्रवचन

(भाग ८)

१

बहिनश्री के वचनामृत, वचनामृत-१४०-१४१, प्रवचन - ५१
दिनांक - २९-०७-१९७८

१३९ (बोल) हो गये। अब आत्मा कायम है, उसे सरल भाषा में कहते हैं।

'है', 'है', 'है'... है। भूतकाल में है, वर्तमान में है और भविष्य में है। है न वस्तु? **ऐसी 'अस्ति' ख्याल में आती है, ऐसी 'अस्ति' ख्याल में आती है न?** यह 'है', 'है', 'है'—ऐसे इसकी अस्ति, मौजूदगी, 'अस्ति' ख्याल में आती है न? आहा...हा...! यह क्या कहते हैं अब? यह तो 'है', 'है', 'है'—यह तो कायम है—ऐसा ख्याल में (आता है), परन्तु वस्तु क्या? यह तो 'है', 'है', 'है' तो परमाणु भी 'है', 'है'। और परमाणु भी 'अस्ति', 'अस्ति', 'अस्ति' है। जो वर्तमान हो, वह त्रिकाल होता ही है। आहा...हा...!

कहते हैं **'ज्ञाता', 'ज्ञाता', 'ज्ञाता' है ना?** वह 'है', 'है', 'है' वह 'जाननेवाला', 'जाननेवाला', 'जाननेवाला' है न? आहा...हा...! भाषा तो बहुत सादी है। 'है', 'है', 'है'। है, वह नहीं-ऐसा नहीं। अब है वह क्या? कि जाननेवाला है... जाननेवाला है... जाननेवाला है। जाननेवाला है, वह जाननेवाला है। वह जाननेवाला है अर्थात् जाननेवाला था, जाननेवाला है और जाननेवाला रहेगा। वह जाननेवाला, जाननेवाला है। आहा...हा...!

वह मात्र वर्तमान जितना 'सत्' नहीं है। क्या कहा यह ? 'है', 'है', 'है'—ऐसा जो पर्याय में ख्याल आता है कि 'है', 'है', 'है' और वह ज्ञाता है... ज्ञाता है... ज्ञाता है... परन्तु वह ज्ञाता है, ज्ञाता है, वह वर्तमान पर्याय में ऐसा लगे, परन्तु वह वर्तमान पर्याय जितना तत्त्व नहीं है। आहा...हा... ! अभी भोगीभाई ने गाया न ? नहीं ? अभी गाया, भाई ! अभी भोगीभाई ने गायन गाया, सुना ? थे ? ठीक, बैठे थे। बहुत सरस बनाया। यहाँ के व्यापारी है न, मैंने कहा कवि कैसे हो गये ? अच्छा रचते हैं। ऐसा कि बहिन ने कमाल कर डाला है ! माँ ! तुम ऐसा कहाँ से लाये ? ऐसा कहते हैं। आहा...हा... !

यहाँ जो वस्तु है, वह आत्मा है। वह 'है', 'है', 'है'—ऐसे ख्याल में आती है। अब वह 'है' 'है' वह क्या है ? कि ज्ञाता है... ज्ञाता है... ज्ञाता है। ऐसे 'है', 'है' के ख्याल में ज्ञाता है-ऐसा ख्याल में आता है। आहा...हा... ! वह मात्र वर्तमान ज्ञाता है, इतना वह नहीं। जो वर्तमान में ज्ञाता है या वर्तमान में जो स्थिति है, वह त्रिकाल को सिद्ध करती है। वह तत्त्व त्रिकाल है। आहा...हा... ! जाननेवाला है, जानता है, वह ज्ञाता है... ज्ञाता है... ज्ञाता है... वह ज्ञाता है, उसका अस्तित्व वर्तमान में ज्ञात होता है तो जो वर्तमान में ज्ञात होता है, वह त्रिकाली है। आहा...हा... ! समझ में आया ? भाषा तो सादी है। मीठी भाषा है। आहा...हा... !

भगवान ! तू कौन है ? कि यह तो 'ज्ञाता' 'ज्ञाता' 'ज्ञाता' है। आहा..हा... ! भाई ! 'ज्ञाता' 'ज्ञाता' 'ज्ञाता' त्रिकाली है, उसकी तूने कभी श्रद्धा नहीं की। आहा...हा.. ! यह 'ज्ञाता' 'ज्ञाता' 'ज्ञाता' वर्तमान जितना मानकर, वहाँ सन्तुष्ट हो गया। आहा...हा... ! परन्तु जो ज्ञाता है, वह वर्तमान जितना जो है, वह **मात्र वर्तमान जितना 'सत्' नहीं है।** वर्तमान जो है ज्ञाता, वह वर्तमान जितना नहीं है; वह त्रिकाली ज्ञाता है। आहा...हा... !

वह मात्र वर्तमान जितना 'सत्'... अर्थात् है, वर्तमान जितना है-ऐसा नहीं है। सत् अर्थात् वर्तमान जितना सत् नहीं। वर्तमान जितना है-ऐसा नहीं। आहा...हा... ! यह 'ज्ञाता' 'ज्ञाता' वर्तमान जितना है नहीं; यह त्रिकालरूप से सत् है। आहा...हा... ! इसकी दृष्टि, त्रिकाल है, है उसमें जानी चाहिए। आहा...हा... ! ऐसा मार्ग है। भगवान आत्मा अन्दर 'है' 'है' 'है' ज्ञाता है... ज्ञाता है... ज्ञाता है.... जो वर्तमान जितना है नहीं वह 'है' 'है' 'है' वह वर्तमान में जो ज्ञात होता है, वह 'है' 'है' 'है', वह वर्तमान जितना नहीं, त्रिकाल है। आहा...हा... ! समझ में आया ? **वह तत्त्व अपने को त्रिकाल सत् बतला रहा है,...** आहा...हा... ! वह वर्तमान 'ज्ञाता' 'ज्ञाता' है, वह वर्तमान जितना नहीं। वह 'ज्ञाता' 'ज्ञाता' 'ज्ञाता' वह तत्त्व अपने को

शाश्वत् त्रिकाल सत् बतला रहा है। आहा...हा...! ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक... वह वर्तमान पर्याय जितना वह ज्ञायक, ज्ञायक नहीं है। वह 'ज्ञाता' 'ज्ञाता' 'ज्ञाता' वर्तमान, उस त्रिकाली के सत् को बतला रहा है कि यह वस्तु त्रिकाल है। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसा उपदेश! पहला तो दया पालना और व्रत पालना एकदम सरल (था)। यह दया 'सच्ची है', बापू! तू जितना त्रिकाली है, उतना मानना, इसका नाम स्व की दया है। आहा...हा...!

वर्तमान 'ज्ञाता' 'ज्ञाता' वर्तमान जितना वह सत् नहीं है। वह त्रिकाली जाननहार सत् है। ऐसे त्रिकाली सत् को ज्ञान में लेना और श्रद्धा में लेना, उसका नाम पूर्ण है, उसकी दया पाली कहलाती है। 'है' - उसके जीवत्व का जीवन इतना है, इतना इसने माना, वह जीवत्व की दया पाली और जैसा है, उतना न मानकर वर्तमान जितना मानना, वह तो इसने जीव की हिंसा की। त्रिकाल सत् है—ऐसा नहीं माना। आहा...हा...! समझ में आया? यह तो बालक को समझ में आये ऐसा है। चार कक्षा पढ़ा हो उसे (समझ में आये ऐसा है)। हमारे मास्टर कहते हैं, धर्मचन्द मास्टर। यह तो न पढ़ा हो तो भी इसके ख्याल में तो आता है या नहीं कि यह 'है' 'है' 'है'। यह शरीर, वाणी, मन, एक ओर निकाल डालो। जो अन्दर है, अस्ति (है) ख्याल में आता है, जिसकी अस्ति / मौजूदगी ख्याल में आती है और वह 'है', 'है', और 'है'। अर्थात् 'है' था। 'है', 'है' और भविष्य में 'है' वह वर्तमान जितना 'है', 'है' उस त्रिकाली को बतलाता है। आहा...हा...! वर्तमान पर्याय है, जानने की पर्याय है, वह जाननपर्याय त्रिकाली को बतलाती है कि मैं जाननहार त्रिकाली हूँ। आहा...हा...! अब इससे तो सादा किस प्रकार हो फिर?

यह तो ज्ञायक है। ज्ञायक कहो, ज्ञाता कहो। 'है' 'है' 'है' यह ज्ञाता 'है' 'है' 'है' कहो। आहा...हा...! यह सत् है, वह वर्तमान जितना ज्ञाता नहीं। उस त्रिकाल जाननहार का वर्तमानपना त्रिकाल को बताता है कि यह वस्तु त्रिकाल ज्ञाता है। आहा...हा...! यह तत्त्व वर्तमान जितना नहीं। सत् है, वह वर्तमान जितना सत् नहीं। वह तत्त्व अपने को शाश्वत् सत् बतला रहा है। 'है' 'है' 'है' वह ज्ञायकभाव शाश्वत् है—ऐसा वह बतला रहा है। आहा...हा...' '

मुमुक्षु : .....बाल-गोपाल सबको जानने में आ रहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो फिर दूसरी बात है। यह तो उस ज्ञान की पर्याय का स्वभाव। यहाँ तो 'है' 'है' इतना ख्याल में आता है या नहीं? यह 'है' 'है' वह वर्तमान जितना सत् नहीं; त्रिकाल सत् है इतना। वह तो 'है' वह तो ज्ञान की पर्याय का स्वभाव है कि स्व-पर को

प्रकाशित करती है। स्व जानती है, पर को जानती है, वह तो जानती है। वह तो कुछ नहीं परन्तु स्व को जानती है, क्योंकि ज्ञान की पर्याय स्व को जानती है, परन्तु यहाँ स्व को जानती है, वह इसे कब हो ? कि जो यह ज्ञाता... ज्ञाता वर्तमान है, वह शाश्वत् रहनेवाला ज्ञाता है। वर्तमान सत् त्रिकाली को बतलाता है। जिसका अंश वर्तमान है, वह वस्तु जिसकी नहीं, उसका वर्तमान भी नहीं होता। जो वस्तु नहीं, उसकी वर्तमान दशा नहीं होती। आहा...हा... ! परन्तु यह वस्तु है, उसकी वर्तमान दशा है तो वर्तमान दशा 'ज्ञाता' 'ज्ञाता' है, इतने में वह सत्मात्र आ नहीं जाता। वह 'ज्ञाता' 'ज्ञाता' सत् ज्ञात होता है, वह त्रिकाली को बतलाता है। आहा...हा... ! यह तो प्रगट अनुभव करने के समय की बात है। पहली बात तो (प्रश्न की बात तो) पर्याय में जानता है परन्तु उसकी दृष्टि वहाँ नहीं है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

यह तो ज्ञान की पर्याय का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव होने से अज्ञानी की पर्याय में भी भगवान वस्तु जो त्रिकाली है, वह जानता है, पर्याय जानती है। भले उसे अव्यक्तरूप से हो। व्यक्तरूप से तो कब (ज्ञात हो) ? कि वह जब अन्तर्दृष्टि पड़े, तब उसे ख्याल आता है। है तो— जानता तो है। आहा...हा... ! यहाँ है वह दूसरी बात है। यहाँ तो कोई भी चीज़ वर्तमान है— ऐसा ज्ञात होता है तो आत्मा वर्तमान ज्ञाता है, ज्ञाता है—ऐसा ज्ञात होता है, वह वर्तमान ज्ञाता है, इतना मात्र सत् नहीं, इतना मात्र वह अस्तित्व नहीं। वह वर्तमान ज्ञाता, ज्ञाता त्रिकाल को बतलाता है कि मैं त्रिकाल ज्ञाता हूँ। आहा...हा... ! वह ध्रुव को बतलाता है। वर्तमान ज्ञान की पर्याय, वह वर्तमान जितना सत् नहीं, वह त्रिकाली ध्रुव सत् है (-ऐसा बतलाती है)। आहा...हा... ! ऐसा मार्ग है। लोग इसका प्रयत्न नहीं करते और स्वयं जो माना हो तद्नुसार मानते रहते हैं, ऐसा का ऐसा। बापू ! इसमें कोई मार्ग हाथ नहीं आता। आहा...हा... !

प्रभु ! अन्दर पूरा विराजमान है परन्तु वर्तमान में जो जाननहार जानने की अवस्था का अस्तित्व / है पना ज्ञात होता है, वह जाननहार का इतना अस्तित्व, उतना ही वह नहीं। वह तो उसका वर्तमानरूप है। वह वर्तमान सत्, त्रिकाल सत् को बताता है। समझ में आया ? आहा...हा... ! यह सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि है; बाकी सब व्यर्थ है। आहा...हा... !

भगवान आत्मा जाननहाररूप से वर्तमान में प्रसिद्ध है या नहीं ? जाननहार, जाननहार है। किसी भी चीज़ को जानने के प्रसंग में जिसका जाननहार मुख्य न हो, तो यह ज्ञात होता है वह किसमें (ज्ञात होता है) ? जो कुछ जाननहार है, वह जाननहार है, वह जाननहार इसे जाने, इसे जाने, इसे जाने-ऐसा कहना (ठीक है) परन्तु उस जाननहार की मुख्यता न हो तो इसे

जाने—ऐसा आया कहाँ से ? आहा...हा... ! जिसकी ऊर्ध्वता प्रत्येक प्रसंग में है, जिसकी-जाननहार की ऊर्ध्वता अर्थात् मुख्यता न हो तो वह यह प्रसंग है—ऐसा जाना किसने ? आहा...हा... ! जिसका जानना ही मुख्य है, वह पर को जानते हुए भी यह जानता है इसकी सत्ता में स्वयं में। इसकी सत्ता की प्रसिद्धि है; वह पर की प्रसिद्धि नहीं और वर्तमान की जानने की प्रसिद्धि, पर की प्रसिद्धि नहीं परन्तु उस जाननहार की प्रसिद्धि वर्तमानमात्र नहीं। आहा...हा... ! अब इससे तो सरल दूसरा किस प्रकार कहें ? आहा...हा... ! अरे ! दुनिया क्रियाकाण्ड में उलझकर मर गयी है बेचारी परन्तु वस्तुस्थिति क्या है... आहा...हा... ! उसके माहात्म्य में गया नहीं।

यह वर्तमान जाननहार है; जिसका वर्तमान पर्यायपना है, वह किसी त्रिकाली चीज़ की अवस्था है, तो वह वर्तमान अवस्था उस त्रिकाली को बतलाती है। आहा...हा... ! वर्तमान जाननहार जो अस्ति है, उतना मात्र वह सत् नहीं है। जाननहार की पर्याय किसके आधार से हुई ? किसके अवलम्बन से हुई ? किसके आश्रय से हुई ? वह वर्तमान पर्याय जानती है, वह त्रिकाल को बतलाती है, कि यह वस्तु त्रिकाल है। आहा...हा... ! हमारे छोटाभाई कहते हैं कि इस बार समयसार बहुत अच्छा चलता है। छोटाभाई को सुनने को बराबर रह गया न ! यह भाग्यशाली है। दिखे भले नहीं तो कुछ नहीं। आहा...हा... !

प्रभु ! तेरी वर्तमान ज्ञान की अस्ति तुझे बतलाती है या नहीं ? वर्तमान जाननहार की अस्ति-मौजूदगी ज्ञात होती है या नहीं ? किसी भी प्रसंग में जाननेवाला स्वयं न हो तो जाने किसे ? तो उस जाननेवाले की अस्ति तुझे वर्तमान में तो ज्ञात होती है। आहा...हा... ! वह जाननेवाले की अस्ति है। उतना तत्त्व पूरा नहीं। वह जाननेवाला, जाननेवाला, जाननेवाला त्रिकाल है। आहा...हा... ! वह पर्याय, ध्रुव को बतलाती है; वर्तमान, त्रिकाल को बतलानेवाला है; अनित्य है, वह नित्य को बतलानेवाला है। आहा...हा... ! समझ में आया ? मार्ग बापू ! अकेला ज्ञान का मार्ग है। कोई क्रिया यह करो और यह करो, यह इसके वस्तु के स्वरूप में नहीं है न, प्रभु ! वर्तमान में इसके स्वरूप में नहीं और त्रिकाल में तो है ही नहीं। आहा...हा... ! वर्तमान में भी यह राग को जाने, इस शरीर को जाने, इसे जाने, जाननेवाला यह है, यह है—ऐसा जाननेवाले ने जाना न ? उस जाननेवाले की वर्तमान अवस्था की अस्ति, सिद्धि करते हैं न ? और वर्तमान अवस्था (ऐसा) सिद्ध करती है कि वह जिसकी है, वह त्रिकाल है ? आहा...हा... ! समझ में आया ?

वह तत्त्व अपने को त्रिकाल सत् बतला रहा है,... आहा...हा... ! वर्तमान मात्र ज्ञान

का अस्तित्व जो जानने में आता है, उतना तो अस्तित्व है परन्तु उस अस्तित्व का अंश अद्धर से हुआ है–ऐसा नहीं है। वह किसी त्रिकाली चीज़ को बतलाता है। आहा...हा... ! जिसका वह अंश है, वह अंश, त्रिकाल को बतलाता है। आहा...हा... ! **वह तत्त्व अपने को...** 'पोताने' समझे तुम्हारी भाषा में ? स्वयं को, स्वयं को (अर्थात्) अपने को। **त्रिकाल सत् बतला रहा है,...** आहा...हा... !

परन्तु तू उसकी मात्र 'वर्तमान अस्ति' मानता है!... बात यह। वर्तमान जानता है न कि यह शरीर है, यह अमुक है, अमुक है, वह कुछ जानता नहीं। शरीर जानता है कुछ ? राग जानता है कुछ ? जानता है ज्ञान कि यह राग है, यह शरीर है। यह ज्ञान की वर्तमान पर्याय की प्रसिद्धि है। पर के जानने में पर के जानने की प्रसिद्धि नहीं। पर को जाननेवाली उसकी पर्याय की प्रसिद्धि है। हसमुखभाई ! इसमें कहीं तुम्हारे मुम्बई में नहीं मिलता और तुम्हारे रुपये में / धूल में कहीं नहीं मिलता। आहा...हा... ! इन लोगों ने तो प्रेम रखा है न ! इसने उड़ा दिया। भारी विचार हो, हों ! नवनीतभाई बेचारे ने लाखों रुपये डालकर किया। नाम निकाल दिया, बेच दिया सब। आहा...हा... ! आहा...हा... !

जिसकी वर्तमान ज्ञान की अस्ति, पर के जानने के काल में भी अपने जानने की पर्याय की प्रसिद्धि है, वह अस्ति है; वहाँ पर अस्ति है—ऐसा नहीं। पर का अस्तित्व का ज्ञान हुआ, वह ज्ञान का अस्तित्व है। आहा...हा... ! उस ज्ञान का वर्तमान अस्तित्व कायमी चीज़ को बतलाता है कि मैं वर्तमान मात्र नहीं। यह ज्ञान की पर्याय पलटती–पलटती भी वर्तमान मात्र अनित्य नहीं है। वह नित्य को बतलाती है कि यह नित्य वस्तु है, उसका यह अंश है। आहा...हा... ! ध्रुव चीज़ है, उसका यह अंश है। यह अंश ध्रुव को बतलाता है। आहा...हा... ! ऐसी वस्तु है। बहुत गम्भीर वस्तु है, उसे बहुत सादी भाषा में (कहते हैं)। लोग–साधारण मनुष्य भी समझ सके, ऐसी सरल भाषा है। भोगीभाई ने तो अभी गाया न, कमाल कर दिया है ! बात तो सच्ची है। आहा...हा... !

पहली कक्षा पढ़ा हो तो भी उसे इतना तो होता है या नहीं ? इतना ख्याल में आता है कि यह जानता है, यह जानता है, यह जानता है, यह है या नहीं ? तो जानती है वह वर्तमान है, वह दूसरे को जानती है, वह भी वर्तमान जानने की अवस्था है, वह पर को जानती है, इसलिए पर का अस्तित्व है—ऐसा यहाँ सिद्ध नहीं करना। पर को जानने के काल में जानने की पर्याय का अस्तित्व है न ? पर के अस्तित्व का यहाँ काम नहीं। ऐसा जो ज्ञान का वर्तमान अंश, वह जिसका है, उसे वह बतलाता है कि यह ज्ञान त्रिकाल है। आहा...हा... !

परन्तु... ऐसा होने पर भी, **तू उसकी मात्र 'वर्तमान अस्ति' मानता है!...** आहा...हा...! उस ज्ञान की वर्तमान पर्यायमात्र तेरा सब झुकाव है। आहा...हा...! दिगम्बर मुनि / साधु हुआ तो भी उसका वर्तमान पर्याय मात्र तक झुकाव (रहा)। दिगम्बर! पंच महाव्रत, हजारों रानियाँ छोड़कर पंच महाव्रत (पालन किये) परन्तु यह क्या उससे? वह चीज़ थी ही कहाँ उसमें (कि) वह छोड़े। आहा...हा...! उसमें जो राग की एकता थी और राग को जाननेवाला तत्त्व, राग से भिन्न है, वर्तमान में भिन्न है, इतनी भी उसकी खबर (नहीं पड़ी)। आहा...हा...! क्योंकि जाननेवाला है, वह चैतन्य की किरण है। वह किरण है यह राग है, शरीर है, यह है—ऐसा इसका अस्तित्व ज्ञान के अस्तित्व में ज्ञात होता है तो यह अस्तित्व अंश है, वह त्रिकाली को बतलाता है। यह ज्ञान का अस्तित्व, पर का अस्तित्व नहीं बतलाता। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं, भगवान! भाई! आहा...हा...!

तेरी प्रभुता की प्रभुता तूने कभी पकड़ी नहीं, प्रभु! आहा...हा...! पर्याय की पामरता को पकड़कर साधु हुआ तो भी इसकी रमणता वहाँ। आहा...हा...! यह त्याग किया और यह छोड़ा और यह रखा और... आहा...हा...! यह चलता है और यह नहीं चलता। अरे रे...! आहा...हा...! परन्तु पूरा आत्मा नहीं चलता, इसका पता नहीं पड़ता। मोहनलालजी! ऐसी बातें हैं, भगवान! प्रभु! तू भगवान है, हों! आहा...हा...!

प्रभु! तेरी प्रभुता का पार नहीं, भाई! आहा...हा...! तेरी पर्याय में इतनी प्रभुता है कि जिसे जानने के लिये पर के आलम्बन की आवश्यकता नहीं है, वर्तमान जानने के लिये भी पर के आलम्बन की जिसे जरूरत नहीं है। भले मन और इन्द्रिय हों परन्तु वह जानने की पर्याय कहीं मन और इन्द्रिय के कारण जानती है-ऐसा नहीं है। आहा...हा...! वह ज्ञान की पर्याय वर्तमान में यह इन्द्रियाँ और मन है—ऐसा शास्त्र से देखा, सुना तो वह तो ज्ञान की पर्याय है—ऐसा जानती है कि यह इन्द्रियाँ और मन है और इन्द्रियाँ तथा मन है; इसलिए जानने की पर्याय हुई है-ऐसा नहीं है। अत: जानने की वर्तमान पर्याय को भी जहाँ पर के अवलम्बन और अपेक्षा की जरूरत नहीं है। उस चीज़ को त्रिकाल चीज़ में किसी की अपेक्षा है नहीं। उसका त्रिकाली टिकना / अस्तित्व ध्रुव है... आहा...हा...! उस पर इसने नज़र नहीं दी है। आहा...हा...!

'वर्तमान अस्ति' मानता है! जो तत्त्व वर्तमान में है, वह त्रैकालिक होता ही है। आहा...हा...! यह अवस्था है, देखो! इस परमाणु की यह अवस्था है न? यह अवस्था वर्तमान है तो इसका त्रिकाली तत्त्व है या नहीं? परमाणु है या नहीं? यह अवस्था तो बदल जाती है,

परन्तु बदलती है, उसका त्रिकाली तत्त्व है या नहीं ? परमाणु त्रिकाल है। इसी प्रकार इस जाननेवाले की पर्याय बदलती है, वह जाननेवाला जानता है—ऐसा यह त्रिकाली तत्त्व है या नहीं ? इस त्रिकाली का अस्तित्व है—ऐसा बताती है कि वर्तमान का अस्तित्व, इतना ही बताती है ? आहा...हा... ! समझ में आया ? ऐसा मार्ग है।

यह तो सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की पहली विधि यह है, यह बात है। फिर इसे चारित्र और संयम (आवे)। अन्दर स्वरूप जाना है, उसमें फिर रमे। जो जाना ही नहीं कि यह चीज़ क्या है, फिर उसमें रमना कहाँ इसे ? जो जाना है, राग और पर्याय, उसमें रमे। आहा...हा... ! इसलिए इसे चारित्र या संयम होता ही नहीं। आहा...हा... !

जो स्वरूप की पर्याय है, वह त्रिकाली का अंश है, वह अनित्य है, वह नित्य को बतलाता है। नित्य को नित्य नहीं जानता। अनित्य जो वर्तमान ज्ञान का अंश है, वह त्रिकाल को बतलाता है, नित्य को बतलाता है परन्तु अनादि से इसकी दृष्टि उस ओर नहीं। आहा...हा... ! इसने मेहनत बहुत की, परीषह सहन किये, उपसर्ग सहन किये, आहा...हा... ! चमड़ी उतारकर नमक छिड़के तो भी क्रोध न करे—ऐसा पर्यायबुद्धि की स्थिति में ऐसा इसने सहन किया। आहा...हा... !

जो तत्त्व वर्तमान में है, वह त्रैकालिक होता ही है। आहा..हा... ! इसकी जो यह सफेद अवस्था अभी दिखती है, देखो ! यह तो वर्तमान अवस्था है, तो वर्तमान अवस्था है तो उसका कायमी तत्त्व है या नहीं ? कायमी तत्त्व परमाणु ध्रुव है। इसी प्रकार ज्ञान की पर्याय वर्तमान है, उसका ध्रुवपना, ज्ञायकपना त्रिकाल है। आहा...हा... ! जो तत्त्व वर्तमान है, वह त्रिकाली होता ही है।

विचार करने से आगे बढ़ा जाता है। ज्ञान की पर्याय है, अवस्था है तो कायमी चीज़ है—ऐसा विचार करने से अन्दर में जाया जाता है... आहा...हा... ! बढ़ा जाता है। शब्द बहुत थोड़े हैं परन्तु भाव तो..... आहा...हा... ! सर्वज्ञ परमात्मा ने कहे हैं, वे भाव हैं। आहा...हा... ! भाई ! तेरे अंश को तू मानता है परन्तु अंश किसके आधार से होता है ? वह अंश किसका है ? यह अंश किसी परमाणु का है ? राग का अंश है यह ? ज्ञान का अंश है, वह ज्ञायक त्रिकाल है, उसका अंश है। आहा...हा... ! यह अंश त्रिकाल को बतलाता है।

मुमुक्षु : अनित्य क्यों कहलाता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय अनित्य है न ! समकित दर्शन, ज्ञान, चारित्र सब अनित्य है।

मोक्षमार्ग स्वयं अनित्य है। आहा...हा...! सम्यग्दर्शन, वह पर्याय है। अरे! केवलज्ञान भी अनित्य पर्याय है। एक बार चिल्ला गये थे। मथुरा गये थे न? बहुत सभा भरी हुई थी, बहुत पण्डित बैठे हुए थे, इतना कहा गया, मैंने कहा, भाई! केवलज्ञान भी एक नाशवान पर्याय है। उसकी एक समय की ही अवधि होती है। (यह सुनकर पण्डितों को ऐसा लगा) अरे! यह ज़्या!? भाई! केवलज्ञान है, वह गुण नहीं, पर्याय है और पर्याय की अवधि ही एक समय की होती है। दूसरे समय वह नाश ही होती है। भले ही वैसी दूसरी हो, दूसरी वैसी हो परन्तु वह दूसरे समय नहीं रहती। खलबलाहट हो गया था पण्डितों में, मथुरा में, परन्तु फिर कैलाशचन्द्र जी थे, (उन्होंने कहा), कि भाई! सुनो तो सही, क्या कहते हैं! सुनो तो सही! अरे! बापू! यह कोई बिना विचारे ऐसे के ऐसे बोल जाते हैं – ऐसा नहीं है। भाई! आहा...हा...! यह केवलज्ञान भी नाशवान है क्योंकि इसकी एक समय की अवधि है और वस्तु त्रिकाल ध्रुव है। आहा...हा...!

इसी प्रकार यहाँ मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का अंश है, वह भी अनित्य और नाशवान है, उसकी एक समय की स्थिति है, वह अनित्य है। आहा...हा...! परन्तु वह अनित्य है, वह नित्य को बतलाता है। यह अनित्यपना किसका? कि इस नित्य का। आहा...हा...! अरे रे! ऐसी बात! वीतरागी परमात्मा, बहुत सादी भाषा से दिव्यध्वनि में तो आया था। इन्द्र और गणधर बिराजते हैं। दिव्यध्वनि में तिर्यंच के बालक हों, वे समझ जाते हैं। आहा...हा...! तिर्यंच के बच्चे सुनने आते हैं न! सभा में सिंह और बाघ के बच्चे सुनने आते हैं। वे तीन लोक के नाथ की वाणी सुनते हैं। भाई! प्रभु! उनकी भाषा में वे समझते हैं। वहाँ तो दिव्यध्वनि आती है। एक साथ में सब (आता है) परन्तु उनकी योग्यता प्रमाण वे समझते हैं। ऐसा कहते हैं, प्रभु! कहते हैं, भाई! तू है न! वर्तमान है न! जिसका वर्तमान है, वह तो त्रिकाली है। आहा...हा...! वह वर्तमान परमाणु का है? ज्ञान का वर्तमान-पर्याय परमाणु का है? जड़ का है? आहा...हा...!

जो तत्त्व वर्तमान में है, वह त्रैकालिक होता ही है। विचार करने से आगे बढ़ा जाता है। अनन्त काल में सब कुछ किया,... पुण्य, दया, दान, व्रत, भक्ति, अनन्त बार किये हैं, वे कोई चीज़ नहीं। आहा...हा...! वह तो अभव्य भी अनन्त बार करता है। आहा...हा...! **अनन्त काल में सब कुछ किया,...** सब कुछ किया अर्थात् क्या? पुण्य और पाप के भाव। सब अर्थात् पर का किया-ऐसा नहीं। पर का कर ही कहाँ सकता है? परन्तु असंख्य प्रकार के शुभभाव और असंख्य प्रकार के अशुभभाव अनन्त बार किये, वह सब किया ऐसा। धन्धा किया और स्त्री से विवाह किया और पुत्र का विवाह किया... वह तो आत्मा की क्रिया है ही कहाँ? आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...!

जिसकी तरंग उठे, उसका कोई दल तो होता है न ? उस बिना तरंग कहाँ से उठी ? इसी प्रकार पर्याय की तरंग जो दिखती है, उसका कोई दल है न पूरा ध्रुव ? आहा...हा... ! भाई ! तेरी वहाँ नजर नहीं गयी। आहा...हा... ! तेरी नजर वर्तमानमात्र ज्ञान में रुक गयी और उसमें बहुत किया, ऐसा (मानकर) त्याग किया, वैराग्य किया, स्त्री-पुत्र छोड़े, धन्धा छोड़ा, लाखों की-करोड़ों की आमदनी छोड़ी (-ऐसा माना)। क्या छोड़ा ? बापू ! आहा...हा... ! कुछ छोड़ा नहीं। इसने अन्दर राग की एकताबुद्धि में, पर्यायबुद्धि में सब आत्मा पूर्णानन्द का त्याग है। आहा...हा... ! बाहर का त्याग है, वह इसमें नहीं परन्तु दृष्टि यहाँ पर्याय पर है; इस कारण त्रिकाली का त्याग है। आहा...हा... ! मैंने त्याग किया और मैंने यह किया, हम छोड़कर बैठे, बापू ! सूक्ष्म बातें हैं, भाई ! आहा...हा... ! अनन्त काल में (यह) किया नहीं, (बाकी) सब कुछ किया।

एक त्रैकालिक सत् की श्रद्धा नहीं की। आहा...हा.. ! असंख्य प्रकार के शुभभाव, असंख्य प्रकार के अशुभभाव अनन्त बार किये परन्तु एक त्रिकाली; जिसका अंश है, वह यह ध्रुव है, इसकी नजर नहीं की। कहो, शान्तिभाई ! उस समय (ऐसा जानते थे कि) यह पन्द्रह सौ का वेतन मिलता था वह छोड़ा, यह बहुत छोड़ा ऐसा है ? प्लेन में थे, प्लेन में थे। पन्द्रह सौ का वेतन (था)। दो वर्ष हुए छोड़ दिया। धन्धा छोड़ दिया। धूल का धन्धा ! यह हसमुखभाई ने तो सब बहुत किया हसमुखभाई ने यह तो एक दृष्टान्त बैठाया है। आहा...हा... ! क्या करना ? बापू ! आहा...हा... ! ऐसा धन्धा और पानी का भाव, भाव, हों ! धन्धा-पानी किया नहीं। आहा...हा... ! तूने पर्याय का धन्धा, राग का धन्धा किया परन्तु त्रिकाली ज्ञायकभाव पर तूने नजर नहीं की। आहा...हा... ! जिसका वह अंश है, ऐसा जो अंशी अन्दर है, उसमें तेरा ध्यान नहीं गया, भाई ! जो करना था वह नहीं किया तूने। आहा... ! है ? **त्रैकालिक सत् की श्रद्धा नहीं की।** १४० (बोल पूरा हुआ)। ओहो...हो.. ! ४० मिनिट हो गये। १४० के ४० मिनिट हो गये, लो ! छोटाभाई ! कहते हैं।

१४१, **अज्ञानी जीव को अनादि काल से विभाव का अभ्यास है;...** यह शुभ-अशुभभाव का अभ्यास है, पर का नहीं। पर का मकान किया या स्त्री से विवाह किया और शरीर से विषयभोग किये, यह क्रिया कोई आत्मा की नहीं है। यह आत्मा कर नहीं सकता। आहा...हा... ! विभाव का अभ्यास है। आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध जो पुण्य और पाप ऐसा जो विभाव, उसका इसे अनादि से अभ्यास, अभ्यास है। आहा...हा... !

मुनि को स्वभाव का अभ्यास वर्तता है। आहा...हा... ! मुनि ने यह छोड़ा और यह

रखा—ऐसा नहीं, ऐसा कहते हैं। मुनि को स्वभाव का अभ्यास वर्तता है। आहा...हा...! अज्ञानी को विभाव का अभ्यास वर्तता है, पढ़ते हैं, वह अभ्यास करते हैं। आहा...हा...! **मुनि को स्वभाव का अभ्यास वर्तता है।** आनन्द का नाथ प्रभु, शुद्ध चैतन्यघन नित्य जिसकी धातु धारण कर रखी है, ऐसा स्वरूप है। आहा...हा...! जिसने चैतन्य धारण किया है-ऐसा चैतन्य; ऐसे स्वभाव का सन्तों को अभ्यास है। आहा...हा...! अज्ञानी को विभाव का अभ्यास है, सन्तों को स्वभाव का अभ्यास है। अभ्यास तो दोनों को है। समझ में आया? ऐसा कठिन पड़ता है। सुना न हो, अभी तो सब बात बदल गयी है, भाई! अरे रे! जिससे हित हो, जिससे संसार में पृथक् हो, वह बात नहीं मिलती, ऐसी बात न हो, तब तक बापू! क्या किया? भाई! यह जन्म और मरण के, नरक और निगोद के भव के भाव (किये)। मिथ्यात्व है, वह नरक और निगोद के भाव हैं। पर्यायबुद्धि है, वह भव का-भटकने का भाव है। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं **मुनि को...** समकिती को क्यों नहीं लिया? क्योंकि वह तो जघन्य अवस्था है। मुनि को स्वभाव का विशेष अभ्यास है। **मुनि को स्वभाव का अभ्यास वर्तता है।** आनन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, वीतरागस्वरूप, शान्त... शान्त... शान्त... अकषाय स्वभाव, शान्तस्वरूप त्रिकाल का अभ्यास वर्तता है। आहा...हा...! अभ्यास तो दोनों को है-एक को विभाव का और एक को स्वभाव का। आहा...हा...!

समकिती को स्वभाव का अभ्यास है परन्तु थोड़ा है, उससे मुनि को महा (विशेष है)। आहा...हा...! जिसने अन्दर समुद्र उछाला है! सर्वांग से भरपूर आनन्द और शान्ति, यह खजाना जिसने खोल दिया है। आहा...हा...! निधान को ताला मारा था-पर्यायबुद्धि से निधान को ताला मारा था, वह स्वभावबुद्धि से खजाना खोल दिया। आहा...हा...! बापू! प्रभु! तेरे संसार के उद्धार के पंथ की बातें हैं, नाथ! यह कोई व्यक्ति के लिये बात नहीं है, वस्तु की स्थिति यह है। आहा...हा...!

मुनि को तो स्वभाव का अभ्यास वर्तता है। उन्हें पंच महाव्रत के विकल्प का अभ्यास वर्तता है - ऐसा नहीं कहा। अट्ठाईस मूलगुण का अभ्यास, वह तो राग है; वह मुनिपना है ही नहीं। आहा...हा...! राग से पृथक् हुआ स्वभाव, उस ज्ञान और आनन्द के स्वभाव का जिसे अभ्यास है। आहा...हा...! **स्वयं ने अपनी सहज दशा प्राप्त की है।** आहा...हा...! सन्तों ने स्वयं अपनी-स्वयं स्वयं की सहज दशा प्राप्त की है। आहा...हा...! जिसने आनन्द और ज्ञान, शान्ति और वीतरागता, यह स्वभाव की दशा जिसने प्राप्त की है, शक्ति और स्वभावरूप से तो

था ही, परन्तु पर्याय में जिसने अभ्यास में वीतरागता और आनन्द का जिसने अभ्यास किया है। आहा...हा...! वह सहज दशा प्राप्त की है। सहज दशा है, वहाँ हठ नहीं। आहा...हा...! पूर्णानन्द के नाथ भगवान को अवलम्बन कर जो दशा होती है, वह सहज दशा होती है। निर्मल, वीतरागी, शान्त, मोक्ष के मार्ग की दशा, वह सहज दशा प्राप्त की है।

उपयोग जरा भी बाहर जाय... आहा...हा...! मुनि को विकल्प जरा बाहर जाये... आहा...हा...! **कि तुरन्त सहजरूप से अपनी ओर ढल जाता है।** आहा...हा...! सातवें गुणस्थान में-अप्रमत्त में उपयोग है, उसमें से छठे में विकल्प आते हैं, फिर (वापस) अन्दर ढल जाते हैं तुरन्त सातवें में ढल जाते हैं। आहा...हा...! यह विकल्प है वह दुःखदायक है। आहा...हा....! बाहर में आने पर उन्हें रुचता नहीं परन्तु कमजोरी के कारण, पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण वह भाव आवे परन्तु वह उपयोग बाहर जाये कि तुरन्त सहजरूप से, स्वभावरूप से तुरन्त ही, हों! इस शुभ को छोड़ना और स्थिर होना—ऐसा नहीं, वह तो स्वभाव तरफ ही उनका झुकाव है। आहा...हा...!

तुरन्त सहजरूप से अपनी ओर ढल जाता है। आहा...हा...! अतीन्द्रिय अमृत का सागर, भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का सागर जहाँ नजर में—अनुभव में आया है, उसके स्वाद के समक्ष, बाहर निकलने पर विकल्प आया कि तुरन्त अन्दर वापस ढल जाते हैं। आहा...हा...! यह छठवें-सातवें की बात है। **बाहर आना पड़े, वह बोझ – उपाधि लगती है।** उपदेश देने का विकल्प आवे, आहार ग्रहण करने का विकल्प आवे... आहा...हा...! बोझा लगता है। आहा...हा...! हल्की चीज़ में वह बोझा लगता है। भगवान अनाकुल आनन्द का रसीला, उसे राग तो आकुलता / दुःख है। आहा...हा..! बाहर में आना रुचता नहीं। आनन्द में रहा है, उसे बाहर आना रुचता नहीं परन्तु कमजोरी के कारण आ जाते हैं। तुरन्त वापस अन्दर में चले जाते हैं। आहा...हा...! देखो यह मुनिदशा! आहा...हा...!

भाई! मुनिपना तो परमेश्वर पद है। आहा...हा...! मुनि तो परमेश्वर हैं। पंच परमेष्ठी है न? पंच परमेष्ठी में वे साधु आये या नहीं? कितने ही ऐसा अर्थ करते हैं—णमो लोए सव्व साहूणं अर्थात् 'सर्व' में जैन के और अन्य के सब साधु को रखना। अरे! भगवान क्या करता है तू? प्रभु! वह सुशीलकुमार स्थानकवासी साधु है, वह अमेरिका में मुँहपत्ती सहित गया था, वापस आ गया। अरे रे! प्रभु! क्या करता है? भाई! पुण्य के कारण चमक (दिखती है) भाषा करे-भाषण करे, अमेरिका में पाँच, सात, दस हजार लोग एकत्रित होते हैं, उसे अंग्रेजी नहीं

आती, हिन्दी बोलता है और दूसरे अंग्रेजी कर डालते हैं। अरे! बापू! सर्व साधु नहीं। जैन के, आनन्द के अनुभवी हैं, वे सर्व साधु में आते हैं; अन्य के साधु नहीं। आहा...हा...! तब फिर यह तेरापंथी, तुलसी तुम्हारे गाँव का-लाडनूँ का है न? तुलसी लाडनूँ का है, उसने कहा 'लोए' निकाल डालना, णमो लोए सव्व साहूणं नहीं, णमो सव्व साहूणं। परन्तु लोक का अर्थ बापू! तुझे पता नहीं है।

अरिहन्त हैं, वे लोक में हैं अर्थात् अरिहन्त भिन्न-भिन्न स्थान में होते हैं; इसलिए लोक में गिनने में आया और सिद्ध को भी लोक में गिनना क्योंकि यहाँ सिद्ध होते हैं। यहाँ होते हैं तो अभी यहीं हैं और फिर वहाँ जाते हैं; इसलिए इस सब क्षेत्र में हैं, उन सिद्ध को नमस्कार करते हैं। 'लोए' का अर्थ निकाल डालना है तो तुझे क्या निकालना है? अब यह बड़े तेरापंथी के अणुव्रत के बड़े आन्दोलन निकालते हैं। अन्यमतियों को भी—मिथ्यादृष्टि को भी अणुव्रत (देते हैं)। अरे! परन्तु अभी तुझे व्रत नहीं, बापू! तुझे पता नहीं, भाई! आहा...हा...! क्या हो? अरे! मालिक बिना के ढोर हो गये हैं अभी। आहा...हा...! अपनी स्वच्छन्दता से चलते हैं। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं **बाहर आना पड़े, वह बोझ...** विकल्प उठे, आहा...हा...! पाण्डवों को (दूसरे) तीन का विकल्प उठा, कैसे होगा? वहाँ बन्ध पड़ गया। आहा...हा...! दो भव बढ़ गये, बापू! मुनि की दशा तो अलौकिक है, भाई! आहा...हा...! जिसने आत्मा के अवलम्बन से आनन्द की धारा, आत्मप्रसिद्धि की है। टीका का नाम आत्मख्याति है न? यह प्रसिद्ध किया है। किसने? आनन्द, ज्ञान के स्वभाव से प्रसिद्ध किया है। राग से प्रसिद्ध किया है-ऐसा आत्मा नहीं। आहा...हा...!

चक्रवर्ती के पुत्र राजकुमार हों, स्फटिकमणि के तो जिन्हें बंगलें हों और हजारों रानियाँ, अरबोंपति राजा की लड़कियाँ हों परन्तु जब उन्हें सम्यग्दर्शन होकर अनुभव करने के लिये बढ़ने जाते हैं, आहा...हा...! माता! मुझे कहीं रुचता नहीं। मुझे जहाँ रुचता है, वहाँ मैं जाना चाहता हूँ। आहा...हा...! मेरा नाथ अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर है। आहा...हा...! वह अधूरा नहीं, हीन नहीं, अशुद्ध नहीं; पूर्णानन्द का नाथ मेरा प्रभु है। आहा...हा...! उसके आनन्द को लूटने के लिये / अनुभव करने के लिये मैं तो जाता हूँ। आहा...हा...! ऐसा मुनिपना!! बापू! मुनिपना (किसे) कहें! आहा...हा...! अरे रे! सत्य बात कहने पर इसे ऐसा हो जाता है कि न हो! हम यह सब मुनि हैं, उन्हें उत्थापित करते हैं, बापू! भाई! तेरी स्थिति कैसी है—ऐसा

तुझे जानना पड़ेगा, भाई! आहा...हा...! और अनजान में ऐसे का ऐसा रहेगा तो संसार नहीं छूटेगा और निगोद के भव आयेंगे, भाई! आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं **बाहर आना पड़े, वह बोझ – उपाधि लगती है।** आहा...हा...! **मुनियों को अन्तर में सहज दशा–समाधि है।** शान्ति... शान्ति... शान्ति... अकषायभाव मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है न! दर्शन, ज्ञान और चारित्र, वह अकषायभाव है, वीतरागभाव है। है भले अनित्य पर्याय, परन्तु वह वीतरागभाव है, समाधिभाव है। समाधि अर्थात्? सम–आधि अर्थात् विषमता – पुण्य–पाप के विकल्प से छूटकर, समाधि। समाधि अर्थात् वे बाबा समाधि में चढ़ते हैं वह नहीं। जो विकल्प में से निकलकर निर्विकल्प शान्ति में पड़े हैं, उसे समाधि कहते हैं। स्थानकवासी, मन्दिरमार्गी के लोगस्स में भी आता है।..... यह किया है? लोगस्स किया है? नहीं किया। पहले से इसमें आये। 'समाहिवरमुत्तमं' आता है। 'समाहिवरमुत्तमं' परन्तु वह समाधि क्या? रागरहित शान्ति, आनन्द की धारा, अतीन्द्रिय आनन्द की धारा को यहाँ समाधि कहते हैं। **मुनियों को अन्तर में सहज दशा–समाधि है।** आहा...हा...!

विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

२

श्री पंचास्तिकाय, गाथा-२०, प्रवचन - २७
दिनांक - ११-१२-१९६९

बीसवीं गाथा का भावार्थ है। यह पंचास्तिकाय का स्वरूप है। ऊपर का अस्तित्व शुद्ध है, ऐसा अस्तिकाय में लिया, ऐसा जीव लिया। **संसारी जीव की प्रगट संसारी दशा देखकर...** क्या कहते हैं? यह पंचास्तिकाय का स्वरूप है। है वस्तु अस्ति और जीव को असंख्य प्रदेशी आदि काय है। धर्मास्ति को असंख्य, अधर्मास्ति को (असंख्य) और आकाश अनन्त है। यह उसकी काय है। काय अर्थात् प्रदेशों का समूह। **संसारी जीव की प्रगट संसारी दशा देखकर अज्ञानी जीव को भ्रम उत्पन्न होता है...** क्या कहते हैं? **कि जीव सदा संसारी ही रहता है...** ऐसा का ऐसा मलिन परिणामवाला जीव अनादि-अनन्त रहता है। क्योंकि पर्यायबुद्धि में तो वर्तमान संसार है। राग, द्वेष अज्ञान है न? वह विकार है और उस विकार से तीनों काल का विकार, ऐसा का ऐसा रहेगा, ऐसा अज्ञानी मानता है।

श्रोता : प्रत्येक अज्ञानी ऐसा मानता होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रत्येक अज्ञानी। उसका द्रव्यस्वरूप शुद्ध है, उसे वह जानता नहीं। शुद्धद्रव्य है, उसे शुद्ध नहीं जानता। यदि शुद्ध द्रव्य है, उसको शुद्ध जाने, तब तो उसकी पर्याय भविष्य में शुद्ध ही होगी, ऐसा उसे ज्ञान होता है। समझ में आया?

संसारी जीव की प्रगट संसारी दशा देखकर अज्ञानी जीव को भ्रम उत्पन्न होता है कि जीव सदा संसारी ही रहता है, सिद्ध हो ही नहीं सकता... समझ में आया? अभी यह बहुतों का मत है, मत भी है। अनादि संसारी है तो अनादि संसारी ही रहेगा। वह कभी मुक्त होगा ही नहीं। ऐसा लोगों का मत है। आर्य समाज का। समझ में आया? सिद्ध होगा ही नहीं। वहाँ भी ऐसा का ऐसा रहता है, वापस आता है और अवतार धारण रहता है। क्योंकि अनादि का विकार है, वह कैसे जाए? ऐसा अज्ञानी मानता है। पर्यायदृष्टि देखनेवाला वस्तु भगवान शुद्ध चिदानन्दमूर्ति द्रव्यस्वभाव है, (उसे नहीं देखता)। सिद्धपद उसमें पड़ा है। समझ में आया? वस्तु सच्चिदानन्द शुद्ध ध्रुव, वह सिद्धपद स्वरूप उसमें अनन्त सिद्ध की पर्यायें पड़ी हैं। ऐसी

जिसे द्रव्यदृष्टि और द्रव्य की शक्ति के सामर्थ्य की प्रतीति नहीं, वह वर्तमान राग-द्वेष और अज्ञान को देखकर ऐसा काल अनन्त गया। वर्तमान देखकर ऐसा अनन्त काल गया और ऐसा का ऐसा अनन्त काल जाएगा, (ऐसा मानता है)। समझ में आया ?

यदि सिद्ध होवे तो सर्वथा असत् उत्पाद का प्रसंग उपस्थित हो। उसे ऐसा हो जाता है। यह विकार है, वह और सिद्ध हो जाए तो असत्—नहीं था, वह हुआ। नहीं था, वह हुआ नहीं। सिद्धपद अन्दर था, पर्याय में नहीं था। समझ में आया ? सिद्ध ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्यध्रुव परमात्मस्वरूप अन्दर पड़ा ही है। आहाहा! पर्याय में भले रागादि हो, स्वभाव में तो शुद्धता परिपूर्ण शुद्ध परमात्मा ही है। समझ में आया ? यह मानो कि यदि सिद्ध हो जाए तो नया उत्पन्न होगा, पुराना जाए और नया उत्पन्न हो, इसलिए सिद्ध कभी होगा नहीं। ऐसा का ऐसा संसार अनादि रहे। ऐसी पर्यायबुद्धिवाले को पर्याय के अंश को देखनेवाला त्रिकाली ध्रुवस्वभाव का सत्त्व और सामर्थ्य को नहीं देखनेवाले को ऐसा ही भासित होता है। समझ में आया ? देखो! यह अस्तिकाय सिद्ध करते हैं। पर्याय का अस्तित्व देखनेवाला द्रव्य अस्तित्व नहीं देखता। इसलिए उसे द्रव्य के अस्तित्व की—सामर्थ्य की खबर नहीं है। समझ में आया ?

यहाँ तो मोक्ष हो, ऐसे जीवद्रव्य की बात ली है। भगवान आत्मा... शरीर, वाणी तो जड़ है। पुण्य-पाप के विकल्प आदि होते हैं, वह विकार है। परन्तु वह विकार क्षणिक है। वह क्षणिक अवस्था का है। और रहे तो क्षणिकरूप से रहेगा। तब क्षणिकरूप से रहेगा किसे ? कि जिसे द्रव्यदृष्टि वस्तु का अस्तित्व परिपूर्ण है, ऐसी दृष्टि नहीं है उसे। परन्तु यह बात यहाँ नहीं ली है। यहाँ तो पर्याय का विकारी अस्तित्व है, वह है। भले असंख्य प्रदेशी हो परन्तु वस्तु जो स्वरूप त्रिकाल ध्रुव, अकेला ज्ञानस्वभाव, आनन्दस्वभाव, शुद्ध परिपूर्ण अखण्ड एकरूप स्वभाव, उसकी दृष्टि की सत्ता का स्वीकार जिसे नहीं है, ऐसा अज्ञानी त्रिकाल विकाररूप रहेगा और सिद्ध होगा तो नया होता है, असत् उत्पन्न होता है, इसलिए सिद्ध नहीं हो सकता—ऐसा अज्ञानी मानता है। कहो, समझ में आया या नहीं इसमें ? **किन्तु अज्ञानी की यह बात योग्य नहीं है।**

जिस प्रकार जीव को देवादिरूप एक पर्याय के कारण का नाश होने पर... देखो! यह अब सिद्धान्त सिद्ध करते हैं। जैसे देव, मनुष्य की पर्याय जो है, उस विकारी पर्याय के कारण का नाश होने पर, वह आयुष्य... आदि। **उस पर्याय का नाश होकर अन्य पर्याय उत्पन्न होती है...** इसमें होता है या नहीं ? कहते हैं। मनुष्य की पर्याय का नाश होकर देव की पर्याय उत्पन्न होती है। **जीवद्रव्य तो ज्यों का त्यों रहता है...** मनुष्य की अवस्था का नाश

होने पर देव की अवस्था उत्पन्न होती है, परन्तु कहीं जीवद्रव्य का नाश हो और जीवद्रव्य नया उत्पन्न हो, ऐसा तो नहीं है। समझ में आया?

उसी प्रकार जीव को संसारपर्याय के कारणभूत मोह-राग-द्वेषादि का नाश होने पर... लो! यह सिद्धान्त (कहा)। संसारपर्याय का नाश होकर, दूसरी संसारपर्याय होती है, तथापि जीवद्रव्य तो वह का वही ही रहता है। ऐसी संसारपर्याय का नाश होकर, **मोह-राग-द्वेषादि का नाश होने पर संसारपर्याय का नाश होकर सिद्धपर्याय उत्पन्न होती है, जीवद्रव्य तो वही रहता है।** भगवान आत्मा अस्तित्व, शुद्ध सत्ता और सिद्धपर्याय की प्राप्ति करनेवाला ऐसा द्रव्य तो वह का वही रहता है। **संसारपर्याय और सिद्धपर्याय दोनों एक ही जीवद्रव्य की पर्यायें हैं।** जैसे मनुष्य और देव की पर्याय / अवस्था एक ही जीव की थी, उसी प्रकार संसार और सिद्धपर्याय एक ही जीव की दो अवस्थाऐं हैं : अशुद्ध और शुद्ध।

पुनश्च अन्य प्रकार से समझाते हैं :- मान लो कि एक लम्बा बाँस खड़ा रखा गया है... लो! **उसका नीचे का कुछ भाग रंग-बिरंगा किया गया है...** बाँस का। यह लो न, चित्राम है न? लकड़ी में चित्राम है। **और शेष ऊपर का भाग अरंगी (स्वाभाविक शुद्ध) है। उस बाँस के रंग-बिरंगे भाग में से कुछ भाग...** अब खुल्ला करते हैं। यह है न? ऐसे बन्द है और ऐसे बन्द है। इतना थोड़ा खुल्ला है। ऐसे बन्द है, ऐसे बन्द है। यह खुल्ला है। इसलिए खुल्ले का अनुमान करके ऐसा ही भाग नीचे भी है और ऐसा भाग ऊपर भी है, ऐसा अनुमान करे। शेष देखो! यह है छोटा और यह बड़ा भाग है। खुल्ला बड़ा भाग है। क्योंकि चित्रामवाला थोड़ा भाग है। इसी प्रकार जीव में संसार पर्याय का भाग बहुत थोड़ा है और मोक्षपर्याय का भाग बहुत अनन्त... अनन्त.. अनन्त.. ऊर्ध्व में है। समझ में आया?

नीचे का कुछ भाग रंग-बिरंगा किया गया है और शेष ऊपर का भाग अरंगी (स्वाभाविक शुद्ध) है। अर्थात् उसमें रंग नहीं है, ऐसा। चित्राम नहीं है। अकेला शुद्ध। **उस बाँस के रंग-बिरंगे भाग में से कुछ भाग खुला रखा गया है...** देखो! ऐसा खुल्ला। यह रंग-बिरंगी खुल्ला, हों! **और शेष सारा रंग-बिरंगा भाग तथा पूरा अरंगी भाग ढँक दिया गया है।** कहो, समझ में आया? यह भी ढँक दिया गया है और वह भी ढँक दिया गया है। मात्र यह रंगवाला थोड़ा खुला है। **उस बाँस के रंग-बिरंगे भाग में से कुछ भाग खुला रखा गया है, और शेष सारा रंग-बिरंगा भाग तथा पूरा अरंगी भाग ढँक दिया गया है।** उस बाँस का खुला रंग-बिरंगी भाग देखकर यह थोड़ा। चित्राम देखकर। देखो! इसमें चित्राम बहुत है, हों! भिन्न-भिन्न कुछ न कुछ किया है।

खुला भाग रंग–बिरंगा देखकर अविचारी जीव 'जहाँ–जहाँ बाँस हो वहाँ–वहाँ रंग–बिरंगापन होता है' ऐसी व्याप्ति... ऐसा मेल अज्ञानभाव से करता है। आहाहा! देखो न, कैसी बात की है! आत्मा वस्तुरूप से महाप्रभु है। अस्तित्वरूप से उसमें महा अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... केवलज्ञान और सिद्धपद स्थित है। ऐसा भाग वस्तु में है परन्तु पर्याय में नहीं देखकर, पर्याय में विकार देखकर, खुला विकार थोड़ा सा देखे, यह विकार है न, ऐसा का ऐसा रहेगा न... रहेगा न... रहेगा न... यह रहता है–रहता है, यह रहा हुआ है और रहता है तथा रहेगा। ऐसा अज्ञानी पर्यायबुद्धि से तीनों काल में संसारी पर्याय होगी, ऐसा मानता है। समझ में आया इसमें? यह बाँस का दृष्टान्त समझ में आता है या नहीं? दृष्टान्त समझ में आता है या नहीं? सिद्धान्त? दृष्टान्त समझ में आता है तो हाँ किया?

यह ढँका हुआ है। देखो! है न? यह ढँका हुआ है। ऐसा देखकर यह चित्राम यहाँ नीचे भी ऐसा का ऐसा है तो यह वापस ऊपर भी ऐसा का ऐसा है, ऐसा कल्पित कर लेता है। इसी प्रकार संसारी जीव अनादि काल के ज्ञानावरणी आदि का विकार है, अभी भी थोड़े काल है। इसमें दिखता है परन्तु भविष्य में पूरी सिद्धपद की पर्याय प्रगट होनेवाली है। क्योंकि उसका अस्तित्व ऐसा है। जीवद्रव्य का अस्तित्व / होनापना इतना ही है कि भविष्य में उसकी सिद्धपर्याय प्रगट हो। ऐसे जीव के अस्तित्व की बात यहाँ ली है। समझ में आया?

श्रोता : जीव ही कहना...

पूज्य गुरुदेवश्री : वास्तव में तो उसे जीव ही कहना, ऐसा भाई कहते हैं, लो! आहाहा! अस्तिकाय को सिद्ध करके...

संसारपर्याय रहे, वह जीव नहीं है। वास्तव में तो जीव जिसका स्वरूप ही आनन्द और ज्ञायकभाव है। अनन्त परमात्मस्वरूप जिसमें, भगवान ध्रुवस्वरूप में स्थित है, ऐसा महाप्रभु, उसे वास्तव में जीव कहना। उस जीव को रंग की राग–द्वेष की पर्याय नाश हुई और अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्तगुने काल तक उसकी सिद्धपर्याय रहनेवाली है। चिमनभाई! समझ में आया? निर्धनपना बहुत काल रहा हो और वर्तमान निर्धनपना दिखता हो परन्तु उसे पुण्य के कारण भविष्य में लक्ष्मीवाला होगा और बहुत काल रहेगा, ऐसी उसे प्रतीति नहीं आती।

श्रोता : गरीब मनुष्य...

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे ऐसा हो जाता है कि हम गरीब हैं... अपन गरीब हैं। अपन तो गरीब मनुष्य हैं, भाई! ऐसा कहता है। परन्तु गरीब नहीं हैं। राजा होने की योग्यता तुझमें है।

कहो, समझ में आया ? मैं राजा होऊँगा। राजा क्यों नहीं हुआ जा सकता ? पुनश्च, एक व्यक्ति ऐसा कहता था। पैसे की कोई बात चले तो कहे, वह तो पुण्य के कारण मिलता है तो राजा भी हुआ जा सकता है। परन्तु क्या है तुझे ?

श्रोता : राजा होना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : राजा होना है तुझे ? बनिया है और राजा होना है ? ऐसे के ऐसे विकार में ऐसे लवलीन... लवलीन... जवानी फटी, रूपवान शरीर, पैसे पैदा होते हों, घर में पूँजी हो, शरीर निरोगी हो, भटकने की बुद्धि कुछ उघड़ी हो। भटकने की बुद्धि ऐसे... ऐसे... ऐसे... ओहोहो ! परन्तु क्या है यह ? राजा भी हो सकते हैं। परन्तु किसकी बात चलती है यह ? यह तू क्या बोलता है ? यहाँ तो कहते हैं कि पैसा पुण्य के कारण मिले, उसमें आत्मा कुछ नहीं कर सकता। ऐसा सिद्ध करते हुए कहते हैं, आत्मा राजा हो सकता, परन्तु पुण्य का नाश करके पवित्रता प्रगट करे, ऐसी श्रद्धा तुझे क्यों नहीं बैठती ? आत्मा राजा हो सकता है, सिद्ध राजा। समझ में आया ? आहाहा ! भारी बात परन्तु, हों ! पंचास्तिकाय के श्लोक में ऐसा अस्तिकाय सिद्ध किया है। जीव का अस्तित्व, जीव का अस्तित्व इतना है, इतना है उसे माने, उसने जीव माना। पर्यायवाला अकेला विकारी... विकारी... विकारी... माना उसने जीव माना ही नहीं। आहाहा ! ऐसा अस्तित्व माना। पूरा अस्तित्व त्रिकाली। पूरे अनन्त गुण और अनन्त शान्ति का सागर ऐसा आत्मा को माना नहीं। समझ में आया ? आहाहा ! आचार्यों की, दिगम्बर सन्तों की कथनी... वे तो केवलज्ञान के पथानुगामी हैं। समझ में आया ? वे पथानुगामी हैं। ऐई ! माणिकलाल ! कोई कहता था न कि यह माणिकलाल आयेगा भविष्य में। वह है न पारसी ? पुण्य देखकर। यह तो एक बात है। यह दोनों लड़ते हैं, इसलिए वह आयेगा। वह पुण्य के कारण अनुमान कर डालता है। परन्तु पवित्रता के कारण ऐसा अनुमान नहीं करता। यहाँ आता है न ! आगमज्ञान अनुमान क्षयोपशम... कि भविष्य में सिद्ध होनेवाला, होनेवाला और होनेवाला है। क्योंकि मेरी सत्ता का-द्रव्य का स्वीकार हुआ है, उसमें सिद्धपद पड़ा ही है। उसमें संसारपद और संसारपर्याय है नहीं। आहाहा ! समझ में आया ? आहाहा ! देखो ! यह दृष्टि का विषय। समझ में आया ?

कहते हैं कि जीवद्रव्य उसमें माना कहलाये कि जिसने संसारपर्याय जो विकारी है, वह अल्पकाल रहेगी और भले अभी तक रही, और एकाध दो भव हो परन्तु वह इतना ही है। बाद का मेरा काल वस्तुसिद्धिस्वरूपी भगवान आत्मा पूर्णानन्द है। इसलिए ऐसी सत्ता का स्वीकार करनेवाला, उसे भविष्य में सिद्धपद की प्राप्ति हुए बिना नहीं रहेगी। ऐसे को यहाँ जीवद्रव्य

कहा है। आहाहा! समझ में आया? इसमें ऐसा नहीं आया कि भाई! यह देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा करे तो इसे सिद्धपद हो। ऐई!

श्रोता : ऐसा ही होवे न...

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ आया?

आगम तो उसने कहा हुए ज्ञान जाने, ऐसा कहते हैं। आगम का ज्ञान कहा, देखो! क्या है? है? **'भावादाप्तागमसम्यगनुमानातीन्द्रियज्ञानपरिच्छिन्नात्सिद्धत्वमिति।'** इसमें से तुझे निर्णय हो जाएगा।

श्रोता : पहले को?

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले को। आप्त कहा। आप्त का ज्ञान कहा न? उसका ज्ञान किया किसने? ऐई! सर्वज्ञ का ज्ञान किया किसने? स्वयं ने किया है। यह जीव सर्वज्ञ हो सकेगा... यह जीव सर्वज्ञ हो सकेगा। क्यों?—कि आत्मा में सर्वज्ञपना पड़ा है। समझ में आया? यह जीव सर्वज्ञ होगा, ऐसी उसे प्रतीति अन्तर के ज्ञान से आती है, तब उसने जीवद्रव्य का स्वीकार किया कहलाता है। इस प्रकार सबका स्वीकार करे परन्तु जीवद्रव्य का स्वीकार न करे, तब तक उसे सम्यग्ज्ञान और भविष्य में सिद्धपद की पर्याय की प्राप्ति की निःशंकता नहीं होती। आहाहा! समझ में आया?

उस बाँस का खुला भाग रंग-बिरंगा देखकर अविचारी जीव 'जहाँ-जहाँ बाँस हो वहाँ-वहाँ रंग-बिरंगापन होता है' ऐसी व्याप्ति (-नियम, अविनाभावसम्बन्ध) की कल्पना कर लेता है... आहाहा! गजब बात की है। **ऐसे मिथ्या व्याप्तिज्ञान द्वारा ऐसा अनुमान खींच लेता है कि 'नीचे से नितान्त ऊपर तक सारा बाँस रंग-बिरंगा है'।** ऐसा ही रहेगा। पर्यायदृष्टिवाला पर्याय को ही देखता है। राग-द्वेषवाली अवस्था के अंश को देखनेवाला वह अवस्था ऐसी की ऐसी सदा रहेगी, उसे द्रव्यदृष्टि में—सत्ता में महाभगवान विराजता है, (उसका स्वीकार नहीं करता)। आत्मा में अनन्त सिद्ध विराजते हैं। अभी, हों! आहाहा! समझ में आया? अनन्त केवली, अनन्त सिद्ध, अनन्त आचार्य, सन्त, मुनि, आत्मज्ञान की दशावाले वे सब आत्मा में अन्दर में विराजते हैं, कहते हैं। ऐई! समझ में आया? भरोसा कौन करे? कहते हैं। पर्यायदृष्टि छोड़कर द्रव्य की (दृष्टि) करे वह। समझ में आया? उसकी दृष्टि निमित्त, विकल्प और एक समय की अवस्था की दृष्टि छूट जाए, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यहाँ ऐसा जीव लिया है, दूसरी बात ही यहाँ नहीं ली है। आहाहा! ऐ... जेठालालभाई! देखो

न! ऐसा जीव क्यों नहीं लिया कि सदा ही रहेगा ही ऐसा। उसका अस्तित्व ही इतना नहीं, ऐसा यहाँ तो सिद्ध करते हैं। ऐ! भगवान आत्मा का—द्रव्य का अस्तित्व ही इतना नहीं कि जो त्रिकाल मलिनरूप रहे - ऐसा सिद्ध करते हैं। आहाहा! अस्तिकाय है न?

भगवान आत्मा में असंख्य प्रदेश, उनमें अनन्त शुद्ध आनन्दकन्द सिद्ध परमात्मा विराजते हैं। ऐसा उसका अस्तित्व, द्रव्य का अस्तित्व—वस्तु का अस्तित्व इतना बड़ा है। इतने बड़े अस्तित्व का स्वीकार करे, उसे अल्प काल में सिद्धपद की पर्याय अनन्त काल रहे, ऐसी प्रगट होती है, ऐसा कहते हैं। परन्तु जिसे संसार की पर्याय के ऊपर राग और निमित्त तथा विकल्प के ऊपर दृष्टि है और ऐसा का ऐसा मैं रहूँगा और उसके कारण मुझे लाभ होगा, तब द्रव्य से लाभ होगा, ऐसी द्रव्य की दृष्टि उसकी है नहीं—ऐसा कहते हैं। गजब बात, भाई! ऐई! वजुभाई! पूरा... आहाहा! गजब बात, भाई! गजब करते हैं। आचार्य, सन्त, दिगम्बर मुनि केवलज्ञानी के पक्के पथानुगामी, ऐसे। समझ में आया? ऐसी बात अन्यत्र कहीं नहीं हो सकती।

इस अस्तिकाय का सत्ता का सिद्ध करते हुए भी ऐसा अस्तिकायवाला जीव को सिद्ध किया है। आहाहा! समझ में आया? वह संसारीपर्यायवाला तो व्यवहार जीव है। वह निश्चय जीव है ही नहीं। आहाहा! अरे! केवलज्ञान की पर्याय जो है या सिद्ध की पर्याय है, वह भी व्यवहार जीव है। समझ में आया? वह निश्चय जीव नहीं है। ऐई! कनुभाई! आहाहा! गजब बात है तेरी! संसार की यह विकारी पर्याय जो है, वह तो अत्यन्त अशुद्ध संसारी जीव का भाव है। परन्तु सिद्ध की पर्याय है, वह पर्याय भी व्यवहार जीव है। वह अंश है न? सिद्ध, वह अंश है। भले केवलज्ञान पूर्ण प्रगट हुआ परन्तु वह अंश है, वह व्यवहार जीव है। यहाँ तो निश्चय जीव—अस्तित्व ऐसा है। आहाहा! समझ में आया? जिसे पर्याय पर दृष्टि है, उसे तो विकारी रहेगी और विकारी (ही हूँ), अथवा जिसे वे पुण्य-पाप के विकल्प और अज्ञानभाव है, उस प्रकार से रहेगा। उसका अर्थ यह हुआ कि उससे मुझे लाभ होगा; इसलिए उनसे छूटेगा नहीं। यह विकल्प है या निमित्त है, उनसे लाभ होगा, इसलिए उससे छूटेगा नहीं। इसलिए जीवद्रव्य का अस्तित्व जो महाप्रभु है, उसके अस्तित्व का उसे स्वीकार होगा नहीं। आहाहा! कनुभाई! ऐसी बात है। कहो, कपूरभाई! समझ में आया यह? जीव का अस्तित्व परमात्मा, सन्त सिद्ध करते हैं। आहाहा! जीवास्तिकाय। दृष्टान्त, हों! उदाहरण। दृष्टान्त देकर सब छहों द्रव्यों का ध्रुवपना कायम रहेगा और पर्याय क्षण-क्षण में बदलती है। वे सब पर्यायें ध्रुव में से आती हैं। समझ में आया?

कहते हैं, **'जहाँ-जहाँ बाँस हो, वहाँ रंग-बिरंगापन होता है'**... ऐसा अज्ञानी मान लेता है कि ऐसा रंगवाला ही यह बाँस होता है। **ऐसे मिथ्या व्याप्तिज्ञान द्वारा**... व्याप्ति अर्थात् ऐसा नियम करके **ऐसा अनुमान कर लेता है कि**... देखो! अनुमान आया वापस **कि 'नीचे से नितान्त ऊपर तक सारा बाँस रंग-बिरंगा है।'** ओहोहो! **यह अनुमान मिथ्या है;**... उसका यह अनुमान सच्चा नहीं है। **क्योंकि वास्तव में तो उस बाँस का ऊपरी भाग रंग-बिरंगेपन के अभाववाला है,**... ऊपर का भाग खुला है। यह तो बहुत थोड़ा है। संसार का काल है, वह तो बहुत अनन्तवें भाग है। और सिद्धपद की पर्याय का काल तो अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुना है। वह अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुणों की पर्याय का पिण्ड जो आत्मा है, अकेला परमात्मा पूर्ण है। समझ में आया? यह तो भाई! शान्ति से अन्दर मनन करके बैठाने जैसी बात है। यह कहीं कोई धार ले बात, (ऐसी बात नहीं है)।

ऐसा सत्त्व, वस्तु का सत्त्व भगवान तीर्थंकर परमेश्वर केवलज्ञानी ने ऐसा जीव कहा है। ऐसा जीव कहा है कि जिसे विकार की अवस्था लम्बे काल में गयी और थोड़ी दिखती है, तथापि उस पर्यायदृष्टिवाले को ऐसा दिखता है कि ऐसा का ऐसा रहेगा, अतः उसे पूरा आत्मा अस्तित्व है, उसका स्वीकार नहीं है। समझ में आया? सम्यग्ज्ञान द्वारा, आगमज्ञान द्वारा या अनुमान सम्यग्ज्ञान द्वारा। देखो! अनुमान को भी सम्यक् लागू किया है। है न? सम्यक् है न? अनुमान भी बराबर सम्यक् है। यह स्वभाव, आंशिक जो सम्यक् निर्मल अंश प्रगट हुआ, वह सब निर्मलानन्द पूर्णानन्द है, ऐसा अनुमान करके... वेदन का अंश प्रत्यक्ष है और ऐसा का ऐसा सब भगवान आत्मा पूरा ध्रुव, ऐसा ही निर्मल का पिण्ड है, ऐसा अनुमान करके निर्विकल्प वेदन द्वारा आत्मा भविष्य में सिद्धपद की ढँकी हुई पर्याय है, वह खुली हो जाएगीऐसा उसने सम्यग्ज्ञान में देखा, उसने आत्मा माना कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया? कान्तिभाई! देखो! यह पर्यायदृष्टि उड़ गयी। उड़ गयी? यह तो न समझ में आये, तब तक इस प्रकार... वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर का ऐसा कोई मार्ग है। यह कहीं पठन कर जाए, वाँचन कर जाए। ग्यारह अंग, नौ पूर्व पढ़ गया और बातें करना आयी, इसलिए समझा है—ऐसा नहीं है। आहाहा! गजब बात करते हैं।

छहों द्रव्य की... भगवान ने छह द्रव्य देखे, उनका उत्पाद-व्यय सहित ध्रुवपना, समय-समय में तीन अवस्थाएँ—तीन प्रकार हैं। यह उत्पाद होने पर भी उसे द्रव्य का उत्पाद नहीं होता; व्यय होने पर भी द्रव्य का नाश नहीं होता, तथापि द्रव्य अन्वयरूप से उत्पाद-व्यय में कायम रहता है। यह सिद्ध करने को यह जीव का दृष्टान्त दिया है। आहाहा!

क्योंकि वास्तव में तो उस बाँस का ऊपरी भाग रंग-बिरंगेपन के अभाववाला है,... खुला है। खुला अर्थात् चित्ररहित है। **अरंगी है। बाँस के दृष्टान्त की भाँति-कोई एक भव्य जीव है;...** देखो! **कोई एक भव्य जीव है;... भव्य जीव है; उसका नीचे का कुछ भाग (अर्थात् अनादि काल से वर्तमान काल तक का और अमुक भविष्य काल तक का भाग)...** देखो! क्योंकि पंचम काल का जीव है न? भाई! यहाँ यह बात ली है। आहाहा! ऐई! अरे! परन्तु आचार्य की गजब बात है। समझ में आया? यह पंचम काल के आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य जैसे हों तो भी उन्हें इस भव में केवल(ज्ञान) हो सके, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? उन्हें अभी भविष्य में एकाध-दो भव हैं। एक देव का भव और एक मनुष्य का। मुनि है, समकिती है, ज्ञानी है, इसलिए मरकर स्वर्ग में जाए और वहाँ से मनुष्य होकर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष होगा। कब? भूतकाल का भाग विकारवाला देखकर, अभी का भाग विकारवाला देखकर, यह विकार सदा रहेगा—ऐसा जो मानता है, उसे तत्त्व की दृष्टि की खबर नहीं है। वह संसारी है, वह अमुक काल तक—एक-दो भव संसारी रहेगा। कुन्दकुन्दाचार्य जैसे महा मुनि, जिन्हें छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान हजारों बार एक क्षण में आवे, हजारों बार। जिनकी दशा नग्न हो, जो जंगल में रहें, उन्हें भावलिंगपना होता है। समझ में आया? कोई गृहस्थाश्रम में रहकर ऐसा कहे कि मुझे भावलिंगीपना है तो ऐसा तीन काल में नहीं हो सकता।

इसलिए यहाँ कहते हैं कि आचार्य जैसे कुन्दकुन्दाचार्य जैसे कहते हैं कि विकार का अमुक काल तो गया, अमुक भविष्य काल तक का संसार है और बाकी का ऊपर का अनन्त भाग सिद्धरूप है। आहाहा! यह तो अर्थ में किया है, वैसा लिखा है, भाई! टीका में है, वही भावार्थ में लिया है। बहुत सादी भाषा में समझाया है। शब्द आगम द्वारा ज्ञान की प्रतीति करके अर्थ को समझाया है। पदार्थ को समझाते हैं। ऐसा आया था न पहले? आत्मपदार्थ। एक तेरा भगवान आत्मा ऐसा है कि जिसमें ऐसे महा प्रभु के अस्तित्व की स्व-सन्मुख होकर विकल्प और निमित्त की उपस्थिति होने पर भी उसकी उपेक्षा करके; अपेक्षा करके रहे तब तक तो विकारी पर्याय रहेगी। उपेक्षा करके जीवद्रव्य ऐसा है, ऐसा जो अन्तर में निर्विकल्प निर्णय हुआ, कहते हैं कि उसकी भविष्य की सिद्धपर्याय का सब भाग खुला-खुला प्रगट है। **संसारी भाग में से...** समझ में आया? **उस जीव के संसारी भाग में से कुछ भाग खुला (प्रगट) है...** आहाहा! समझ में आया? भगवान आत्मा परिपूर्ण द्रव्य है, ऐसी जिसे प्रतीति और अन्तर स्वीकार हुआ, उसे थोड़ा काल अभी भले एक-दो भव हों, परन्तु उसे अन्तर में तो यही निश्चित हो गया है कि इस जीव को अब भविष्य में अनन्त सिद्धपर्याय अनन्त काल रहेगी, वह प्रगट

करेगा। ऐसा ही मैं आत्मा हूँ। संसार पर्याय रहे, ऐसा मैं आत्मा नहीं हूँ। आहाहा! गजब बात, भाई! समझ में आया? यह तो पंचास्तिकाय का अर्थ चलता है।

श्रोता : पंचास्तिकाय में ऐसा होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा है। श्रीमद् ने पंचास्तिकाय के अर्थ किये हैं। और उन्होंने कुन्दकुन्दाचार्य को सद्गुरु स्वीकार किया है। 'श्री ॐ सत् गुरुय नमः' ऐसा करके फिर अर्थ किया। समझ में आया? स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य ऐसा कहते हैं। आहाहा!

उस जीव के संसारी भाग में से कुछ भाग खुला (प्रगट) है और शेष सारा संसारी भाग तथा पूरा सिद्धरूप भाग ढँका हुआ (अप्रगट) है। समझ में आया या नहीं इसमें? क्या कहा इसमें?

श्रोता : बाकी का है...

पूज्य गुरुदेवश्री : अर्थात् क्या? धीरे-धीरे बोले नहीं तो यह गोटवाशे

श्रोता : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी बराबर नहीं आया। ढँका हुआ अनादि का है और अभी थोड़ा सा खुल्ला है, अभी भी ढँका हुआ है परन्तु वह भूतकाल का नहीं आया। वर्तमान और भविष्य दो ही कहा। यहाँ तो विकार वर्तमान है, ऐसा अनादि का था। परन्तु वह ढँका हुआ है, दिखता नहीं। गया है न? और वर्तमान प्रगट है, वह दिखता है, खुला भाग है कि विकार है और भविष्य की सिद्धपर्याय होगी और वहाँ तक दो भव है, वह भी अभी खुला है। ख्याल में आया है न कि अभी एक-दो भव करने की। उसमें यह अविकारी पर्याय के भविष्य काल में थोड़ा सा है, ऐसा उसमें मुझे भविष्य काल की पर्याय का सिद्धपर्याय अत्यन्त खुला है, यह द्रव्यदृष्टि की, इसलिए इतना भव रहेगा। पश्चात् सिद्ध होऊँगा, ऐसा अन्दर निश्चित हो गया। समझ में आया? यह तो बहुत ध्यान रखकर पकड़ में आये ऐसा है। यहाँ कोई चतुराई काम आवे ऐसा नहीं है।

श्रोता : ....चतुराई काम आवे ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नहीं, वह चतुराई संसार की क्या कहा जाता है उसे?

श्रोता : तलाटी...

पूज्य गुरुदेवश्री : तलाटी... ऐ.. भारी काम करे एकदम। कहो, समझ में आया इसमें? आहाहा! आत्मा है। देखो न! आत्मा, यह उसे आत्मा कहा उसे तो। आहाहा! गजब बात की

है। जो संसार की पर्यायवाला और विकारवाला, रागवाला... रागवाला... रागवाला... रागवाला... ऐसा देखा और जाना और ऐसा का ऐसा रहेगा, उसे जीव ही नहीं कहते, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

दूसरे प्रकार से कहें तो जिसकी बहिर्मुख की दृष्टि विकार और विकल्प और निमित्त के ऊपर है तथा ऐसी की ऐसी दृष्टि से मुझे लाभ होगा, ऐसा माननेवाला द्रव्य ऊपर जानेवाला नहीं है। उसके जीवद्रव्य का अस्तित्व इतना बड़ा, उसके (विकार और विकल्प) रहित है, ऐसा उसने माना नहीं। आहाहा! समझ में आया? छोटाभाई! गजब बात, भाई! ओहोहो! यह बीसवीं गाथा।

शेष सारा संसारी भाग तथा पूरा सिद्धरूप भाग ढँका हुआ (अप्रगट) है। देखो! ढँका हुआ कहा न? वर्तमान में थोड़ा विकार है, इतना खुला है। ऐसा गया, वह ढँका हुआ है और भविष्य का ढँका हुआ है। आवरणवाला ढँका हुआ है और निरावरण भी ढँका हुआ है। आवरणवाला थोड़ा खुला है और खुले पर इसकी अकेली दृष्टि है, वह तो इसमें भी ऐसा है और इसमें भी ऐसा है, ऐसा मानता है। परन्तु ऐसी पर्यायबुद्धि नहीं किन्तु द्रव्य के अस्तित्व पर बुद्धि है, उसे यह खुले राग का दिखाव भाग, वह अल्पकाल रहेगा और पश्चात् रहेगा नहीं, (ऐसा देखता है)। आहाहा! गजब बात है। देखो! उसमें है, हों! वापस उसमें भाव है। पण्डितजी को तो पूछा जाए नहीं कुछ, पण्डित तो होशियार कहलाते हैं, वह तो है। हाँ करते हैं परन्तु इनके भाई को पूछते, वे कहीं इनके जैसे पण्डित नहीं हैं। आहाहा!

भगवान! भगवान ऐसा कहते हैं, ओहोहो! तेरा ध्रुव स्वभाव, ध्रुव जो कायम हो वह। अंश है, वह तो व्यवहार है, कहते हैं। अंश जीव जो विकारी या अविकारी हो, वह तो अंश है, वह तो व्यवहार है। जिसे निश्चय जीव कहते हैं ध्रुवस्वरूप, उसमें उत्पाद-व्यय ही नहीं है, संसार का उत्पाद-व्यय नहीं और सिद्ध का भी उत्पाद-व्यय जिसमें नहीं। ऐसा जो भगवान ध्रुव, उसके अस्तित्व का जिसे स्वीकार है, उसे अल्प काल में मेरी खुली दशा प्रगट हो जाएगी। यह जो ढँकी हुई है, वह खुली हो जाएगी। खुली वाला ही मैं हूँ। न प्रगट हो, ऐसा मैं नहीं हूँ। आहाहा! कनुभाई! लॉजिक से बात चलती है या नहीं? या कचड़-बचड़ की है यह? आहाहा!

भगवान! एक समय की पर्यायवाला देखने से, पर्यायबुद्धि को छुड़ाकर द्रव्यबुद्धि करके ऐसा मान,—ऐसा कहता हैं मूल तो। बात तो ऐसी कहते हैं। समझ में आया? जिसकी

पर्यायबुद्धि है, अंशबुद्धि है, वह अंशबुद्धिवाला द्रव्य को स्वीकारेगा ही नहीं। ऐसा भगवान महाप्रभु है, अनन्त... अनन्त... अनन्त... आनन्दकन्द का नाथ, अनन्त परमात्मा जिसके गर्भ में स्थित है। इस एक जीव के अन्दर अनन्त परमात्मा गर्भ में स्थित है। क्योंकि परमात्मा एक समय की अवस्था है और ऐसी परमात्मा की अनन्त अवस्था ऐसी की ऐसी होनेवाली है। उन सब अवस्थाओं का सागर भगवान यह आत्मा है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा आत्मा का जिसे अस्तित्व का स्वीकार हुआ, उसे भविष्य की अल्प काल में पर्याय निर्मल होकर सिद्धपद की प्राप्ति होनेवाली है।

उस जीव का खुला (प्रगट) भाग संसारी देखकर अज्ञानी जीव 'जहाँ-जहाँ जीव हो, वहाँ-वहाँ संसारीपना होता है'... देखो! देखो! आहाहा! जहाँ-जहाँ जीव हो, वहाँ विकार होता है। जहाँ-जहाँ जीव हो, वहाँ विकार होता है। जहाँ-जहाँ जीव हो, वहाँ विकार होता है—यह बात ही मिथ्या है। समझ में आया? कहो, समझ में आया या नहीं? ऐ! यह तो तुम्हारे लॉजिक से बात चलती है। कानून का तुम्हारे पढ़ते हैं न, उस शैली से बात चलती है। जहाँ-जहाँ जीव, वहाँ-वहाँ संसार। मिथ्या बात है, कहते हैं। आहाहा! गजब बात, भाई! समझ में आया? जहाँ-जहाँ जीव, वहाँ-वहाँ संसार; जहाँ-जहाँ जीव, वहाँ राग, जहाँ-जहाँ जीव, वहाँ शुभराग—मिथ्या बात है। तुझे खबर नहीं है, जीव की खबर नहीं है। समझ में आया? लो! ऐसा स्पष्ट इसमें अभी पहला-पहला आता है, हों! आवे तब आवे न अन्दर से। ऐई! इस गाथा का ऐसा स्पष्ट पहले कभी नहीं किया।

'जहाँ-जहाँ जीव हो, वहाँ-वहाँ संसारीपना होता है'... आहाहा! जहाँ-जहाँ जीव हो, वहाँ-वहाँ विकारपना होता है। अरे! यह क्या करते हैं? समझ में आया? जहाँ-जहाँ जीव हो, वहाँ-वहाँ राग होता है; जहाँ-जहाँ जीव हो, वहाँ राग होता है? अरे! वह जीव नहीं। सुन न! क्या करता है तू यह? जीव तो वीतरागस्वभाव से भरपूर भगवान है। जहाँ-जहाँ जीव हो, वहाँ-वहाँ वीतरागता होती है। भगवान आत्मा जहाँ-जहाँ जीवद्रव्य है, वहाँ वह अकेला वीतराग और आनन्द और पूर्ण स्वभाव से वीतरागभाव भरा है। जहाँ-जहाँ जीव हो, वहाँ-वहाँ वीतरागभाव होता है। जहाँ-जहाँ जीव हो, वहाँ राग भाव हो—ऐसा नहीं है। ऐई! चेतनजी! यह गजब लिया है, हों! आहाहा! भारी बात, भाई! कुन्दकुन्द आचार्य के शास्त्र बहुत गम्भीर... बहुत गम्भीर। बहुत गम्भीर... बहुत गहरे। पर्यायदृष्टि को बदलकर द्रव्यदृष्टि करने की पद्धति भी कोई अलग प्रकार की है। आहाहा! अरे! ऐसा तू कहे कि जहाँ-जहाँ आत्मा, वहाँ-वहाँ कर्म का संयोग, यह तो बात कहीं रह गयी, उसकी बात तो अलग। यह तो वह की वह बात

है उसमें। द्रव्य और पर्याय... द्रव्य और पर्याय... बस, यह बात ली है।

श्रोता : कर्म की...

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म की बात इसमें ली ही नहीं। कर्म संयोग-फंयोग की यहाँ बात ही नहीं है। राग होता है, उसके स्वयं से होता है। उसकी पर्याय का धर्म है। और राग है, वहाँ जीव है, तो जीव है, वहाँ राग है—ऐसा नहीं हो सकता। समझ में आया? जीव है, वहाँ कर्म का संयोग है, यह तो बात ही नहीं है। परन्तु राग का विकल्प जो है, अर्थात् जहाँ-जहाँ राग, वहाँ-वहाँ जीव अथवा जीव जहाँ-जहाँ है, वहाँ-वहाँ राग, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! गजब बात, भाई! इसमें ही आता है न वह, नहीं? अन्तिम १७० गाथा में। १७० गाथा में। नव तत्त्व की। १७०, १७० गाथा।

कहते हैं कि **संयम तप संयुक्त होने पर भी, नौ पदार्थों...** १७० गाथा। देखो! यह कथनशैली। देखो! वीतरागमार्ग की पद्धति। १७० (गाथा), इसमें पृष्ठ २४९। यह **नौ पदार्थों तथा तीर्थंकर के प्रति जिसकी बुद्धि का झुकाव वर्तता है। और सूत्रों के प्रति जिसे रुचि (प्रीति) वर्तती है...** आगम के प्रति भी रुचि वर्तती है, **उस जीव का निर्वाण दूरतर (विशेष दूर) है।** आहाहा! है? समझ में आया? क्योंकि विकल्प राग है। नव तत्त्व की श्रद्धा, वह भी राग, यह तीर्थंकर के प्रति श्रद्धा, तीर्थंकर ऐसे हैं—ऐसी श्रद्धा भी राग है। परद्रव्य है न? समझ में आया? दो (बातें)। और इस बुद्धि का **'अभिगतबुद्धेः'** वहाँ राग में झुकाव है। **'सूत्ररोचिनः'** आगम की रुचि वर्तती है। परमागम भगवान के शास्त्र परद्रव्य है, उनकी श्रद्धा और रुचि वर्ते, वह राग है, वहाँ तक जीव को निर्वाण दूरतर है। कहो, समझ में आया?

वीतराग का मार्ग वीतरागभाव से शुरु होता है। जीव ही वीतरागभावस्वरूप है। भगवान त्रिकाल वीतराग पिण्ड है। उसमें राग का अंश विकल्पमात्र वस्तु में नहीं है। देव-गुरु-शास्त्र को मानना, देव-गुरु की भक्ति का विनय-विकल्प सब राग है, वह आत्मा में है ही नहीं। समझ में आया? गजब काम! विपरीत मान्यता कैसे करता है, उसे खुल्ला करते हैं और सच्ची मान्यता कैसी होती है, उसे भी खुल्ला करते हैं। पहले से ही है। गजब बात। ऐसी शैली सन्तों की है! वस्तुस्थिति ऐसी है। समझ में आया?

कोई कहता है कि ऐसा जो अनुमान करे **ऐसे मिथ्या व्याप्तिज्ञान द्वारा ऐसा अनुमान करता है कि 'अनादि-अनन्त सारा जीव संसारी है।'** वह भले ऐसा माने कदाचित् शास्त्र सुनकर। समझ में आया? कि भाई! अपने राग टालकर सिद्ध होंगे, समझे न? तथापि यहाँ

रागवाला जीव है और राग पर दृष्टि है, तब तक राग टालकर मोक्ष जाऊँगा, ऐसी दृष्टि उसे हो ही नहीं सकती, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? जिसे भगवान की, त्रिलोकनाथ तीर्थंकर की भक्ति और श्रद्धा, ऐसा राग है, वह भी राग है, विकल्प है, विकार है, दुःख है, जहर है। उसके ऊपर दृष्टि है कि यह मुझे लाभ करेगा, तब तक उसे आत्मा की श्रद्धा नहीं है। आत्मा रागरहित वीतराग है, उसकी श्रद्धा की उसे खबर नहीं है। वीतराग श्रद्धा का, वीतरागभाव का अनादर करता है। रागभाव का आदर करता है। आदर करनेवाला रागवाला ही रहेगा। समझ में आया? यह पर्यायबुद्धि है, ऐसा कहते हैं।

'अनादि-अनन्त सारा जीव संसारी है।' यह अनुमान मिथ्या है; क्योंकि उस जीव का ऊपर का भाग (-अमुक भविष्य काल के बाद का अनन्त भाग) संसारीपने के अभाववाला है,... आहाहा! कहो, किसे? भव्य जीव को। भव्य जीव ने जीवद्रव्य का स्वीकार किया है, उसे ऐसा है। उसे जीव कहते हैं। और ऐसे जीव की पूर्ण वस्तु भगवान है, उसके सन्मुख होकर जीव की श्रद्धा की है, उसे भविष्य का काल सब खुला सिद्धपद की पर्यायवाला है, दिखता है। मेरा भविष्य काल सब सिद्ध का ही है। ऐई! समझ में आया? ऐसा...

श्रीमद् ने नहीं कहा? 'अशेष कर्म का भोग है, भोगना अवशेष रे, इससे देह एक धारकर जाऊँगा स्वरूप स्वदेश'।

श्रोता : खुल्ला है...

पूज्य गुरुदेवश्री : खुल्ला अन्दर बैठ गया है। भविष्य काल में सिद्ध होना, होना और होना है। तीन काल में बदले नहीं। एकाध देह बाकी लगती है। ऐसा राग है। 'अशेष कर्म का भोग है'। कर्म शब्द से जड़ नहीं, रागभाव है। 'भोगना अवशेष रे...' अभी बाकी थोड़ा ऐसा दिखता है। ऐसे भूतकाल तो था, परन्तु ऐसा दिखता है। समझ में आया? 'इससे देह एक धारकर...' एकाध देह है। बाद में तो हमारी दशा सिद्धपद की है। समझ में आया? ऐई! चिमनभाई! कोलकरार बात है। आहाहा!

प्रश्न बहुत समय से हुआ था। (संवत्) १९७७ के वर्ष में। ७७ के वर्ष का प्रश्न है। देवीदासभाई थे न पोरबन्दरवाले? और एक थे मुलीवाला थे। भवानजी। नहीं? कच्छी। बहुत शास्त्र के जानकार। ७७ के वर्ष में। हमारे पास आये। फिर यह प्रश्न रखा था। श्रीमद् ऐसा कहते हैं? छद्मस्थ होकर एक भव धारकर मोक्ष जाऊँगा, ऐसा निर्णय करते हैं? बहुत चर्चा चली थी।

१९७७ में। क्या कहा है? कहा, भगवती में मति-श्रुत का विषय सुना है? मति-श्रुत सब जानता है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तीन काल, तीन लोक को मति-श्रुत जाने, ऐसी सामर्थ्य है, भले परोक्ष है। समझ में आया? मति-श्रुत में सब निर्णय होता है। यही कहते हैं, देखो न! आगम से...

एक भव है और फिर निश्चित सिद्ध है, तीन काल में बदले नहीं। यह ज्ञान जो अन्दर स्वीकार करके आया है वह... समझ में आया? देवीदास यहाँ की टीका बहुत करता था। वस्तुस्थिति की खबर नहीं होती और बाहर से ऐसा होता है, छद्मस्थ है, अल्पज्ञानी है। अल्पज्ञानी नहीं, यहाँ तो सर्वज्ञ आत्मा है। यहाँ जिसे... ऐसे जीव को ही जीव लिया है। सर्वज्ञ स्वभावी ही आत्मा हूँ, ऐसा जीव, उसे जीव कहते हैं। ऐसी जिसे प्रतीति बैठी है, वह अल्प काल में सर्वज्ञ हुए बिना रहनेवाला नहीं है। वह अल्पज्ञ नहीं रहेगा, ऐसा निश्चित है। चिमनभाई! आहाहा! क्या हो? तब कितने ही फिर इस भव में मोक्ष ठहरा देते हैं। एक भव था न? यह तो दूध पीकर भव पूरा किया। यह महासिद्धान्त का विरोध है। पूरे जैनदर्शन के तत्त्व का विरोध है। समझ में आया? ऐई! अभी आया है, नहीं तुम्हारा? रामजीभाई का आया है। रामजीभाई के गाँव का। वहाँ रामजी ऐसा पढ़े तो भी गाँव में ऐसा चलता है कि श्रीमद् भावलिंगी साधु थे। अरे! रहने दे। मार डालेगा। पूरा जैनदर्शन उल्टा पड़ेगा। भावलिंगी साधु गृहस्थाश्रम में नहीं होता, कुटुम्ब में नहीं होता, स्त्री के पास नहीं होता। भावलिंगी साधु किसे कहना, इसकी तुझे खबर नहीं है।

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका नहीं। यहाँ तो इस भव में है, ऐसा कहा। अभी हमारे प्रति पत्र आया था न! भाई है न कैसे तुम्हारे? लखुभाई! लक्ष्मीचन्द डाह्याभाई! एक देव आया था और कह गया है कि वे तो अनुत्तर विमान में हैं। वह हम्पीवाला कहते हैं कि और यहाँ केवलज्ञान है। सर्वत्र गप्प-गप्प है।

श्रोता : महाविदेह में हैं...

पूज्य गुरुदेवश्री : महाविदेह में हैं। आहाहा! अरे! कुछ खबर नहीं होती। कितना उल्टा कहते हैं, कितना उल्टा मानते (हैं, उसकी खबर नहीं)। पूरे जैनशासन की खबर नहीं होती।

यहाँ आचार्य स्वयं कहते हैं कि हमें भी अभी रागादि भाग है, परन्तु हमें निर्णय है कि

हम तो आत्मा हैं, ऐसा अनुभव हुआ है। इसलिए हमारी भविष्य की सब सिद्धपर्याय खुली हो जानेवाली है। जो शक्तिरूप है, वह (व्यक्तिरूप जो जाएगी)। उसमें भगवान को पूछने जाना पड़े, ऐसा नहीं है। आहाहा! भगवान को पूछे तो खबर पड़े। अरे! तेरा भगवान यहाँ बैठा है, यहाँ पूछ न। समझ में आया? आहाहा!

(–अमुक भविष्य काल के बाद का अनन्त भाग) संसारीपने के अभाववाला है, सिद्धरूप है–ऐसा सर्वज्ञप्रणीत... देखो! पाठ में है। आप्त कहा है न? आप्त को यहाँ सर्वज्ञ कहा है। आप्त के **आगम के ज्ञान से...** भगवान ने कहे हुए ज्ञान से और **सम्यक् अनुमानज्ञान से तथा अतीन्द्रिय ज्ञान से स्पष्ट ज्ञात होता है।** आहाहा! समझ में आया? सर्वज्ञ प्रणीत आगमज्ञान में भी यह कहा है कि जीव ऐसा होता है, ऐसा जिसे जँचा, उसे सर्वज्ञ ज्ञान में, आगम में ऐसा आ जाता है कि भविष्य काल की मेरी सिद्धपर्याय निश्चित होनेवाली है। एकाध-दो भव हो, हो। संसार-रागादि। फिर रहने का नहीं है। कहो, समझ में आया इसमें? **आगम के ज्ञान से, सम्यक् अनुमानज्ञान से...** वापस सम्यक् अनुमान ज्ञान सच्चा। अटकल में... ऐसा नहीं। **अतीन्द्रिय ज्ञान से...** स्वसंवेदन से। देखो! प्रत्यक्ष लिया वह। पूर्ण द्रव्य है, परन्तु ऐसा अनुमान करने में, प्रत्यक्ष अनुमान स्वसंवेदन का हुआ। द्रव्यदृष्टि होने पर राग से भिन्न पड़कर ज्ञानानन्द शुद्ध हूँ, ऐसा स्वयं को हुआ, उसके द्वारा पूरा अनुमान करके भविष्य में सिद्धपद होनेवाला है। समझ में आया? आहाहा! ऐसा मार्ग है, देखो न! ऐसा वीतरागमार्ग है। लो!

इस तरह अनेक प्रकार से निश्चित होता है कि जीव संसारपर्याय नष्ट करके सिद्धपर्यायरूप परिणमित हो, वहाँ सर्वथा असत् का उत्पाद नहीं होता। सिद्धपद नया हुआ, ऐसा नहीं है। सत्रूप से अन्दर भगवान आत्मा में पड़ा था। सत् था, उस सत्रूप से सद्भाव सत् की उत्पत्ति है। समझ में आया? आता है न? .... है उसकी उत्पत्ति सद्भाव उत्पत्ति; न हो और पर्याय में हो, वह असद्भाव उत्पत्ति। दो आते हैं। कहो, यह २० गाथा हुई। २१वीं।

एवं भावमभावं भावाभावं अभावभावं च।
गुणपज्जयेहिं सहिदो संसरमाणो कुणदि जीवो।।२१।।

गुणपर्यये संयुक्त जीव संसरण करतो अे रीते,
उद्भव, विलय, वळी भाव-विलय, अभाव-उद्भवने करे।।२१।।

टीका :– यह जीव को उत्पाद, व्यय, सत्–विनाश और असत्–उत्पाद का

कर्तृत्व होने की सिद्धिरूप उपसंहार है। विशिष्टता क्या कहते हैं ? देखो ! उत्पाद का कर्ता, नयी पर्याय का या पुरानी पर्याय जो विकारी या अविकारी, उसके उत्पाद का कर्ता आत्मा है। भाई ! आहाहा ! सम्यग्दर्शन की पर्याय का उत्पत्ति का कर्ता आत्मा है, राग की उत्पत्ति का करनेवाला आत्मा है, सिद्ध की पर्याय उत्पन्न करनेवाला आत्मा है। आहाहा ! और व्यय। संसारपर्याय के व्यय का कर्ता आत्मा है, मिथ्यात्व के नाश का कर्ता आत्मा है। समझ में आया ? ओहोहो ! एक-एक समय के उत्पाद-व्यय का कर्ता जीव है, ऐसा सिद्ध किया। देखो ! पर के साथ, कर्म के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा !

सत्-विनाश और असत्-उत्पाद का कर्तृत्व होने की सिद्धिरूप उपसंहार है। सत् का विनाश अर्थात् पर्याय का। असत् का उत्पाद, उसका कर्तापना, उसका कर्ता जीव है—ऐसा कहते हैं। रागादि भाव का कर्ता और उसके अभाव का कर्ता। ऐसे सम्यग्दर्शन पर्याय का कर्ता और उस सम्यग्दर्शन पर्याय का अभाव होकर दूसरे समय में सम्यग्दर्शन पर्याय हो, उसका कर्ता जीव है। कर्म के कारण अन्दर मिथ्यात्व होता है और मिथ्यात्व कर्म का अभाव हुआ, इसलिए दर्शनमोह का नाश होता है—ऐसा नहीं है। आहाहा ! इसी प्रकार इसकी धर्म की पर्याय और अधर्म की पर्याय, कुगुरु मिले, इसलिए अधर्म की पर्याय उत्पन्न हुई; सुगुरु मिले, इसलिए धर्म की पर्याय उत्पन्न हुई—ऐसा नहीं है। उसके व्यय और उत्पाद का कर्ता आत्मा है, ऐसा सिद्ध करेंगे। विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

३

श्री समयसार कलश-टीका, कलश २५६, प्रवचन - २५३
दिनांक - २५-१२-१९६५

स्याद्वाद अधिकार। समयसार कलश चलता है। देखो! दसवाँ, दसवाँ है न? फिर से देखो! क्या कहते हैं? भावार्थ। इसमें यह कहना है, वह थोड़ा पहले कहते हैं—उपोद्घात करते हैं। **कोई मिथ्यादृष्टि जीव...** जिसकी दृष्टि विपरीत है, ऐसा जीव। विपरीत है, ऐसा जीव। **ऐसा है जो वस्तु को पर्यायमात्र मानता है,...** आत्मा भगवान त्रिकाल द्रव्यस्वरूप है और वर्तमान पर्याय द्रव्य के लक्ष्य से, द्रव्य से होती है—ऐसा नहीं मानकर, वह द्रव्य अर्थात् आत्मा, उसकी पर्याय (उसे) निमित्त जो अवलम्बन है, उससे मेरी पर्याय उत्पन्न होती है, (ऐसा मानता है)। समझ में आया? कहो, इसमें क्या मिथ्यात्व आया?

वस्तु को पर्यायमात्र मानता है, द्रव्यरूप नहीं मानता है। इसका अर्थ करेंगे। पर्याय के दो अर्थ करेंगे। बाह्य वस्तु है न अन्त में? भाई! बाह्य वस्तु। **समस्त ज्ञेय अथवा ज्ञेयाकार परिणमे ज्ञानपर्याय के...** उसे बाह्य वस्तु कही है। बाह्य वस्तु की व्याख्या दो की है। क्या कहते हैं? समझ में आया? यह तो जरा सूक्ष्म बात है और उसमें हिन्दी। भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्यवें भाग में पूर्ण अनन्त गुण सम्पन्न पदार्थ है। उसमें ज्ञानगुण भी त्रिकाल गुण है। उस ज्ञानगुण की वर्तमान पर्याय जो अवस्था होती है, यह अज्ञानी मानता है कि उस अवस्था जितना आत्मा है। एक बात। समझ में आया? अथवा वह अवस्था वर्तमान जो ज्ञान की अवस्था होती है, उसका निमित्त अवलम्बन पर है। क्या (कहा)? वर्तमान जो ज्ञान की पर्याय होती है, उसमें परपदार्थ अवलम्बन, निमित्त है। तो निमित्त की पर्याय पलटती है तो मेरी पर्याय भी उसके कारण से पलट गयी, मेरी अवस्था मुझमें रही नहीं। यह सूक्ष्म बात है। प्रभुदासभाई! समझ में आया?

वस्तु अर्थात् भगवान आत्मा एक समय में पूर्णानन्द पूर्ण वस्तु है और एक समय में उसकी ज्ञान की अवस्था है, परन्तु उस अवस्था को मानता है... अर्थात् वह अवस्था जो सामने ज्ञेय की अवस्था है, जाननेयोग्य पदार्थ की जो वर्तमान अवस्था है, वह अवस्था वर्तमान ज्ञान

अवस्था में अवलम्बन है। अवलम्बन अर्थात् निमित्त है। भाई! 'अवलम्बन' शब्द है न? ऐ! अवलम्बन का अर्थ निमित्त किया है न तुमने? कहाँ? नहीं किया? अवलम्ब कर अर्थात् निमित्त होता है। यह तो ऐसा ही है न। यह अवलम्बन यहाँ और अभी अन्त में याद आया। मैंने कहा, वह अवलम्बन कहा है, ऐसा करके याद आया, अभी वहाँ पाट पर याद आया। क्या कहते हैं? सूक्ष्म बात है।

यह वस्तु आत्मा एक समय में पूर्ण द्रव्य है और उसकी एक समय की पर्याय है। वह अनन्त गुण की जो एक समय की पर्याय है, उसमें यहाँ ज्ञान—प्रधानता से बात ली है। ज्ञान की जो वर्तमान पर्याय है, वह स्वयं के द्रव्य के लक्ष्य से और द्रव्य के आश्रय से उत्पन्न हुई है, ऐसा अज्ञानी नहीं मानता। उसका लक्ष्य द्रव्य पर नहीं है। वर्तमान ज्ञान की अवस्था निमित्त जैसी अवस्था है, वैसा अवलम्बन ज्ञान में हुआ तो उस निमित्त-अवस्था से मेरी पर्याय उत्पन्न हुई, ऐसा अज्ञानी मानता है। समझ में आया?

देखो! सामने यह अक्षर है या नहीं? ज्ञान की पर्याय में ये अवलम्बन / निमित्त है। अक्षर जैसे पलटते हैं, अक्षर पर नजर जाती है, फेरफार (दिखता है), वह ज्ञेय लक्ष्य में पलटता है, ऐसे पर्याय भी पलटती है। अज्ञानी का लक्ष्य, ज्ञान की पर्याय में अवलम्बनरूप परपदार्थ निमित्त-पर की वर्तमान अवस्था पर उसका लक्ष्य है। वह परपदार्थ जो अवलम्बन (भूत) है, उससे मेरी पर्याय उत्पन्न हुई—ऐसा अज्ञानी (कि जिसे) परद्रव्य का लक्ष्य नहीं, त्रिकाल द्रव्य ही वर्तमान पर्यायरूप परिणमता है, ऐसा नहीं मानकर निमित्त के अवलम्बन से परिणमता है तो निमित्त जब पलटता है तो उस समय में भी उसके कारण से पलट गया। मैं द्रव्य के कारण से पलटा, ऐसा अज्ञानी नहीं मानता। समझ में आया? देखो, यह आयेगा, हों! यहाँ तो उसका उपोद्घात करते हैं।

वस्तु को पर्यायमात्र मानता है, द्रव्यरूप नहीं मानता... मैं वस्तु ज्ञायक त्रिकाल हूँ, ऐसा नहीं मानता। यदि ऐसा माने तो उसकी वर्तमान पर्याय द्रव्य से वर्तमान होती है और दूसरे समय में पलटती है, तो भी द्रव्य से पलटकर दूसरे समय में पलटकर दूसरी होती है। ऐसा अज्ञानी नहीं मानता, वह वर्तमान पर्याय में वर्तमान सामने निमित्त देखकर उससे मेरी (पर्याय) उत्पन्न हुई है, (ऐसा मानता है)। यहाँ से उत्पन्न नहीं हुई, वहाँ से उत्पन्न हुई है। निमित्त से उत्पन्न हुई है, उसका अभी बड़ा विवाद है। और निमित्त की अवस्था पलटने से मैं भी उसके कारण से (पलट गया), लक्ष्य वहाँ था न? तो उसके पलटने से मेरी पर्याय उसके कारण से

पलट गयी, मेरा अभाव हो गया, मेरा अभाव हो गया। मैं द्रव्यरूप त्रिकाल हूँ तो मेरी अवस्था मेरे कारण से पलटी है। दूसरे समय में भी निमित्त के कारण से नहीं परन्तु मेरा परिणमन स्वभाव है तो द्रव्य के लक्ष्य से मेरी पर्याय वर्तमान परिणमती है, ऐसा अज्ञानी नहीं मानता। जुगराजजी! आहाहा! इसमें धर्म-अधर्म कहीं बाहर से नहीं होता है।

अपनी चीज़ जो अनन्त गुण की चीज़-पिण्ड है, उसकी वर्तमान पर्याय / अवस्था, वस्तु के सामने जो निमित्त, जैसा जितना है, वैसा अवलम्बन-निमित्त ज्ञान की पर्याय में आया। वह निमित्त है तो ज्ञान की पर्याय हुई, ऐसा नहीं है। परन्तु जिसका निमित्त पर ही लक्ष्य है, स्वद्रव्य पर लक्ष्य नहीं है, तो निमित्त के ऊपर लक्ष्य है तो निमित्त जहाँ पलटता है, तो अपनी अवस्था भी पलटती है, तो निमित्त जहाँ पलटा तो उसके कारण मेरी अवस्था भी पलट गयी, उसके कारण से पलट गयी। ज्ञानस्वभाव से मैं पलटनेवाला हूँ, ऐसी दृष्टि अज्ञानी की नहीं है। समझ में आया? भाई! बात तो जो है, वह आती है। स्थूल कितना करना इसमें?

भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु ध्रुव, उसकी वर्तमान ज्ञान की अवस्था—हालत में जो सामने चीज़ है, उसकी अवस्था—वर्तमान अवस्था का निमित्त, सामने चीज़ की वर्तमान अवस्था निमित्त है। अब वह अवस्था जहाँ पलटी, ऐसे (पदार्थ पर) लक्ष्य है, वह ऐसे पलटा वहाँ ज्ञान भी पलटा, ज्ञान पलटा न? तो अज्ञानी का लक्ष्य वहाँ ही है कि यह अवस्था पलटी, इसीलिए इसके कारण मेरी दशा पलट गयी। मेरी ज्ञान अवस्था मेरी है, ऐसा रहा नहीं। उसके कारण से हुई थी और उसके पलटने से मेरी अवस्था चली गयी। समझ में आया? इसका नाम अधर्मदृष्टि है। समझ में आया? स्वकाल में अस्ति से पर काल में अस्ति माननेवाले की बात पहले करते हैं। भंग तो स्वकाल से अस्ति (का है)। आत्मा अपने निज काल में अपनी अवस्था से है, ऐसा सिद्ध करना है। उससे पहले अज्ञानी पर की अवस्था से अपनी अवस्था मानता है, उसका दूषण दिखलाते हैं। कहो, क्या चलता है यह? कहो, समझ में आया?

कहते हैं कि भगवान आत्मा अपनी वस्तु को पर्यायमात्र मानता है। एक समयमात्र मानता है अथवा उस पर्याय में जो ज्ञेय का निमित्त है, उस ज्ञेयाकाररूप मेरा परिणमन उसके कारण से हुआ है, ऐसा मानता है। समझ में आया? भाई! यह तो वीतराग का अनेकान्त मार्ग है। बहुत सूक्ष्म मार्ग है। पर्याय का परिणमन द्रव्य के लक्ष्य से अथवा द्रव्य से होता है। द्रव्य से वर्तमान पर्याय होती है। निमित्तरूप अवलम्बन से नहीं होती। निमित्त से पर्याय होती है, ऐसा माननेवाला अपनी पर्याय का अस्तित्व द्रव्य के कारण से है, ऐसा नहीं मानता। निमित्त के

अवलम्बन से वह पर्याय हुई। अवलम्बन पलटने से मेरी पर्याय गयी, उसके कारण गयी (ऐसा मानता है)। मेरा अंशी तत्त्व है, उसके परिणमन से पलटा हुआ है, नयी अवस्था हुई है—ऐसा अज्ञानी नहीं मानता। समझ में आया? भारी सूक्ष्म बातें, भाई!

किस कारण से? **ज्ञेय वस्तु के...** ज्ञात होनेयोग्य वस्तु के। ज्ञात होनेयोग्य वस्तु जो है न? जाननेयोग्य। **अतीत अनागत वर्तमान काल सम्बन्धी...** जो पदार्थ जाननेयोग्य है, ज्ञान में जाननेयोग्य है, उनकी गतकाल की पर्याय, वर्तमान अवस्था (और) भविष्य (की अवस्था होती है), वह **अवस्थाभेद है...** वस्तु के ज्ञेय के अवस्था भेद हैं। भूत-वर्तमान और भविष्य। उस ज्ञान में ज्ञात होनेयोग्य पदार्थ के तीन काल के अवस्था भेद हैं। भूतकाल—गत काल की अवस्था, वर्तमान अवस्था और भविष्य। ऐसे **ज्ञेय वस्तु के अतीत अनागत वर्तमान काल सम्बन्धी अनेक अवस्थाभेद है, उनको जानते हुए...** देखो! ज्ञात होनेयोग्य जो पदार्थ, (उसकी) भूतकाल की अवस्था अर्थात् गत काल की अवस्था, वर्तमान और भविष्य। **उनको जानते हुए ज्ञान के पर्यायरूप अनेक अवस्था भेद होते हैं।** अपनी ज्ञानदशा में जितनी वर्तमान सामने निमित्त-अवलम्बन भूत-वर्तमान-भविष्य की पर्याय है, उसे जानते समय अपने उतने जानने की पर्याय के भेद अपने से होते हैं।

उनमें ज्ञेय सम्बन्धी पहला अवस्था भेद विनशता है। अपनी ज्ञान अवस्था में ज्ञेय सम्बन्धी जानने में आया कि यह भगवान सीमन्धर प्रभु हैं। ऐसा लक्ष्य में आया। अपने ठेठ लेवें न! समझ में आया? भगवान के मस्तक पर नजर—ज्ञान की पर्याय है। सुनो! ज्ञान की पर्याय में उनके मस्तक पर लक्ष्य है, तो वह मस्तक ज्ञान की पर्याय में अवलम्बन हुआ। समझ में आया? वह लक्ष्य जहाँ छूटा और जहाँ नीचे नजर गयी तो नीचे का दूसरा ज्ञान हुआ। समझ में आया? वहाँ भी दूसरा निमित्त हुआ। (पहले) मस्तक था। वह निमित्त दूसरा हुआ तो अवलम्बन में दूसरा निमित्त हुआ तो ज्ञान की पर्याय भी दूसरी हुई। अज्ञानी को ऐसा भासित होता है कि उसके कारण हुई थी, वह पलट गया तो मेरी पर्याय चली गयी। समझ में आया? ओहो! गजब! भगवान को देखने से ज्ञान की पर्याय नहीं होती, ऐसा कहते हैं। यह किसकी बात चलती है?

जैनशासन सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर सर्वज्ञदेव सौ इन्द्र के मध्य में सभा में भगवान दिव्यध्वनि द्वारा ऐसा कहते थे। ऐसे कुन्दकुन्दाचार्य महाराज २००० वर्ष पहले यहाँ भरतक्षेत्र में हुए। दिगम्बर सन्त महामुनि, भगवान के पास गये थे, आठ दिन रहे थे। दिगम्बर

सन्त। वहाँ जाकर आये और आकर यह समयसार बनाया। भगवान ऐसा कहते हैं, ऐसा हम जानते हैं, ऐसा हम मानते हैं और ऐसा हम कहते हैं। समझ में आया?

ज्ञेय सम्बन्धी पहला अवस्था भेद विनशता है। पहले सीमन्धर भगवान का लक्ष्य आया, दूसरा लक्ष्य पद्मप्रभु का आया। ऐसा लो। तीसरा लक्ष्य शान्तिनाथ भगवान का आया। तीन भगवान हैं न? **ज्ञेय सम्बन्धी पहला अवस्था भेद विनशता है। उस अवस्था भेद के विनाश होने पर उसकी आकृतिरूप परिणमा ज्ञान पर्याय...** ज्ञान पर्याय में जो आकृति (हुई)। जिस प्रकार का निमित्त, उस प्रकार का ज्ञान अपना अपने से हुआ है। निमित्त की अवस्था पलटी, लक्ष्य वहाँ गया तो इस ज्ञान की पर्याय का अवस्था भेद भी विनशता है। **उसके–अवस्था भेद के विनाश होने पर एकान्तवादी मूल से ज्ञान वस्तु का विनाश मानता है।** अरे! मेरी पर्याय उसके आश्रय से थी, वह आश्रय गया तो मेरी पर्याय भी चली गयी। मेरा आश्रय ज्ञान था—त्रिकाल ज्ञान था, उसके आश्रय से पर्याय थी तो उसके आश्रय से पलटी और उसके आश्रय से (नयी पर्याय) आयी, ऐसा अज्ञानी नहीं मानता। समझ में आया? ओहो! देखो! यह मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के इतने लक्षणभेद हैं।

मूल से ज्ञान वस्तु का विनाश मानता है। भगवान आत्मा अपनी ज्ञान अवस्था में ज्ञेय जिस प्रकार का अवलम्बन भूतकाल की अवस्था लक्ष्य में आयी, वह चली गयी। वर्तमान अवस्था लक्ष्य में आयी, वह चली गयी। और तीसरी आवे, तो जैसी अवस्था लक्ष्य में आती है, वैसे ज्ञान भी पलटता है। अवस्था पलटने पर—पर की अवस्था पलटने पर मेरी ज्ञान की अवस्था भी उसके पलटने पर पलट गयी, क्योंकि वह निमित्त से हुई है, ऐसा माना था। तो निमित्त पलटने पर मेरी पर्याय भी पलट गयी परन्तु मेरा शुद्ध स्वभाव ज्ञायकमूर्ति है, उसके कारण मेरी पर्याय मेरे कारण से उत्पन्न हुई थी, भले उसका ज्ञेयाकार परिणमन हुआ और दूसरे समय भी मेरा ज्ञायकस्वभाव है, उसके कारण से मेरी दूसरी नयी पर्याय उत्पन्न हुई, पुरानी का व्यय हुआ। ऐसा जिसका स्वद्रव्य के ऊपर लक्ष्य, रुचि नहीं है, निमित्त के ऊपर लक्ष्य रुचि ध्येय है, वह निमित्त पलटने पर अपनी ज्ञान की पर्याय का सर्वस्व इतना ही माननेवाला ज्ञान की अवस्था का नाश हुआ, ऐसा मानता है। जमुभाई! एक तो हिन्दी, वह भी और ऐसा। इसमें क्या समझना? आहाहा!

लोगों को तत्त्व का अभ्यास (नहीं है)। वस्तु क्या है और कैसे है— उसकी खबर नहीं है। धर्म कहाँ से होता है? धर्म बाहर से होता है? अपना शुद्धस्वरूप अन्तर ज्ञायकमूर्ति है,

उसके लक्ष्य से जो पर्याय होती है, उस पर्याय का नाम धर्मपर्याय कहने में आता है। इसका लक्ष्य छोड़कर पर—निमित्त की पर्याय के लक्ष्य से मेरी पर्याय उत्पन्न हुई, ऐसी मान्यता, वह अधर्म पर्याय—मिथ्यात्व पर्याय है। समझ में आया?

उसके प्रति समाधान इस प्रकार है कि ज्ञानवस्तु अवस्था भेद द्वारा विनशती है,... ज्ञानवस्तु तो त्रिकाल है। वह अवस्था भेद द्वारा विनशती है परन्तु **द्रव्यरूप से विचारने पर अपना जानपनारूप अवस्था द्वारा शाश्वत है,...** भले अवस्था द्वारा पलटती है परन्तु अपनी त्रिकाल नित्य वस्तु रखकर पलटती है। परवस्तु अनित्य पलटी, इसलिए (पर्याय) पलट गयी, ऐसा नहीं है। ओहो! द्रव्यरूप से विचारने पर **न उपजती है, न विनशती है, ऐसा समाधान स्याद्वादी करता है।** यहाँ तो अभी इतना उपोद्घात किया है। उपोद्घात अर्थात् समझे? इस श्लोक में क्या कहना है, उसका संक्षिप्त में थोड़ा सार कहा। अब उसका शब्दार्थ करके उसका भावार्थ कहते हैं। समझ में आया?

'पशुः सीदति एव' पहला शब्द है। भगवान अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर मुनि सन्त मुनि ९०० वर्ष पहले हुए। दो हजार वर्ष पहले कुन्दकुन्दाचार्य मुनि महासन्त वर्तमान पंचम काल में तीर्थंकर जैसे हुए। तत्पश्चात् ग्यारह सौ वर्ष बाद और आज से लगभग ९०० वर्ष पहले अमृतचन्द्राचार्य महा(सन्त), कुन्दकुन्दाचार्य के गणधरतुल्य, जैसे तीर्थंकर का कार्य करे, वैसे अमृतचन्द्राचार्य ने कुन्दकुन्दाचार्य की टीका गणधर जैसी की है। उनके श्लोक हैं? अमृतचन्द्राचार्य मुनि दिगम्बर सन्त के कलश हैं। उनके अर्थ राजमलजी करते हैं। बनारसीदासजी कहते हैं 'पाण्डे राजमल जिनधर्मी, समयसार नाटक के मर्मी।' बनारसीदास हुए हैं न? बनारसीदास, समयसार नाटक के कर्ता, महा अध्यात्मी थे। पहले महा शृंगारी थे। आत्मशृंगार में उतर गये थे। वे कहते हैं 'पाण्डे राजमल जिनधर्मी, समयसार नाटक के मर्मी।' भगवान शास्त्रकार जो समयसार कहना चाहते हैं, उसके वे मर्मी थे। उन्होंने इस शब्द के अर्थ भरे हैं। समझ में आया?

'पशुः सीदति एव' आहा! अरे! आचार्य करुणा से कहते हैं, हों! दिगम्बर सन्त हैं, पंच महाव्रतधारी हैं, आनन्दकन्द में झूलनेवाले हैं, अतीन्द्रिय आनन्द में रमनेवाले हैं। मुनि तो उन्हें कहते हैं। अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव हो। अन्तरमग्न विज्ञानघन—ऐसा कहा न? आया न? ओहो! सर्वज्ञ परमात्मा से लेकर कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। पर और अपर। भले पाठ में इतना ही शब्द है न? पर-अपर। परगुरु और अपरगुरु। प्रधान—गुरु। पर अर्थात् प्रधान। वर्तमान के अतिरिक्त सब। सर्वोत्कृष्ट सर्वज्ञ परमात्मा से लेकर, गणधर गुरु से लेकर हमारे गुरु

ने हमारे ऊपर अनुग्रह-कृपा करके हमें शुद्धात्मा का उपदेश दिया। वे गुरु, सर्वज्ञ जिस प्रकार विज्ञानघन में अन्तरमग्न थे, उसी प्रकार हमारे गुरुपर्यन्त सब सन्त अन्तर विज्ञानघन आत्मा में अन्तरमग्न थे। विकल्प और वाणी उनकी नहीं है, ऐसा कहा। समझ में आया? यह सन्तों ने हमारे ऊपर कृपा करके हमें यह शुद्धात्मा कि जहाँ वे रमते हैं, वही उपदेश हमें दिया। शुद्ध भगवान पूर्णानन्द प्रभु है, ऐसी दृष्टि करके लीनता में रमते थे, उसी विकल्प में, वाणी में ऐसा आया कि शुद्धात्मा ऐसा है। आहाहा! समझ में आया? उस शुद्धात्मा का उपदेश इस श्लोक में आया है। देखो! क्या (कहते हैं)?

जो अज्ञानी अपनी पर्याय निर्मल शुद्ध द्रव्य से उत्पन्न हुई—ऐसा नहीं मानता है, वह शुद्धात्मा को नहीं मानता। भाई! भगवान आत्मा ज्ञान शुद्ध चैतन्य का पिण्ड है, उसके लक्ष्य से ज्ञान की, श्रद्धा की, शान्ति की पर्याय अपने द्रव्य से स्वयं से परिणति होती है, ऐसा शुद्धात्मा का उपदेश, जिसमें शुद्धात्मा की पर्याय का धर्म प्रगट हुआ है, ऐसा अज्ञानी मानता नहीं। ज्ञानी ने ऐसा कहा परन्तु अज्ञानी मानता नहीं। नहीं; हमारी पर्याय तो शुद्धात्मा कहते हैं, उसके आश्रय से (पर्याय) हुई, ऐसा नहीं। हमारी पर्याय तो सामने लक्ष्य जो निमित्त है, वैसा ही ज्ञान बराबर होता है। जैसा निमित्त है, वैसा ही ज्ञान पर्याय में होता है, तो हमारी पर्याय तो उससे हुई है। नवनीतभाई! बहुत सूक्ष्म। आहाहा!

भगवान की दिव्यध्वनि, वह भी आत्मा की ज्ञानपर्याय में निमित्तरूप अवलम्बन है। अवलम्बन कहो, या निमित्त कहो, परन्तु यह भाषा जैसी निकली, वैसी ज्ञान की पर्याय में स्वयं के कारण से परिणमन हुआ तो अज्ञानी ऐसा जानता है कि यह भाषा जैसी पलटती है, वैसी हमारी ज्ञान की अवस्था उसके पलटने से पलट जाती है, उसके कारण से पलट जाती है। हमारा ज्ञायकस्वभाव भगवान आत्मा है, उसके पलटने के स्वभाव के कारण से पलटती है, ऐसा नहीं मानकर, जैसा निमित्त लक्ष्य में आया, उसके पलटने पर मेरी पर्याय पलट गयी।—ऐसा अधर्मी मिथ्यादृष्टि अपनी पर्याय में मानता है। उसे मिथ्यात्व का, अज्ञान का, अधर्म का लाभ होता है। गजब बात, भाई! ऐसा सूक्ष्म होगा? जुगराजजी! आहाहा!

एक बार कहा था न? आहाहा! 'ज्ञेयशक्ति दुविधा प्रकाशे, निजरूपा पररूपा भासे।' ज्ञेयशक्ति दो प्रकार की है एक निजरूप ज्ञेय, पररूप ज्ञेय। 'स्वपरप्रकाशक शक्ति हमारी, तातैं वचनभेद भ्रमभारि, ज्ञेयशक्ति दुविधा प्रकाशे, निजरूपा पररूपा भासे।' यह ज्ञेय अर्थात् ज्ञान में जाननेयोग्य ज्ञेय। अपना द्रव्य भी जाननेयोग्य, गुण भी जाननेयोग्य, पर्याय जाननेयोग्य और पर

जाननेयोग्य। उसमें पर जाननेयोग्य की जैसी अवस्था हुई, होती है और हो गयी, ऐसा वर्तमान ज्ञानपर्याय में (ज्ञेय पदार्थ की) पर्याय पलटकर भूतकाल की हो गयी तो मेरा ज्ञान भी चला गया, (ऐसा मानता है)। वर्तमान में जहाँ दूसरी पर्याय लक्ष्य में आयी तो ऐसा ज्ञान हुआ तो उसके कारण से मेरी ज्ञान की अवस्था हुई, श्रद्धा की पर्याय भी ऐसी हुई—ऐसा माननेवाला अपने द्रव्य को मानता नहीं और अपने द्रव्य का परिणमन अपने से होता है, स्वकाल में अपने से होता है, ऐसा नहीं मानता। पर की नास्ति है, तथापि पर की अवस्था के काल से मेरी अवस्था का काल है, ऐसा माननेवाले को यहाँ मिथ्यादृष्टि कहा है। ओहोहो! समझ में आया?

निमित्त—परद्रव्य कर्ता और ज्ञान की पर्याय उसका कार्य। अरे! भगवान! बहुत बदल डाला, बहुत बदला। भगवान आत्मा अपनी ज्ञान की पर्याय का, पर्याय के अंश का स्वयं कर्ता और अपनी उस पर्याय का कार्य अपनी पर्याय के कारण से—आधार से प्रगट हुआ है। द्रव्य का आधार एक ओर रखो। समझ में आया? ऐसी अपनी स्वकाल की पर्याय में अपना कर्ता, अपना कार्य, अपने से, अपने आधार से उत्पन्न होकर अपने में रही है। ऐसा अज्ञानी नहीं मानकर, पर के कर्ता से, पर के साधन से, पर के कारण से मेरी पर्याय मुझमें उत्पन्न हुई है, ऐसा माननेवाला अपनी ज्ञानपर्याय का अस्तित्व द्रव्य के लक्ष्य बिना, पर के लक्ष्य से नाश हुआ—ऐसा नाश मानता है। समझ में आया? ऐसा भी क्या? जैनधर्म का ऐसा रूप होगा? यह यात्रा और यह सब क्या होगा? सुन न भाई! यह तो उस समय शुभभाव होता है, पर के ऊपर लक्ष्य जाता है परन्तु उस समय भी जो शुभभाव और पर के ज्ञान का जो लक्ष्य हुआ, या शुभ और पर का जैसा निमित्त है, वैसा ज्ञान परिणमा। वह शुभभाव और निमित्त के कारण से ज्ञान की आकृति नहीं परिणमी। समझ में आया? सबकी जाति अलग। चैतन्य की जाति अलग, जड़ की जाति अलग।

'पशुः सीदति एव' एकान्तवादी वस्तु के स्वरूप को साधने के लिए भ्रष्ट है। पशु की व्याख्या—एक पक्षी दृष्टिवाला। एकपक्षी दृष्टिवाला अर्थात् निमित्त की जैसी अवस्था है, वैसी मेरी अवस्था होती है। ऐसी एकपक्षी दृष्टिवाला। कहो, समझ में आया? यह पशु एकान्तवादी की व्याख्या। पशु अर्थात् अविवेकी। एकपक्षी दृष्टिवाला। अनेकान्त वस्तुस्वरूप के भान बिना मेरी चीज़ ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसमें मेरी पर्याय मेरे लक्ष्य से द्रवती है, ऐसे अनेकान्त के लक्ष्य बिना, निमित्त के लक्ष्यवाला मेरी पर्याय निमित्त के अवलम्बन से हुई, उसे पशु कहने में आता है, उसे एकान्तवादी कहते हैं। ऐ! छोटाभाई! है, इसमें है या नहीं? आहाहा! इतनी एकान्तवादी की व्याख्या (हुई)।

एकान्तवादी अर्थात् जैसा निमित्त है, वैसी वर्तमान अवस्था हुई—ऐसा एकपक्षी (माननेवाला) मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी है। **'सीदति'** अब इसकी दूसरी व्याख्या। **वस्तु के स्वरूप को साधने के लिए भ्रष्ट है।** अर्थात् जो वर्तमान ज्ञान अवस्था है, ऐसा अवलम्बन देखकर उससे हुई है, ऐसा माननेवाला अपनी ज्ञान की अवस्था द्रव्य से हुई है, ऐसा साधने को भ्रष्ट है। क्या कहा? यह ज्ञान की अवस्था मेरे द्रव्य से होती है, ऐसा साधन को भ्रष्ट है। जैसा निमित्त का अवलम्बन है, उससे हुई है—ऐसा मानकर अपने द्रव्य से हुई है—ऐसा साधन करने को भ्रष्ट है। समझ में आया? कहो, समझ में आता है या नहीं इसमें? ऐ.. चिमनभाई! समझ में आता है इसमें? सब सूक्ष्म-सूक्ष्म लगता है सब? या रसिकभाई को सौंपा होगा? यह सबको समझना (पड़ेगा), स्वयं को समझना पड़ेगा। किसी के कारण किसी को यहाँ मिले, ऐसा नहीं है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। क्यों? भीखाभाई! आहाहा!

यही कहते हैं, प्रभु! तू कौन है? भाई! बापू! बड़ा पर्वत—अनन्त गुण का पर्वत तेरा स्वभाव है। उस पर्वत में से जैसे पानी झरता है, वैसे उसमें से पर्याय झरती है, निकलती है। ऐसी पर्याय को द्रव्य के लक्ष्य बिना पर के लक्ष्य से साधन करनेवाला अपनी पर्याय को द्रव्य से हुई है, ऐसा साबित / सिद्ध कर नहीं सकता। आहाहा! समझ में आया? लक्ष्य फेर है। अज्ञानी की वर्तमान अवस्था का लक्ष्य पर है, तो पर पलटने से पर्याय पलट गयी तो अपनी पर्याय अपने द्रव्य से हुई है, वह उसका स्वतन्त्र काल है, वह स्व काल ही ऐसा है कि अपने द्रव्य से ऐसी ही पर्याय उत्पन्न होने की थी। ऐसी पर्याय जैसा अवलम्बन है, वैसा ही जाननेयोग्य अपनी पर्याय अपने से होनेवाली थी। ऐसा अज्ञानी परलक्ष्यी (जीव) स्वरूप का साधन कर नहीं सकता। कहो, नेमिदासभाई! यह जरा सूक्ष्म बात है, हों! रुक गये हैं। आज ८१वाँ वर्ष लगता है। रुके होंगे कुछ। समझ में आया? यह समझ में आया? यह अवस्था बड़ी हो गयी।

'सीदति' वस्तु के स्वरूप को साधने के लिए भ्रष्ट है। क्या अर्थ किया है? पशु अर्थात् एकपक्षी दृष्टिवाला मिथ्यादृष्टि। एकपक्षी अर्थात् जो अपनी वर्तमान पर्याय है, उसका अवलम्बन देखकर और अवलम्बन देखकर उससे हुई है, अवलम्बन पलटा तो मेरी पर्याय भी चली गयी, (ऐसा मानता है)। ऐसा एकपक्षी देखनेवाला अपनी पर्याय अपने से उत्पन्न होती है, ऐसा साधने को भ्रष्ट है। बराबर है? आहाहा! अरे! भगवान! कहो, समझ में आया या नहीं?

कहते हैं **अवश्य ऐसा है।** वापस ऐसा कहा। क्या कहा? **'एव' अवश्य ऐसा है।** भगवान आत्मा अनन्त ज्ञानादि का पिण्ड प्रभु, अपनी पर्याय, अपना स्वत्रिकाली ज्ञायकस्वरूप

है, उससे अपनी पर्याय—अपना अंश सिद्ध होता है। ऐसा साधन नहीं करके, परलक्ष्य से मेरी पर्याय उत्पन्न हुई है, ऐसा भ्रष्ट होकर अवश्य भ्रष्ट है, ऐसा कहते हैं। निश्चय भ्रष्ट है। आहाहा! **'एव'** अवश्य—जरूर। **'एव'** अर्थात् जरूर। भगवान आत्मा की निर्मल ज्ञानपर्याय अपने द्रव्य के आश्रय प्रवाह उसमें से आती है, ऐसा जिसका लक्ष्य नहीं है, वह अपनी पर्याय को सिद्ध करने में अवश्य भ्रष्ट है। समझ में आया? थोड़ा-थोड़ा तो होता है नवनीतभाई! थोड़ा-थोड़ा (स्पष्टीकरण) होता है, भाई! शक्तिप्रमाण होता है। सब कहीं ऐसा अपने को आता है? समझ में आया? आहाहा! देखो तो प्रभु कहते हैं।

भाई! तू दो अंशवाला है। एक त्रिकाली वस्तु और उसकी एक समय की अवस्था अंश—अवस्था। अब उस अवस्था का स्वकाल तो उस स्वद्रव्य के अवलम्बन से (होता है)। द्रव्य है, वह त्रिकाल वस्तु है। द्रव्य जो वस्तु है, वह त्रिकाल काल का पिण्ड है। वस्तु जो है, वह तो त्रिकाल वस्तु का पिण्ड है। एक ही त्रिकाल काल। उसकी वर्तमान अवस्था उसका भेद है, उसकी पर्याय है, उसका भेद है। समझ में आया? वह भेद भी जो पर के लक्ष्य से हुआ मानता है, वह स्व के लक्ष्य से भेद हुआ नहीं मानता, वह पर्याय को भी नहीं मानता। आहाहा! भेद को नहीं मानता, नहीं जानता। लो, ठीक! समझ में आया?

भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्यवें भाग में एक वस्तु ऐसी त्रिकाल पिण्ड, पिण्ड ज्ञानानन्द आदि अनन्त गुण का पिण्ड एक काल है। वह उसका एक काल है। उसका वर्तमान एक समय का वह भेद काल। भेद काल, व्यवहार काल, एक समय का भेद काल। वह काल भी स्वयं से हुआ है। ऐसा न मानकर पर से भेद हुआ है और पर की अवस्था पलटने से मेरा भेदपना पर के कारण से पलट जाता है, मेरा अभेद भगवान आत्मा है, उससे भेद का अंश होता है, ऐसा अज्ञानी को श्रद्धा में नहीं बैठता। कहो! यह तुम्हारी वकालत जैसा है या नहीं? दूसरा इसमें कुछ न्याय से है या नहीं? आहाहा!

भगवान सर्वज्ञदेव, सन्तों ने तो बहुत सरलता से बात की है। बहुत सरल, ऐसा इसके ख्याल में आवे (ऐसा) परन्तु यह अन्दर ख्याल में नहीं ले और फिर दोष निकाले कि हमको यह समझ में नहीं आता, हमें धर्म नहीं होता। आहाहा! भाई! तेरी सत्ता की समाप्ता कितने में है? तेरी सत्ता की समाप्ति-पूर्णता कितने में है? पूर्ण वस्तु है और एक समय की अवस्था है। बस! इतना। अब एक समय की अवस्था जो स्वकाल स्वयं से, त्रिकाल में से, एक में से, त्रिकाल में उसी पर्याय का वही स्वकाल, ऐसा भेद स्वकाल में, वही आनेवाला था और वही

हुआ, ऐसा नहीं मानकर जैसा निमित्त का काल, अवलम्बन दिखता है, वैसी ज्ञान की पर्याय देखकर पर के अवलम्बन से यह काल आया, ऐसा माननेवाला वस्तु के स्वरूप को नहीं साध सकता। आहाहा!

श्रोता : सरल आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : सरल आया, लो, भाई! थोड़ा आया। मोहनभाई! यह तो मक्खन है। आहाहा! अरे! न समझ में आये, ऐसा नहीं लेना। यह स्वयं प्रभु है। जिसे एक समय में पहिचान सके इतना नहीं, एक समय में केवलज्ञान प्रगट करे, ऐसी ताकत है न! उसका एक समय का स्वकाल केवलज्ञान ला सके, ऐसी उसकी ताकत है। आहाहा! उसका त्रिकाली ज्ञान का पूरा मूर्त स्वरूप त्रिकालरूप एक है और एक समय में केवलज्ञान में ला सके, ऐसी उसकी ताकत है। त्रिकाल में से वर्तमान एक समय में ला सके, ऐसी ताकत है। आहाहा! किसी के वर्तमान समय को किसी के त्रिकाल द्रव्य में से ला सके, ऐसा उसमें है नहीं। समझ में आया?

कहते हैं, ओहो! अज्ञानी को अपने निजस्वरूप का लक्ष्य ही नहीं तो अपनी पर्याय का दाता द्रव्य नहीं मानकर, अपने स्वकाल का दाता निमित्त का अवलम्बन मानकर, वह दाता है तो उत्पन्न हुई है, दाता पलटने पर मैं भी पलट जाता हूँ (—ऐसा मानता है)। आहाहा! समझ में आया? ऐ... भीखाभाई! भाई! यह गुरु की पर्याय होती है, उसके कारण (अपनी) पर्याय होती है, दाता वह है। कहते हैं कि दाता ऐसा मानता है, वह अपनी पर्याय को सिद्ध नहीं कर सकता। भाई! यहाँ तो सत्य है, वह सत्य है। उसमें कहीं किसी का (चलता नहीं)।

तीन लोक के नाथ परमात्मा हो या उनकी वाणी हो। सुननेवाले की ज्ञान की वर्तमान पर्याय त्रिकाल गुण का पिण्ड प्रभु त्रिकाल... त्रिकाल... त्रिकाल... गुण अर्थात् त्रिकाल, उसका एक वर्तमान काल का अंश, उसके स्वयं से अन्तर से आता है। ऐसा नहीं मानकर, जैसी वाणी लक्ष्य में आयी, वैसा मेरा ज्ञानाकार परिणमित हुआ तो मेरा ज्ञान भी उससे हुआ, वह पलट गया तो दूसरा (ज्ञान) हुआ तो अपनी पर्याय का पर के लक्ष्य से अभाव मानता है। आहाहा! समझ में आया? भारी सूक्ष्म बात, भाई!

वीतराग का अनेकान्त तत्त्व जैसा है, वैसा सिद्ध करनेवाली चीज़ है, (उसका) अज्ञानी को पता नहीं है (कि) क्या चीज़ है। ऐसा तो माने, भगवान ऐसा निर्मल है, शुद्ध है, ऐसा है, वैसा है। ऐसा नहीं चलता। निर्विकल्प है और विकल्परहित है, उसका अनुभव करो, परन्तु किस प्रकार करे? अनुभव तो पर्याय है, वस्तु त्रिकाल है तो वह अनुभव किसमें से आता है?

समझ में आया? अनुभव कहो या धर्म—सम्यग्दर्शन ज्ञान की पर्याय कहो, वह सम्यग्दर्शन ज्ञान की पर्याय किसमें से आती है? क्या पर पर्याय निमित्त की श्रद्धा करने से आती है? ऐसा कहते हैं, लो! आहाहा! समझ में आया?

जैसा सामने निमित्त है, सर्वज्ञ त्रिकाल त्रिलोकनाथ तीर्थंकर गुरु आदि परमगुरु, सर्वज्ञदेव परमगुरु... समझ में आया? जैसी उनकी पर्याय है, वैसी यहाँ मानी उस प्रमाण तो उससे सम्यग्दर्शन होता है? समझ में आया? ऐसी पर्याय की श्रद्धा से पर्याय सम्यक् हुई है? यह श्रद्धा की, ज्ञान की पर्याय तो अपने त्रिकाल ज्ञायक के लक्ष्य से उत्पन्न हुई है। ऐसी नहीं मानी, ज्ञेय की श्रद्धा से मेरी ज्ञानपर्याय उत्पन्न हुई है, (ऐसा माननेवाला) वस्तु का एक अंश भी स्वतन्त्र साबित नहीं कर सकता। विमलचन्दजी! यह लड़के भी तैयार हो गये हैं। देखो न! छोटी उम्र के। छोटी उम्र के कहलाते हैं न? यह पच्चीस-पच्चीस, अट्ठाईस वर्ष के इतने-इतने लड़के कहलाते हैं। आहाहा! कहो, समझ में आया इसमें? अरे! आठ वर्ष में केवल(ज्ञान) हो, उसमें दिक्कत क्या है?

भगवान तू कैसा है? ऐसा इसे स्वयं से श्रद्धा में बैठ जाए, किसी के कारण से नहीं। यहाँ तो कहते हैं कि देव-गुरु-शास्त्र की पर्याय ज्ञान में आयी। जैसा है, वैसा ज्ञान उस आकार परिणमा। ज्ञान उस आकार परिणमा तो वह चला जाने पर दूसरा होवे तो वैसा हुआ, ऐसी अपनी पर्याय पर के अवलम्बन से माननेवाले की व्यवहारश्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है। आहाहा! व्यवहारश्रद्धा भी कब कहलाती है?—कि जो विकल्प में आया, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का विकल्प। वह विकल्प (आने पर) अपने में अपने ज्ञान के लक्ष्य से ज्ञानाकार परिणमा, ऐसे ज्ञान के लक्ष्य से जो अपनी ज्ञान की पर्याय हुई, उसमें जो विकल्प आया, उस प्रकार का ज्ञान हुआ तो उस विकल्प को व्यवहार कहते हैं और यथार्थ ज्ञान के परिणमन को निश्चय कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! क्या हो परन्तु? फिर इसमें झगड़ा ही उठे न! क्या हो? अज्ञान के कारण से, बापू! यह तो सर्वज्ञ पन्थ है, कोई साधारण मनुष्य मान ले, इसलिए वस्तु ऐसी हो जाएगी? वस्तु तो जैसी है, वैसी रहेगी। दूसरा माने, इसलिए दूसरी चीज़ हो नहीं जाएगी।

भगवान अमृतचन्द्राचार्यदेव तो पुकार करते हैं, पशु एकान्त हो गया, ऐसा निश्चय है। तेरी वर्तमान अनन्त गुण की एक समय की स्वकाल की पर्याय के सामने अनन्त ज्ञेयों की जिस पर्याय का लक्ष्य (हो) अथवा वह द्रव्य-गुण भले हो, उसके लक्ष्य से तेरी पर्याय हुई और वह पलट गया तो अवस्था पलटने पर द्रव्य पलट गया, तो तेरी पर्याय उसके कारण से पलट गयी,

(ऐसा यदि मानता है तो) अवश्य तू एकान्त मिथ्यादृष्टि है। अवश्य स्वरूप की श्रद्धा से भ्रष्ट है—ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

कैसा है एकान्तवादी? देखो! राजमलजी ने भी टीका कैसी की है! **कैसा है एकान्तवादी? 'अत्यन्ततुच्छः' वस्तु के अस्तित्व के ज्ञान से अति ही शून्य है।** वस्तु के अस्तित्व के ज्ञान से अत्यन्त शून्य है। क्योंकि अपने ज्ञान, श्रद्धा की पर्याय पर निमित्त जैसा है, वैसी हुई, (ऐसा माना)। तो अपना अस्तित्व ज्ञान से अत्यन्त शून्य हो गया। मुझमें ज्ञान है और मुझसे मैं हूँ, ऐसा नहीं माना, शून्य हो गया। जो अपनी पर्याय से अशून्य है, अशून्य है, ऐसा नहीं मानकर पर के कारण से हुई, (ऐसा मानता है तो) अपने ज्ञान की तुच्छता में शून्य हो गया। अशून्य है, उसमें शून्य हो गया। मेरी पर्याय पर से हुई है। समझ में आया? ओहोहो! **वस्तु के अस्तित्व के ज्ञान से अति ही शून्य है।** अति शून्य हो गया, खाली हो गया, खाली। समझ में आया? मेरा ज्ञानस्वभाव भगवान, उसकी पर्याय में स्वयं से जानने में पर के जानने का भाव अपने अस्तित्व में अपने कारण से आता है, ऐसा साध नहीं सकता, (उसे) जैसा निमित्त है, वैसी मेरी पर्याय हुई (—ऐसा मानता है तो) अपनी पर्याय में शून्य हो गया। खाली हो गया, खाली बारदान माल बिना का। कोथला समझते हो? बारदान। थैला। खाली थैला हो गया। तेरे पास कुछ माल रहा नहीं। तेरे ज्ञान के वर्तमान अस्तित्व की शुद्ध अवस्था त्रिकाल से उत्पन्न हुई, ऐसा माल तेरे पास रहा नहीं। ओहोहो! समझ में आया?

और कैसा है? 'न किञ्चन अपि कलयन्' ज्ञेय अवस्था का जानपनामात्र ज्ञान... देखो! जो ज्ञेय है, उतनी ही मेरी ज्ञान की अवस्था है। ज्ञायकमात्र मेरा स्वभाव है, उसकी अवस्था से यहाँ अवस्था हुई है, ऐसा नहीं मानकर... **ज्ञेय अवस्था का जानपनामात्र ज्ञान है, उससे भिन्न कुछ वस्तुरूप ज्ञानवस्तु नहीं है...** ओहो! कैसी बात की है! इतने ज्ञेय के अवलम्बन से उत्पन्न हुई, यह तो ठीक, यह तो महामिथ्यात्व है। परन्तु कहते हैं कि ज्ञेय अवस्था के जानपने मात्र ज्ञान अवस्था है, उतना मानना भी मूढ़ मिथ्यात्व है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? क्योंकि अपनी पर्याय में अपने द्रव्य का भी ज्ञान होता है, पर का ज्ञान भी होता है, ऐसी एक समय की पर्याय की ताकत है। क्या कहा, समझ में आया?

अपनी पर्याय में—अवस्था में अपने द्रव्य का ज्ञान और परज्ञेय का ज्ञान (होता है)। ऐसे एक समय की पर्याय में दोनों का ज्ञान करने का सामर्थ्य अपने में है। अज्ञानी ने ज्ञेय अवस्था के जानपनेमात्र ज्ञान, परज्ञेय को जाननेमात्र ज्ञान (है, इतना ही माना)। **उससे भिन्न कुछ**

वस्तुरूप ज्ञानवस्तु नहीं है... मेरी चीज़ ज्ञानवस्तु त्रिकाल है, उसे जानने से जो पर्याय होती है, उसमें मुझसे पर जानने में आ जाता है, ऐसी वस्तु सिद्ध नहीं कर सकता। **'अपि' अंशमात्र भी नहीं है...** आहाहा! गजब भाई टीका! समझ में आया?

ज्ञेय अवस्था का जानपनामात्र ज्ञान... मेरा ज्ञान, मेरा ज्ञानस्वरूप भगवान, उसकी ज्ञानपर्याय और परसम्बन्धी का ज्ञान तथा अपना (ज्ञान), ऐसे दो प्रकार से (जानने का) सामर्थ्य पर्याय में है, ऐसा नहीं मानकर, अकेली ज्ञेय-अवस्थामात्र मेरा जानपना है, ऐसा मानकर अपनी ज्ञान अवस्था और ज्ञानगुण से शून्य हो गया। आहाहा! समझ में आया? समझ में आया या नहीं? कहो, समझ में आया?

ऐसी अनुभवरूप प्रतीति करता है। भगवान आत्मा... ध्यान रखो, न समझ में आये ऐसा है ही नहीं। वस्तु जो ज्ञान का पिण्ड प्रभु है, उसकी वर्तमान पर्याय—अवस्था जो है, उस अवस्था में स्वज्ञेय का ज्ञान और परज्ञेय का ज्ञान हो, ऐसी उसकी ताकत है। ऐसी ताकत नहीं मानकर, मात्र परज्ञेय के अवलम्बन में जैसा ज्ञेयाकार परिणमा, उतनी ही मेरी ज्ञान की पर्याय की ताकत है, (ऐसा माना) तो अपनी पर्याय और द्रव्य को सिद्ध नहीं कर सकता। अपनी ज्ञान की पर्याय का जितना सामर्थ्य है, उतना भी सिद्ध नहीं कर सकता, खाली हो गया। आहाहा! समझ में आया? इसीलिए इसमें सब विवाद उठे न? पर की दया और... सब है, सुन तो सही, भगवान! आहाहा! भारी बात, भाई! कठिन लगे, भाई!

बापू! प्रभु! यह तेरा मुक्ति का मार्ग कोई अलौकिक है, प्रभु! और उससे विरुद्ध भी कहाँ मिथ्यात्व होता है, उसकी तुझे खबर नहीं पड़ती। सूक्ष्म मिथ्यात्व का शल्य हो जाता है। वस्तु की स्थिति से विरुद्ध मानता है तो महामिथ्यात्व का शल्य मिथ्यात्व उत्पन्न करता है, इसकी खबर नहीं है। यह मिथ्यात्व रखकर कषाय की मन्दता की क्रिया होती है तो मिथ्यात्व का बड़ा पाप तो पड़ा है। समझ में आया? राग की मन्दता आदि का पुण्य बँधा तो उसमें क्या? शरीर बदलेगा, कोई अच्छा मनुष्य होकर, देवादि होगा। उसमें आत्मा में कुछ बदलाव नहीं आया। वेश बदला परन्तु अन्दर आत्मा का वेश नहीं पलटा। देह का वेश पलटा, आत्मा का वेश नहीं पलटा, एक भव कम हुआ नहीं। आहाहा! समझ में आया? कितनों को (ऐसा लगता है), ऐसा सूक्ष्म। तुझे धर्म करना है या नहीं? तो इनकार कर कि मुझे धर्म नहीं करना। यदि धर्म करना हो तो इस प्रकार से आत्मा का अस्तित्व दो प्रकार से है, उसे बराबर समझना पड़ेगा।

त्रिकाल ज्ञायकमूर्ति भगवान और उसका एक समय का ज्ञान। स्व को जाननेयोग्य और

पर को जाननेयोग्य। ऐसा एक समय की ज्ञान की पर्याय का पूर्ण सामर्थ्य है। ऐसा सामर्थ्य नहीं मानकर उस ज्ञान की पर्याय में जैसा अवलम्बन है, वैसा ज्ञान, जैसा अवलम्बन है, वैसा ज्ञान (होता है)। वह तो मूढ़ है परन्तु जैसा अवलम्बन है, वैसा मेरे कारण से ज्ञान की पर्याय हुई, इतना मानना वह भी ज्ञान की पर्याय से शून्य है। समझ में आया? जमुभाई! रात्रि में पूछे तो इसमें से थोड़ा याद आयेगा या नहीं? नहीं आयेगा? इतनी तो हिम्मत की है कि नहीं? परन्तु यह घुटता तो बहुत है। आहाहा!

इसमें तो आचार्य कितना सिद्ध करते हैं! भगवान! तेरा स्वभाव तो त्रिकाल एकरूप है, उसमें जो काल का अंश जो तेरी श्रद्धा-ज्ञान का आता है, वह तो तेरे ज्ञान के प्रवाह में से आता है और उस ज्ञान की पर्याय में तो तेरा ज्ञायकस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव दोनों को जानने की एक समय की ताकतवाली पर्याय आती है। यह तो एक समय की पर्याय (माने) परन्तु कितनी (माने)? जितना ज्ञेय है, वैसा अवलम्बन में ज्ञान हुआ, वह उससे हुआ, ऐसा जो मानता है, वह तो अपनी पर्याय को भी, मात्र परप्रकाश की पर्याय पर से हुई, ऐसा माननेवाला, परप्रकाश की पर्याय मुझसे हुई है, इतना मानने की ताकत भी उसकी नहीं है, तो भी उस पर्याय की ताकत तो इतनी है कि स्व-परप्रकाश की ताकत है, भाई! आहाहा! तथापि जिस ज्ञान की वर्तमान दशा में जितना अवलम्बन है, उससे मेरा ज्ञान हुआ, उससे मेरा ज्ञान हुआ तो परप्रकाश का ज्ञान अपनी ताकत से है, ऐसा नहीं माना और पर से हुआ माना। यह तो परप्रकाश की ज्ञान की पर्याय को भी अज्ञान में जो सिद्ध करना है, वह सिद्ध कर सकता नहीं है। और पर के अवलम्बन से (मेरी ज्ञानपर्याय हुई) नहीं, परन्तु उस अवलम्बन को (जाननेरूप) जैसा भाव है, वैसी मेरी पर्याय मेरे कारण से ज्ञेयाकाररूप परिणमी है, ऐसा माननेवाला ज्ञान की पर्याय में स्वज्ञेय और परज्ञेय को जानने की ताकतवाली पर्याय को नहीं मानता। समझ में आया?

यह दो लेंगे। भाई! देखो! आगे है न? **'बाह्यवस्तुषु' समस्त ज्ञेय अथवा ज्ञेयाकार परिणमे ज्ञानपर्याय के अनेक भेद,...** आहाहा! समझ में आया, भाई! आहाहा! प्रभु! तेरा सामर्थ्य। 'जहाँ चैतन्य वहाँ अनन्त गुण केवली एम।' 'जहाँ चेतन वहाँ अनन्त गुण, भगवान कहते हैं एम, प्रगट अनुभव आपका, निर्मल करो सो प्रेम।' चैतन्य प्रभु, तेरी चैतन्य सम्पदा सम्पदा में है, पर के कारण से नहीं।

अपनी ज्ञान की वर्तमान दशा में जैसा निमित्त है, वैसा ज्ञान होता है—ऐसा माननेवाला निमित्त की रुचि और प्रेम नहीं छोड़ सकता। समझ में आया? और वह निमित्त से मेरी

ज्ञानपर्याय हुई, ऐसा नहीं। परन्तु (जैसा ज्ञेय है), वैसी ही मेरी ज्ञान की पर्याय हुई, (ऐसा माननेवाला भी) ऐसे पर्याय का प्रेम छोड़ कर द्रव्य का प्रेम नहीं कर सकता। समझ में आया? पर्याय को इतनी माननेवाला, मेरी पर्याय जैसा अवलम्बन है, वैसी मेरी पर्याय मुझसे पर्याय परिणमी है, ऐसा माननेवाला उसमें प्रेम रखता है तो ज्ञायक के प्रति प्रेम नहीं कर सकता। समझ में आया? यह दो बातें कीं।

एक तो निमित्त के अवलम्बन से होती है, ऐसा माननेवाला निमित्त का प्रेम नहीं छोड़ सकता और निमित्त के अवलम्बन के काल में मेरी पर्याय ज्ञेयाकार स्वयं से हुई है, परन्तु इतना ही मैं हूँ, ऐसा माननेवाला भी ज्ञेय की पर्याय का प्रेम नहीं छोड़ सकता, द्रव्य को प्रेम नहीं कर सकता। छोटाभाई! आहाहा! समझ में आया? **भिन्न कुछ वस्तुरूप ज्ञानवस्तु नहीं है,... ऐसी अनुभवरूप प्रतीति करता है।** अज्ञानी। परन्तु अपना अनुभव नहीं कर सकता। बस! वह ज्ञान की पर्याय अर्थात् ज्ञेयाकार है या पर से हुई है, ऐसा अनुभव अज्ञानी करता है। अपने ज्ञायकभाव से अपनी पर्याय है, अपना ज्ञान और पर का ज्ञान भी अपने कारण से उत्पन्न होता है, ऐसा अनुभव अज्ञानी एकपक्षी दृष्टिवाला नहीं कर सकता। उसे आत्मा का लाभ नहीं होता।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

४ **श्री समयसार, गाथा - ३८३-३८४, श्लोक-२२७-२२८, प्रवचन - ४३३**
दिनांक - १४-०७-१९८०

समयसार, इसमें प्रतिक्रमण का अधिकार चल गया है। पहले अधिकार में प्रतिक्रमण का पहला अधिकार लिया और प्रत्याख्यान का दूसरा लिया। पहले गाथाएँ आ गयी हैं। और बाद में आलोचना ली है। क्योंकि करना है न, इसलिए वर्तमान ऐसा कि प्रतिक्रमण, भविष्य का भी मुझे करना नहीं और वर्तमान में करना नहीं, ऐसा। इस प्रकार से लिया। समझ में आया? पहले पाठ में पाठ ऐसा लिया, पाठ और टीका, है न इसमें? वह है। गाथाएँ हैं, गाथाएँ। ३८३-३८४।

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुह-मणेय-वित्थर-विसेसं।
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं।।३८३।।

कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि बज्झदि भविस्सं।
तत्तो णियत्तदे जो सो पच्चक्खाणं हवदि चेदा।।३८४।।

भविष्य लिया। पहले भूतकाल लिया, पश्चात् भविष्य लिया और फिर पहला वर्तमान लिया क्योंकि वह तो मात्र मुझे करना नहीं, भविष्य का करना नहीं। अभी यहाँ है, वह वर्तमान में ही मुझे करना नहीं, ऐसा। भाई! उसमें ऐसा कि वर्तमान में मुझे करना नहीं और भविष्य में मुझे करना नहीं। इसलिए पहले तीन गाथाएँ ऐसी आयी और यहाँ तो मुझे भूतकाल का किया हुआ हो, वह निष्फल जाओ, वर्तमान में मुझे करना नहीं, भविष्य में मुझे कुछ करना नहीं। ऐसी शैली ली है। इसलिए प्रतिक्रमण के बाद आलोचना ली है। है?

(अब टीका में आलोचनाकल्प कहते हैं-) (पृष्ठ) ५५९ है इसमें। क्या कहा समझ में आया? गत काल की तीन गाथाएँ ऐसी ली कि भूतकाल का कुछ भी किया हो तो मेरे निष्फल जाओ, मैं तो आत्मा हूँ, यह आत्मा चैतन्यस्वरूप आत्मा, ऐसा आया था न? चैतन्यस्वरूप आत्मा, आत्मा के अन्दर मुझे एकाग्र होना। भूतकाल के कर्म भी नहीं, भविष्य में भी नहीं, भविष्य का परिणाम तो यही है, एक ही है, वह के वही इस परिणाम में भविष्य का करना नहीं

है और उस परिणाम में वर्तमान करना नहीं है, ऐसा लिया। और उसमें भूतकाल की आलोचना की, अब वर्तमान की करते हैं, भविष्य की बाद में करेंगे। पहली गाथाएँ दूसरी गयी, वह गाथा ऐसी बदलते हैं, बदलते हैं। आलोचना।

मैं (वर्तमान में कर्म) न तो करता हूँ,... आहाहा! मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा परमज्ञायकभावस्वरूप वह मैं हूँ—धर्मी ऐसा जानता है। लाख बात की बात और बारह अंग का सार बारम्बार सब चाहे जितना करना, किया और कहा, वह आत्मा अन्दर आनन्दस्वरूप ध्रुव जो चैतन्य परमानन्द की मूर्ति है, उसमें जाना, स्थिर होना-यह करना है। बाकी सब बातें बहुत प्रकार की कथनशैली आती है। आहाहा! पाप हो, पाप भी लगे परन्तु उसे फिर से जाना है कहाँ?—अन्दर में। चैतन्यस्वरूप ज्ञायकभाव, शुद्ध चैतन्यघन, आनन्दकन्द में वर्तमान में मैंने किया हो, उसका यहाँ अभी यह चलता है। भूतकाल में कुछ किया हो तो भी मिच्छामि। अर्थात् वह मेरा स्वरूप ही नहीं है, मेरे स्वरूप में वह राग करना या राग छोड़ना, वह मेरे स्वरूप में नहीं है। आहाहा!

यह चैतन्यस्वरूप ज्ञान और आनन्द का सागर, ध्रुवस्वरूप में भूतकाल का किया हुआ मैंने किया नहीं, उसे मैंने किया नहीं, वह हो गया पर्याय में परन्तु वह मेरा कर्तव्य नहीं। तथा आलोचना—वर्तमान में कर्म करता नहीं। आहाहा! कर्म शब्द से शुभ-अशुभभाव। आहाहा! शुभ-अशुभभाव मैं करता नहीं क्योंकि वह मेरा स्वरूप नहीं। मैं तो चैतन्य गोला आनन्द का कन्द पंचम पारिणामिकस्वभावभाव, उसमें यह वर्तमान में राग करना, यह वस्तु में नहीं है। आहाहा!

तथापि यहाँ कहा कि **मैं (वर्तमान में कर्म) न तो करता हूँ,..** शब्द हैं बोले परन्तु भाव सूक्ष्म हैं जरा। आहाहा! अर्थात् कि मुझमें यह करना, यह मेरे स्वरूप में ही नहीं है। करता नहीं अर्थात्? आहाहा! मैं वर्तमान राग को करता नहीं अर्थात् कि मेरे स्वरूप में वह है ही नहीं। इसलिए करता नहीं और छोड़ता हूँ, यह पर्याय के व्यवहार का कथन है। आहाहा! ऐसी बात सूक्ष्म, लो!

मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से, वचन से तथा काय से। नवकोटि से। तीन-तीन आये न पहले? मन, वचन और काया के तीन (तथा) भूत, भविष्य और वर्तमान के तीन (ऐसे) नौ। फिर तीन और दो और तीन और एक और दो और एक और तीन और दो और दो और दो और दो और एक और एक

और तीन और एक और दो और एक और एक—यह सब भंग जाल। आहाहा! योगफल तो मुख्य यह।

मैं चैतन्यस्वरूप हूँ, ध्रुव हूँ, अविचल चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ, उसमें दूसरी कोई चीज़ स्पर्श नहीं करती। आहाहा! मेरा स्वभाव राग को करूँ, यह है ही नहीं। आहाहा! तथापि राग हुआ हो तो अब करता नहीं, ऐसा कहते हैं। ऐसा कहा न? करता नहीं, ऐसा कहा न? आहाहा! दूसरे से कराता नहीं। मेरा स्वरूप ही ऐसा नहीं है। मैं दूसरे से कुछ कराऊँ, ऐसा स्वरूप ही नहीं है। मैं तो ज्ञानस्वरूप, परम आनन्दस्वरूप, पंचम भाव, सर्वांग आनन्द से भरपूर भगवान, वह मैं क्या करूँ? राग के विकल्प को क्या करूँ? आहाहा! और क्या कराऊँ? और करता को अनुमोदन करूँ, यह वस्तु मुझमें है नहीं। परन्तु व्यवहार से यह समझाते हैं। आहाहा! समझ में आया? पश्चात् दूसरे सब भंग।

मैं (वर्तमान में कर्म) न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ,... तीन परन्तु **मन से तथा वचन से।** अब काया निकाल दी। इसलिए तीन और दो, इस प्रकार सब भंग लेना, सब भंग इस प्रकार लेना। ठेठ।

अब इस कथन का कलशरूप काव्य कहते हैं– सभी भंग, एक भी भंग स्वरूप में है ही नहीं। आहाहा! पर को करना और छोड़ना, यह तो मेरे स्वरूप में नहीं। इसकी बात है न यहाँ तो? जिसने स्वरूप को जाना है, वह जाननेवाला ऐसा कहता है कि मेरे स्वरूप में यह नहीं है। आहाहा! मैं राग को छोड़ूँ, यह भी मेरे स्वरूप में नहीं है। मैंने राग कब ग्रहण किया है कि मैं छोड़ूँ? आहाहा! तथा वह वस्तु ऐसी चीज़ है कि मैं तो पर को जानता हूँ, यह व्यवहार है। मेरी मर्यादा छोड़कर, मेरा क्षेत्र और मेरे क्षेत्र का मेरा भाव, उसे छोड़कर मैं कहीं नहीं जाता। आहाहा! इसलिए ***मैं मुझे ही जानता हूँ, मुझे ही देखता हूँ, मैं पर को करूँ, कराऊँ, अनुमोदन करूँ, यह व्यवहार हुआ हो तो अभी निष्फल करता हूँ।*** ऐसा वीतराग का मार्ग सम्प्रदाय की रूढ़िवाले को कठिन लगता है। मर्म है, इस श्लोक में मर्म है। आहाहा!

अस्ति—सत्ता—अनन्त गुण की सत्तावाला तत्त्व कि जिसकी अस्ति और मौजूदगी के लिये पर की कोई अपेक्षा नहीं है, पर को करे और करावे—ऐसा वस्तु के स्वरूप में नहीं है। पर्याय में हुआ हो तो उसकी बात छोड़ता हूँ। यह मेरी दृष्टि स्वभाव की है और मैं उसे छोड़ता हूँ। मेरा स्वभाव जो है, वह चैतन्यमूर्ति आनन्दकन्द है। आहाहा! उसके अस्तित्व के स्वीकार में, उससे विरुद्ध भाव को छोड़ता हूँ, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। वास्तव में तो वह भाव

उत्पन्न ही नहीं होता। आहाहा! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म। आहाहा! यह ले लेना, सब शब्द ले लेना। अब कलश कहते हैं, कलश। २२७ कलश।

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।२२७।।

आहाहा! नीचे अर्थ।

(निश्चय चारित्र को अंगीकार करनेवाला कहता है कि–) आहाहा! निश्चयचारित्र अंगीकार किया, अब उसे क्या करना बाकी रहा? परन्तु व्यवहार से कथन करते हैं। निश्चय स्वरूप है, उसमें जहाँ अन्दर स्थिर हुआ, चरा, विचरा, चरा-विचरा और स्थिर हो गया। आहाहा! बात यह है कि आत्मा कैसा और कितना है, इसकी महिमा अनन्त काल में एक सेकेण्ड भी आयी नहीं। बाकी सब किया परन्तु यह चीज़ क्या है? आहाहा! वह चीज़ राग को छोड़े, ऐसी नहीं। करे, ऐसी तो नहीं परन्तु छोड़े, ऐसा उसमें नहीं है। आहाहा! पहले आ गया है, ३४ गाथा। राग का आत्मा नाश करता है, यह नाममात्र कथन है। परमार्थ से राग का नाश करे, यह आत्मा को लागू नहीं पड़ता। पहले आ गया है, ३४-३५ गाथा में। आहाहा! यह अगम्य-गम्य की बातें हैं। आहाहा!

(निश्चय चारित्र को अंगीकार करनेवाला...) अब निश्चयचारित्र अर्थात् स्वरूप जिसने अंगीकार किया है, वह तो अपने आनन्द में लीन है। यह कहते हैं, **मोह के विलास से फैला हुआ जो यह उदयमान...** अब अभी तो है नहीं। निश्चयचारित्र में लीन है परन्तु पूर्व का था, वह जरा व्यवहार करते हैं। आहाहा! **'मोह विलासविजृम्भितम् इदम् उदयत् कर्म' मोह के विलास से...** मेरे स्वरूप के विलास से नहीं। मेरा प्रभु तो पूर्णानन्द से भरपूर त्रिकाली अनादि जिसमें एक समय की पर्याय का भी प्रवेश नहीं तो फिर पर्याय में राग हो, उसकी तो बात कहाँ थी? आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा, उसे **मोह के विलास से फैला हुआ...** मेरे विलास से फैला हुआ नहीं। आहाहा!

मोह के विलास से फैला हुआ... आहाहा! **जो यह उदयमान (उदय में आता हुआ) कर्म...** आलोचना है न? वर्तमान है न? वर्तमान है। प्रतिक्रमण तो भूतकाल, वह अधिकार गया। आहाहा! **मोह के विलास से फैला हुआ...** मेरे आत्मा की पर्याय में फैला हुआ, ऐसा नहीं कहा। आहाहा! उस मोह के विलास से फैला हुआ। प्रभु! मैं तो चैतन्य... आहाहा! अनाकुल आनन्दकन्द हूँ, उसमें और यह मोह का विलास फैले, यह कोई वस्तु मुझमें

तो है नहीं, परन्तु पर्याय में मोह का विलास जो फैलता था... आहाहा! जो इस उदय में, पर्याय में उदय आता था। कर्म अर्थात् राग-द्वेष आदि, वह **'सकलम् आलोच्य' उस सबकी आलोचना करके...** आहाहा! अर्थात् सबको देखकर। आलोचकर अर्थात् दूसरे को सबको जानकर। आहाहा!

आलोच का अर्थ देखना है। जो मोह के विलास से उदयमान जो रागादि थे, उसे मैं जानता हूँ। आलोचता हूँ अर्थात् जानता हूँ। आहाहा! जानने का स्वभाव, वह त्रिकाल है, वही पर्याय में फैलता है। आहाहा! अलौकिक बात है, प्रभु! आहाहा! आत्मा अन्दर अलौकिक चैतन्यमूर्ति है। भले उसका क्षेत्रप्रमाण शरीरप्रमाण है, तथापि उसके स्वभाव की मर्यादा की हद नहीं है, बेहद मर्यादा स्वभाव है। ओहोहो! ऐसा जो भगवान आत्मा... यह कहते हैं कि समस्त यह रागादि जो फैला हुआ था, उसे देखकर। **(सर्व कर्मों की आलोचना करके)...** देखकर, जानकर। आहाहा!

'निष्कर्मणि चैतन्य-आत्मनि आत्मनि आत्मना नित्यम् वर्ते' आहाहा! **मैं निष्कर्म (अर्थात् सर्व कर्मों से रहित)...** आहाहा! शुभाशुभभाव से भी मैं तो रहित हूँ, कर्म तो स्पर्श भी नहीं करते। भगवान आत्मा को कर्म तो छूते ही नहीं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्शता ही नहीं। आहाहा! समयसार की तीसरी गाथा। प्रत्येक द्रव्य अपने गुण और पर्यायरूपी धर्म; धर्म अर्थात् धार रखा हुआ भाव, उसे वह स्पर्श करता नहीं। स्वयं ने धार रखा हुआ अनादि गुण-पर्यायभाव, उसे वह स्पर्श करता है। साथ में रहा हुआ कर्म और दूसरा आत्मा, उसे वह स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा! कहो, ऐसा कहाँ दुकान में है ऐसा। आहाहा! यह दुकान अलग प्रकार की है। आहाहा!

क्या प्रभु का कथन? क्या उनकी शैली? वस्तु है पूरी और सब बातें पर्याय की करनी हैं। आहाहा! वस्तु तो वस्तु है, उसमें-ध्रुव में तो कुछ पलटता भी नहीं, बदलता भी नहीं, पलटता नहीं, सुधरता नहीं, बिगड़ता नहीं। ध्रुव। आहाहा! जो कुछ उसकी पर्याय में होता है, तो कहते हैं ध्रुव मेरा स्वभाव तो यह है, इसे मैं देखता हूँ, जाननेवाला देखता हूँ, जाननेवाले को जानता हूँ। बदल गया वापस। उसे मैं देखता हूँ, ऐसा नहीं। वास्तव में जाननेवाले को जानता हूँ। आहाहा! है? कैसे? कि **मैं निष्कर्म (अर्थात् सर्व कर्मों से रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मा में...** देखो! आया, स्व आया वापस। पर को आलोच कर, कहा है परन्तु मैं हूँ इसमें? आहाहा!

आत्मा में—चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा में... आहाहा! आत्मा से, मेरे स्वभाव से, मुझमें जो नहीं विकल्प, और उससे तो मैं कर्ता ही नहीं, कहते हैं। जो मेरी चीज़ में नहीं है, उससे मैं वापस मुड़ता हूँ या मैं स्थिर होता हूँ, यह बात ही नहीं है। मेरे **आत्मा में आत्मा से ही (स्वं ही) निरन्तर वर्त रहा हूँ।** आहाहा! गजब बात है। प्रभु चैतन्यस्वरूप आत्मा, यह भाषा ली है। पहले भी यह आ गया, पहले श्लोक में यह आया। प्रतिक्रमण आया न? उसमें आया था। चैतन्यस्वरूप, वहाँ भी आया था। देखो! **'यद् अहम् मोहात् अकार्षम्' मैंने जो मोह से अथवा अज्ञान से (भूतकाल में) कर्म किये हैं, उन समस्त कर्मों का प्रतिक्रमण करके...** प्रतिक्रमण करके, है? दो, तीन पृष्ठ पहले। **'निष्कर्मणि चैतन्य-आत्मनि आत्मनि आत्मना नित्यम् वर्ते' मैं तो निष्कर्म आत्मा हूँ।** आहाहा! **'निष्कर्मणि चैतन्य-आत्मनि'** निष्कर्मणी तो कर्म का निषेध। तब अस्ति क्या? अस्ति यह कि **'चैतन्य-आत्मनि'** मैं तो जाननेवाला आत्मा ज्ञातादृष्टा हूँ, बस। मैं तो मुझे जानता हूँ, ऐसा चैतन्य आत्मा हूँ। आहाहा!

चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही (स्वयं ही) निरन्तर वर्त रहा हूँ। ऐसा ज्ञानी अनुभव करे। ऐसा शब्द यहाँ है, देखो! है न? **'निष्कर्मणि'** निष्कर्म। सर्व कार्य से रहित चैतन्यस्वरूप आत्मा में। वहाँ यह था। आहाहा! भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूप है—ऐसा जो आत्मा, उसमें और राग का होना तथा जाना और यह सब पर्याय की बातें, उसे कहते हैं कि मैं मुझे जानता हूँ, उसमें यह सब टल जाता है। आहाहा! मैं मुझे जानता हूँ... आहाहा! आत्मा चैतन्यस्वरूप आत्मा में, आत्मा से, आत्मा में, आत्मा से; विकल्प से और राग से, देव-गुरु-शास्त्र से भी नहीं। आहाहा!

चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही... 'ही' है। वापस एकान्त है, आत्मा से ही। कथंचित् गुरु की कृपा से या परमेश्वर की कृपा से, परमेश्वर की सहायता से, वह मैं नहीं। आहाहा! **आत्मा में आत्मा से ही (स्वयं ही) निरन्तर वर्त रहा हूँ।** निरन्तर वर्तने में बिल्कुल दूसरे की सहायता, मदद, आसरा है नहीं। आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा, उसे छोड़कर सब बातें (करे)। आहाहा!

भावार्थ :- वर्तमान काल में कर्म का उदय आता है,... आलोचना है न वर्तमान? **उसके विषय में ज्ञानी यह विचार करता है (अर्थात् जानता है) कि-पहले जो कर्म बाँधा था उसका यह कार्य है,...** आहाहा! बाँधा था, वह सब विचार व्यवहार है। आत्मा कर्म बाँधे और आत्मा कर्म छोड़े, यह आत्मा में है ही नहीं। परन्तु यहाँ तो शुभ-अशुभभावकर्म

की बात है। शुभ और अशुभभाव मुझमें हुए थे... आहाहा! यह पूर्व में जो शुभ-अशुभ बाँधा था, वह कार्य उदय में आया, वह इसका है। आहाहा! मेरा तो यह कार्य नहीं। आहाहा! भले उसे कर्म बँधे और उसका उदय आया, वह मेरा कार्य नहीं है। आहाहा!

मैं इसका कर्ता नहीं हूँ,... यह राग वर्तमान में आया, इसका मैं करनेवाला, रचनेवाला (नहीं हूँ)। इसका रचनेवाला, बनानेवाला मैं नहीं हूँ। आहाहा! मैं स्वतन्त्र कर्तारूप से कहता हूँ कि मैं उसका कर्ता नहीं हूँ। आहाहा! कर्ता की व्याख्या—स्वतन्त्ररूप से करे, वह कर्ता। मेरे ज्ञान की पर्याय को मैं जानता हुआ स्वतन्त्ररूप से कर्ता, पर का कर्ता मैं बिल्कुल नहीं। आहाहा! अब ऐसी बात कठिन पड़े, फिर लोग (ऐसा कहे) ऐ... सोनगढ़ का एकान्त है, निश्चय है। बापू! जैसा है, वैसा है। आहाहा!

पहले जो कर्म बाँधा था, उसका यह कार्य है, मेरा तो यह कार्य नहीं। मैं इसका कर्ता नहीं हूँ, मैं तो शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा हूँ। इसी प्रकार समझाते हैं। ऐसे विकल्प वस्तु में नहीं है। मैं एक ज्ञायक हूँ, ऐसा एक विकल्प भी जिसमें नहीं। आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ भरपूर अखण्डानन्द हूँ, ऐसे एक विकल्प की वृत्ति का उत्थान, वह भी उसमें नहीं है, ऐसा यह मैं आत्मा... आहाहा! शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा में हूँ। **मैं तो शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा में हूँ।** आहाहा! है न भावार्थ में?

उसकी दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्ति है। मेरी तो दर्शन-ज्ञान प्रवृत्ति है। देखना और जानना, वह मेरी प्रवृत्ति है। आहाहा! **उस दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्ति के द्वारा मैं इस उदयागत कर्म को देखने-जाननेवाला हूँ।** आहाहा! यह भी व्यवहार है। वास्तव में तो अपने को ही स्वयं जानता है, देखता है। राग के अन्दर कोई तन्मय होकर जानता नहीं। एकमेक होकर जाने तो वह निश्चय कहलाये परन्तु समझाने में क्या आये? **मैं तो शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा हूँ।** आहाहा! **दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्ति है। उस दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्ति के द्वारा मैं इस उदयागत कर्म को देखने-जाननेवाला हूँ।** यह व्यवहार से है। क्या हो? सब व्यवहार बिना कथन क्या हो? आहाहा! वीतरागमार्ग है, भाई! सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ एक समय में तीन काल, तीन लोक जिन्हें जानने में आये—ऐसा कहा, वह व्यवहार है। उनकी पर्याय जानी, वहाँ उसमें ज्ञात हो गया। पर्याय पूर्ण हुई, उसे जाना, उसमें तीन लोकालोक ज्ञात हो गये। आहाहा! ऐसे भगवान के मुखारविन्द से निकली हुई वाणी... आहाहा! वह यह वाणी है।

उदयागत कर्म को देखने-जाननेवाला हूँ। मैं अपने स्वरूप में ही प्रवर्तमान हूँ।

मैं तो मेरे स्वरूप में ही वर्तता हूँ। मैंने यह राग किया भी नहीं और छोड़ा भी नहीं। आहाहा! राग का मैं कर्ता भी नहीं और छोड़नेवाला भी नहीं। आहाहा! उसका मैं जाननेवाला हूँ—ऐसा कहना है, वह व्यवहार है। यह मेरे **दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्ति के द्वारा...** देखो! **मैं इस उदयागत कर्म को देखने-जाननेवाला हूँ।** आहाहा! भाषा सादी है, कथन सादा है, भाव गम्भीर है। ऐसी भाषा तो अत्यन्त सादी है। आलोचना करे परन्तु बापू! आलोचना अर्थात् क्या? आलोचना का अर्थ देखना-जानना, बस। यह देखे-जाने, यही इसका स्वरूप है। यह स्वयं अपने को देखे और जाने। पर को देखे-जाने, उसमें तन्मय हुए बिना जाने, वह जाना नहीं, (जानता है, ऐसा कहना) वह तो असद्भूतव्यवहारनय का कथन है। आहाहा!

मैं अपने स्वरूप में ही प्रवर्तमान हूँ। यह पर्याय की बात है, ध्रुव में तो (क्रिया नहीं)। मेरे स्वरूप में ही—ध्रुवस्वरूप में वर्तता हूँ अर्थात् पर्याय में वर्तता हूँ। मेरी निर्मल पर्याय में ही मैं वर्तता हूँ। आहाहा! ध्रुव में तो कहीं वर्तने का है (नहीं)। **मैं अपने स्वरूप में ही प्रवर्तमान हूँ। ऐसा अनुभव करना ही निश्चयचारित्र है।** आहाहा! यह चारित्र की व्याख्या और यहाँ देखो तो सादी व्याख्या। यह स्त्री-पुत्र छोड़े और दो, पाँच लाख की आमदनीवाली दुकान छोड़ी (तो) बहुत त्यागी हो गया। पर को कब ग्रहण किया था, उसे त्यागे! पर के त्यागोपादानशून्यत्व है। त्याग और ग्रहण से तो आत्मा प्रभु शून्य है। आहाहा! बहुत तो इसमें पर्याय में रागादि होते हैं, पर्याय में; वस्तु में तो कुछ है नहीं, यह कहते हैं मैं मेरे स्वरूप में रहकर, वह वस्तु छूट जाती है। आहाहा! इसका नाम आलोचना, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान कहने में आता है। आहाहा!

इस प्रकार आलोचनाकल्प समाप्त हुआ। लो!

अब टीका में प्रत्याख्यानकल्प... तीसरा बोल। पहला प्रतिक्रमण हो गया, आलोचना हो गयी, यह तीसरा ऐसा लिया इसमें। पहले में ऐसा था—पहला प्रतिक्रमण भूतकाल का, भविष्य का प्रत्याख्यान (और) पश्चात् आलोचना। अब इसमें ऐसा आया। आहाहा!

अब टीका में प्रत्याख्यानकल्प अर्थात् प्रत्याख्यान की विधि कहते हैं-

(प्रत्याख्यान करनेवाला कहता है कि-)

मैं (भविष्य में कर्म) न तो करूँगा,... आहाहा! क्योंकि मैं तो ज्ञान और आनन्दस्वरूप हूँ। यह राग भविष्य में हो, यह वस्तु ही कहाँ से आवे? आहाहा! यह मैं करूँगा नहीं, इसका अर्थ यह है। मेरे स्वरूप में वह वस्तु ही नहीं तो मैं करूँगा नहीं, यह व्यवहार। व्यवहार के

कथन अकेले सब भरे हैं। और यदि लोग इसे निश्चय मान ले तो लोग बड़ी भूल में जाए। आहाहा! **मैं (भविष्य में कर्म) न तो करूँगा,...** कर्म अर्थात् रागादि। जड़कर्म की बात नहीं। भविष्य में पुण्य-पाप के भाव करूँगा नहीं।

यह प्रत्याख्यान की व्याख्या। **न कराऊँगा,...** मैं शुभभाव को कराऊँगा नहीं। आहाहा! शुभ को मैं करूँगा नहीं, शुभभाव को कराऊँगा नहीं। आहाहा! मेरे स्वरूप में ही वह नहीं और अन्य कोई कर्ता हो तो उसे अनुमोदन करूँगा नहीं। आहाहा! मैं तो एक जाननेवाला-देखनेवाला सूर्य—चैतन्यसूर्य हूँ। आहाहा! दूसरे का कुछ भी काम करूँ, कराना, अनुमोदना, यह मुझमें कुछ नहीं है। आहाहा! ऐसी चैतन्य की महिमा ही इसे आयी नहीं है।

महाप्रभु दूसरे सबने कहा परन्तु सर्वज्ञ परमात्मा ने जो आत्मा कहा, उसमें भी दिगम्बर मुनि ने जो कहा, वह अन्यत्र कहीं नहीं है। आहाहा! दूसरे को दुःख लगे। हमको मिथ्या (सिद्ध करते हैं)। बापू! तुमको दुःख हो, मिथ्या से तुम्हें दुःख होगा, प्रभु! यह दुःख न होने के लिये बात है, भाई! मिथ्या, खोटा, असत्य से वर्तमान दुःख और भविष्य में दुःख है। उस दुःख का वेदन, प्रभु! तुझे न हो। तू ऐसा नहीं, तू तो आनन्दस्वरूप है, प्रभु! आहाहा! तुझे आनन्द में रहने के लिये यह बात है। आहाहा! पश्चात् विशेष सब भंग कहे हैं, पश्चात् सब भंग लेना। उसका कलश २२८ कलश। है?

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्त-सम्मोहः।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।२२८।।

नीचे श्लोकार्थ।

(प्रत्याख्यान करनेवाला ज्ञानी कहता है कि-)... आहाहा! प्रत्याख्यान करनेवाला ज्ञानी जानता है कि यह कहते हैं कि ऐसा कहने में आता है। कहते हैं तो कल आया था। प्रशस्त और अप्रशस्त वचन रचना घोर संसार है। आहाहा! कल दोपहर को आया था। कठिन काम है। वचन जड़ है। वचन, काया और मन तीनों जड़ हैं। प्रभु तो चैतन्य है। वह जड़ को कैसे करे? कहाँ वह नहीं, उसे करे? और करे अर्थात् क्या? वह पर्याय और कामरहित निकम्मी वह चीज़ है? वह निकम्मी अर्थात् पर्यायरहित चीज़ है कि यह आत्मा उसकी पर्याय करे? आहाहा!

प्रत्येक वस्तु अपनी पर्याय के काम से, कार्य से खड़ी है। अनन्त चीज़ें एक समय में अपने कार्यरूपी काम अर्थात् पर्याय; पर्यायरूपी, कामरूपी कर्तव्य में खड़ी है, उसमें दूसरा क्या

करे ? आहाहा ! यह तो कहा था न तीसरी गाथा का ! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। तीसरी गाथा। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को चूमता नहीं, एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता। आत्मा कर्म को स्पर्श नहीं करता, कर्म आत्मा को स्पर्श नहीं करते। आहाहा ! और वह पर्याय क्रमबद्ध होती है। आहाहा ! क्योंकि वस्तु है, वह क्रमसर पर्याय धारावाही जो होनेवाली, वह हुई। तुझसे बदली बदलाये नहीं। दूसरे से हो नहीं, तुझसे बदली बदलाये नहीं। आहाहा ! ऐसा प्रत्येक द्रव्य की पर्याय का स्वभाव है। आहाहा !

यह दूसरे को स्पर्श नहीं करता, यह दूसरे का करे किस प्रकार ? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता और वह दूसरा द्रव्य उसकी पर्याय रहित नहीं होता, तो उसके काम बिना का निकम्मा वह नहीं होता। काम अर्थात् पर्याय। वह निकम्मा नहीं कि तू उसका काम— उसकी पर्याय करे। आहाहा ! पूरे दिन यह काम करते हैं न ? हसमुखभाई ! दुकान और धन्धे का। यह पैसा दिया और लिया और यह बहियों के नाम और... आहाहा ! यह डॉक्टर इंजेक्शन-बिंजेक्शन लगाते नहीं ? प्रवीणभाई होशियार कहलाते हैं। इंजेक्शन लो, अमुक लो। अरे... अरे... ! आहाहा !

यहाँ तो कहते हैं, मैं करूँगा नहीं, मन से तथा काया से। **(प्रत्याख्यान करनेवाला ज्ञानी कहता है कि-) भविष्य के समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान (-त्याग) करके,...** आहाहा ! सादि-अनन्त काल की दशा के राग को छोड़कर। आहाहा ! समस्त कर्म को भविष्य का कहा न ? भविष्य तो सादि-अनन्त है। उसका कर्म अर्थात् शुभाशुभभाव वह समस्त। कोई भी, जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, उस भाव को भी मैं करूँगा नहीं। आहाहा ! क्योंकि वह भी पर्याय में जो जड़ में कर्म बँधे, तीर्थंकरप्रकृति, वह जिस भाव से बँधी, उस भाव का नाश होने के बाद तो उस प्रकृति का उदय आता है। उसमें इसने क्या किया ? आहाहा ! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधा था, उस भाव का नाश होने पर उस प्रकृति का उदय तेरहवें गुणस्थान में आता है। आहाहा ! क्या गति ? ऐसा बाँधा, इसलिए ऐसा होगा और वैसा होगा। तीर्थंकरप्रकृति बाँधी, इसलिए ऐसा होगा। क्या होगा ? सुन न ! उसका उदय ही आयेगा तेरहवें (गुणस्थान में)। उसके पहले आयेगा नहीं और होगा क्या तुझमें ? आहाहा ! ऐसी बातें हैं, बापू ! आहाहा !

प्रभु ! तू चैतन्यस्वरूप है न ! देखो न ! इसमें लिखा न ! समस्त कर्म को प्रत्याख्यान करके। कैसे ? **'निरस्त-सम्मोहः निष्कर्मणि चैतन्य-आत्मनि आत्मनि आत्मना नित्यम् वर्ते'** देखो ! मैं तो भविष्य के समस्त विकल्पों को छोड़कर। आहाहा ! यह सब व्यवहार के कथन हैं। छोड़कर छोड़े क्या ? कहाँ इसमें थे, उन्हें छोड़े ! आहाहा ! व्यवहारनय के इतने

कथन हैं कि उन्हें न समझे तो घोटाला करे ऐसा है। आहाहा! **भविष्य के समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान (–त्याग) करके,...** आहाहा! आज के बाद के भविष्य में धर्मी, त्यागी, चारित्रवन्त अन्तर में पर्याय में ऐसा जानता है (कि) भविष्य का कोई भी राग का अंश मैं करूँगा नहीं। आहाहा! प्रभु! भविष्य का सादि-अनन्त काल है न? सादि-अनन्त काल है, परन्तु मैं तो एक समयमात्र भी राग करूँगा नहीं। आहाहा! देखो! यह चारित्र की व्याख्या। अब ऐसा चारित्र। ऐसा न हो तो कहते हैं, यह तो कठिन है, यह तो कठिन है। बापू! कठिन नहीं। यह तेरी चीज़ है, वह कठिन कैसे होगी? तेरी चीज़ ही है, सत्ता है, मौजूदगी है, अस्ति है, सत् है, सत्ता है। दूसरे के अवलम्बन से रहनेवाली नहीं, ऐसी सत्ता के लिये तू क्या करेगा? प्रभु! रहने दे। आहाहा! यह चैतन्यसत्ता किसी की आशा नहीं रखती। यह पर को ग्रहण करना और छोड़ना, यह सब व्यवहार कहने में आता है। राग को, हों! पर को छोड़ना, वह तो आत्मा में गुण ही नहीं है। परमाणु को, स्त्री, पुत्र, पैसे को छोड़ना... उन्हें ग्रहण नहीं किया और छोड़ना नहीं। बहुत तो व्यवहार से राग को छोड़ना—ऐसा कहने में आता है। आहाहा!

प्रभु चैतन्यस्वरूप ज्ञानानन्द का सागर महासमुद्र, उसे राग को छोड़ेगा... कहते हैं कि प्रत्याख्यान **भविष्य के समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान (–त्याग) करके, 'निरस्त सम्मोहः' जिसका मोह नष्ट हो गया है...** भविष्य का हो, वह मोह ही नाश हुआ है, कहते हैं। वर्तमान में यह मोह ही नाश हुआ है। भविष्य में कुछ भी राग होगा (तो भी) यह उसका मोह ही नाश हुआ है। आहाहा! **ऐसा मैं... जिसका मोह नष्ट हो गया है ऐसा मैं...** मोह नष्ट हुआ है, ऐसी खबर पड़ गयी छद्मस्थ को? भगवान को पूछे बिना? आहाहा!

एक वह बाई है न? ज्ञानमती। बहुत महिमा की है। वह बोलती है ऐसा कि अपन भव्य हैं या अभव्य, यह तो भगवान जाने। अररर! प्रभु! प्रभु! अब उसके व्याख्यानों सुनना। भव्य हैं या अभव्य अभी यह निर्णय (नहीं होता)। होगा, अखबार में आया था। दूसरा लब्धि, काललब्धि। भव्य या अभव्य को काललब्धि पकी है या नहीं, यह तो भगवान जाने। आहाहा! अरे रे! कोई पूछनेवाला नहीं मिलता। बनिया होकर भी किसी को कुछ खबर नहीं कि यह इसमें कितनी विपरीतता भरी है। आहाहा! उसके वचन सुनने के योग्य नहीं। आहाहा! अभी अपना विश्वास हुआ नहीं कि मैं भव्य हूँ और समकिती हूँ। आहाहा! उसके वचनों को ऐसे सुनना... आहाहा! अभव्य हूँ या नहीं, यह खबर नहीं। अररर! अखबार में आया है।

श्रोता : अभव्य को तो सम्यग्दर्शन ही नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो भव्य हूँ या अभव्य, इसका विश्वास नहीं, इसका अर्थ अभव्य जैसा ही है। उसका विश्वास क्या ? आहाहा! उसके अपने लिये तो कुछ विश्वास नहीं कि मैं ऐसा हूँ।

यहाँ तो कहते हैं, तीन लोक का नाथ, आनन्द का सागर अनन्त गुण का भण्डार... आहाहा! वह मोह को छोड़ता है, ऐसा कहना भी व्यवहार है। यह द्रव्यस्वभाव तो मोह को स्पर्शा भी नहीं है। आहाहा! पर्याय में है, उसे छोड़ा—ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। आहाहा! क्योंकि पर्यायमात्र व्यवहार है; द्रव्यमात्र निश्चय है। द्रव्य निश्चय है; पर्याय व्यवहार है। पंचाध्यायी में कथन है, पंचाध्यायी में। पर्याय, वह व्यवहार। प्रत्येक पर्याय, कोई भी, सिद्धपर्याय भी व्यवहार है। एक जीव में संसार और सिद्ध दो भाग करना, यह पर्याय व्यवहार है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **ऐसा मैं निष्कर्ष (अर्थात् समस्त कर्मों से रहित)...** आहाहा! अब यहाँ शोर-चिल्लाहट करे। अन्तरायकर्म हमारे उदय आवे (तो) हमारे भाई! ऐसा होता है। दर्शनमोह का उदय आवे, चारित्रमोह का उदय आवे। अरे! भाई! पहली पुकार कर कि मुझमें है ही नहीं, यह कर न! आहाहा! यहाँ तो (कहते हैं), इन कर्मों से रहित। आहाहा! **चैतन्यस्वरूप आत्मा...** मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा, जाननेवाला-देखनेवाला वह आत्मा हूँ। आहाहा! गजब बात है, भाई! वीतराग की दिगम्बर सन्तों की वाणी, केवली की वाणी है। दिगम्बर सन्तों की वाणी कहीं है नहीं। किसी स्थान में, किसी जगह, कहीं नहीं है। आहाहा! खोटा लगे, बेचारे को दुःख लगे। परन्तु यह शैली और यह पद्धति श्वेताम्बर में, स्थानकवासी में नहीं तो अन्यमति में तो होगी किसकी! आहाहा! अलौकिक बात है।

जिसका मोह नष्ट हो गया है, ऐसा मैं निष्कर्ष (अर्थात् समस्त कर्मों से रहित)... आहाहा! **चैतन्यस्वरूप आत्मा में...** फिर आत्मा की व्याख्या की, पहले श्लोक में यह आया—चैतन्यस्वरूप आत्मा, यह तो जानने-देखनेवाला प्रभु है। आहाहा! यह तो चैतन्यस्वरूप आत्मा है। आहाहा! चैतन्यस्वरूप सूर्य, चैतन्यसूर्य, दीपक आत्मा है। आहाहा! ऐसे **चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही...** ऐसे आत्मा में, आत्मा से अर्थात् राग से नहीं, पुण्य से नहीं, व्यवहार से नहीं। मेरे स्वभाव से ही **(-अपने से ही) निरन्तर वर्त रहा हूँ।** आहाहा! यह चारित्र। यहाँ तो अभी सुनने की गन्ध भी नहीं मिलती, वहाँ चारित्र कहाँ से आ गया ? आहाहा! लोगों को दुःख लगे। चारित्र कहलाते हों। प्रभु! दुःख लगे परन्तु इस विपरीत मान्यता में दुःख, बापू! तुझे कठिन पड़ेगा, भाई! तू प्रभु है। तू भी प्रभु है, प्रभु हो। तुझे दुःख हो, यह किसी की

भावना नहीं होती। तुझे तेरी श्रद्धा मिथ्या है, ऐसा करके तुझे दुःख हो, ऐसी भावना नहीं होती। आहाहा! दुःख टालकर आनन्दस्वरूप तू हो। आहाहा!

यह तो द्रव्यसंग्रह में आया है, द्रव्यसंग्रह में। जहाँ अवायविचय (का बोल) आया है, वहाँ (लिखा है), मैं अल्पकाल में आठों कर्मों से रहित होनेवाला हूँ, होनेवाला हूँ। सभी आत्माएँ भगवान आठ कर्म से रहित होओ। आहाहा! धर्मी ऐसा विचार करता है। आहाहा! कोई दुःखी हों और कोई विरोध करनेवाले तुम्हें विरुद्ध के फल मिले—यह नहीं, नहीं, नहीं। प्रभु! तुम सुखी होओ। तुम्हें अन्दर में सुख का-आनन्द का कन्द भरा है। आहाहा! द्रव्यसंग्रह में कथन है, द्रव्यसंग्रह है न? नेमीचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (सिद्धान्तिदेव)। आहाहा! अवायविचय, विपाकविचय, अवायविचय, संस्थानविचय है न? वह है न? अवायविचय में ऐसा कथन टीका है। सब जीव भगवान कर्मरहित हो जाओ। आहाहा!

(समस्त कर्मों से रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही (–अपने से ही) निरन्तर वर्त रहा हूँ। आहाहा! भगवान को पूछने जाना पड़े कि मैं चारित्रवन्त हूँ? आहाहा! चारित्रवन्त भी स्वयं अपने आत्मा को इस प्रकार से अनुभव करता है कि मैं चारित्रवन्त हूँ। आहाहा! यह कलश पूरा हुआ न? बाद में एक कलश है, वह आयेगा....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

५

श्री परमात्मप्रकाश, गाथा - ६८, प्रवचन - ४५
दिनांक - २७-०७-१९७६

पर्याय को उत्पन्न नहीं करता। आहाहा! और पर्याय का व्यय नहीं करता। उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्त सत् है, तो ध्रुव जो चीज़ है, वह अपनी पर्याय में भी नहीं आती। और पर्याय को नहीं करती। आहाहा! अज्ञानी आत्मा परद्रव्य का कर्ता नहीं, कर नहीं सकता। अज्ञानी का आत्मा और आत्मा क्या है, यह दृष्टि में नहीं तो वह राग का कर्ता अज्ञानी होता है। व्यवहार राग का कर्ता होता है। पर का कर्ता तो अज्ञानी भी नहीं हो सकता। क्योंकि परपदार्थ अपनी पर्याय का कर्ता है और पर्याय से रहित तो कभी परपदार्थ नहीं है तो उस पदार्थ की पर्याय को अज्ञानी भी नहीं करता। अज्ञानी करे तो अपने द्रव्य को भूलकर राग को करे। उसे खबर नहीं है कि मैं कौन हूँ? यहाँ तो जिसे खबर है कि मैं शुद्ध चैतन्यघन हूँ... आहाहा! ऐसा आत्मा परद्रव्य की पर्याय का पर्याय कर्ता नहीं है। अपनी पर्याय से परद्रव्य का कर्ता आत्मा नहीं है और निर्मल पर्याय से आत्मा का भान हुआ है तो निर्मल पर्याय से राग का भी कर्ता नहीं है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है। लोग कहाँ ले जाते हैं? परद्रव्य का कर्ता न माने, वह दिगम्बर जैन नहीं। प्रभु! क्या करता है, भाई? अरे! परमात्मा के विरह में ऐसा नहीं होता। परमात्मा तो ऐसा फरमाते हैं। त्रिलोकनाथ कहते हैं।

शुद्ध निश्चय से त्रिकाली वस्तु जो भगवान आत्मा, वह उत्पाद को करता नहीं, व्यय को करता नहीं। आहाहा! बन्ध को करता नहीं और मोक्ष को करता नहीं। आहाहा! त्रिकाली वस्तु जो सम्यग्दर्शन का विषय... आहाहा! वह चीज़ तो पर्याय की कर्ता नहीं, मोक्ष की पर्याय का कर्ता नहीं। आहाहा! अब उसे पर का कर्ता मानना है। देवीलालजी! भगवान! तेरी चीज़ क्या है, तुझे खबर नहीं है, प्रभु! चीज़ यह है, वह तो भगवान अपनी पर्याय की, मोक्षमार्ग की या मोक्ष की पर्याय का भी कर्ता नहीं। आहाहा! सेठ! आहाहा! यह तो निर्मल मोक्ष की पर्याय का भी अकर्ता द्रव्य है। आहाहा! समझ में आया?

हे योगीश्वर,... शिष्य को कहता है। योगीन्द्रदेव दिगम्बर मुनि हैं। सन्त दिगम्बर

आत्मज्ञानी, अनुभवी, भावलिंगी वीतराग के आनन्द में अनुभव करनेवाले हैं। आहाहा! वे अपने शिष्य को कहते हैं, हे योगी! **निश्चयनयकर विचारा जावे...** वास्तविक तत्त्व की दृष्टि से विचार किया जाए... आहाहा! वस्तु जो ध्रुव चिदानन्द प्रभु, जिसकी आदि नहीं, जिसका अन्त नहीं और पूर्ण स्वभाव से खाली नहीं। आहाहा! ऐसी चीज़ वस्तु जो भूतार्थ है। लो! ऐसी चीज़ है। आहाहा! अमरचन्दभाई!

भगवान पूर्णानन्दस्वरूप प्रभु, अपना पूर्ण स्वभाव... पूर्ण स्वभाव... पूर्ण स्वभाव.. अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति—ऐसे पूर्ण स्वभाव से भरपूर जो तत्त्व, वह तत्त्व मोक्ष के परिणाम को और मोक्ष के मार्ग के परिणाम को नहीं करता। आहाहा! ऐसी बात है, भगवान! सम्यग्दर्शन का विषय जो ध्रुव त्रिकाल है, तो सम्यग्दृष्टि ऐसा मानता है कि यह मेरी पर्याय है, उसका द्रव्य कर्ता नहीं है, ऐसा वह मानता है। आहाहा! अरे! प्रभु! भाई! तेरा मार्ग यह है। वीतरागस्वभाव से भरपूर प्रभु! सम्यग्दृष्टि ऐसा मानता है, सम्यग्दर्शन है पर्याय परन्तु वह ऐसा मानती है कि मेरी चीज़ है, वह तो सम्यग्दर्शन का भी कर्ता नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग है। वीतराग... यह कहते हैं।

निश्चयनयकर विचारा जावे, तो यह जीव... वास्तविक भूतार्थ तत्त्व जो, त्रिकाली है, उस दृष्टि से और उस नय से विचार किया जाए तो... आहाहा! **न तो उत्पन्न होता है, न मरता है...** व्यय भी कर्ता नहीं और उत्पाद भी कर्ता नहीं और भगवान उत्पाद में भी नहीं आता, व्यय में भी नहीं आता। आहाहा! द्रव्य के आश्रय से सम्यग्दर्शन की जो पर्याय उत्पन्न हुई, उस पर्याय में द्रव्य नहीं आता। आहाहा! उस पर्याय का द्रव्य कर्ता नहीं है, ऐसा सम्यग्दृष्टि जानता है। आहाहा!

श्रोता : सम्यग्दृष्टि को ऐसा जानना धर्म है या अधर्म?

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्यग्दर्शन धर्म है। सम्यग्दर्शन और चारित्र आदि वह तो धर्म की पर्याय है। सम्यग्दृष्टि ऐसा मानता है कि पर्याय का भी द्रव्य कर्ता नहीं है। आहाहा! और पर्याय राग का कर्ता नहीं, राग पर का कर्ता नहीं। समझ में आया? आहाहा! सम्यग्दर्शन की पर्याय में त्रिकाली चीज़ जो दृष्टि में आयी है तो वह सम्यग्दृष्टि ऐसा जानता है और मानता है कि इस सम्यग्दर्शन की पर्याय में आत्मा नहीं आता। आत्मा सम्यग्दर्शन की पर्याय में उत्पन्न नहीं होता। आहाहा! इस सम्यग्दर्शन की पर्याय में सम्पूर्ण पूर्ण आत्मा की प्रतीति आती है, प्रतीति। परन्तु प्रतीति में वह द्रव्य नहीं आता। आहाहा! ऐसा मार्ग वीतराग का। अरे! कहाँ अटकता है? प्रभु! आहाहा!

कहते हैं **और न बन्ध-मोक्ष को करता है अर्थात् शुद्धनिश्चयनय से बन्ध-मोक्ष से रहित है, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं।** है ? आहाहा! त्रिलोकनाथ जिनवर प्रभु, जिन्हें एक समय में लोकालोक ज्ञात हुए है और पूरा द्रव्य ज्ञात हुआ है। एक समय की पर्याय में पूर्ण द्रव्य क्या है, यह ज्ञात हुआ है और लोकालोक पर्याय में उन्हें ज्ञात हुए हैं। ऐसे जिनवरदेव दिव्यध्वनि द्वारा इन्द्रों और गणधरों के बीच ऐसा कहते थे... आहाहा! कि भगवान आत्मा, वह पर का कर्ता तो नहीं, राग का तो कर्ता नहीं, परन्तु निर्मल पर्याय का भी कर्ता नहीं। आहाहा! अमरचन्दभाई! यह गाथा तो अन्तिम माल की है। ३२० गाथा के व्याख्या बहुत हो गये हैं। समयसार की ३२० गाथा है, उसकी जयसेनाचार्य की टीका में यह रखी है। वह संस्कृत टीका है जयसेनाचार्य की। उसमें यह गाथा है। अभी मुम्बई में व्याख्यान हो गये हैं। ३२० गाथा पर ग्यारह व्याख्यान हुए। दस-दस हजार लोग, बारह-बारह हजार, पन्द्रह हजार सब सुनते थे। बापू! सुनो, भाई! पोपटभाई! पोपटभाई थे। सब सुनते थे। सुनो, बापू! आहाहा!

सुनना तुम। आता है न कहीं ? पंचास्तिकाय में पहले आया न ? सुनना तुम, नहीं ? कल स्वाध्याय थी। आहाहा! कल पंचास्तिकाय में आया था। कुन्दकुन्दाचार्य ऐसा कहते हैं... आहाहा! वीतरागी सन्त हैं और जिन्हें सम्यग्दर्शनादि अप्रतिहत प्रगट हुए हैं। आहाहा! वे कहते हैं, वे कहते हैं कि सुनना तुम, प्रभु! तुम सुनो। आहाहा! भगवन! एक बार हम कहते हैं, वह सुन, भाई! प्रभुरूप से तो बुलाते हैं।

(समयसार) ७२ गाथा में आया है। ७२ गाथा है, ७२। भगवान आत्मा शुचि है, ऐसा कहा। संस्कृत में ऐसा है। पुण्य और पाप का भाव है, वह अशुचि है, अपवित्र है और मैलरूप अनुभव में आता है। और भगवान आत्मा... ऐसा पाठ है। भगवानरूप से बुलाया है। आहाहा! उसकी माँ घोडिया में... क्या कहलाता है वह ? झूले में सुलावे तो महिमा करती है। 'बेटा! पाटले बैठ नहाया' ऐसा आता है न गाना ? वह सुलाने के लिये कहती है। भगवान जागृत कराने को कहते हैं। तीन लोक के नाथ भगवान एक बार सुन। अरे रे! आहाहा! तू अधूरा नहीं, अपूर्ण नहीं, अल्पज्ञ नहीं, विकारी नहीं। आहाहा! तू तो पवित्र ज्ञानानन्दस्वभाव का पिण्ड प्रभु है। ऐसा यह आत्मा जिसे दृष्टि में आया है, उसे ऐसा कहते हैं कि तेरी पर्याय का कर्ता वह द्रव्य नहीं है। आहाहा! पर्याय पर्याय ने की है। यह तुम समझो। आहाहा! ऐसी बात है, भाई!

संसार के जन्म-मरण के दुःख देखो न, ओहो! कल रवारी का लड़का मर गया बेचारा, रवारी। भरवाड़ होते हैं न ? भरवाड़ नहीं होते ? भरवाड़ नहीं समझते। बकरे चराते हैं वे। पन्द्रह

वर्ष का लड़का था, माघ महीने में विवाह हुआ था। अभी-अभी विवाह किया था। अपने पूनाभाई यहाँ काम करते हैं न, उनकी लड़की के साथ। अभी पूनाभाई आये थे। यहाँ आ गये। अन्त में ऐसा बोला, मुझे बाँधो, मुझसे बटका भरा जाएगा। हड़किया कुत्ता होता है न? मुझे बाँधो और मेरी खाट उल्टी कर दो। सुना था? वे कहते थे। ऐसा कैसे यह खाट उल्टा करने को कहा? आहाहा! राम... ऐसा बेचारा बोलता था। यह पीड़ा... यह पीड़ा... देह की एकत्वबुद्धि की है। इस देह की एकताबुद्धि की पीड़ा है। देह में रोग है, उसका दुःख नहीं। अपने आनन्दस्वरूप को भूलकर देह और राग की एकताबुद्धि में जो दुःख उत्पन्न होता है, उसे वेदता है, शरीर की पीड़ा नहीं। शरीर तो जड़ है, उसकी पीड़ा तो जड़ में है। आहाहा!

श्रोता : शरीर बिगड़े तो सही न?

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर बिगड़ना किसे कहना? उसकी पर्याय के काल में होता है, उसे बिगड़ना क्या कहना? वह तो लोक की भाषा में रोग होवे, तब कहलाता है। वह रोग की अवस्था भी उन परमाणुओं की उस समय की पर्याय है। आहाहा! उस समय की वह पर्याय है। आहाहा! उसे खराब भी क्या कहना और उसे अच्छा क्या कहना? वह तो पर्याय है। रोग, वह परमाणु की पर्याय है, आत्मा उसका जाननेवाला है। आहाहा!

कहते हैं कि **शुद्धनिश्चय से बन्ध-मोक्ष से रहित है, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं।** ऐसा मुनिराज कहते हैं कि जिनेन्द्र ऐसा कहते हैं, उसे तू सुन। आहाहा! भाई! तेरा मार्ग बहुत अलग है और उस मार्ग का ध्येय जो है, वह द्रव्य है। सम्यग्दर्शन का मार्ग जो है, मोक्षमार्ग कहो, उसका ध्येय तो द्रव्य है कि जो पर्याय को करता नहीं, वह द्रव्य उसका ध्येय है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। इतना तो परसों आ गया था। यह फिर से जरा हिन्दी में लिया। आहाहा!

भावार्थ :- यद्यपि यह आत्मा शुद्धात्मानुभूति के अभाव के... आहाहा! ऐसा जो द्रव्यस्वभाव—शुद्धस्वरूप, जो पर्याय को करता नहीं, पर्याय में आता नहीं। पर्याय को कर्ता नहीं, पर्याय में आता नहीं... आहाहा! ऐसा शुद्धात्मा, उसकी जो अनुभूति। उसके सन्मुख होकर उसका अनुभव, उसका अभाव। शुद्धात्मानुभूति का अभाव। आहाहा! अनादि काल से भगवान जो शुद्धस्वरूप, जो पर्याय को भी करता नहीं—ऐसा जो शुद्धात्मा, उसकी जो अनुभूति, वह पर्याय है। ऐसा जो शुद्धात्मा, उसकी अनुभूति, वह पर्याय है; शुद्धात्मा, वह द्रव्य है। आहाहा! उस शुद्धात्मा की अनुभूति के अभाव के कारण **शुभ-अशुभ उपयोगों से परिणमन करके...**

आत्मा लिया है न वापस, हों! वहाँ। पर्याय में अपनी अनुभूति के अभाव के कारण, अपना चैतन्य भगवान पूर्णानन्द स्वरूप, उसकी अनुभूति के अभाव के कारण शुभाशुभभाव करके। है?

शुभ–अशुभ उपयोगों से परिणमन करके... आहाहा! देखो! शुभोपयोग में परिणमन करके। अपनी शुद्धस्वरूप की अनुभूति के अभाव के कारण शुभ उपयोग का परिणमन करके। आहाहा! यह व्यवहार। **जीवन, मरण, शुभ, अशुभ, कर्मबन्ध को करता है,...** गति का उत्पन्न होना और गति का व्यय होना और शुभ–अशुभ कर्मबन्ध को करता है। आहाहा! क्या कहा? कि जो शुद्धनय से कहने में आया है कि जो त्रिकाली चीज़ परमात्मा, वह तो पर्याय को करता नहीं तो राग को करे और पर को करे, ऐसा तो उसमें है ही नहीं। ऐसा सम्यग्दर्शन का विषय शुद्ध चैतन्यघन ऐसा होने पर भी उसकी अनुभूति के अभाव के कारण। आहाहा!

भगवान पूर्णानन्द प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का दल भगवान है। आहाहा!... ऐसा भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड, आनन्द का दल है। आहाहा! जिसमें ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति पड़ी है। उस त्रिकाल को जानकर देखने की शक्तिवाला यह आत्मा है। त्रिकाल वस्तु है, उसके त्रिकाली ज्ञान–दर्शन त्रिकाल को जानने–देखने की शक्ति धराते हैं। आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा, उसकी सन्मुख की अनुभूति, वह पर्याय है। अनुभूति के अभाव के से... आहाहा! शुभ–अशुभ उपयोग से शुभाशुभ कर्म बाँधे। आहाहा! शुभ–अशुभ उपयोग से शुभाशुभ कर्म बाँधे, उससे जन्म–मरण करता है। आहाहा! यहाँ तो शुभोपयोग से कर्म बाँधता है और उससे जन्म–मरण करता है, ऐसा कहा है। इस शुभोपयोग से आत्मा को सम्यग्दर्शन होगा? आहाहा! ... ऐसा मार्ग है। पण्डितजी!

श्रोता : आपने क्या फरमाया, समझ में नहीं आया?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं समझ में आया? भगवान आत्मा ध्रुव जो कहा, वह तो निर्मल पर्याय का भी करता नहीं, मलिन पर्याय को भी वह नहीं करता तो निर्मल पर्याय को तो करता ही नहीं। आहाहा! ऐसा आत्मा, उसकी अनुभूति के अभाव में उस चीज़ के सन्मुख होकर जो आत्मा के आनन्द का अनुभव होता है, ऐसे आनन्द की अनुभूति के अभाव में शुभ–अशुभ उपयोग से शुभाशुभ कर्म बाँधे। शुभोपयोग से अनुभूति होती है, यह तो कहीं रह गया। आहाहा! समझ में आया? अरे! यह कहाँ है? बापू! अभी मुश्किल से अवसर मिला। अरे! आहाहा! दुनिया के दुःख देखे तो सही। दुनिया के दुःख देखकर आँसू आवे, ऐसी पीड़ा जगत की है। आहाहा! वह पीड़ा टालने का अवसर है, प्रभु! उसमें तुझे यह पर की पकड़, इससे यह होता

है और इससे यह होता है। आहाहा! भगवान! शुभोपयोग से... क्या कहा? **शुभ–अशुभ उपयोगों से परिणमन करके जीवन, मरण, शुभ, अशुभ (कर्मबन्ध को करता है।)** शुभोपयोग से शुभकर्म, अशुभोपयोग से अशुभकर्म (बाँधता है)।

मुमुक्षु : निश्चय से।

पूज्य गुरुदेवश्री : निश्चय नहीं, व्यवहार से। पर्याय, वह व्यवहार है। समझ में आया? आहाहा! अरे! तुझे कहाँ सन्तोष है? बापू! शुभभाव में भी जहाँ रुक गया है, अटक गया है। बाहर में तो क्या चीज़ पड़ी है? जगत की मायाजाल। आहाहा! श्मशान में हड्डियाँ होती हैं न, हड्डियाँ? श्मशान में। उनमें चमक... चमक होती है। बालक ऐसा मानता है कि भूत है। भूत नहीं, परन्तु उन हड्डियों में क्या कहलाता है? फोरफरस। श्मशान में हड्डियाँ होती हैं न? इसी प्रकार यह पूरी दुनिया हड्डियों की फासफूस है। आहाहा! प्रभु! तू कहाँ है? और कहाँ तू रुक गया? आहाहा!

यहाँ तो प्रभु ऐसा कहते हैं, सिद्ध यह करना है कि वस्तु पर्याय को नहीं करती और पर्याय में आती नहीं, यह बात सिद्ध करना है। परन्तु कहते हैं कि अभी तक यह हुआ क्या? कि उस शुद्धचैतन्यमूर्ति की दृष्टि बिना और उसकी अनुभूति बिना... आहाहा! इसने शुभ-अशुभ उपयोग किया, शुभ-अशुभ उपयोग किया। शुभोपयोग तो एकेन्द्रिय में भी होता है। भगवान तो ऐसा कहते हैं कि निगोद में एक शरीर में अनन्त जीव हैं। आहाहा! प्रभु! तुझे ज्ञेय कितना है? तेरे ज्ञान में आनेयोग्य ज्ञेय कितना है! एक राई के दाने जितना काय का, एक लहसुन का, प्याज का... डुंगली कहते हैं न तुम्हारे? प्याज का एक राई के दाने जितना टुकड़ा लो तो उसमें असंख्य तो शरीर है। एक शरीर में सिद्ध से अनन्तगुने जीव हैं। वस्तुस्थिति उसे कहाँ (खबर है)। आहाहा! उस जीव में शुभ-अशुभभाव होता है, ऐसा कहना है। क्षण में शुभ, क्षण में अशुभ, क्षण में शुभ, क्षण में अशुभ। निरन्तर धारा चलती है। ऐसा भगवान के कर्मशास्त्र में-करणानुयोग में है। समझ में आया? यह कोई नई चीज़ नहीं है। शुभभाव, यह कोई नई चीज़ नहीं है।

यहाँ तो यह कहा कि भगवान आत्मा पर्याय का कर्ता नहीं, ऐसा हमें सिद्ध करना है। यह आत्मा की पर्याय अनुभूति नहीं करके... आहाहा! अनुभूति के अभाव में, शुभाशुभ उपयोग से शुभ-अशुभ कर्म बाँधता है और शुभ-अशुभ कर्म से शुभ-अशुभ गति में उत्पन्न होता है। आहाहा! समझ में आया? कर्मबन्ध को करता है।

और शुद्धात्मानुभूति के प्रगट होने पर... भगवान आत्मा चैतन्य आनन्दकन्द प्रभु, ऐसा ध्रुव प्रभु, उसकी अनुभूति—उसके सन्मुख की परिणति, वीतरागी अनुभूति। शुभ-अशुभभाव था, वह राग था। शुद्धात्मा की अनुभूति से विपरीत। आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञायकभाव, पूर्णानन्द भाव, परमस्वभावभाव, परमपारिणामिक सहज भाव की अनुभूति। आहाहा! उस वस्तु को अनुसरण कर सन्मुख होकर जो अनुभूति करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। आहाहा! समझ में आया? शुद्धात्मानुभूति। शुद्ध आत्मा कौन है? कि जो पहले कहा वह। त्रिकाली, जो पर्याय का भी कर्ता नहीं है। आहाहा! तेरी बात तुझे सुनने को नहीं मिलती, प्रभु! वह बेचारा कहाँ जाए? और सत्य का विरोध करे। प्रभु! तुझे खबर नहीं, भाई! आहाहा! एक समय की भूल है। प्रभु तो भूलरहित है।

श्रोता : पुस्तक नहीं होगी उसके पास।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुस्तक होवे तो क्या करे? पुस्तक तो पढ़ता है। (उसकी) दृष्टि से पढ़ता है न? आहाहा! जब तक पर का कर्ता न माने, वह श्वेताम्बर है-ऐसा कहकर यहाँ श्वेताम्बर सिद्ध करना है। अरेरे! प्रभु! क्या करता है तू यह? हम तो यहाँ श्वेताम्बर को गृहीत मिथ्यादृष्टि मानते हैं। श्वेताम्बर को तो हम गृहीत मिथ्यादृष्टि मानते हैं। हम श्वेताम्बर नहीं हैं। पर्याय में दिगम्बर हैं, द्रव्य तो दिगम्बर भी नहीं है।

कहते हैं... थोड़ा गुजराती आ जाता है। भाषा वह है न! **शुद्धात्मानुभूति के प्रगट होने पर...** भाषा देखो! समझ में आया? आहाहा! शुद्धात्मानुभूति के सद्भाव में, ऐसा है न? सद्भाव है। आहाहा! अर्थात्? भगवान पूर्णानन्द प्रभु के सन्मुख होकर अनुभूति का सद्भाव होना, अनुभूति का प्रगट होना। सद्भाव-अस्ति। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो अनुभूति, वह वस्तु के स्वभाव के सन्मुख होकर होती है तो उसकी अनुभूति के सद्भाव में। **शुद्धोपयोग से परिणत होकर...** देखो! उन शुभाशुभ से विपरीत **शुद्धोपयोग से परिणत होकर...** शुभोपयोग से शुद्धोपयोगरूप परिणमकर, ऐसा नहीं कहा। स्व अनुभूति के कारण से शुद्धोपयोग करके। आहाहा! ऐसा मार्ग, बापू! आहाहा! वीतराग सर्वज्ञ जिनवरदेव महाविदेह में साक्षात् प्रभु विराजते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ गये थे। वहाँ गये थे। आठ दिन रहे थे। संवत् ४९। दो हजार वर्ष हुए। समझ में आया? इन कुन्दकुन्दाचार्य के कथन का अनुकरण सब सन्तों बहुत किया है। दिगम्बर मुनियों ने भी कुन्दकुन्दाचार्य के कथन का अनुकरण बहुत किया है।

शुद्धोपयोग से परिणत होकर मोक्ष को करता है... लो! आत्मा भले मोक्ष की पर्याय

का कर्ता नहीं परन्तु आत्मा शुद्धात्मानुभूति में परिणमन करके मोक्ष को करता है। आहाहा! शुभभाव बन्ध को करता है, शुद्धोपयोग मोक्ष को करता है। दोनों विपरीत बात है। आहाहा! अरे! भाई! ...लड़की को कहते हैं, भाई! ...कि इसे यह हुआ तो इसकी लड़की यहाँ गाँव में थी तो अन्यत्र भेज दी। ऐसा सुन। वह एक लड़की, मास्टर की लड़की। उसने सुना तो उसे हो गया। उसे काटा हुआ था। दूसरी एक लड़की को बाहर भेज दिया। उसे जहाँ हुआ था, इसे बाहर भेज दिया। क्या कहा, समझ में आया? पागल कुत्ता है। एक लड़की को काट गया। ...तो उसे बाहर पर गाँव भेज दिया। आहाहा! और उस पागलपने का वेदन बहुत कठिन। उसे सहन नहीं हो। कहीं चैन पड़े नहीं। यहाँ तो कोई कहता था कि पानी माँगा। पानी दो। आहाहा! यह स्थिति है।

देखा है, हमें खबर है। आहाहा! यह तो हड़का बाहर से पागल है। यह (आत्मा) तो राग को अपना मानना और राग से धर्म मानना, वह अन्दर का पागल है। आहाहा! जिसमें गति मिले, उसे धर्म माने, वह पागल है। आहाहा! अरे! दुनिया को कहाँ देखना, बापू! तू कौन है, वहाँ देख न! तू कौन है? तू कौन है? कैसा है? आहाहा! और तू ऐसा है ही। तेरे पास चीज़ है, ऐसा भी नहीं, तू स्वयं ही ऐसा है। आहाहा! है, उसकी नजर करनी है। आहाहा!

वस्तु पूर्णानन्द प्रभु के सन्मुख होकर स्वीकार करना है। है, उसका स्वीकार करना है। उसमें क्या तुझे...? आहाहा! यह अनुभूति है। शुद्ध भगवान आत्मा नित्यानन्द प्रभु की अनुभूति, वह पर्याय है। अन्तरस्वरूप की दृष्टि करके अनुभव करना, आनन्द का अनुभव करना, वह अनुभूति। वह शुद्धोपयोग। शुद्धोपयोग में आनन्द का स्वाद आता है। शुभराग में दुःख का स्वाद आता है। गोदिकाजी! समझ में आया? थोड़ी-थोड़ी (गुजराती) भाषा आ जाती है। यह तो हिन्दी है। इसलिए हिन्दी करते हैं। दोपहर में तो समयसार चलेगा। शुक्रवार तक हिन्दी चलेगा। दो दिन बाद। शनिवार को तो अपने शिक्षण-शिविर है। तब हिन्दी लोग आयेंगे। चारों ओर से बहुत पत्र आये हैं। कल कोई कहता था। भाई! छिन्दवाड़ा। कितने? २५, कहीं से ५०। आवे तो सही! आहाहा! इतने प्रेम से, जिज्ञासा से कितनी दूर से आते हैं। आहाहा!

यहाँ परमात्मा जिनवर कहते हैं, ऐसा आया है न? जिनवर ने कहा है। ऐसा हम कहते हैं, मुनि कहते हैं। हमारी कोई कल्पना से बात नहीं है। जिनवरदेव तीन लोक के नाथ परमेश्वर वीतराग भगवान के श्रीमुख से दिव्यध्वनि में आया है, ऐसा हम तुझे कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

तो भी शुद्ध पारिणामिक परमभाव ग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनयकर न बन्ध का कर्ता

है और न मोक्ष का कर्ता है। देखो! शुद्ध अनुभूति अपनी निर्मल वीतरागी दशा से विपरीत शुभाशुभभाव, वह शुभाशुभभाव पर्याय में होते हैं और उनसे बन्ध होता है और अनुभूति से, शुद्धोपयोग से मोक्ष होता है, परन्तु उस परमपारिणामिकभाव की दृष्टि से कहें तो वह मोक्ष की पर्याय का कर्ता नहीं है और बन्ध की पर्याय को भी करता नहीं है। आहाहा! वह तो ज्ञातादृष्टा का पिण्ड है।

वह सत् है, तो सत् का सत्व अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द, वह सत् का सत्व है। सत्व— उसका माल। आहाहा! उस शुद्धात्मानुभूति का अभाव करके, शुभाशुभभाव करके, जन्म-मरण करता है और शुद्धात्मानुभूति करके मोक्ष को करता है, परन्तु वस्तु की दृष्टि से देखें तो बन्ध और मोक्ष को वह वस्तु करती नहीं है। आहाहा! अब उसके बाहर के काम में होशियारी। गिरधरभाई नहीं अभी। वह तो अब छूट गये हैं। आहाहा! यह कार्यकर्ता होते हैं न? ढेवरभाई और... ढेवरभाई नहीं अपने? गाँधीजी के। हम ऐसा कहते हैं। अभी तो उन्हें कुछ दूसरा हो गया था, ऐसा सुना था। पक्षघात हो गया है। हाँ, ऐसा कोई कहता था। पक्षघात। आहाहा!

इसी प्रकार पर्याय में शुभाशुभभाव पर्यायदृष्टि से करता है और उन शुभाशुभभाव से कर्म बँधते हैं और शुद्धात्मानुभूति से पर्याय में शुद्धात्मानुभूति होती है, उससे मोक्ष होता है। **तो भी शुद्ध पारिणामिक परमभाव ग्राहक...** आहाहा! सहज त्रिकाली स्वभाव जो पर्यायरहित चीज़ है। ध्रुव-ध्रुव, अनादि-अनन्त। आदि नहीं, अन्त नहीं, स्वभाव से खाली नहीं। आहाहा! ऐसी चीज़ **परमपारिणामिक परमभाव ग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनयकर न बन्ध का कर्ता है और न मोक्ष का कर्ता है।** शुभाशुभभाव का कर्ता भी नहीं, अनुभूति की पर्याय का भी वह कर्ता नहीं। आहाहा!

अरे! भगवान! तेरी सामर्थ्य शक्ति तो देख! आहाहा! तू अनन्त वीर्य का पिण्ड है, प्रभु! अनन्त वीर्य का पिण्ड ध्रुववस्तु है। अनन्त ज्ञान का पिण्ड है, अनन्त सिद्धरूप है, अनन्त शान्ति, स्वच्छता, अकषायस्वभाव का अनन्त-अनन्त पिण्ड है। ऐसा प्रभु परमभाव की दृष्टि से देखें तो वह अनुभूति और शुभाशुभभाव दोनों को नहीं करता। आहाहा! कहो, खजुरियाजी! ऐसा सुना है? ऐसी वीतराग की बात है। यह दिगम्बर सन्त... आहाहा! दुनिया दुनिया की जाने, बापू! जिसके जो परिणाम हैं, उसके परिणाम का वेदन तो उसे है न! आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

मिथ्याश्रद्धा करे, उसका वेदन तो प्रभु! उसे दुःख का कारण है। श्रीमद् तो ऐसा कहते

हैं 'बन्ध मोक्ष है कल्पना कही वाणी माही, वर्ते मोहावेश में शुष्क ज्ञान वह ताय' क्रियाकाण्ड में ज्ञानमार्ग निषेधते... उसकी करुणा उपजे। करुणा उपजे, भाई! बापू! तेरे पर द्वेष नहीं है। परन्तु भाई! तेरी विपरीत मान्यता के फल, बापू! तुझे बहुत दुःख करेगा। अभी प्रसन्न और उत्साह से शुभभाव से धर्म होता है और शुभभाव ऐसा और... उसका उत्साह करे, बापू! आहाहा!

शुद्ध पारिणामिक परमभाव... त्रिकाल परमभाव, भूतार्थभाव, सत्यार्थ भाव, पर्याय बिना का भाव। आहाहा! उत्पाद-व्यय-ध्रुव है न? तो उत्पाद-व्यय बिना का ध्रुव। उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत् है न? तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वामी का। उसमें उत्पाद-व्यय बिना का जो ध्रुव है, उस परमभाव की दृष्टि से देखें तो वह ध्रुव है। वह बन्ध का और मोक्ष का कर्ता नहीं है। आहाहा! मोक्ष के मार्ग का कर्ता नहीं है।

श्रोता : तत्त्वार्थसूत्र का पाठ तो मुखाग्र याद है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मुखाग्र है तो क्या हुआ? अर्थ समझना चाहिए न। यह तो हमेशा सुनते थे। दशलक्षणी पर्व में। दशलक्षणी। तत्त्वार्थसूत्र, उसका अर्थ समझना चाहिए न। उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत्। वह उस पूर्ण सत्य की बात की है। परन्तु जो ध्रुव सत् है, उसमें उत्पाद-व्यय नहीं है। नहीं तो उत्पाद-व्यय भी सत् है परन्तु वह सत् उत्पाद-व्यय, निश्चय से उत्पाद-व्यय को हेतु बिना ध्रुव है। आहाहा! जरा सूक्ष्म बात है। निश्चय से तो उत्पाद है, वह भी व्यय के हेतु से नहीं है। उत्पाद है, वह ध्रुव के हेतु से नहीं है। व्यय, उत्पाद के हेतु से नहीं है। व्यय, ध्रुव के हेतु से नहीं है। ध्रुव, उत्पाद-व्यय के हेतु से नहीं है। आहाहा! ऐसा वीतरागमार्ग है कहाँ? बापू! यह दिगम्बर के अतिरिक्त (कहीं नहीं है)। उसमें दिगम्बर में अर्थ करनेवाले को उल्टा घोटाला उठा। आहाहा!

श्रोता : आपने सब अर्थ बदल डाले।

पूज्य गुरुदेवश्री : जैसे होते हैं, वैसे किये हैं। आहाहा!

पर्याय में ऐसा शुभाशुभभाव होता है। शुभाशुभ बन्ध होने पर जन्म-मरण करता है और अनुभूति होने पर मोक्ष करता है। उसमें जन्म-मरण नहीं है और दोनों भाव का कर्ता ध्रुव नहीं है। ओहोहो! केवलज्ञान की पर्याय का कर्ता द्रव्य नहीं है। गजब बात है। केवलज्ञान की पर्याय में पूरा लोकालोक ज्ञात होता है और पूरा द्रव्य भी ज्ञात होता है। इसे पूर्ण द्रव्य है, वैसे पर्याय में ज्ञात हुआ है परन्तु पर्याय में द्रव्य आया नहीं, उसका ज्ञान आया है। आहाहा! समझ में आया? एक बात।

निमित्त का विचार आया। भगवान का केवलज्ञान है। सर्वविशुद्ध में—सिद्धान्त में लेख है कि लोकालोक को वह निमित्त है। क्या कहा? केवलज्ञान की पर्याय लोकालोक को निमित्त है और लोकालोक है, वह केवलज्ञान की पर्याय में निमित्त है। इसका अर्थ क्या? लोकालोक ने केवलज्ञान उत्पन्न किया, निमित्त ने? और केवलज्ञान की पर्याय ने लोकोलोक को बनाया है? अमरचन्दभाई! सर्वविशुद्ध में पीछे है। केवलज्ञान की पर्याय में लोकालोक को निमित्त कहने में आता है। देवीलालजी! सर्वविशुद्ध में पीछे, आहाहा! गजब, समयसार तो ऐसी घड़ी में लिखा गया है... गजब काम किया है! केवलज्ञान को भुला दिया है। आहाहा!

कोई कहता है कि केवलज्ञान की पर्याय लोकालोक को निमित्त कहने में आती है, इसका अर्थ क्या? केवलज्ञान की पर्याय में लोकालोक को बनाया है? और लोकालोक केवलज्ञान की पर्याय में निमित्त है तब लोकालोक ने केवलज्ञान की पर्याय को बनाया है? वह है ऐसी वस्तु, बस! आहाहा! निमित्त है अर्थात् क्या परन्तु? केवलज्ञान लोकालोक को निमित्त है, ऐसा है तो क्या केवलज्ञान ने लोकालोक बनाया है? और लोकालोक केवलज्ञान में निमित्त है तो लोकालोक ने केवलज्ञान की पर्याय को बनाया है? आहाहा! समझ में आया? कल आया था न? निमित्त नहीं आया था? जीव परिणाम को प्राप्त करके निमित्त... पुद्गल परिणाम की परिणति होती है और पुद्गल परिणति का निमित्त पाकर यहाँ विकार होता है। उसका अर्थ क्या? क्या कर्म के उदय ने विकार किया है? विकार किया तो उसने कर्मबन्ध की पर्याय की? आहाहा! इस गाथा का विवाद पहले से ऐसा है। बहुत वर्ष पहले। निमित्त प्राप्त करके ऐसा होता है। परन्तु निमित्त प्राप्त करके, इसका अर्थ क्या? विकारी परिणाम है और सामने कर्मबन्ध की पर्याय स्वयं से होती है। कोई आगे-पीछे नहीं है कि निमित्त आया और यहाँ कर्म की पर्याय हुई। ऐसा है? कि कर्म का उदय आया और यहाँ विकार हुआ, ऐसा है? वह वहाँ निमित्त है। विकार स्वयं से हुआ है।

पश्चात् उसका कर्ता कहाँ है? आहाहा! ऐसी वस्तु है, भाई! माने, न माने, स्वतन्त्र जीव है। अनादि काल से सत्य की शरण में गया नहीं। सत् का शरण लिया ही नहीं, असत् का शरण लिया। शुभ और अशुभभाव और ऐसा और वैसा। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि पर्याय का ही शरण नहीं है। पर्याय का शरण तो... जो द्रव्य पर्याय को कर्ता नहीं, उस पर्याय को द्रव्य का शरण है। अमरचन्दभाई! आहाहा! सम्यग्दर्शन की पर्याय को द्रव्य करता नहीं परन्तु सम्यग्दर्शन की पर्याय को द्रव्य का शरण है। शरण का अर्थ?

उसकी सन्मुखता की, वह शरण। आहाहा! सन्मुख (अर्थात्) दूसरा क्या? कहीं पर्याय द्रव्य में एक हो जाती है? पर्याय तो पर्याय में रहती है। पर्याय पर्याय में रहकर द्रव्य की श्रद्धा करती है, पर्याय पर्याय में रहकर द्रव्य का ज्ञान करती है। द्रव्य में मिलकर ज्ञान करती है? आहाहा! बापू! वीतरागमार्ग अलौकिक है। नागा बादशाह से आघा। नग्न मुनि जिन्हें बादशाह की दरकार नहीं। समाज में यह बात बैठेगी या नहीं? सुगठित रहेगी या नहीं? बात यह है। मानो, न मानो तुम्हारी मर्जी। समझ में आया? और माननेवाले भी बहुत होवें तो यह सत्य है, ऐसा कुछ नहीं है। सत्य तो सत्य ही है।

ऐसा कथन सुनकर शिष्य ने प्रश्न किया,... ऐसा कहा न कि बन्ध-मोक्ष की पर्याय का द्रव्य कर्ता नहीं है। तो प्रश्न किया। **कि हे प्रभु, शुद्ध द्रव्यार्थिकस्वरूप शुद्धनिश्चयनयकर मोक्ष का भी कर्ता नहीं है,...** आप तो कहते हो कि शुद्धनिश्चय से द्रव्यस्वभाव जो है, वह मोक्ष का कर्ता नहीं। **तो ऐसा समझना चाहिए कि शुद्धनयकर मोक्ष ही नहीं है? जब मोक्ष नहीं, तब मोक्ष के लिये यत्न करना वृथा है।** शिष्य का प्रश्न है। शुद्धनिश्चय से तो मोक्ष ही नहीं है। यदि मोक्ष नहीं है तो मोक्ष के लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है। समझ में आया? आप क्या कहना चाहते हो? आप कहते हो कि मोक्ष का और बन्ध का कर्ता भगवान नहीं है तो मोक्ष के लिये प्रयत्न करना नहीं रहता। क्योंकि मोक्ष है नहीं। मोक्ष आत्मा नहीं करता। द्रव्य में मोक्ष है? नहीं तो व्यर्थ प्रयत्न करना रहा। इसका जवाब कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

६

श्री समयसार कलश टीका, कलश - १९८-१९९, प्रवचन - २२२
दिनांक - ०३-०२-१९७८

कलश टीका, १९८ (कलश के) अन्तिम थोड़े शब्द हैं। १९८ भावार्थ। **भावार्थ इस प्रकार है कि मिथ्यात्व संसार है,...** पाठ में **'मुक्त एव'** कहा है न? अन्तिम शब्द। संसार कोई आत्मा की पर्याय से भिन्न नहीं रहता। संसार, वह आत्मा की भूल है तो भूल अपने से भिन्न नहीं रहती। वह भूल क्या? राग की एकताबुद्धि। **'करणवेदन'** (पाठ) है न? राग का करना और वेदना, उससे रहित भाव, वह सम्यग्दृष्टि और राग का करना और वेदना, वह मिथ्यादृष्टि। यह मिथ्यात्व, वही संसार है। कहते हैं न कि स्त्री, कुटुम्ब छोड़ी और दुकान छोड़ी, उसने संसार छोड़ दिया। है? परन्तु उसमें संसार कहाँ था? पर के त्याग-उपादानशून्यत्वशक्ति। समझ में आया? पर के त्याग-उपादानशून्यत्व शक्ति। आत्मा में ऐसी एक शक्ति है कि पर के त्याग या ग्रहण उसमें है ही नहीं। पर का त्याग-ग्रहण किस प्रकार हो? वह तो अनादि से है ही। पर का त्याग है, ग्रहण तो है नहीं। पर के त्याग-ग्रहणरहित—ऐसी शून्यत्वशक्ति आत्मा में है। ४७ शक्ति में त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति उसका नाम है। आहाहा! यहाँ तो राग का त्याग और स्वभाव का अनुभव, इसका नाम त्याग और ग्रहण है। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि जिसने राग का त्याग नहीं किया, किसमें से? अपनी ज्ञान की पर्याय में से। राग जो दया, दान, व्रत, भक्ति का विकल्प है, उससे ज्ञान की पर्याय भिन्न की नहीं और एकत्व किया। राग के आधीन होकर पर्याय का राग के साथ एकत्व किया, वही मिथ्यात्व है और वही संसार है। अनन्त काल से भटकता है तो इस दृष्टि से भटकता है। कहते हैं कि मिथ्यात्व, वह संसार है। है न? मिथ्यात्व का अर्थ यह। इसकी पर्याय में निश्चय से तो भगवान ऐसा कहते हैं कि ज्ञान की पर्याय में आबाल-गोपाल सबको स्व ही ज्ञात होता है। क्या कहा? आबाल-गोपाल की ज्ञान की पर्याय में... समयसार १७वीं गाथा, १७-१८।

वर्तमान ज्ञान की पर्याय में ज्ञान की पर्याय का स्व-पर प्रकाशक (ज्ञान का) सामर्थ्य होने से ज्ञान की पर्याय में स्व ही जानने में आता है। स्व वस्तु ही ज्ञान की पर्याय में ज्ञात होती है। अज्ञानी को और सब आबाल-गोपाल को। तब ऐसा क्यों नहीं जानता? वह ज्ञान की पर्याय

जो है, भले अज्ञानी की पर्याय हो परन्तु पर्याय का स्वभाव, ज्ञान की पर्याय है न ? तो ज्ञान की पर्याय का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है न ? तो ज्ञान की पर्याय में (स्व) प्रकाश में द्रव्य का ज्ञान तो अज्ञानी को भी होता ही है। अरे... अरे... ! ऐसी बात।

१७-१८ गाथा है। आबाल-गोपाल को ज्ञान की पर्याय में... समयसार टीका में है, मूल पाठ में थोड़ा है। टीका में है—आबाल-गोपाल १७वीं गाथा है न ?

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण।।१७।।
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण।।१८।।

इसके अर्थ में स्पष्टीकरण किया है। अस्ति से है। टीका में नास्ति से स्पष्टीकरण किया है। **जब ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा...** इसकी टीका। **जब ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा...** तीसरा पैराग्राफ है। **आबाल-गोपाल सबके अनुभव में सदा स्वयं ही आने पर भी...** आहाहा! क्या कहा ? सब जीव, आबाल-गोपाल—बालक से लेकर वृद्ध, सबको उनकी ज्ञान की पर्याय में ज्ञेयवस्तु है, वही जानने में आती है। अपनी चीज़, हों! द्रव्य। क्योंकि ज्ञान की पर्याय का स्व-परप्रकाशक स्वभाव होने से आबाल-गोपाल सबको, सबको सर्व काल पर्याय में पूर्ण द्रव्य ज्ञेय है, वही जानने में आता है, तथापि उसकी दृष्टि वहाँ नहीं है ? अज्ञानी की दृष्टि राग के ऊपर है। दया, दान, व्रतादि का जो शुभरागादि विकल्प है, उसके ऊपर दृष्टि है। इस कारण से पर्याय में पूरा ज्ञेय पूरा तत्त्व द्रव्य, पूर्णानन्द का नाथ प्रभु पर्याय में जानने में तो आता है, परन्तु उसकी दृष्टि वहाँ नहीं है, उसकी दृष्टि वहाँ राग रुचि, पर्यायबुद्धि में राग में है, इस कारण से उसे ख्याल में नहीं आता। समझ में आया ?

मुमुक्षु : जानने में आता होने पर भी ख्याल में नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न, अज्ञान के कारण से ख्याल में नहीं आता। कहा न यह तो ? कि राग की रुचि के प्रेम में, ज्ञान की पर्याय में आबाल-गोपाल सबको आत्मा ही जानने में आता है, ऐसा होने पर भी। ऐसा यहाँ कहा न ? देखो न! **उसके अभाव से... अज्ञानीजन को 'जो यह अनुभूति है, वही मैं हूँ'... उसके अभाव से, अज्ञात का श्रद्धान गधे के सींग के श्रद्धान समान है इसलिए...** देखो! **निश्चय से मूढ़ जो अज्ञानी... बन्ध के वश परद्रव्यों के साथ एकत्व के निश्चय से...** यह टीका है, बहुत स्पष्ट है। क्या कहते हैं ? कि

आबाल-गोपाल को, आबाल-गोपाल अर्थात् यह—बाल (अर्थात्) बालक से लेकर गोपाल अर्थात् वृद्ध। सबको ज्ञान की पर्याय में ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक होने से ज्ञान की पर्याय में ज्ञेय स्वप्रकाश में आता है। वह ज्ञेय जो पूर्ण द्रव्य है न? वही स्वप्रकाश में आता है। अज्ञानी को भी आता है, आबाल-गोपाल सबको, तथापि उसकी दृष्टि वहाँ नहीं है। दृष्टि उस राग पर है। राग—दया, दान, व्रत, भक्ति आदि मैं करूँ, रुचूँ, भोगूँ—यह दृष्टि वहाँ है तो पर्याय में पर्यायवान द्रव्य जानने में आता है, तथापि उसकी दृष्टि में राग आया। आहाहा! यशपालजी! सूक्ष्म है, भैया! बात तो ऐसी है। आहाहा! टीका में बहुत स्पष्ट किया है।

आबाल-गोपाल सबको सदाकाल... और सबको, ऐसा पाठ है। आहाहा! समझ में आया? अभी पहले शुरुआत में कहा था न? पण्डितजी के साथ बात करते थे। कहा, राग है न राग, राग से भिन्न करे तो ज्ञान की पर्याय में ज्ञान की पर्याय पूर्ण को जानती है। राग से भिन्न करे तो दृष्टि वहाँ जाती है। क्योंकि ज्ञान की पर्याय का सामर्थ्य इतना है। पर्याय का, हों! परन्तु राग से भिन्न होकर पर्याय का लक्ष्य (वहाँ) जाए तो उस पर्याय में द्रव्य जानने में आता है तो लक्ष्य वहाँ द्रव्य के ऊपर जाता है। क्या कहा? ऐसी बातें हैं, बापू! यह तो मूल बात है, भाई!

ऐसा क्यों होता नहीं? आबाल-गोपाल को पर्याय में आत्मा जानने में आता है, तथापि क्यों जानने में नहीं आता? कहते हैं, राग के वश होकर। बन्ध के वशात्। दृष्टि वहाँ पड़ी है। समझ में आया? यह है, देखो! **अनादि बन्ध के वश...** ऐसी टीका है। अनादि बन्ध के वश पड़ा है, तो उसकी पर्याय में ज्ञेय आने पर भी जानता नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह तो अपने बहुत बार बात हो गयी है। परन्तु यह तो सहज यह बात करनी थी कि राग के वश होता है, इस कारण से पर्याय में ज्ञेय ज्ञात होने पर भी जान नहीं सकता और धर्मी जीव राग से ज्ञान की पर्याय को भिन्न की तो उस पर्याय में ज्ञेय—आत्मद्रव्य ही जानने में आया है। वहाँ भिन्न किया तो द्रव्य के ऊपर उसका लक्ष्य गया। उस पर्याय में द्रव्य जानने में आया है। उस पर्याय में द्रव्य आया नहीं, पर्याय द्रव्य आया नहीं। इस ओर पर्याय में राग भी आया नहीं। राग आया नहीं, तथा द्रव्य आया नहीं। परन्तु राग से भिन्न करके ज्ञान की पर्याय पकड़ता है, वहाँ उस पर्याय में पर्यायवान जानने में आता है, वहाँ दृष्टि जाती है, उसका ज्ञान होता है। अरे! ऐसी बातें हैं, प्रभु! आहाहा! समझ में आया?

आबाल-गोपाल पाठ लिया है। है? **अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा आबाल-गोपाल सबके अनुभव में सदा स्वयं ही आने पर भी...** देखा? आहाहा! पोते अर्थात्

स्वयं। आहाहा! क्योंकि ज्ञान की पर्याय का... बापू! यह तो धीरज की बातें हैं। यह कोई (कथा, वार्ता नहीं है) ज्ञान की पर्याय में; ज्ञानगुण त्रिकाली है, उसका भी स्व-परप्रकाशक स्वभाव है, परन्तु वह तो ध्रुवरूप है और पर्याय में-परिणमन में, ज्ञान की पर्याय में स्व-परप्रकाशक जानने की ताकत है, ताकत है तो पर्याय स्व को जानती ही है। आबाल-गोपाल सबको, अज्ञानी को भी। परन्तु उसकी दृष्टि वहाँ क्यों नहीं जाती? कि वह राग के आधीन हो गया है। पर्याय में राग, विकल्प है, उसका कर्ता-भोक्ता होकर उसके आधीन हो गया है। उसके आधीन होकर पर्याय में द्रव्य ज्ञात होता है तो द्रव्य भी जाना नहीं और ज्ञान की पर्याय का सामर्थ्य कितना है, उसे भी नहीं जाना। आहाहा! ऐसा है, बापू! यह अन्दर की बातें हैं। सूक्ष्म पड़े परन्तु अब (क्या हो)? समझ में आया? यह कहा।

यहाँ कहते हैं, **'करणवेदनयो:'** आहाहा! यह बुद्धि जहाँ छूट गयी तो राग से ज्ञान की पर्याय भिन्न हुई, राग से भेदज्ञान हुआ तो उस पर्याय में जानने में आती (स्व) चीज़ तो ज्ञात होती थी, परन्तु उसका लक्ष्य वहाँ नहीं था, इसलिए जानता नहीं था, तो पर्याय राग से भिन्न की तो उस पर्याय में ज्ञेय पूरा द्रव्य ज्ञात होता था तो वह पर्याय ज्ञेय का ज्ञान करती है, (उसमें) अपना भी ज्ञान है और पर का भी ज्ञान है, ऐसे सामर्थ्य की प्रतीति आने पर द्रव्य की दृष्टि हो गयी। समझ में आया?

श्रोता : राग के ऊपर से लक्ष्य छूटे नहीं तो दृष्टि किस प्रकार करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो अनादि से राग के ऊपर जाता है। राग से भिन्न करे, पर्याय के ऊपर लक्ष्य जाए, राग को भिन्न करे तो ज्ञान की पर्याय में द्रव्य ज्ञात होता है तो यह भी ज्ञात हो गया कि पर्याय का इतना सामर्थ्य है। पर्याय का इतना सामर्थ्य है कि अज्ञानी को भी पर्याय में ज्ञेय पूरा द्रव्य ही ज्ञात होता है। आहाहा! अनादि से आबाल-गोपाल को सबको और सदा काल ऐसा पाठ है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा होने पर भी, ऐसा पाठ है न? देखो! उसमें ऐसा पाठ है।

राग और बन्ध के वश... दृष्टि वहाँ अनादि से है। अन्दर चीज़ क्या है और ज्ञान की पर्याय का सामर्थ्य क्या है, उसकी प्रतीति की ही नहीं। आहाहा! मुनिव्रत लिया, बाह्यत्याग किया, सब क्रिया (की)। अभी आयेगा। बाद की गाथा में आयेगा, कलश में आयेगा। १९९ कलश में (आयेगा)। परन्तु ज्ञान की पर्याय का सामर्थ्य इतना है कि राग को अपना मानता है, वह तो मिथ्याबुद्धि है। आहाहा! परन्तु वह ज्ञान की पर्याय स्वद्रव्य को भी जानती है और राग

को भी, राग में एकत्व हुए बिना राग को भी जानती है। ऐसा पर्याय में स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य है, ऐसी प्रतीति होने पर, उसमें पूरे ज्ञेय की प्रतीति हो गयी। आहाहा! समझ में आया? और वह मिथ्यात्व मिटने से संसार गया। यह यहाँ (कहते हैं), मिथ्यात्व गया तो संसार गया। क्योंकि मिथ्यात्व, वही संसार है। आया है न अन्त में? आहाहा! यह मूलचीज़ की बात है। स्थिरता किस प्रकार हो, वह तो बाद में, परन्तु यह मूल चीज़ है। आहाहा! मूल चीज़ की जहाँ खबर नहीं, वहाँ (स्थिरता कैसी)? और जो चीज़ जानने में आयी नहीं, उसकी श्रद्धा कैसी? गधे के सींग जैसी है। जो चीज़ जानने में आयी नहीं, उसकी श्रद्धा किस प्रकार करना? आहाहा!

पर्याय में राग से जब एकत्व किया है तो पर्याय में ज्ञेय ज्ञात होने पर भी उसकी बुद्धि राग के वश हो गयी है। आहाहा! तो वह नहीं जानता स्व को और नहीं जानता यथार्थ पर को। समझ में आया? और राग से यथार्थरूप से भिन्न होकर, **'करणवेदनयो:'** भिन्न होकर... यह आ गया है न? **'करणवेदनयो: अभावात्'** है न? **सम्यग्दृष्टि जीव के मिटे हैं...** यह **'करणवेदनयो:'** मिट गया। आहाहा! सूक्ष्म है। अन्दर शल्य है, यह मिथ्या शल्य है। दूसरा सब तो बाद में, परन्तु यह राग से लाभ होगा, शुभराग की क्रिया करते हैं तो मुझे लाभ होगा, ऐसी एकत्वबुद्धि है, वह महामिथ्यात्व शल्य है। इस कारण से उसकी दृष्टि ज्ञान की पर्याय में आत्मा ज्ञात होने पर भी जान नहीं सकता। आहाहा! समझ में आया? सेठजी! भाषा समझ में आती है? किसी समय थोड़ी-थोड़ी गुजराती आ जाती है। आहाहा! कहाँ गया इनका लड़का? समझ में आता है या नहीं? सेठ का पुत्र है न! आहाहा! कैसे समझ में आये, ऐसा पूछते हैं। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि पर्याय में-ज्ञान की पर्याय में राग का **'करणवेदनयो:'** जो है, वही मिथ्यात्व है और वही संसार है और जिसका मिथ्यात्व छूट गया। यह आया न? देखो! **मिथ्यात्व के मिटने पर जीव सिद्धसदृश है।** आहाहा! पश्चात् पर्याय में राग की एकताबुद्धि छूट गयी और राग से ज्ञान की पर्याय को भिन्न किया तो पर्याय में ज्ञेय जानने की ताकत है, वह भी ख्याल में आ गया कि इस पर्याय की ताकत द्रव्य को जानने की है और इस पर्याय की ताकत राग को राग में एकमेक हुए बिना, राग की अस्ति है तो ज्ञान होता है, ऐसा भी नहीं। यह राग, व्यवहार हो परन्तु अपनी पर्याय अपने से स्व का ज्ञान करते हुए पर का ज्ञान अपनी सामर्थ्य से होता है। आहाहा! वह सिद्ध सदृश है। ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! ऐसा अधिक सभा में रखे तो लोगों को ऐसा हो कि यह क्या बोलते हैं? पागल जैसा लगे। यहाँ तो निश्चिन्तता की वस्तु है। बाहर में दो-चार हजार लोग आवे और देखे कि यह क्या कहते हैं यह तो? पागल जैसी बातें करते हैं। लगे ऐसा, हों! परमात्मप्रकाश में कहा है, है!

श्रोता : आपकी बातें इतनी दूर से सुनने आये हैं। पागल जैसा क्या लगे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह तो बड़े शहर की बात है। बड़े शहर में पाँच-पाँच हजार, दस हजार लोग आते हैं। मुम्बई में दस-दस हजार लोग व्याख्यान में (आवे)। ऐसा लगावें तो कहें, क्या कहते हैं ये ? भोपाल में चालीस हजार लोग आठ दिन व्याख्यान में। बापू! वहाँ तो अमुक बात को बहुत स्पष्ट करते... करते... करते... करते... कितना ही स्थूल करना पड़े। बात तो यह आवे। यहाँ तो थोड़े में भी बहुत आ जाए। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, **मिथ्यात्व संसार है,...** भाषा देखो! पश्चात् अव्रत और प्रमाद, कषाय, योग रहे न ? वह तो अल्प संसार की स्थिति है, उसकी गिनती नहीं। उससे अल्परस, -स्थिति पड़ती है, उसे यहाँ गिनने में आया नहीं है। और वास्तव में तो सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् राग आता है, उसे भी परज्ञेयरूप से जानता है। अर्थात् वह तो स्वयं राग से भिन्न ही है और स्वभाव से एकत्व है तो सिद्धसदृश है। आहाहा! समझ में आया ? पाठ में है न ? **'स हि मुक्त एव'** कलश है न ? चौथा अन्तिम पद। **'स हि मुक्त एव'** कलश में है, उसका यह अर्थ है। अन्तिम, अन्तिम। मूल श्लोक का अन्तिम शब्द। आहाहा! अब १९९ कलश।

यह तो भगवान की वाणी, बापू! मुनियों की-सन्तों की (वाणी) है। यह कोई कथा, वार्ता नहीं है। यह तो एक-एक शब्द में महान गम्भीरता पड़ी है। आहाहा! एक-एक शब्द में अनन्त-अनन्त आगम रहा है। ऐसी यह वाणी है। यह कोई कल्पना से बनायी हुई चीज़ नहीं है। आहाहा! समझ में आया ? अब १९९।

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसा तताः।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम्।।१९९।।

'तेषां मोक्षः न' ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों को कर्म का विनाश, शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति नहीं है। आहाहा! जहाँ मिथ्यात्व का नाश नहीं तो उसे सर्व कर्म का नाश होता ही नहीं। वह तो संसार में भटकेगा। कैसा है ? देखो! **ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों को कर्म का विनाश,...** अर्थात् **शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति नहीं है। 'न मोक्षः'** है न इसलिए (ऐसा कहा)।

कैसे हैं वे जीव ? 'मुमुक्षतां अपि' जैनमताश्रित हैं,... जैन को माननेवाले हैं। जैन देव-गुरु-शास्त्र को माननेवाले जैन है, तथापि मिथ्यादृष्टि हैं। क्यों ? **बहुत पढ़े हैं,...** बहुत पढ़ा है, बहुत शास्त्र पढ़े हैं। उसमें क्या हुआ ? है ? ऐसे जीव को स्वरूप की प्राप्ति नहीं है। कैसे (जीव को) ? **'मुमुक्षतां अपि'** वह मुमुक्षु है। मुमुक्षु अर्थात् **जैनमताश्रित हैं,...** जैनमत के

आश्रित है। **बहुत पढ़े हैं,...** जानपना भी बहुत है, उसमें क्या हुआ? और **द्रव्यक्रियारूप चारित्र पालते हैं,...** दया, दान, व्रतादि के परिणाम बराबर पालता है, द्रव्यचारित्र। समझ में आया? ब्रह्मचर्य पालता है, शरीर से आजीवन बालब्रह्मचारी भी होता है। जैन मताश्रित मुमुक्षु, जैन मताश्रित है परन्तु दृष्टि की खबर नहीं और बहुत पढ़ा है, एक बात।

द्रव्यक्रियारूप चारित्र पालते हैं,... एक बात। वह **मोक्ष के अभिलाषी हैं...** उसे ऐसा है कि मुझे मोक्ष लेना है, मोक्ष लेना है। परन्तु ऐसा लेना है, लेना है, वस्तुदृष्टि के बिना? (मोक्ष के) **अभिलाषी हैं तो भी उन्हें मोक्ष नहीं है।** आहाहा! समझ में आया? है? जिसे राग के विकल्प की एकता टूटती नहीं। और **'करणवेदनयो:'** मैं राग करण—कर्ता और वेदन में पड़ा है, वह जैनमताश्रित हो, सम्प्रदाय में हो, बहुत पढ़ा, और द्रव्य क्रियादि करता हो, आजीवन बालब्रह्मचारी हो, उसमें क्या हुआ? यह तो अनन्त बार किया है। बालब्रह्मचारी तो शुभभाव-राग है। ब्रह्म अर्थात् आनन्दस्वरूप, उसका चरी अर्थात् चरना, आनन्द में रमना तो है नहीं। समझ में आया? यह कहते हैं।

द्रव्यक्रियारूप चारित्र पालते हैं, मोक्ष के अभिलाषी हैं तो भी उन्हें मोक्ष नहीं है। आहाहा! वस्तु की दृष्टि की जहाँ खबर नहीं, सम्यग्दर्शन किसे कहना? और सम्यग्दर्शन किस प्रकार से उत्पन्न होता है? उसके बिना सब बात व्यर्थ है। पढ़ा, गुना, चारित्रक्रिया सब (व्यर्थ है)। कठिन लगे लोगों को, क्या हो? आहाहा! उपमा देते हैं।

किनके समान? 'सामान्यजनवत्' ईश्वर को कर्ता माननेवाले होते हैं न सामान्यजन। जगत का कर्ता ईश्वर है, ऐसा माननेवाले। पाठ में यह है, मूल पाठ में। **'सामान्यजनवत्' जिस प्रकार तापस, योगी, भरड़ा इत्यादि जीवों को मोक्ष नहीं है।** मिथ्यादृष्टि को। वेदान्त माननेवाले, ईश्वर को कर्ता माननेवालों को जैसे मोक्ष नहीं है; उसी प्रकार इस जीव को भी मोक्ष नहीं है। जैन मताश्रित पढ़ा-लिखा है, द्रव्यचारित्र पालता है, तो भी वह मिथ्यादृष्टि है, उसे मोक्ष नहीं है, धर्म नहीं। आहाहा! समझ में आया?

भावार्थ इस प्रकार है कि कोई जानेगा कि (यह जीव) जैनमतआश्रित हैं, कुछ विशेष होगा, सो विशेष तो कुछ नहीं है। जैनधर्म में तो है, जैनधर्म पालता तो है और व्यवहारक्रिया आदि? जैन के शास्त्रों में जानपना है तो दूसरे की अपेक्षा इसमें कुछ अन्तर तो है या नहीं? कोई ऐसा कहे। है? **कुछ विशेष होगा,...** (ऐसा) कोई कहे। **सो विशेष तो कुछ नहीं है।** आहाहा! **भावार्थ इस प्रकार है कि कोई जानेगा कि जैनमतआश्रित**

हैं,... जैन की क्रिया करता है, ब्रह्मचर्य पालता है, व्रत पालता है, आहाहा! जिनेश्वर ने कहे ऐसे व्यवहार के व्रत पालता है... आहाहा! तो **कुछ विशेष होगा, सो विशेष तो कुछ नहीं है।** आहाहा!

कैसे हैं वे जीव? 'तु ये आत्मानं कर्तारं पश्यन्ति' बस! यहाँ (बात है)। पाठ में तो ऐसा लिया है, छह काय के जीव की दया मैं पाल सकता हूँ। मूल पाठ में यह है। चारित्र की व्याख्या। छह काय जीव है, एकेन्द्रिय, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति की दया मैं पाल सकता हूँ, उनकी रक्षा मैं कर सकता हूँ तो जैसे ईश्वरकर्ता माननेवाले हैं, वैसे यह छह काय के जीवों की मैं दया पाल सकता हूँ, दोनों एक जाति की श्रद्धावाले हैं। यह सामान्यजन की व्याख्या है। मूल पाठ में यह है। समझ में आया? आहाहा!

श्रोता : गृहीत मिथ्यादृष्टि से तो इसमें अन्तर पड़ता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, उसे मानता है, वह गृहीत मिथ्यादृष्टि है। साधुपना है नहीं, ऐसे क्रियाकाण्ड में श्रावकपना भी नहीं और मानता है कि हम श्रावक हैं, वह गृहीत मिथ्यादृष्टि है।

श्रोता : कोई ऐसा होवे कि मुनि हुआ हो और गृहीत मिथ्यात्व छोड़ा हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : गृहीत मिथ्यात्व छोड़ा हो परन्तु यहाँ तो वह भी नहीं है। यहाँ तो गृहीत मिथ्यादृष्टि की समतौल में डालना है। समान है कहा न? समान कहा न? देखो न! **किनके समान?** ऐसा कहा है न? आहाहा! यहाँ तो भाई! एक-एक शब्द की कीमत है। **किनके समान?** यहाँ मूल पाठ में तो सामान्यजन का अर्थ यह लिया है कि ईश्वर को कर्ता मानता है न? वह ईश्वर को कर्ता माननेवाले जीव और यह राग का कर्ता माननेवाला जीव, दोनों एक सरीखी दृष्टिवाले हैं। आहाहा! और वहाँ बन्ध अधिकार में तो ऐसा लिया है कि जो शास्त्र का ज्ञान है, वह शब्द का ज्ञान है—ऐसा वहाँ लिया है। वह आत्मा का ज्ञान नहीं। अज्ञानी को शास्त्र का ग्यारह अंग का ज्ञान होवे तो वहाँ पाठ ऐसा लिया है कि वह शब्दज्ञान है, शब्द का ज्ञान है, शब्द का ज्ञान है। ऐसा लिया है। और वहाँ नव तत्त्व की श्रद्धा ली है, वहाँ नव तत्त्व लिये हैं। किसकी श्रद्धा? कि नव तत्त्व। श्रद्धा किसकी? कि नव तत्त्व। ऐसा लिया है। वह नव तत्त्व की श्रद्धा, भेदवाली, हों! वह मिथ्यादृष्टि है और छह काय के जीव की दया, वह चारित्र, ऐसा वहाँ लिया है। छह काय की दया, छह काय की दया। पंच महाव्रत की बात नहीं ली, एक लिया क्योंकि एक में चारों समाहित हो जाते हों। छह काय की दया, छह काय की रक्षा करता हूँ। जैसे ईश्वर जगत का कर्ता (है, ऐसा मानते हैं), यह कहता है कि छह काय के जीव

की दया का मैं कर्ता हूँ। आहाहा! ऐसी बात है, भगवान! बात तो ऐसी है, प्रभु! सत्य तो इस प्रकार से है। इसलिए समान कहा है। मूल पाठ भी ऐसा है। आहाहा!

श्रोता : दोनों की श्रद्धा एक सरीखी है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सरीखी है, इसलिए एक सरीखे हैं। है न? देखो न! **'आत्मानं कर्तारं पश्यन्ति'** इस कारण से **मिथ्यादृष्टि जीव जीवद्रव्य को वह ज्ञानावरणादि कर्म को रागादि अशुद्ध परिणाम को करता है...** इतना संक्षिप्त लिया है। पाठ में तो ऐसा पाठ है, छह काय के जीव की रक्षा कर सकता हूँ। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय की रक्षा कर सकता हूँ, तो जैसे जगत का ईश्वर कर्ता है, वैसे यह रक्षा करता हूँ, ऐसा मानता है तो उसका कर्ता हुआ।—(दोनों) मिथ्यादृष्टि समान हैं। आहाहा! ऐसी बातें कठिन पड़े परन्तु क्या (हो)? भाई! सत्य तो यह है। बात तो यह है। बैठे, न बैठे स्वतन्त्र है, जीव स्वतन्त्र है। आहाहा! भगवान के समवसरण में भी अनन्त बार गया। महाविदेह में अनन्त बार जन्मा। महाविदेह में तो तीर्थंकर का कभी विरह नहीं होता। समवसरण में भी अनन्त बार गया। अनन्त बार गया, हीरा के थाल... आहाहा! कल्पवृक्ष के फूल, मणिरत्न के दीपक (लेकर गया)... जय भगवान! ऐसी पूजा-भक्ति भगवान की अनन्त बार की। वह तो परद्रव्याश्रित शुभभाव है। आहाहा! जैन मताश्रित ऐसा हो तो भी वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि वह राग का कर्ता मानता है। ईश्वर को जगत का कर्ता मानता है, यह छह काय की रक्षा करने का मानता है, दोनों समान हैं।

श्रोता : दया पालने का चारित्र व्रत में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दया पालने का नहीं आता। यह जरा शुभराग आता है, बस! इतना। पर को न मारूँ, ऐसा शुभराग आता है, वह व्यवहार। तीन काल में पर की दया कोई पाल नहीं सकता। परद्रव्य की पर्याय की रक्षा कौन करे? आहाहा!

यहाँ तो पर की दया का भाव आया, वह राग है, बस इतना। उस राग को व्यवहार कहने में आता है। किसको?—जिसको निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान स्व के आश्रय से अनुभव हुआ हो, उसके राग को व्यवहार कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया? पर की दया पाल सकता हूँ, ऐसा न माने और राग हुआ तो मुझे लाभ हुआ, ऐसा वह नहीं मानता। आहाहा! ऐसा कठिन पड़ता है। क्या हो? एक-एक श्लोक में इतनी गम्भीर बात पड़ी है। समयसार, प्रवचनसार, नियमसार दिगम्बर कोई भी शास्त्र लो, सत्य के रहस्य से भरे पड़े हैं। दूसरे अनुयोग भले हों, दूसरे अनुयोग में तात्पर्य तो वीतरागता बतलानी है न! आहाहा!

श्रोता : राग को तो पालना चाहिए न?

पूज्य गुरुदेवश्री : राग को पालता है, वही मिथ्यादृष्टि है, ऐसा कहते हैं। अनादि से करता है। आहाहा! रक्षा की, मैंने राग की रक्षा की। राग की रक्षा, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

ज्ञानावरणादि कर्म को रागादि अशुद्ध परिणाम को करता है, ऐसा जीवद्रव्य का स्वभाव है–ऐसा मानते हैं,... जीवद्रव्य का स्वभाव तो ज्ञाता-दृष्टा है, ऐसा नहीं मानकर, मैं पर की दया पाल सकता हूँ—ऐसे राग का कर्ता होना, वह मेरा स्वभाव है, ऐसा मानता है। आहाहा!

श्रोता : दूसरे जीव को बचाना नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन बचा सकता है? तीन काल में बचा नहीं सकता। उसके आयुष्य की स्थिति पूरी होवे तो देह छूट जाती है। आयुष्य हो और लाख उपाय दूसरे करे तो मरे नहीं। जिस क्षण में, जन्मक्षण में उत्पत्ति का काल है, देह छूटने का (काल है) उस क्षण में ही छूटेगा, तुझसे नहीं छूटेगा और उसमें रहेगा, शरीर में रहने की जहाँ तक योग्यता है, आयुष्य के कारण से (रहता है), ऐसा कहना भी निमित्त है परन्तु अपने आत्मा की शरीर में रहने की जितनी योग्यता है, उतना ही रहेगा, उसमें कोई दूर कर सके या जिला सके, ऐसा तीन-काल में नहीं है। बहुत कठिन काम, भाई! दुनिया से तो बात अलग है। यह तो सर्वज्ञ जिनेन्द्र प्रभु वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा का यह हुकम है। आहाहा! है?

ऐसा **आस्वादते हैं।** तीन शब्द लिये। **ऐसा जीवद्रव्य का स्वभाव है...** राग करना, वह तो जीव का स्वभाव है, करने का हमारा भाव है, ऐसा। **ऐसा मानते हैं, प्रतीति करते हैं,...** (और राग को) **आस्वादते हैं।** आहाहा! राग का ही अनुभव है। आत्मा के आनन्द का वहाँ अनुभव नहीं है। आहाहा! शास्त्र में लिखा है या नहीं? यशपालजी! यह कहीं सोनगढ़ का है? यह सोनगढ़ का है?

श्रोता : यहाँ से छपाया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : चाहे जहाँ छपाया हो। अरे! भगवान! क्या करता है? बापू! छाप चाहे जो हो। वह यहाँ छपाया है? यह हिन्दी? फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री अनुवादक हैं। दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट है। हमें तो यह भी खबर नहीं। यहाँ कौन देखे? किसी को कहा नहीं कि तुम छपाओ। छपाकर लावे तब देखते हैं।

श्रोता : किसी में फेरफार किया हो तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : फेरफार करे, अपनी दृष्टि से करे तो करे। यहाँ तो बहुत एकान्त में कहने आते हैं। यह शान्तिभाई गुजर गये न? यह शान्तिभाई मेरे पास एकान्त में आये थे, मुझे

लाख रुपये देना है। मैंने कहा, मैं कुछ जानता नहीं। गुजर गये न? बीस-पच्चीस दिन पहले अन्दर आये थे। मुझे लाख रुपये देना है। कहा, कहाँ देना है? हमने कभी किसी को कहा नहीं। फिर पचास हजार अपने यह सूक्ष्म व्याख्यान चले थे न? पचास हजार उसमें और पचास हजार, ऐसा कहते थे। आयेंगे अभी। यहाँ तो बहुत लाखों रुपये गुप्त देते हैं। एक व्यक्ति आया था, पाँच मिनिट बैठा। पैसे रखे। मैंने कहा, कितने होंगे? दो-पाँच हजार होंगे। देखा तो पचास हजार! नोट। यहाँ रखे। मैं अन्दर बैठता हूँ न वहाँ। दो-तीन वर्ष हुए। उसके समय। साढ़े तीन हुए न? मैंने कहा, हजार-दो हजार होंगे। ऐसे नोट देखे वहाँ दस-दस हजार के पाँच=पचास हजार। कौन देता है? मैंने तो लेकर दे दिये रामजीभाई को, हमारे क्या? हमें नोटों का क्या करना है? रामजीभाई को दे दिये। पचास हजार! लाख रुपया भी देते हैं। उसमें क्या हुआ परन्तु अब धूल में? लाख हो या करोड़ हो। आहाहा! उसने राग मन्द किया हो तो पुण्य है और पुण्य मेरी चीज़ है, ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है। आहाहा! यहाँ तो इतनी स्पष्ट बात है, भाई! आहाहा!

यह यहाँ कहा, **और कैसे हैं? 'तमसा तता:' मिथ्यात्वभाव ऐसे अन्धकार से व्याप्त हैं,...** अज्ञानी अन्धकार में पड़े हैं। यह शुभराग मेरा है, और मुझे लाभ होगा। यह अज्ञान अन्धकार में पड़े हैं। आहाहा!

श्रोता : व्रतादि पालना या नहीं पालना?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या पाले? आता है, राग आता है, वह आस्रव है। व्यवहारनय के कथन में आता है परन्तु राग है, वह तो विकार है। मैं पाल सकता हूँ, रख सकता हूँ, यह तो मिथ्यात्व है। आता है, निरतिचार व्रत पालना, ऐसा व्यवहारनय से कथन आता है। सम्यग्दृष्टि की बात है, हों! अज्ञानी को तो है कहाँ? आहाहा! पुरुषार्थसिद्धिउपाय में तो ऐसा कहा, जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह अपराध है। मूल पाठ है। पुरुषार्थसिद्धिउपाय, अमृतचन्द्राचार्य। आहारकशरीर का जिस भाव से बन्ध पड़े, वह भाव अपराध है। पर की दया का भाव, वह राग, हिंसा है। ऐसा लिखा है, पाठ है। यह तो सत्य बात है, बापू! जगत से विपरीत है। आहाहा! यह कहा, नहीं?

महामिथ्यादृष्टि हैं... ऐसा कहा? आहाहा! **जो जीव का स्वभाव कर्तारूप मानते हैं; कारण कि कर्तापन जीव का स्वभाव नहीं है, विभावरूप अशुद्ध परिणति है; सो भी पर के संयोग से है,...** विभाव, राग, वह पर के संयोग से है, वह निश्चय से अपनी यथार्थ परिणति है ही नहीं। उसे अपनी माने वह महामिथ्यादृष्टि है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

७ **श्री समयसार, गाथा - २७८-२७९, श्लोक-१७५-१७६, प्रवचन - ३४३**
दिनांक - २८-१०-१९७९

समयसार, २७८-२७९ (गाथा का) भावार्थ।

प्रश्न - भभूतमल गये ?

उत्तर - एक दिन के लिये गिरनारजी गये हैं।

भावार्थ-स्फटिकमणि स्वयं तो मात्र एकाकार शुद्ध ही है;... स्वयं अपना स्फटिकमणि का जो स्वरूप है, वह तो निर्मल और शुद्ध ही है। **वह परिणमन-स्वभाववाला होने पर भी...** उस स्फटिकमणि (का) पलटने का, बदलने का, परिणमने का स्वभाव होने पर भी **अकेला अपने आप ललाई-आदिरूप नहीं परिणमता...** अकेला स्वयं निमित्त के संग बिना अकेला लाल और रंगरूप से परिणमता नहीं है। लाल, काला आदि रंग। **किन्तु लाल आदि परद्रव्य के निमित्त से (स्वयं ललाई आदिरूप परिणमते...)** सामनेवाली चीज़। **(स्वयं ललाई आदिरूप परिणमते...)** सामनेवाली चीज़ के निमित्त से **ललाई-आदिरूप परिणमता है।** स्फटिकमणि की अपनी पर्याय में योग्यता है, उस योग्यता के कारण स्वयं अपने स्वभावरूप से नहीं परिणमता, तब निमित्त के संग में लाल और पीलेरूप परिणमता है। वह अपनी जाति से—द्रव्यस्वभाव से नहीं परिणमता परन्तु पर्याय में योग्यता के कारण पर के संग से लाल और पीलेरूप परिणमता है। ऐसी स्वयं की अन्दर योग्यता है, पर्याय में; द्रव्य में नहीं। यह तो दृष्टान्त हुआ।

इसी प्रकार आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है;... भगवान आत्मा तो शुद्ध पवित्र है। आत्मा तो परम पवित्र गुण का पिण्ड है। **वह परिणमनस्वभाववाला होने पर भी...** शुद्ध आत्मा (का) परिणमन—बदलने का, पलटने का पर्याय में स्वभाव **होने पर भी अकेला अपने आप रागादिरूप नहीं परिणमता...** अकेला पर के संग बिना, अकेला स्वयं राग और द्वेषरूप नहीं होता। **परन्तु रागादिरूप परद्रव्य के निमित्त से (-अर्थात् स्वयं रागादिरूप परिणमन करनेवाले (जड़-कर्म) परद्रव्य के निमित्त से) रागादिरूप...** अपनी उपादान

विभाविकशक्ति के कारण, विभाविकशक्ति के कारण और निमित्त पर, उसके-निमित्त के संग से विभाविकशक्ति के कारण से विकाररूप **परिणमता है।** पर के कारण नहीं। पर्याय में स्वयं की योग्यता ही ऐसी है। जैसे स्फटिक शुद्ध परिणमनेवाला होने पर भी लाल-पीले के संग के योग से पर्याय में लाल-पीलापन दिखता है। उसी प्रकार भगवान आत्मा वस्तु से तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति (है)। उसका परिणमन होने पर भी उस परिणमन में विभाविकशक्ति का एक गुण है, कि जो स्वयं से निमित्त के संग में राग और द्वेषरूप स्वयं से परिणमता है।

पर द्वारा भले कहो परन्तु पर द्वारा; पर द्वारा (अर्थात्) पर से नहीं, अपनी शक्ति के कारण से पर के निमित्त द्वारा स्वयं अपने रूप से, शुद्धरूप से न परिणमता विकाररूप परिणमता है। इसमें बड़ी गड़बड़ है।

(स्वयं रागादिरूप परिणमन...) कर्म रागादिरूप परिणमता है, कर्म। उनके संग में रागादिरूप परिणमता है। **ऐसा वस्तु का ही स्वभाव है,...** पर्याय में पर के संग से विकाररूप से होना, ऐसा पर्याय का स्वभाव है। वस्तु का स्वभाव स्वयं से विकाररूप हो, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। समझ में आया?

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं- इस काव्य में सब है।

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्।।१७५।।

निमित्त अर्थात् कारण।

श्लोकार्थ :- [**यथा अर्ककान्तः**] **सूर्यकान्तमणि की भाँति (-जैसे सूर्यकान्तमणि स्वतः से ही अग्निरूप परिणमित नहीं होता,..)** सूर्यकान्तमणि होता है, वह स्वयं अग्निरूप से नहीं परिणमता। **(उसके अग्निरूप परिणमन में सूर्य बिम्ब निमित्त है,..)** सूर्य के बिम्ब के निमित्त से अपनी योग्यता से वह सूर्यकान्तमणि अग्निरूप से—उष्णरूप परिणमता है। वह अपनी योग्यता के कारण से; पर के कारण से नहीं और पर से नहीं, परन्तु पर के संग के सम्बन्ध में अपनी योग्यता से सूर्यकान्तमणि जैसे उष्णतारूप परिणमती है **(उसी प्रकार)...**

[**आत्मा आत्मनः रागादिनिमित्तभावम् जातु न याति**] आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध परिणमनस्वरूप है, वह स्वयं अपनी जाति से, द्रव्यस्वभाव से विकाररूप परिणमे, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। उसका द्रव्यस्वभाव ऐसा है कि विकाररूप होना, वह उसका स्वभाव नहीं है। आहाहा! है? **अपने को रागादि का निमित्त कभी भी...** निमित्त अर्थात् कारण।

उपादानकारण स्वयं है, अशुद्ध उपादान। वह विभाविकशक्ति है, इसीलिए वह अशुद्ध उपादान के कारण से कर्म के, निमित्त के संग से विकाररूप होता है। उसका वस्तु का स्वभाव पर के संग बिना स्वयं विकाररूप हो, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। समझ में आया ?

कलश टीकाकार ने तो बहुत स्पष्टीकरण किया है कि भाई ! उपादान तो उसका ही है। विकाररूप होने का उपादान विभाविकशक्ति तो उसकी अपनी है। परद्रव्य तो निमित्तमात्र है। वहाँ ही विवाद उठाते हैं, कि पर के कारण विकार होता है, कर्म के कारण विकार होता है। ऐसा नहीं है। बड़ा सिद्धान्त यहाँ है। कलशटीकाकार ने इसका अर्थ बहुत विस्तार से किया है, कि उपादान तो स्वयं का ही है। विभावरूप परिणमना, ऐसी पर्याय में स्वयं के कारण से विभावरूप परिणमता है। उसका वस्तु स्वभाव नहीं परन्तु पर्याय में विभावरूप होना ऐसी स्वयं की योग्यता है। इसलिए निमित्त के संग में; निमित्त द्वारा—ऐसा भले कहो, परन्तु वह परिणमता है स्वयं अपने से। आहाहा ! यह बड़ा विवाद है।

बंशीधरजी आये थे न ? तब वहाँ चर्चा हुई थी। (वह कहे), कर्म के कारण से हो, कर्म के कारण से (होता है)। जो कर्म द्वारा विकार होता है, कर्म के कारण से होता है। ऐसी बड़ी चर्चा वहाँ हुई थी। कहा, कर्म के कारण से बिल्कुल नहीं। जीव परद्रव्य को छूता भी नहीं। मात्र स्वभाव (की) दृष्टि नहीं है, त्रिकाली ज्ञायकभाव की दृष्टि नहीं होने से वर्तमान पर्याय की दृष्टि होने से उसकी योग्यता के कारण से रागादिरूप के निमित्तरूप से कर्म है, उसके संग में स्वयं अपने से रागरूप परिणमता है। आहाहा ! ऐसा है। कर्म के कारण से विकार होता है, यह बात तीन काल में सत्य नहीं है तथा उसके उपादान के कारण से होता है, यह बात भी सत्य है। पर्याय के उपादान के कारण से विकार होता है। शुद्ध उपादान और द्रव्यदृष्टि नहीं; त्रिकाली शुद्ध है, उसकी दृष्टि नहीं, इसलिए उसकी पर्याय में अशुद्ध उपादान के कारण से निमित्त के लक्ष्य से अपने में राग और द्वेष, मिथ्यात्व आदि का परिणमन होता है। समझ में आया ? इसमें कुछ फेरफार होवे तो बड़ा फेरफार होता है। कर्म द्वारा विकार होता है, विकार होने का स्वभाव नहीं है; इसलिए वह विकार तो कर्म के कारण से होता है—ऐसा नहीं है।

बड़ा विवाद पूरा उठा था न तब ? (संवत) २०१३ के वर्ष, वर्णीजी के साथ बड़ी चर्चा (हुई थी)। कर्म के कारण विकार होता है, कर्म के कारण विकार होता है। नहीं तो विकार पर्याय में स्वयं से होता है तो उसका स्वभाव हो जाता है। पर्याय में विभाविकशक्ति के कारण से,... विभाविकशक्ति से विभावरूप परिणमना, ऐसा नहीं है। विभाविकशक्ति तो सिद्ध में भी है परन्तु विभाविकशक्ति निमित्त के संग के लक्ष्य से... लक्ष्य से, निमित्त कुछ उसे स्पर्श भी नहीं

करता, परन्तु वह विभाविकशक्ति निमित्त के लक्ष्य से स्वयं से अपने में विकाररूप परिणमती है। पाटनीजी! ऐसी बात है। इस श्लोक का बड़ा विवाद है। **'परसंगः एव'** है न? वहाँ आगे विवाद है। पर के कारण से होता है। ऐसा नहीं कहा **'पर एव'** नहीं है इसमें। **'पर एव'** नहीं, **'परसंगः एव'** अर्थात् पर्याय पर का संग करती है, अपने असंग स्वभाव को भूलकर। आहाहा! चैतन्यस्वभाव शुद्ध चैतन्यमूर्ति ज्ञानानन्द का पिण्ड प्रभु, उसके लक्ष्य को छोड़कर पर्याय में पर के लक्ष्य से अपनी योग्यता से मिथ्यात्व और राग-द्वेषरूप परिणमता है। आहाहा! चन्दुभाई! इसमें बड़ा विवाद। इस श्लोक में बड़े-बड़े पण्डितों के साथ विवाद है। इन्होंने—कलश टीकाकार ने तो ऐसा स्पष्ट अर्थ किया है, कलश टीकाकार है न? कितना है यह? १७५। देखो!

प्रश्न किया था, उसका उत्तर... इस वस्तु का स्वरूप सर्व काल प्रगट है। कैसा है वस्तु का स्वभाव? 'जातु' किसी भी काल में जीवद्रव्य अपने सम्बन्धी हैं जो राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध परिणाम, उनके कारणपनेरूप परिणमता नहीं। अपने स्वभाव से परिणमता नहीं। **भावार्थ ऐसा है कि द्रव्य के परिणाम का कारण दो प्रकार का है :** द्रव्य के परिणाम का कारण दो प्रकार का है। **एक उपादानकारण, एक निमित्तकारण।** टीका की है। **उपादानकारण अर्थात् द्रव्य में अन्तर्गर्भित है अपने परिणाम—पर्यायरूप...** परिणमन शक्ति वह तो जो द्रव्य की है, उसमें ही है। **उसी द्रव्य में होती है, ऐसा निश्चय है। निमित्तकारण—जिस द्रव्य का संयोग प्राप्त होने से अन्य द्रव्य अपनी पर्यायरूप परिणमता है...** अन्य द्रव्य तो अपनी पर्याय से परिणमता है। **वह तो जिस द्रव्य का उस द्रव्य में होता है। अन्य द्रव्य, गोचर नहीं होता, ऐसा निश्चय है।**

जिस प्रकार मृत्तिका घटपर्यायरूप से परिणमती है, उसका उपादानकारण है मृत्तिका में घटरूप परिणमनशक्ति; निमित्तकारण है बाह्यरूप कुम्हार, चक्र, दण्ड इत्यादि; उसी प्रकार जीवद्रव्य अशुद्ध परिणाम से—मोह-राग-द्वेषरूप परिणमता है, उसका उपादानकारण है जीवद्रव्य में अन्तर्गर्भित विभावरूप अशुद्ध परिणमनशक्ति.. इस श्लोक में ऐसा स्पष्टीकरण किया है। आहाहा! समझ में आया? विकार होने का उसका स्वभाव नहीं है, स्वभाव तो शुद्ध है परन्तु पर्याय में लक्ष्य पर के ऊपर होने से पर के संग से अपनी योग्यता से पर्याय में मिथ्यात्व और राग-द्वेष का परिणमन होता है। समझ में आया? उपादान अपना है। निमित्त कहा कि आत्मा निमित्त नहीं अर्थात् शुद्ध आत्मा निमित्त नहीं। परन्तु उपादान स्वयं स्वयं का निमित्त है। आहाहा!

विकार जो संसार जो उत्पन्न होता है, वह अपना स्वभाव शुद्ध है, पूर्णानन्द है, वह तो

शुद्धरूप परिणमे, वही उसका स्वभाव है, परन्तु उसके ऊपर लक्ष्य नहीं होने से पर्याय में पर के ऊपर लक्ष्य होने से पर्याय में राग और द्वेष का परिणमन होता है, वह अपनी योग्यता से अपने में अपने कारण से होता है, दूसरी चीज़ तो निमित्तमात्र है। निमित्त से उसमें विकार नहीं होता। आहाहा! उन्होंने बहुत लिया है। परिणमन शक्ति अपनी है, वह स्वयं कारण है।

'परसंगः एव' दर्शनमोह-चारित्रमोहकर्मरूप बँधा हुआ जो जीव के प्रदेशों में एकक्षेत्रावगाहरूप पुद्गलद्रव्य का पिण्ड, उसका उदय, यद्यपि मोहकर्मरूप पुद्गलपिण्ड का उदय अपने द्रव्य के साथ... है। कर्म के उदय का व्याप्य-व्यापक(पना) कर्म के साथ है। क्या कहा? कर्म जो जड़ है, उसका उदय, वह व्याप्य और वह कर्म व्यापक। यह व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध कर्म में कर्म के साथ है। यह कर्म व्यापक और आत्मा-विकार व्याप्य, ऐसा सम्बन्ध है नहीं। समझ में आया? आहाहा! निर्णय करने का (समय नहीं मिलता)। स्वतन्त्र स्वयं अपनी भूल से ही भटकता है, कर्म के कारण नहीं, परद्रव्य के कारण नहीं। आहाहा! यह तो कहा नहीं उसमें... ?

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।।१३१।।

कर्म के कारण से नहीं। राग से भिन्न करने के स्वभाव के अभाव के कारण बँधा हुआ है। कर्म से बँधा हुआ है, (ऐसा नहीं है)। वह तो परवस्तु है, उसके साथ क्या सम्बन्ध? इसमें बहुत डाला है। **अपने द्रव्य के साथ व्याप्य-व्यापकरूप है,...** उस कर्म का (व्याप्य-व्यापकपना) अर्थात् कर्म व्यापक है और विकार व्याप्य है, ऐसा नहीं है, तथापि समयसार में ७५-७६ गाथा में ऐसा आता है कि कर्म व्यापक है और विकार व्याप्य है। वह किस अपेक्षा से? कि स्वभाव की दृष्टि हुई है। पर्याय की योग्यता तो स्वयं से ही थी परन्तु स्वभाव की दृष्टि हुई है, इसलिए स्वभाव का व्यापकपना उसकी व्याप्य अवस्था स्वभाव है। निर्मल पर्याय उसकी व्याप्य और व्यापक स्वभाव; इसलिए उसकी दृष्टि द्वारा विकार जो है, उसे कर्म के साथ व्याप्य-व्यापक डालकर निकाल डाला है। ७५-७६ (गाथा)। अरे! ऐसा है। कर्म व्यापक है, विकार व्याप्य है। यहाँ कहते हैं कि कर्म अपने-अपने साथ व्याप्य-व्यापक है।

श्रोता : दोनों में सत्य क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों सत्य है। किस अपेक्षा से? कर्म जो है, वह तो परद्रव्य है। उस परद्रव्य के परमाणु व्यापक होकर पर्यायरूप परिणमते हैं, वह तो उसका पर्याय का व्याप्य-

व्यापक कर्म के साथ है; आत्मा के साथ उसका व्याप्य-व्यापकपना है नहीं, कि कर्म व्यापक होकर आत्मा में विकार होता है—ऐसा है नहीं। तथापि ७५-७६ में ही कहा कि कर्म व्यापक और विकार व्याप्य है। यह तो स्वभाव की दृष्टि की है; इसलिए उसकी दृष्टि में विकार नहीं है, उसकी दृष्टि में पर्याय नहीं है, उसकी दृष्टि में पर के संग का सम्बन्ध नहीं है, इसलिए केवल द्रव्यस्वभाव की दृष्टि में स्वभाव स्वयं व्यापक है और निर्मल पर्याय उसकी व्याप्य है। मलिन पर्याय है, वह कर्म का व्याप्य है, (ऐसा) करके निकाल दिया है। आहाहा! कहो, समझ में आया इसमें कुछ? चिमनभाई! यह सब कहाँ समझना इसमें? ऐई! शान्तिभाई! यह सब भेदभंग। आहाहा! भेदभंग नहीं, वस्तु का स्वरूप है। आहाहा!

वस्तु स्वयं स्फटिकमणि शुद्धरूप से उसे परिणमन होने पर भी वह स्वयं अपने आप अकेला शुद्धरूप परिणमता है, यह बराबर है, परन्तु अकेला अशुद्धरूप परिणमे—ऐसा नहीं है। उसे पर का संग से हुई अपनी योग्यता से अशुद्धरूप परिणमे। आहाहा! कल दृष्टान्त दिया नहीं था? दियासलाई का। दियासलाई सुलगती है। यह ऐसे बीड़ी पीते हैं, तीन-तीन अंगुल की होती है। यहाँ पीवे तो ठण्डी है, यहाँ उष्ण है। यहाँ उष्ण नहीं होती वह स्वयं की योग्यता है। और लोहा पाँच हाथ लम्बा होता है, सरिये को चार अंगुल अग्नि में यदि रखा हो तो पाँच हाथ में अग्नि सर्वत्र व्याप्त हो जाती है। यह उसकी स्वयं की योग्यता है। लकड़ी में योग्यता नहीं और लोहे में योग्यता है। वैसे ही विकाररूप से परिणमना, वह जीव की पर्याय की अपनी-स्वयं की योग्यता है, कर्म के कारण नहीं।

'कर्म बिचारे कौन? भूल मेरी अधिकाई' आता है या नहीं? आहा! 'कर्म बिचारे कौन? भूल मेरी अधिकाई' बाद में क्या आया? 'अग्नि सहे घन घात, अग्नि सहे घन घात लोह की संगति पाई।' अग्नि लोहे का संग करती है, इसलिए सिर पर (घन) पड़ते हैं। अकेली अग्नि पर (घन नहीं पड़ते)। इसी प्रकार भगवान आत्मा यदि निमित्त के संयोग में जुड़कर विकार करे तो दुःखी होता है। आहाहा! अपने स्वभाव के संग में जाए तो सुखी और आनन्द होता है।

भगवान आत्मा परमानन्द की मूर्ति प्रभु! ज्ञान और आनन्द के स्वभाव की मूर्ति अपने स्वभाव के आश्रय में जाए, वहाँ तो परम ज्ञान और आनन्द प्रगट होता है। आहाहा! परन्तु वह पर के आश्रय से लक्ष्य में जाता है, स्वयं स्वतन्त्ररूप से कर्ता होकर, हों! ६२वीं गाथा कही नहीं? पंचास्तिकाय की ६२ गाथा। विकार के षट्कारक स्वयं अपने से परिणमते हैं। परकारक की कुछ अपेक्षा है नहीं। ६२वीं गाथा। वर्णीजी के साथ वहाँ बड़ी चर्चा हुई थी। उन्हें नहीं

जँचा। यह चलता नहीं था। तीनों सम्प्रदाय में विकार कर्म से होता है, कर्म से होता है, यही सबने लगायी थी।

यहाँ कहते हैं कि बापू! कर्म तो जड़ है। वह आत्मा की पर्याय को छूता भी नहीं—स्पर्श भी नहीं करता। कर्म का उदय और राग दोनों के बीच तो अत्यन्त अभाव है, अत्यन्त अभाव है। आहाहा! इसलिए कर्म का इसमें अत्यन्त अभाव है, उस कर्म के कारण राग होवे, तब तो उसका भाव हो गया। आहाहा! वह विकार परसंग से होता है, परसंग से। **'पर एव'** नहीं—पर से नहीं। पर का संग अपनी योग्यता से करता है, इसलिए विकार होता है। समझ में आया? आहाहा! ऐसा निर्णय करने का समय कहाँ है?

श्रोता : किस अपेक्षा से बात होती है, यह समझ में आवे तो समझ जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही बात है, वस्तु की स्थिति ऐसी है। आहाहा! उन्होंने (कलश-टीकाकार ने) तो बहुत स्स्पष्टीकरण किया है। **'जीवद्रव्य के साथ व्याप्य-व्यापक नहीं है।'** विकार का परिणमन व्याप्य और कर्म व्यापक—ऐसा नहीं है। कर्म जड़ व्यापक और उसकी उदय अवस्था, उसकी व्याप्य, उसके साथ सम्बन्ध है। आत्मा के साथ व्याप्य-व्यापक है नहीं। राजमल्लजी ने कितना स्पष्टीकरण किया है, लो! आहाहा!

यह तो उस दिन देखा नहीं था, उस दिन हाथ नहीं आया था। (संवत) १९७१ में कहा था, तब यह पुस्तक हाथ नहीं आयी थी। ७१ में पहले कहा था, लाठी में। विकार स्वयं से होता है, कर्म से नहीं। 'कर्म बिचारे कौन? भूल मेरी अधिकाई'। कर्म जड़ है। जड़ और इसके दोनों के बीच में अत्यन्त अभाव है। अत्यन्त अभाव में यह भाव कर दे, ऐसा आवे कहाँ से? आहाहा! उस समय तो यह पुस्तक पढ़ी भी नहीं थी, समयसार भी पढ़ा नहीं था। खलबलाहट हो गया था। गुरु तो सुनते थे, उन्हें कुछ (नहीं था), परन्तु दामोदर सेठ थे, उन्होंने खलबलाहट किया कि यह ऐसा कहाँ से निकाला? अभी तक कोई कहता नहीं। हमारे गुरु ने तुमसे कहा नहीं और तुमने कहाँ से ऐसा निकाला? मेरे सामने नहीं कहे, दूसरे के सामने (कहा)। ऐसा कहाँ से निकाला यह? विकार कर्म बिना हो, ऐसा तो हमारे गुरु ने कभी कहा नहीं। हमने कभी पढ़ाया नहीं। कहा, मार्ग यह है। अपनी भूल स्वयं अपने द्वारा करता है और भूल को अपने स्वभाव के आश्रय से पुरुषार्थ से टालता है। एक ही बात है, बाकी सब बातें हैं। आहाहा!

उन्होंने स्वीकार किया था। यहाँ बंशीधरजी आये थे। वहाँ जरा सामने वर्णीजी के पक्ष में थे। यहाँ आये थे, महीने भर रहे थे। तब यह परसंग की गाथा चली थी। कहा **'परसंग: एव'**

है। **'पर एव'** ऐसा नहीं—पर से ऐसा नहीं। परसंग अर्थात् अपने स्वभाव का लक्ष्य छोड़कर, स्वयं पर के ऊपर लक्ष्य करता है। भले लक्ष्य करता है, वह लक्ष्य वहाँ पर को स्पर्श नहीं करता, लक्ष्य करता है, वह पर को स्पर्श नहीं करता परन्तु पर का लक्ष्य करता है, वहाँ अशुद्धता उत्पन्न होती है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। जैन के नाम से तो बस! जैन में कर्म के कारण होता है, कर्म के कारण होता है। आहाहा!

स्थानकवासी में स्तुति में बोलते हैं न? पहले दस मिनिट स्तुति करते हैं। उसमें ऐसा बोले, ऐसा कुछ है, बोलते थे, सब बोलते थे न! 'कर्म ने डाला आडा अंक' ऐसा कुछ आता है। 'कर्म से राजा, कर्म से रंक, कर्म ने डाला आडा अंक।'

श्रोता : यह तो संयोग की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु संयोग में वह तो निमित्त है। दूसरी चीज़ में संयोग में भी संयोगी चीज तो अपने आप आने के कारण से उपादान से आयी है। वह कर्म तो उसमें भी निमित्त है। आहाहा! साता का उदय है और यहाँ पैसा आया। वह उदय तो निमित्त है। वह पैसे (उसके) आने के उपादान के कारण से उसकी पर्याय वहाँ से आने की (थी), इसलिए आते हैं। वह साता का उदय पैसे को लाया नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह यहाँ कहते हैं।

सूर्यकान्तमणि की भाँति (–जैसे सूर्यकान्तमणि स्वत: से ही अग्निरूप परिणमित नहीं होता, उसके अग्निरूप परिणमन में सूर्य बिम्ब निमित्त है, उसी प्रकार) [**आत्मा आत्मन: रागादिनिमित्तभावम् जातु न याति**] निमित्त अर्थात् कारण। शुद्ध उपादान स्वयं नहीं है। **आत्मा अपने को रागादि का...** मूल उपादान कारण जो शुद्ध है, वह (रागादिक का निमित्त) **कभी भी नहीं होता,...** [**तस्मिन् निमित्तं परसंग: एव**] **उसमें निमित्त परसंग ही (–परद्रव्य का संग ही) है।** परद्रव्य का संग करता है, लक्ष्य करता है। अपना स्वभाव शुद्ध चैतन्य का लक्ष्य छोड़कर जो परद्रव्य है, उसका लक्ष्य करता है। लक्ष्य करता है, इसलिए कहीं परद्रव्य में उसका लक्ष्य स्पर्श कर जाता है, ऐसा नहीं है। कर्म का उदय है, उसमें उसे लक्ष्य स्पर्श करता है, ऐसा नहीं है तथा कर्म का उदय है, वह उस लक्ष्य को स्पर्श करता है, ऐसा भी नहीं है। द्रव्य की भिन्नता स्वतन्त्र है, उसमें किसकी कौन सी पर्याय किसे स्पर्श करे? आहाहा!

यह तो तीसरी गाथा में कहा नहीं? तीसरी गाथा। प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्याय को स्पर्श करता है। दूसरे द्रव्य के साथ उसे चूमता नहीं, ऐसा पाठ वहाँ है। प्रत्येक द्रव्य अपने धर्म

को चूमता है। इसके अतिरिक्त एक दूसरी बात भी एक उसमें तीसरी गाथा में आयी है। समयसार है न यह ? विरुद्ध कार्य और अविरुद्ध कार्य। विरुद्ध कार्य और अविरुद्ध कार्य स्वतन्त्र इस प्रकार से होकर पूरा जगत निभ रहा है। विरुद्ध विपरीतरूप से परिणमो या अविपरीतरूप से परिणमो, इस प्रकार से भी पूरा जगत स्वयं से इस प्रकार से हुआ है। है इसमें ? आहाहा! तीसरी गाथा में है।

एक द्रव्य, प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्याय के धर्म को चूमता अर्थात् स्पर्श करता है। परद्रव्य के किसी भी गुण-पर्याय को कोई द्रव्य उसे चूमता, स्पर्शता नहीं है। आहाहा! गजब बात है। यह पैर जो इस जमीन पर चलता है, वह पैर जमीन को स्पर्श नहीं करता। जमीन के आधार से पैर नहीं चलता। परन्तु पैर के परमाणुओं में निचले परमाणुओं का अभाव है और पैर के परमाणुओं का उसमें अभाव है। अभाव है तो स्पर्श कहाँ से करे ? अरे! अरे!

श्रोता : सिद्धान्त तो सर्वत्र समान है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्वत्र समान है, सर्वत्र एक प्रकार का है। आहाहा! यह पैर जमीन को छूता ही नहीं। पैर के परमाणु अपनी गुण-पर्याय को स्पर्श करते हैं, परद्रव्य को चूमता-स्पर्शता ही नहीं। आहाहा! गजब बात है।

पानी अग्नि के कारण से गर्म नहीं हुआ। पानी उस अग्नि के कारण से गर्म हुआ, यह देखनेवाले संयोग को देखते हैं परन्तु अग्नि स्वयं ही उष्णरूप परिणमी है, उस काल में वह ऐसा देखता नहीं। अग्नि के कारण से पानी गर्म हुआ नहीं। अरे! अरे! अकेला (पानी) ठण्डा था, अग्नि आयी, इसलिए गर्म हुआ। परन्तु गर्म हुआ, वह अपनी पर्याय से हुआ है या अग्नि से हुआ है ? अग्नि को पानी के परमाणु को स्पर्श भी नहीं करती तथा अग्नि के परमाणु पानी को छूते नहीं। आहाहा! गजब बात है।

यह चावल पकते हैं, पकते होते हैं तो पानी अन्दर फद-फद क्या कहलाता है ? फद-फद पड़ते हैं न ? ऐसा अन्दर पानी गर्म हो, उसमें चावल पके, परन्तु कहते हैं कि चावल पकते हैं, वह फद-फद जैसा पानी ऐसे-ऐसे होता है, उसे चावल स्पर्श भी नहीं करते। फद-फद जैसा पानी नहीं कहते ? पानी ऐसे खदबद... खदबद... खदबद... होता है न ? ऐसा गर्म होता है, उसमें चावल डाले तो चावल पक जाते हैं। परन्तु कहते हैं कि वे चावल के परमाणु अपने गुण-पर्याय को स्पर्श करते हैं परन्तु इस पानी की गर्म पर्याय को वह चावल की पर्याय स्पर्श नहीं करती और चावल पकते हैं। शशीभाई!

वीतराग की व्याख्या है कि अनन्त द्रव्य हैं, उनका अस्तित्व कब रहे ? वे अनन्त द्रव्य अपने-अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में रहें और पर के कारण नहीं, तब अनन्तपने की अस्तित्वता रहती है। एक दूसरे के कारण दूसरे में होवे तो वह अस्तित्व स्वतन्त्र अनन्तपना नहीं रहा। आहा!

श्रोता : शशीभाई कहते हैं, डॉक्टर की दवा से बुखार उतरता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दवा बिल्कुल नहीं, डॉक्टर-बॉक्टर नहीं।

श्रोता : डॉक्टर के पापा को बुखार आया हो तो भी नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : डॉक्टर मर नहीं जाता वहाँ ? यह हेमन्तकुमार बड़ा डॉक्टर था, सर्जन। यहाँ आता था, दो-तीन बार आया था बेचारा। किसी का आपरेशन करता (था, तब कहे), मुझे ऐसा कुछ होता है। ऐसा कहकर ऐसे कुर्सी पर बैठा, वहाँ समाप्त हो गया। उन नरसिंहभाई का दामाद। जेतपुर, नहीं ? वह किसी का ऑपरेशन करता था। है न, सुना है न ? नरसिंह डॉक्टर। आहाहा! अभी केशुभाई का लड़का आया था। आहाहा! यह बात, बापू! आहाहा!

स्वतंत्र... स्वतंत्र प्रत्येक द्रव्य की उस क्षण की वह पर्याय क्रमसर होने की (हो), वह होती है। प्रत्येक द्रव्य में क्रमबद्ध जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है, वह होती है। वह क्रमसर अनादि अनन्त है। पर के कारण कुछ है नहीं। एक तो (लोगों को) क्रमसर बैठता नहीं। भाई इनकार करते थे, वर्णीजी। एक के बाद एक होती है परन्तु एक के बाद उसके बाद यही होगी, ऐसा नहीं है। परन्तु इसके बाद यह होगी नहीं तो फिर क्रम कहाँ रहा ? आहाहा! माला है, उसका जो मोती है, जिस जगह वह मोती है, वह वहीं है, उसे अन्यत्र आड़ा-टेड़ा कहीं करने जाए तो वह मोती, वह माला टूट जाती है। उसी प्रकार आत्मा और परमाणु की जिस समय में जो पर्याय होनी है, वह पर्याय स्वयं से ही वहाँ है, आगे-पीछे नहीं, आगे-पीछे करने जाए तो द्रव्य टूट जाएगा, द्रव्य नहीं रहेगा। थोड़ी सूक्ष्म बात है। हैं ? आहाहा!

यहाँ कहते हैं, [**तस्मिन् निमित्तं परसंगः एव**] निमित्त का अर्थ कारण भले लो। विकार का निमित्तकारण पर है परन्तु उपादानकारण स्वयं है। तब दूसरे को निमित्तकारणरूप से कहने में आता है। आहाहा! अब ऐसी बातें। **(-परद्रव्य का संग ही) है।** देखा ? परद्रव्य के कारण नहीं। परद्रव्य का संग (करके) स्वयं लक्ष्य वहाँ किया है। संग का अर्थ कहीं परद्रव्य को स्पर्शता नहीं कुछ। राग है, वह कर्म के उदय को छूता नहीं। तथा कर्म का उदय

है, वह राग को स्पर्श नहीं करता। मात्र लक्ष्य जाता है ऐसे, इसलिए [**परसंगः एव**] पर के संग से उत्पन्न हुआ विकार अपनी योग्यता से होता है। आहाहा! ऐसी बातें।

[**अयम् वस्तुस्वभावः उदेतितावत्**] है ? यह वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि अपने स्वभाव से विकाररूप न परिणमे परन्तु निमित्त के संग से विकाररूप परिणमे, वह अपनी योग्यता से वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है। आहाहा! समझ में आया ? इसमें से यह निकालते हैं, वस्तु का स्वभाव। देखो! यह विकार पर के कारण ही होता है, ऐसा वस्तु का स्वभाव है, ऐसा कहते हैं। ऐसा अर्थ किया। सब करते थे, तब करते थे न! यहाँ वह आया था न ? जीवन्धरजी! जीवन्धर... जीवन्धर, वह ऐसा अर्थ करे, देखो! यह दीपक रखे (इसके ऊपर) ऐसे टोपी ढांक दे। देखो! टोपी का निमित्त है, इसलिए दीपक का प्रकाश बाहर नहीं आया न ? ऐसा दृष्टान्त कहते। आहाहा!

सेठ और ऐसा कहते, ये अभी नये हैं। पहले-पहले स्थानकवासी में से आये, इसलिए इन्हें बहुत झंझोड़ना नहीं। कहा, झंझोड़ो। २००५ के वर्ष की बात है, नहीं ? २००० के वर्ष की बात है। झंझोड़ो इस बात को। एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य के कारण नहीं होती, तीन काल में नहीं होती। झंझोड़ो। यहाँ गुप्त रखने की बात नहीं है, कहा। आहाहा! और वह भी उस द्रव्य की उस पर्याय का क्रमसर है, क्रम है, उस क्रम से वह होती है। आहाहा! आड़ी-टेड़ी नहीं होती। आड़ी-टेड़ी अर्थात् क्या ? आड़ी-टेड़ी अर्थात् क्या परन्तु ? यह यहाँ हो और यह यहाँ हो अर्थात् इसका क्या अर्थ ? आहाहा! यह तो एक बार बहुत कहा था, भक्ति में से आकर एक बार बहुत वर्ष पहले (कहा), आड़ी-टेड़ी अर्थात् क्या ? आड़ी-टेड़ी वस्तु में ही नहीं है। क्रमसर एक के बाद एक जो पर्याय होती है, वह-वह क्रमसर होती है, आड़ी-टेड़ी बिल्कुल नहीं होती, आगे-पीछे नहीं होती। यह पर्याय यहाँ होनेवाली थी, वह यहाँ हुई और यहाँ होनेवाली थी, वह यहाँ हुई और यह होनेवाली थी वह यहाँ हुई, ऐसा है नहीं, कहा। आहाहा!

श्रोता : आड़ी-टेड़ी का वाच्य तो कुछ होगा न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आड़ी-टेड़ी का वाच्य यह। आड़ी-टेड़ी अर्थात् वह निमित्त है, उसके कारण बोला जाता है, बाकी आड़ी-टेड़ी बिल्कुल है नहीं। ऐसा कि आड़ी-टेड़ी भाषा है तो उसका वाच्य होगा या नहीं ? ऐसा पूछते हैं। भाषा के कारण आड़ा-टेड़ा बोला जाए, (परन्तु) वस्तु ऐसी नहीं है। आहाहा! यह मेरा पुत्र है, यह मेरा गाँव है, ऐसा बोला जाए परन्तु

उसका गाँव और पुत्र उसका है ? उसका वाच्य यह है, लो ! हमारा राजकोट। कहो ! है राजकोट इसका ? हमारा राजकोट का वाच्य क्या ? वह तो कहनेमात्र कथन है। राजकोट का रहनेवाला है, इतना जानना। राजकोट इसका कब था ? घर का मकान भी नहीं हो, किसी को मकान भी न हो तो भी किसी के (यहाँ) किराये पर रहता हो, तो भी कहे—राजकोट हमारा गाँव है, ऐसा कहे, लो ! मकान भी घर का न हो। इससे क्या ? यह तो बोलने का कथन है। आहा !

(–परद्रव्य का संग ही) है।–[**अयम् वस्तुस्वभावः उदेतितावत्**] वह विकार पर के कारण हो, यह वस्तु का स्वभाव है, ऐसा वह कहते हैं। यहाँ कहते हैं कि परसंग के कारण स्वयं करे, ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है। विकार अपनी संग से नहीं होता, पर के लक्ष्य से होता है, ऐसा ही कोई वस्तु का, पर्याय का स्वभाव है। आहाहा !

श्रोता : वाचक कर्म तो एक ही है, वाच्य दो अलग-अलग हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह एक ही वाच्य है। [**परसंगः एव**] यह एक ही वाच्य है। [**परसंगः एव**], [**पर एव**] ऐसा नहीं। ऐसा वस्तु का स्वभाव अर्थात् कि पर्याय का ऐसा स्वभाव है कि पर संग के कारण विकार अपने में होता है। अपने स्वभाव के संग के कारण विकार नहीं होता। यही वस्तु का स्वभाव है। आहाहा ! समझ में आया ? ऐसी बातें हैं। अनजाने लोग आवे तो (ऐसा कहे), हमारे धर्म करना है। परन्तु पहले समझ तो सही। धर्म क्या ? विकार कैसे होता है, इसकी खबर बिना धर्म कैसे करेगा ? विकार है, वह तेरी पर्याय में तुझसे होता है और यदि तुझे धर्म करना हो तो उस विकार की दृष्टि छोड़कर त्रिकाली ज्ञायकभाव है, उसकी दृष्टि कर तो धर्म होगा। विकार मेरी पर्याय में है, मेरे कारण से है, ऐसा लक्ष्य रखकर, उसे पश्चात् रहित होकर मेरा स्वभाव जो चिदानन्द पूर्ण है, ऐसी दृष्टि करे तो उसे सम्यग्दर्शन धर्म होता है, बाकी धर्म-बरम हो, ऐसा नहीं है। आहाहा ! समझ में आया ? ऐसी वस्तु है। बनिये को व्यापार के कारण निर्णय करने का समय नहीं मिलता। पश्चात् सिर पर जो कहा हो, वह जय नारायण करके चले। यह तो वीतरागमार्ग है, बापू ! तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर का यह मार्ग है, यह कोई ऐरे-गैरे का मार्ग नहीं है। तीन काल के तीर्थंकर और तीन काल के केवली और मुनियों की यह पुकार है कि तेरा स्वभाव शुद्ध है, उसकी यदि दृष्टि कर तो अपवित्रता नहीं होगी, परन्तु तेरा पवित्र स्वभाव है, उसकी दृष्टि छोड़कर यदि पर के संग का लक्ष्य करेगा तो तुझे अपवित्रता होगी और उसके कारण संसार में भटकना पड़ेगा। आहाहा !

श्रोता : सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाला, राग मेरा है—ऐसा विचारे या... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। राग है मुझमें, पर्याय में इतना ज्ञान रखकर...

श्रोता : वह पुद्गल का परिणाम है, ऐसा विचारे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह लक्ष्य में रखे वह। १४वीं गाथा के भावार्थ में आया है। १४वीं गाथा में। पर्याय नहीं है, अभूतार्थ है—ऐसा कहा है, परन्तु पर्याय मुझमें है, पर्याय है—ऐसा लक्ष्य करके, उसे छोड़कर, भूतार्थ का आश्रय करना। १४वीं गाथा की टीका—भावार्थ में है। है न ? यह समयसार में आता है। पर्याय अभूतार्थ है, अभूतार्थ कही है। अभूतार्थ कही अर्थात् कि है ही नहीं, ऐसा नहीं है। वह तो वस्तु जो त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप है, उसे मुख्य करके, उसे निश्चय करके, उसका आश्रय लेने के लिए उसे मुख्य वस्तु कही है और पर्याय को है तो भी गौण करके, व्यवहार कहकर 'नहीं' ऐसा कहा है; गौण करके, व्यवहार कहकर। 'नहीं' ऐसा कहा है। त्रिकाली वस्तु को मुख्य करके निश्चय कहकर, 'है' ऐसा कहा है। आहाहा! ऐसा है सब, भाई! कठिन काम। सत्य की सत्य वस्तु को समझने के लिए बहुत प्रयत्न चाहिए, भाई! आहाहा!

अनन्त काल से भटकता है, बापू! आहाहा! यहाँ अरबोंपति मनुष्य हो और आहाहा! वह भाई गये ? मीठालाल गये लगते हैं ? वे बेचारे पूछते थे। मेरे पिता कहाँ गये होंगे ? महाराज! मैंने कहा, उनके परिणाम तो बहुत प्रेम के थे। उसे बेचारे को ऐसा। वैसे करोड़पति व्यक्ति है। ऐसे कि मेरे पिताजी कहाँ गये होंगे ? मैंने कहा, भाई! उन्हें प्रेम तो बहुत था, इसलिए नरक-तिर्यंच में तो नहीं जाए। उन्हें प्रेम बहुत था। सुनने आते थे, वहाँ मुम्बई में भी रात्रि में भले बोल न सकें परन्तु सुनने में प्रेम बहुत, उत्साह बहुत और यहाँ तक कहते, उसमें आया है, काली पुस्तक में, काली छोटी, नहीं ? 'ज्ञानकला'। उसमें ऐसा आया, उन्होंने स्वयं लिखा है कि सोनगढ़ भव के अभाव का कारखाना है। भव का अभाव करने का कारखाना सोनगढ़ है, ऐसा बोलते थे। वे बेचारे पहले से बोलते थे, हों! बहुत वर्ष पहले। नहीं तो वे स्थानकवासी थे। यह भभूतमल मन्दिरमार्गी है। उन्होंने चार लाख डाले थे न वहाँ ? बैंगलोर। आठ लाख इनके और चार लाख उनके। तो भी बेचारा नरम व्यक्ति था और प्रेम। ऐसे शरीर ठीक न हो तो भी सुनने रात्रि में आवे सवेरे, दोपहर आवे और रात्रि में आते थे, वहाँ मुम्बई हमेशा सुनने (आते थे)। यह बात सुने और जिसके भाव ऐसे रहें, वह नरक और तिर्यंच में नहीं जाता। संस्कार पड़कर जाए, वह तो या मनुष्य (में) जाए और या स्वर्ग में ही जाए। यह चीज़ ऐसी परम सत्य है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **(सदा वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है, इसे किसी ने बनाया नहीं है।)** आहाहा!

ऐसे वस्तुस्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी... देखो! है? क्या कहते हैं कि मेरा स्वरूप रागरहित है, ऐसा जानता हुआ राग होता है, उसका कर्ता नहीं होता। **ऐसे वस्तुस्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी रागादि को निजरूप नहीं करता...** देखा! अपनी पर्याय में योग्यता से भले (राग) हो तो भी वह राग मेरा है, ऐसा वह नहीं मानता। आहाहा! है? **वस्तुस्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी रागादि को...** अर्थात् इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि राग कर्म कराता है, ऐसा यहाँ नहीं है, परन्तु रागादिक परसंग के कारण मेरी पर्याय में होते (हैं, वह) मेरा स्वभाव नहीं है। ऐसे वस्तु के स्वभाव को जानता हुआ राग-द्वेष आदि का कर्ता नहीं होता, उसका स्वामी नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? पर्यायबुद्धि छुड़ाई।

श्रोता : किया करे और स्वामी नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह स्वामी नहीं है। पर्यायबुद्धि छूट गयी है, इसलिए उसका स्वामी नहीं है, उसका ज्ञाता है।

श्रोता : ज्ञाता है तो कर्ता कौन है?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करे? करता नहीं। होता है, उसे जानता है।

श्रोता : कर्म तो राग करता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म भी करता नहीं और इसने भी किया नहीं। हुआ है, उसे जानता है। पर्याय में स्वतंत्र हुआ है, उसे द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से जानता है।

श्रोता : कार्य है तो कारण कौन?

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई कारण-फारण नहीं है। स्वयं कारण और स्वयं कार्य। ऐसा है यहाँ तो। विकार के परिणाम स्वयं ही कारण और स्वयं ही कार्य। षट्कारक में आया नहीं? कर्ता, कर्म... कर्म अर्थात् कार्य, कार्य स्वयं और कर्ता भी स्वयं, करण स्वयं और सम्प्रदान स्वयं और अपादान स्वयं और आधार भी स्वयं। आहाहा! इसमें कुछ अन्तर पड़े, ऐसा नहीं है। आहाहा!

श्रोता : ... कारण-कार्य में ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कारण-कार्य नहीं। पर्याय कारण और पर्याय कार्य।

श्रोता : तो अकेली पर्याय की बात है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, पर्याय की। द्रव्यदृष्टि हुई, इसलिए वह जो कार्य हुआ है, उसका कर्ता नहीं है।

श्रोता : उसका कर्ता कौन ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्ता कोई नहीं। वह उसकी कर्ता वह। उसका भी जाननेवाला है। पर्याय का कर्ता पर्याय, उसका यह द्रव्यदृष्टिवाला जाननेवाला है। पर्यायबुद्धि गयी है न! ऐसी बात है, भाई! आहाहा! वीतरागमार्ग... अनन्त-अनन्त काल हुआ। आहाहा! चौरासी के अवतार कर-करके कहाँ नरक और कहाँ निगोद... ओहोहो! कहाँ जंगल में बाघ और भालू और बिच्छु और नाग... आहाहा! ऐसे अवतार करके वापस मरकर नरक में जाए। आहाहा! ऐसे अनन्त-अनन्त अवतार किये। यह दृष्टि—पर्यायबुद्धि, राग और पुण्य तथा पाप मेरे (मानने के कारण से किये हैं)। पर्याय में है, उसे बराबर जाने परन्तु मेरे, वह मेरा स्वभाव नहीं है। होता है मेरी पर्याय में मुझसे, परन्तु पर्यायबुद्धि जहाँ उड़ गयी है, (वहाँ उनका स्वामी नहीं होता)। आहाहा!

यहाँ तो ऐसा कहा है, पर्यायबुद्धि गयी है, वह तो दूसरे आत्माओं को भी परमात्मस्वरूप देखता है। सब भगवान चैतन्यस्वरूप हैं, विराजते हैं। क्योंकि अपनी पर्यायबुद्धि गयी, इसलिए दूसरे की पर्याय को न देखकर उनका स्वरूप जो है, सच्चिदानन्द परमात्मा शुद्ध आनन्द का नाथ सब भगवानस्वरूप विराजते हैं, द्रव्यदृष्टि से भगवान है, (ऐसा देखता है)। आहाहा! यह आया नहीं? कहा नहीं अपाय में? अपायविचय में। आहाहा! समकिती धर्मध्यान के अपायविचार में ऐसा विचार करता है कि मैं भी अल्प काल में मुक्ति को प्राप्त करनेवाला हूँ परन्तु यह सब जीव मुक्ति को पाओ, आनन्द को पाओ—ऐसी मेरी भावना है, कहते हैं। मेरी पवित्र भावना तो यह है। आहाहा! है न? द्रव्यसंग्रह में बताया था। द्रव्यसंग्रह में है। आहाहा!

वहाँ एक ओर ऐसा भी कहा, मुनि भावलिंगी सन्त हैं, अरागी वीतरागदृष्टि है। आहाहा! जिन्हें वीतरागतुल्य भी कहा, अरे! नियमसार कलश में वीतराग जैसे कहा। उन्हें भी प्रमत्तदशा में कोई स्वप्न आ जाए तो दुःस्वप्न भी आ जाए, तो भी उसके वे ज्ञाता और दृष्टा हैं, उसके कर्ता नहीं। आहाहा! मुनि भावलिंगी अनन्त आनन्द उछल गया जहाँ, पर्याय में आनन्द का ज्वार आया है। जैसे समुद्र के किनारे ज्वार आता है, वैसे आनन्दस्वरूपी भगवान, अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान की मूर्ति का जहाँ आश्रय लिया है, इसलिए पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का ज्वार आता है। उन्हें भी कोई निद्रा आ जाए तो कहते हैं कि स्वप्न में दुःस्वप्न आ जाए। आहाहा! यह द्रव्यसंग्रह में कहा है। प्रमाद है न? परन्तु वह आकर खिर जाता है। निर्जरा अधिकार में आया है न? भाई! सुख-दुःख होकर खिर जाता है। दूसरी गाथा में (कहा है)।

पहली गाथा में द्रव्यनिर्जरा, दूसरी गाथा में भावनिर्जरा। ज्ञानी को कर्म का साता-असाता का विपाक आवे अर्थात् सुख-दुःख तो हो, पर्याय में होता है, ऐसा लिया है ज्ञानी को, परन्तु वह खिर जाता है। आहाहा! निर्जरा की दूसरी गाथा है। आहाहा!

आत्मा अनन्त आनन्दस्वरूप प्रभु की पर्याय में रागादि भले हो... आहाहा! परन्तु दृष्टि जहाँ द्रव्य और स्वभाव पर होने से उस राग को वह स्वामी नहीं होता। आहाहा! अपनी पर्याय से होता है, अपने से होता है, ऐसा मानने पर भी वस्तु की दृष्टि की अपेक्षा से, वह मेरा स्वरूप नहीं है। आहाहा! ऐसा जानता हुआ उसका स्वामी और कर्ता नहीं होता। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं **'ऐसे वस्तुस्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी रागादि को निजरूप नहीं करता'**... देखा? रागादि होते हैं, अपनी पर्याय की कमजोरी के कारण... आहाहा! तथापि उसे अपना नहीं करता। वस्तु स्वभाव की दृष्टि से देखने पर वह विकार रागादि दया, दान के परिणाम आवे परन्तु धर्मी उन्हें अपना नहीं मानता, उनका स्वामी नहीं होता। आहाहा! शुद्ध चिदानन्दघन जहाँ स्वामीपने आया, पूर्णानन्द का जहाँ स्वामी हुआ, वह रंक का स्वामी (पना) कौन करे? आहाहा! **निजरूप नहीं करता' इस अर्थ का, तथा आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं:-**

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः ।।१७६।।

आहाहा! [**इति स्वं वस्तुस्वभावं ज्ञानी जानाति**] अर्थात्? भगवान आत्मा तो शुद्ध चैतन्यघन परम अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है, ऐसा धर्मी जानता है। ऐसा जानते हुए स्व को ज्ञानी जानता है। [**तेन सः रागादीन् आत्मनः न कुर्यात्**] **इसलिए वह रागादि को निजरूप नहीं करता,...** वह राग मेरा स्वभाव है, ऐसा वह नहीं मानता। वह मेरा स्वरूप नहीं, वह विकृत है, वह मेरी चीज़ नहीं। आहाहा! अपनी पर्याय में अपने से होने पर भी द्रव्यस्वभाव की दृष्टि की अपेक्षा से उसका वह स्वामी नहीं होता। ऐसी बात है, भाई! है? इसलिए वह राग-द्वेष को नहीं करता, अपने नहीं करता।

अतः वह (रागादि का) कर्ता नहीं है। इस कारण से राग-द्वेष का कर्ता ज्ञानी—धर्मी नहीं है। जिसे सच्चिदानन्द प्रभु! अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान का सागर जहाँ नजर में आया, ऐसा जो आत्मा, उसे कर्म बेचारे कौन? रागादि भी कौन? वह मेरा कर्तव्य नहीं है, ऐसी दृष्टि में उसका कारक नहीं होता। (विशेष कहेंगे....) (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

८

श्री समयसार, श्लोक - २७०-२७१, प्रवचन - ५७७
दिनांक - २४-०७-१९६८

२७० कलश है। क्या कहते हैं ? **अनेक प्रकार की निज शक्तियों का समुदायमय यह आत्मा...** कैसा आत्मा दृष्टि में लेने से इसे सम्यग्दर्शन और अनुभव होगा ? आत्मा किस प्रकार से दृष्टि में लेने से इसे धर्म होगा ? यह व्याख्या है। समझ में आया ? तो कहते हैं कि आत्मा में अनेक प्रकार की निज शक्तियाँ, अपनी शक्तियों के समुदायमय। शरीर, वाणी, मन तो पर है। उन्हें कुछ जानना ? उन्होंने आत्मा को जाना नहीं। इसलिए कहते हैं कि जानने में आवे, ऐसा आत्मा कैसे ज्ञात हो ? तो उस आत्मा में जो अनन्त शक्तियाँ हैं, निज-निज—ऐसा शब्द प्रयोग किया है न ? अपनी शक्ति ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि सत्व, सत्व शक्तियाँ हैं, उनका समुदायमय, उनका पूरा समुदाय, वह यह आत्मा।

यह आत्मा नयों की दृष्टि से... एक-एक शक्ति को एक-एक ज्ञान के नय से देखें तो कहते हैं कि **खण्ड-खण्डरूप किये जाने पर तत्काल नाश को प्राप्त होता है;...** देखो! इस आत्मा को रागवाला, कर्मवाला, राग-उपाधिवाला देखना, वह तो वस्तु में है नहीं। है इसमें ? २७० कलश। २७० कलश। यह ऊपर, समझ में आया इसमें ? यह श्लोक नहीं, उसका अर्थ चलता है। अर्थ चलता है न अपने ? कहो, समझ में आया इसमें ? **अनेक प्रकार की निज शक्तियों का समुदाय...** अब यहाँ तो कहते हैं कि जिसे आत्मा का अनुभव करना हो, जिसे धर्म करना हो, उसे शरीरवाला हूँ या रागवाला हूँ या कर्मवाला हूँ, यह बात तो छोड़ देना। क्योंकि इन वाला है ही नहीं। समझ में आया ? मैं रागवाला हूँ, पुण्य के परिणामवाला हूँ, पुण्य के भाववाला हूँ, यह तो है ही नहीं, यह आत्मा ऐसा है ही नहीं; इसलिए इस प्रकार से तो आत्मा जानने में नहीं आता। परन्तु आत्मा अनन्त शक्तिवाला है। समझ में आया ? पुण्य, पाप परिणाम दया, दान, व्रत, भक्ति परिणाम, इन वाला तो आत्मा है ही नहीं। इसलिए इन वाला देखने से तो आत्मा की दृष्टि सच्ची होती नहीं। परन्तु यह तो अनन्त शक्तिवाला है।

भगवान आत्मा ज्ञान, दर्शन, आनन्द, अस्तित्व, जीवत्व... कल कहा था न ? ऐसी शक्ति

के समुदायमय है। तथापि **नयों की दृष्टि से खण्ड-खण्डरूप किये जाने पर...** एक-एक शक्ति को एक-एक ज्ञान के अंश से देखें तो आत्मा की प्रतीति नहीं होती। खण्ड-खण्ड होकर राग की उत्पत्ति होती है। एक-एक गुण की अस्ति तो अनन्त है, परन्तु एक-एक गुण को एक-एक नय से देखने पर आत्मा की प्रतीति नहीं होने से मिथ्यात्वभाव और खण्ड-खण्ड भाव उत्पन्न होता है। क्या कहा, समझ में आया? आहाहा!

खण्ड-खण्डरूप किये जाने पर तत्काल नाश को प्राप्त होता है;... अर्थात् कि आत्मा की श्रद्धा नहीं होती, अपितु मिथ्यात्व उत्पन्न होता है। एक-एक नय से देखने पर खण्ड-खण्ड मिथ्यादृष्टिपना होता है क्योंकि वस्तु अखण्ड अभेद है, उसे देखना आता नहीं। आहाहा! समझ में आया? **इसलिए...** एक-एक शक्ति को एक-एक नय से-ज्ञान के अंश से देखें तो वस्तु अभेददृष्टि में न आने से मिथ्यात्वभाव होकर राग की उत्पत्ति होती है। क्योंकि उसमें वास्तविक तत्त्व की श्रद्धा नहीं आयी। समझ में आया? आहाहा! देखो न! अन्तिम कलश कैसे रखे हैं!

इसलिए... इस कारण से। इस कारण से अर्थात्? कि वस्तु की अनन्त शक्तियों का समुदाय होने पर एक-एक शक्ति को देखने से वह उसमें राग की उत्पत्ति होकर आत्मा की सच्ची प्रतीति नहीं होती। मिथ्या प्रतीति भेद से होती है। समझ में आया? **इसलिए मैं...** इसलिए सम्यग्दृष्टि धर्मी ऐसा विचार करता है कि... कहो, समझ में आया? एक मण्डूक-मेंढ़क होवे और सम्यग्दर्शन प्राप्त करे तो उसकी यह पद्धति है। स्त्री का आत्मा शरीर का कहलाता है, शरीर तो है नहीं, उसका आत्मा जो सम्यग्दर्शन प्राप्त करे तो यह विधि है। **मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि जिसमें से खण्डों को निराकृत नहीं किया जाता है...** उसमें संख्या से अनन्त शक्ति है। ज्ञान, दर्शन, आनन्द ऐसी संख्या से अनन्त है। हो, उसे हम निराकृत नहीं करते, अस्वीकृत नहीं करते। है न? अमान्य नहीं करते, बहिष्कृत नहीं करते कि अनन्त शक्तियाँ अनन्त संख्या से नहीं है, ऐसा हम नहीं कहते। समझ में आया? **तथापि जो अखण्ड है,...** वस्तुरूप से जो अखण्ड है, उस पर हमारी दृष्टि है। समझ में आया? अरे रे! धर्म प्राप्त करने की यह विधि। ऐसी अनन्त शक्तियोंवाला होने पर भी, निषेध नहीं करते कि उसमें अनन्त शक्तियाँ संख्या से नहीं हैं, तथापि वस्तुरूप से वह अखण्ड है—ऐसी दृष्टि हो, तब उसे सम्यग्दर्शन होता है। समझ में आया? **अखण्ड है,...** चार विशेषण प्रयोग करते हैं। अखण्ड है, वस्तुरूप से अभेद एकरूप ध्रुव। ध्रुव पर दृष्टि देने से वह अखण्ड है, एक है। शक्तियाँ अनन्त हैं, तथापि वह वस्तुरूप से एक है। समझ में आया?

श्रोता : अनेक...

पूज्य गुरुदेवश्री : अनेक शक्तियाँ... वस्तु एक है न! यह तो भाई! अलग प्रकार की पद्धति है। अनन्त काल से इसने सुनी नहीं। इसकी अन्तर यह चीज़ क्या है, उसे सुनकर इसने कभी निर्णय किया ही नहीं।

कहते हैं कि अनन्त शक्तियाँ होने पर भी... वह तो इसमें है ही नहीं—उदयभाव, राग, संसार, शरीर, वह तो है ही नहीं। यह तो है। है, भले हो। उसे हम अस्वीकार नहीं करते, तथापि वस्तुरूप से अखण्ड है, उस पर दृष्टि देने से आत्मा की सच्ची प्रतीति और सम्यग्दर्शन होता है। कहो, पोपटभाई! आहाहा! स्त्रीवाला, पुत्रवाला, पैसावाला, यह तो कहाँ रहा?

श्रोता : कहाँ गया?

पूज्य गुरुदेवश्री : भटकने में। यह मिथ्यात्वभाव में गया। समझ में आया? क्योंकि इन वाला है नहीं। यहाँ तो कहते हैं कि अनन्त शक्तिवाला है। संख्या से अनन्त शक्तिवाला त्रिकाली है, तथापि अनन्त शक्ति के अनन्त भेद पर दृष्टि देने से राग की ही उत्पत्ति होती है। उसमें आत्मा अखण्ड प्रतीति में नहीं आता। आहाहा! देखो! यह धर्म की पद्धति। समझ में आया?

भगवान आत्मा वस्तुरूप से अखण्ड है। शक्तियाँ खण्ड-खण्ड अर्थात् अनन्त होने पर भी वस्तु अखण्ड और एक है। अनेक शक्तियों के खण्ड-खण्ड न करके अखण्ड है। और अनन्त शक्तियाँ (होने) पर भी वस्तुरूप से एक है। **एकान्त शान्त है...** आहाहा! देखो! खण्ड-खण्ड करने से विकल्प और अशान्ति उत्पन्न होती थी। प्रभु आत्मा एकान्त, एकान्त शान्त। देखो! यह एकान्त शान्त। इसमें अनेकान्त नहीं होता। एकान्त शान्त-शान्त। समरसी, वीतरागभावस्वरूप एकान्त शान्तस्वरूप है। खण्ड-खण्ड अनेक... भिन्न करने से विकल्प उठते हैं तो अशान्ति उत्पन्न होती है। समझ में आया? आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं, उन्हें एक-एक को भिन्न करने से, लक्ष्य में लेने से तो अशान्ति-राग की उत्पत्ति होती है, अशान्ति उत्पन्न होती है। वस्तु एकान्त शान्त है। अन्तर में अकषायभाव, ऐसा वीतरागभाव एकान्त... एक ही वीतरागभाव से भरपूर आत्मा है। कहो, समझ में आया इसमें?

एकान्त शान्त है (अर्थात् जिसमें कर्मोदय का लेशमात्र भी नहीं है...) लो! राग का अंश भी जिसमें नहीं। ऐसा वीतरागभाव, समरसभाव, एकान्त शान्त... शान्त... शान्त... है। चौथा विशेषण अचल है। **(अर्थात् कर्मोदय से चलायमान च्युत नहीं होता)...** चाहे जैसा कर्म का प्रकार आवे, (वह) चलित (नहीं होता)। द्रव्य वस्तु है, अखण्ड अचल है, उसे

चलना क्या ? ऐसे चार विशेषण करके आत्मा की एकता को सिद्ध किया है। ऐसा आत्मा, भगवान आत्मा अनन्त शक्तियों से खण्ड-खण्ड होने पर... वस्तु अखण्ड है। अनन्त शक्तियाँ अनन्त होने पर भी वस्तु एक है। अनन्त शक्तियों को लक्ष्य में भिन्न-भिन्न लेने से राग उत्पन्न होता है, वस्तु एकान्त शान्त है और राग की उत्पत्ति होने पर चलपना होता है, वस्तु अचल है। समझ में आया ?

मनुष्य जब पकवान बनावे, उसकी विधि जाने या नहीं पहले ? कि किस प्रकार बनाना ? पकवान बनावे, तब विधि जाने न कि भाई ! पहले देखो ! इस घी में आटा सेंकना, पश्चात् शक्कर का पानी डालना। ऐसी विधि सीखे या समझे या नहीं ? या विधि समझे बिना बनाता होगा। शीरा समझते हो ? हलुवा। शीरा-शीरा। हलुवा नहीं होता ? हमारे गुजराती में शीरा कहते हैं। पहले आटे को घी में सेंके फिर गुड़ या शक्कर का पानी डाले। ऐसी विधि सीखे न। विधि सीखे बिना ऐसा का ऐसा हलुवा बनाने लगे ? इसी प्रकार आत्मा को समझने की यह विधि है। सम्यग्दर्शन प्रगट करने की यह विधि है। समझ में आया ?

चार विशेषण दिये। आहाहा ! अखण्ड है, एक है, अनेक एकान्त शान्त है और अचल है। **ऐसा चैतन्यमात्र...** ऐसा चैतन्यमात्र **वही मैं हूँ।** ऐसी अन्तर्दृष्टि करना, अनुभव करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। कहो, जेठालालभाई ! आहाहा ! लोगों को बेचारों को कहीं भरा दिया। यह करो, यात्रा करो, पूजा करो, भक्ति करो, पाँच लाख-दो लाख लोगों का लश्कर निकालो। जाओ चढ़ो सम्मेदशिखर और चढ़ो शत्रुंजय। यह नहीं कहते हैं। यह सब सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि ही नहीं है। पोपटभाई !

यहाँ तो कहते हैं, भगवान आत्मा वस्तु एक और शक्ति अनन्त। अनन्त काल रहे, ऐसा नहीं, हों ! अनन्त काल रहे, वह तो उसकी स्थिति काल की मर्यादा है। यह तो संख्या की मर्यादा अनन्त है। वस्तु एक और शक्ति अनन्त। तथापि अनन्त को देखने पर, भेद डालकर देखने पर राग की उत्पत्ति होकर खण्ड-खण्ड होता है, अखण्ड आत्मा प्रतीति में नहीं आता। खण्ड-खण्ड होने पर मिथ्यात्वभाव होता है। आहाहा ! समझ में आया ? **ऐसा चैतन्यमात्र तेज मैं हूँ।** ऐसी अन्तर में दृष्टि करना, अन्तर्मुख में इस प्रकार से प्रतीति करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन—धर्म की पहली शुरुआत है। समझ में आया ?

भावार्थ :- आत्मा में... भगवान आत्मा में **अनेक शक्तियाँ हैं...** ओहोहो ! सम्पदा, वह भी कितनी ! यहाँ तो करोड़, दो करोड़, पाँच करोड़, पचास करोड़, अरब, या चक्रवर्ती के राज की गिनती, नवनिधान, सोलह हजार देव, छियानवें हजार स्त्रियाँ...

श्रोता : सब मर्यादित।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब मर्यादित। वापस सब धूल की बात। यहाँ तो इससे अनन्त... अनन्त... अनन्तगुणी ऐसी शक्तियों का भण्डार भगवान है, तथापि ऐसे भेद पर दृष्टि नहीं करना, कहते हैं। आहाहा! अन्तिम श्लोक ऐसे लिये हैं न! ... स्थिति है न।

और एक-एक शक्ति का ग्राहक एक-एक नय है;... ज्ञान का एक अंश एक शक्ति को जानता है। यह तो खण्ड-खण्ड हो गया। **इसलिए यदि नयों की एकान्त दृष्टि से देखा जाए...** नय के एक पक्ष से एक-एक शक्ति को देखा जाए। **तो आत्मा का खण्ड-खण्ड होकर उसका नाश हो जाए...** अर्थात् आत्मा एकरूप दृष्टि में आवे नहीं। आत्मा का नाश हो जाए (अर्थात्) यह। वस्तु तो वस्तु है। श्रद्धा में उसका-आत्मा का नाश हो जाए। वैसे एक गुणवाला मानने से, एक ही गुण पर लक्ष्य रखने से अनन्त गुण का एकरूप तो दृष्टि में आया नहीं। इसलिए उसकी श्रद्धा में मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है। इसलिए आत्मा एकरूप श्रद्धा में नहीं रहता। खण्ड-खण्ड श्रद्धा में आता है, इसलिए मिथ्यात्वरूपी श्रद्धा होती है, ऐसा कहते हैं। ओहोहो! समझ में आया?

ऐसा होने से स्याद्वादी,... अपेक्षाओं का जाननेवाला, वास्तविक तत्त्व को अपेक्षित करके जाननेवाला **नयों का विरोध दूर करके...** कहते हैं कि भले एक-एक गुण को देखने से एक-एक नय जाने, भले हो, परन्तु अब मुझे तो एकरूप देखना है। यह भी वस्तु हो, उसका ज्ञान हो भले। परन्तु तो भी वह ज्ञान ऐसा नहीं करके-देखने से अखण्ड और अभेद है। इस प्रकार स्याद्वादी नयों का परस्पर विरोध दूर करता है। समझ में आया? **नयों का विरोध दूर करके चैतन्यमात्र वस्तु को...** भगवान आत्मा जाननेवाला, देखनेवाला आदि... वस्तु ली है न! चैतन्य।

अनेक शक्तिसमूहरूप,... अनेक गुणों के पिण्डरूप, अनेक गुण के समूहरूप **सामान्यविशेषरूप,...** ध्रुवरूप सामान्य और गुणादि के भेद से विशेष। वस्तुरूप से सामान्य और गुणभेदरूप से विशेष भले हो, ऐसा जाने। अनन्त शक्तियाँ हैं, यह विशेषपना हुआ। एकरूप आत्मा, यह सामान्यपना हुआ। समझ में आया? अरे! ऐसी धर्म की पद्धति। वह तो ऐसे धमाल... धमाल करो... ऐसे करो, मरो ऐसे... आठ अपवास करो। ऐई! पोपटभाई! आहाहा! शान्त हो न भगवान! तेरे समीप में तुझे जाना है या तुझसे दूर तुझे वर्तना है? यह सब विकल्प दूर वर्तने के हैं। समीप जाने का तो यह रास्ता है।

सर्व शक्तिमय... सामान्यविशेषरूप,... अर्थात् ध्रुव और गुणभेद। **सर्व शक्तिमय एक ज्ञानमात्र अनुभव करता है।** एक ही ज्ञान हूँ, अभेद हूँ—ऐसा अनुभव करना, इसका नाम भगवान आत्मा को जाननेवाला, आत्मा को अनुभव करनेवाला, धर्म करनेवाला उसे कहा जाता है। समझ में आया? अब इसमें व्यवहार-व्यवहार की कुछ मदद मिलती है या नहीं? लोग यह शोर मचाते हैं। नहीं? परन्तु यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा करें, उनकी कुछ धर्म में मदद है या नहीं? कहते हैं कि नहीं। उनकी बात तो है ही कहाँ? परन्तु इसमें है, ऐसी अनन्त शक्ति को भेद से देखो तो भी अभेद के लिये मददगार नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

सर्व शक्तिमय एक ज्ञानमात्र अनुभव करता है। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है,... ऐसा वस्तु का स्वरूप है। कहीं भगवान ने कहा, इसलिए किया है—ऐसा है? भगवान तो... हैं। ऐसा कहा है (और) ऐसा है। समझ में आया? आहाहा! भगवान चैतन्यस्वरूप अखण्ड एक एकान्त शान्त अचलरूप, उसे दृष्टि में लेने से उसे सम्यग्दर्शन ज्ञान और शान्ति होती है। **ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है, इसमें विरोध नहीं है।** उसमें कोई विरोध नहीं कि यह व्यवहार से नहीं होता, इसलिए एकान्त हो जाता है; निमित्त से नहीं होता, इसलिए एकान्त हो जाता है। ऐसे अनन्त गुण हैं और भेद से देखने से नहीं होता, इसलिए एकान्त हो जाता है—ऐसा नहीं है। **इसमें विरोध नहीं है।** आहाहा! समझ में आया? यह श्लोक २७० (पूरा) हुआ।

अब, ज्ञानी अखण्ड आत्मा का ऐसा अनुभव करता है, इस प्रकार आचार्यदेव गद्य में कहते हैं- 'न द्रव्येण खण्डयामि, न क्षेत्रेण खण्डयामि, न कालेन खण्डयामि, न भावेन खण्डयामि; सुविशुद्ध एको ज्ञानमात्रो भावोऽस्मि।' ओहोहो! रचना तो कोई रचना...! अब **(ज्ञानी शुद्धनय का आलम्बन लेकर ऐसा अनुभव करता है कि-)...** शुद्धनय अर्थात्? आत्मा को अभेद देखने की जो दृष्टि है, उस शुद्धनय के आश्रय की जो वस्तु है, उसे अनुभव करता है—ऐसा कहते हैं। धर्मी ऐसा अनुभव करता है कि **मैं अपने को अर्थात् मेरे शुद्धात्मस्वरूप को न तो द्रव्य से खण्डित करता हूँ,...** अकेला द्रव्यमात्र हूँ, इससे क्षेत्रमात्र आदि नहीं, ऐसा नहीं है, द्रव्य से खण्डित नहीं करता। अखण्ड द्रव्यमात्र हूँ। द्रव्य से देखो तो अखण्ड है।

मैं अपने को अर्थात् मेरे शुद्धात्मस्वरूप को न तो द्रव्य से खण्डित करता हूँ,... अर्थात् एक द्रव्य भाग है, एक ही क्षेत्र भाग अलग है, एक काल भाग अलग है, भाव भाग अलग है—ऐसा नहीं। समझ में आया? यह गुठली का दृष्टान्त दिया था न अभी? आम का। आम-आम। आम में चार भाग है। एक है वह छिलका—ऊपर की छाल, गुठली, एक रेशा-रेशा-

जाली, रेशा और एक रस। रस, रेशा, गुठली, और छिलका। ऐसा आत्मा है ? —कि नहीं, ऐसा आत्मा नहीं है। आम में चार... केरी समझते हो ? आम। उसमें चार भाग पाड़ो तो एक ऊपर की छाल, एक गुठली, एक रेशा और रस है। आम का ऐसा स्वरूप नहीं है। उसी प्रकार आत्मा में ऐसे भाग करे, ऐसा स्वरूप नहीं है। एक भाग द्रव्य का, एक भाग क्षेत्र का, एक भाग काल का और एक भाग भाव का, ऐसा नहीं है। परन्तु आम में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श से देखो... पीले रंग से देखो तो पीलामात्र आम है; रसमात्र से देखो तो रसमात्र आम है; गन्धमात्र से देखो तो गन्धमात्र आम है, स्पर्शमात्र से देखो तो स्पर्शमात्र आम है। अभेद है। समझ में आया ?

आम के चार भाग... पहले आम इस प्रकार से देखो तो आम अखण्ड है ही नहीं। चार अलग-अलग भाग पड़ जाए परन्तु आम को उसके वर्ण से, रंग से देखो। रंग-रंग, रंग से देखो तो वह रंगमय ही आम है। रंग का भाग कोई अलग है, गन्ध का कोई अलग है, रस का कोई अलग है और स्पर्श का कोई अलग है—ऐसा है नहीं। समझ में आया ? यह तो वर्ण कहो तो पीला भम्मर जैसा... क्या कहते हैं तुम्हारे ? हिन्दी में भम्मर नहीं कहते होंगे। हमारे यहाँ काठियावाड़ में पीली भम्मर जैसी कहते हैं। यह इसे खबर नहीं होगी। वह हल्दी जैसा नहीं होता। हल्दी जैसी नहीं होती। पीली भम्मर जैसी। अपने शब्द के साथ मिलान खाना चाहिए न! पीली और वापस छिलका जरा ऐसा हो गया हो। करचली पड़ गयी हो। पीली केसर है। रस से देखो तो पूरा रसमय आम है। स्पर्श से देखो तो स्पर्शमय और गन्ध से देखो तो सुगन्धमय है, सुगन्धमय ही आम है। इसी प्रकार आत्मा द्रव्य से कुछ अलग है, क्षेत्र से कुछ अलग है, काल से कुछ अलग और भाव से अलग—ऐसा नहीं है। द्रव्य से देखो तो भी कहते हैं, शुद्धात्मा को खण्डित नहीं करता। द्रव्य से वस्तु एक अखण्ड है। समझ में आया ? द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आत्मा में है तो उनके कुछ अन्दर में चार भाग नहीं हैं।

मैं अपने को अर्थात् मेरे शुद्धात्मस्वरूप को न तो द्रव्य से खण्डित करता हूँ,... अर्थात् द्रव्य का एक भाग अलग करता हूँ, ऐसा नहीं है। वह तो द्रव्य तो एक ही है। **न क्षेत्र से खण्डित करता हूँ,...** अर्थात् क्षेत्र असंख्य प्रदेशी आत्मा, वह क्षेत्र कोई अलग है और द्रव्य कोई अलग है—ऐसा नहीं है। क्षेत्र से देखो तो असंख्य प्रदेशी एक है। द्रव्य से देखो तो वस्तु एक है। समझ में आया ? आहाहा! द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के भेद कर डाले। वहाँ शक्तियों के भेद निकाले, यहाँ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के भेद के निकाले। समझ में आया ? तत्त्व के यह ऊँचे में ऊँचे श्लोक हैं। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का भेद नहीं। द्रव्य तो वह, क्षेत्र तो वह, काल तो वह और भाव भी वह।

मैं अपने को अर्थात् मेरे... मुझे अर्थात् **मेरे शुद्धात्मस्वरूप को... मैं अपने को अर्थात् मेरे शुद्धात्मस्वरूप को न तो द्रव्य से खण्डित करता हूँ,...** कि द्रव्य का एक भाग कोई आत्मा में अलग है, उसका भेद नहीं करता। **न क्षेत्र से खण्डित करता हूँ,...** असंख्य प्रदेश क्षेत्र कोई अलग है और द्रव्य कोई अलग है, ऐसा नहीं है। असंख्य प्रदेशी वस्तु तो एक की एक ही है। समझ में आया? **न क्षेत्र से खण्डित करता हूँ,...** अर्थात्? उसका क्षेत्र अलग भाग है और द्रव्य का अलग भाग है, ऐसा है नहीं। क्षेत्र से देखो तो भी अखण्ड है, द्रव्य से देखो तो भी वह का वही है।

न काल से खण्डित करता हूँ... काल की एक समय की अवस्था भिन्न है, ऐसा नहीं है। काल का स्वरूप अलग है, क्षेत्र का अलग है, द्रव्य का अलग है। ऐसे आम के आम में वे चार भाग पड़े ऐसे, ऐसे नहीं हैं। आहाहा! गजब बात, भाई! द्रव्य से देखो तो अनन्त गुण का पिण्ड एक शुद्धात्मा ही हूँ। क्षेत्र से देखो तो वह का वह असंख्य प्रदेशी क्षेत्र एक ही हूँ। काल से देखो तो त्रिकाल रहनेवाला सत्व एकरूप सदृश एक ही हूँ। काल का भाव अलग है और क्षेत्र का अलग है, ऐसा है नहीं। समझ में आया? और **न भाव से खण्डित करता हूँ;...** लो! उसके अनन्त गुण हैं, वह भाव। वह भाव तो वह की वह वस्तु है। अनन्त भावरूप तो वह की वह चीज़ है, क्षेत्र से भी वह की वह चीज़ है, द्रव्य से भी वह की वह चीज़ है और काल से भी वह की वह चीज़ है। समझ में आया इसमें? भाई! कहो, उसमें द्रव्य से तो इतने पैसे, क्षेत्र से इतने मकान, काल से इतने काल से है हमारे पास और भाव से इतनी कीमतवाले। कहो, इसमें ऐसे भाग होंगे?—नहीं।

श्रोता : भाव से मालिक....

पूज्य गुरुदेवश्री : मालिक नहीं, भाव से इतने भाववाला। माल इतना पड़ा हो न? इतने भाववाला होता है न? इसने कल्पित किया है न, वहाँ कहाँ भाव है? उसका भाव तो उसके पास है। सोना होवे तो जो भाव है, वह है। सौ रुपये का तोला, दो सौ रुपये का तोला। यह तो कल्पित किया है न! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, भगवान आत्मा, ओहो! कहाँ तक ले गये! ऐसा कहते हैं, मेरे आत्मा को अनुभवने में नहीं मैं राग को मिलाता, नहीं मैं निमित्त को साथ लाता, नहीं अनन्त शक्ति के भेद से लक्ष्य में लेता परन्तु यहाँ तो कहते हैं द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के चार भाग करके लक्ष्य में लेता, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! चार लाईन... समझ में आया? बापू! यह तो अन्तर के घर

की महिमा है। यह कोई साधारण बात नहीं है, यह कथा नहीं है। यह तो अमृत के प्रवाह की बातें हैं। आहाहा!

भगवान आत्मा में अमृत कब झरे? अमृत अनेकान्त का अनुभव कब हो?—कि वह द्रव्य से, क्षेत्र से, काल और भाव से चार भेद जिसमें नहीं है। समझ में आया? द्रव्य से देखो तो भी एक, वस्तु से देखो तो एक, क्षेत्र से देखो तो वह का वह क्षेत्र। द्रव्य का भाग अलग और क्षेत्र का भाग अलग, ऐसा है? आम में चार अलग हैं, कहे न? जाली अर्थात् रेशा, रस, गुठली और ऊपर की छाल। आम की छाल ऊपर की। ऊपर की छाल—छिलका। छिलका अपने नहीं कहते। छाल कहते हैं। छाल-छाल। ऊपर की छाल होती है न? पीली और लाल। गुठली, रस, ऊपर के छिलके। छोंतरु, उसे छोंतरु कहते हैं। ऊपर के भाग को छोंतरु कहते हैं, इतने भाग को गुठली कहते हैं। रेशा, रेशा-रेशा यह नहीं कहते? भाई! इस आम में रेशे बहुत। ...करते हैं न आम का उसमें-कपड़े में ....बाँधकर रेशा निकालना। रेशा, रस, गुठली और छिलका—ऐसे चार भाग (स्वरूप) ऐसा आम है? उसे रंग से देखो तो आम, रस से देखो तो वह का वह और वर्ण से देखो तो वह का वह। इसी प्रकार आत्मा को द्रव्य से देखो तो वह का वह; क्षेत्र से देखो तो अखण्ड वह का वह; त्रिकाल काल से देखो तो वह का वह और भाव का एकरूप देखो तो वह का वह। समझ में आया? ऐसी बात, धर्मकथा सुननेवाले बहुत थोड़े होते हैं। अन्य सभा बड़ी भराये न और हा... हो... हो... करे।

श्रोता : खण्ड-खण्ड मान्यतावाले का कोई सिद्धान्त नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : सिद्धान्त है न। मानता है न यह। यह अपने चार खण्ड... इससे द्रव्य का भाग अलग मानूँगा, क्षेत्र का (अलग मानूँगा)... ऐसा मान्यता में है न? मान्यता तो कहाँ उसकी परन्तु श्रद्धा में। यहाँ वस्तु में चार भाग है न? वस्तु में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव। तो अज्ञानी इन चार भेद पर लक्ष्य करता है, ऐसा कहते हैं। इतनी बात। ज्ञानी भेद पर लक्ष्य करता नहीं। अभेद पर चारों का एकरूप है यह दृष्टि करता है, ऐसा कहते हैं। भेददृष्टिवाला है या नहीं? भेद की अनादि दृष्टि है न? ११वीं गाथा में नहीं आया? ११वीं गाथा में आया न? भेददृष्टि अनादि की है। यह ११वीं गाथा में है।

श्रोता : उभयरूप कहे तो।

पूज्य गुरुदेवश्री : उभयरूप है ही नहीं। नहीं, नहीं। एकरूप ही है। यह पहले कहा कि ज्ञान में सामान्य-विशेष दोनों ले। सामान्य ध्रुव है, शक्ति गुणरूप विशेष है और द्रव्य-क्षेत्र-

काल-भाव विशेष—ऐसा कहलाता है। परन्तु वस्तु में भेद कहाँ है! द्रव्य से आत्मा ऐसा और क्षेत्र से अलग, ऐसा अन्दर है? वह का वह अनन्त गुण का पिण्डरूप जो द्रव्य है, उसका वह असंख्यप्रदेशी क्षेत्र है, वह का वह त्रिकाली द्रव्य काल है, वह का वह भाव का एक स्वरूप है। गुण का-भाव का। समझ में आया?

तब हूँ कैसा? **न भाव से खण्डित करता हूँ; सुविशुद्ध एक ज्ञानमात्र भाव हूँ।** अकेला शुद्ध एक ज्ञानमात्र अथवा अनन्त गुण का एकरूप, ऐसा ज्ञायकभाव मात्र हूँ। ऐसी दृष्टि करने का नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा! समझ में आया?

भावार्थ :- शुद्धनय से देखा जाए... उतारते-उतारते कहाँ ले गये, देखो! अब तीन निकाल डालेंगे ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान। उतार-उतार कर वहाँ उतारते जाते हैं। **शुद्धनय से देखा जाए तो...** आत्मा को अन्तर के सम्यग्ज्ञान से पूर्ण को देखने में आवे **तो शुद्ध चैतन्यमात्र भाव में...** शुद्ध चैतन्यवस्तु ज्ञायकभाव, उसमें **द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से कुछ भी भेद दिखाई नहीं देता।** देखो! भेद दिखता नहीं। भेद देखना, वही वस्तु का स्वरूप नहीं, ऐसा कहते हैं। वस्तु में भेद है ही नहीं। आहाहा! कहो, समझ में आया? लो! इस सम्यग्दर्शन के विषय में द्रव्य और पर्याय आते हैं... चन्दुभाई! तुम्हारे मुम्बई चला था या नहीं? चला था। यहाँ तो चार भेद का भी निषेध करते हैं।

वस्तु एकरूप की दृष्टि किये बिना एकाग्रता नहीं होती और एकाग्रता हुए बिना एक के ऊपर नहीं जाया जाता, एक के ऊपर गये बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। समझ में आया? तुम्हारे इक्का सबसे बड़ा होता है न? हुकम का इक्का। क्या कहलाता है तुम्हारे? ताश। इक्का नहीं इक्का? फिर बादशाह, फिर रानी, फिर गुलाम होता है न? सेठ! आहाहा! यह सब संसार में किया है, हों! सब देखा है। हमारे मामा के यहाँ तो बड़ी वह थी, सोगठाबाजी—चौपाट। मेरे मामा के घर में थी। वहाँ थी। छोटे थे तब खेलते थे, यह सोगठा होते हैं? यह यहाँ रखे, यहाँ रखे। थोथे-थोथा। वहाँ चौपाट कहते हैं न? चार ओर चार लम्बे-लम्बे... वे होते हैं न और बीच में होता है वह। चार गति दूसरा क्या है, फिर बीच का सिद्धभाव। पक जाए वहाँ जाए। वे कहते थे।

यहाँ कहते हैं कि **शुद्धनय से देखा जाए तो शुद्ध चैतन्यमात्र भाव में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से कुछ भी भेद दिखाई नहीं देता।** यह द्रव्य अलग, क्षेत्र अलग, काल-भाव अलग—ऐसा कुछ नहीं है। **इसलिए ज्ञानी अभेदज्ञानस्वरूप अनुभव में भेद नहीं करता।**

आहाहा! इसलिए धर्मी जीव एकरूप ज्ञानानन्दस्वरूप में भेद नहीं डालता। अभेद ध्रुव चैतन्य एकरूप है, उसकी दृष्टि करता है।

अब इससे सूक्ष्म आया। अनन्त में से चार लिये और चार में से अब तीन लेते हैं। आहाहा! **ज्ञानमात्र भाव स्वयं ही ज्ञान है,...** भगवान आत्मा स्वयं ही ज्ञानस्वरूप है। **स्वयं ही अपना ज्ञेय है...** परज्ञेय नहीं; स्वयं ही अपने को जाननेवाला है, स्वयं ही अपने को ज्ञात हो, ऐसा है। **और स्वयं ही अपना ज्ञाता है–इस अर्थ का काव्य कहते हैं–**

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन् ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ।।२७१।।

ओहोहो! अमृतचन्द्राचार्य! अब कहते हैं कि तीन भेद डालना कि ज्ञेय कुछ अलग है, ज्ञान कुछ अलग है और ज्ञाता कोई अलग है—ऐसा भेद है नहीं। आहाहा! समझ में आया? **जो यह ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ, वह ज्ञेयों का ज्ञानमात्र ही नहीं जानना चाहिए;...** षट्द्रव्य का जानपना जो पर्याय में होता है, इतने ज्ञेयमात्र आत्मा को नहीं जानना। ज्ञेयों के ज्ञानमात्र ही आत्मा को नहीं जानना। ऐसा आत्मा इतना है नहीं। क्या कहते हैं? एक समय की ज्ञान की पर्याय में षट्द्रव्य ज्ञात होते हैं, एक समय की पर्याय में। उस पर्याय का ज्ञान षट्द्रव्य को जाननेरूप परिणमित हुआ है। कहते हैं कि इतना ज्ञेयरूप से इतनी ही पर्यायरूप से आत्मा ज्ञेय है, ऐसा नहीं है। पररूप से तो नहीं परन्तु इतनी पर्याय का ज्ञेय, इतना भी नहीं। आहाहा! समझ में आया? परज्ञेय और छह द्रव्य, तीन काल, तीन लोक को जाननेमात्र का वह जीव, ऐसा भी नहीं है। परन्तु एक समय की पर्याय में छह द्रव्य सब ज्ञात हों, ऐसा परिणमन, इतना ही पर्याय का एक अंश, ज्ञेय उतना भी आत्मा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

जो यह ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ... मैं हूँ **वह ज्ञेयों का ज्ञानमात्र ही नहीं जानना चाहिए;...** ज्ञात होनेयोग्य पदार्थ के जाननेमात्र उसे नहीं जानना। उतना आत्मा है नहीं। आहाहा! **(परन्तु) ज्ञेयों के आकार से होनेवाले ज्ञान की कल्लोलों के रूप में परिणमित होता हुआ...** परन्तु जो ज्ञेय हैं, उनके आकार होती ज्ञान में कल्लोलरूप पर्याय की परिणतिरूप **वह ज्ञान–ज्ञेय–ज्ञातामय वस्तुमात्र जानना चाहिए।** ज्ञेयों के आकार होते ज्ञान की पर्याय से परिणमता वह ज्ञान–ज्ञेय, स्वयं ज्ञेय, अपना द्रव्य, अपना गुण, अपनी पर्याय ज्ञेय और ज्ञान एक समय की पर्याय और ज्ञाता अनन्त शक्ति का पिण्ड। समझ में आया? यह तो अन्तर में उतरने की बात है। समझ में आया?

ज्ञेयों का ज्ञानमात्र ही नहीं जानना चाहिए; (परन्तु) ज्ञेयों के आकार से होनेवाले ज्ञान की कल्लोलों के रूप में परिणमित होता हुआ वह... पर्याय। **ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातामय वस्तुमात्र जानना चाहिए। (अर्थात् स्वयं ही ज्ञान, स्वयं ही ज्ञेय...)** अपने ज्ञान का स्वयं ही ज्ञेय है। द्रव्य-गुण-पर्याय। ज्ञान की एक समय की पर्याय, उसका ज्ञेय द्रव्य गुण और पर्याय। पर नहीं। समझ में आया? **स्वयं ही ज्ञान, स्वयं ही ज्ञेय...** छह द्रव्य को जानती हुई पर्याय, वह स्वयं अपने को जाने, परज्ञेय को नहीं। वह स्वयं ज्ञेय और ज्ञेय में भी तीन भाग। अकेली समय की पर्याय ज्ञेय, ऐसा भी नहीं। छह द्रव्य का ज्ञेय, वह तो नहीं परन्तु एक समय की पर्याय जो छह द्रव्य को जाने, इतना भी ज्ञेय नहीं। पूरा द्रव्य, पूरे गुण और एक समय की सब पर्यायें, यह सब ज्ञेय। यह ज्ञेय की एक शक्ति, और एक समय का ज्ञान, इन सबको जाने ऐसा ज्ञान, स्वयं अपने को जाने, ऐसी ज्ञान की शक्ति और उन अनन्त शक्ति का पिण्ड, वह ज्ञाता, वह भी स्वयं का स्वयं ही है। ज्ञाता स्वयं, ज्ञेय स्वयं, और ज्ञान स्वयं; उसमें तीसरा कुछ है नहीं। आहाहा! कहाँ ले गये, देखो!

तेरी पर्याय में छह द्रव्य जो ज्ञात होते हैं, उन ज्ञेय जितना तू नहीं है। और उन्हें जाननेवाला ज्ञान, वह भी नहीं। तेरी पर्याय में छह द्रव्य जाननेरूप ज्ञान की पर्याय परिणमी, उसे तू जाननेवाला, इतना भी नहीं। ज्ञेय तो द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों। एक समय की अवस्था का ज्ञेय छह द्रव्य को जाने। एक समय की पर्याय इतना ज्ञेय नहीं। ऐसी अनन्त पर्याय का गुण और ऐसे अनन्त गुण का पिण्ड द्रव्य, वह ज्ञेय। द्रव्य-गुण-पर्याय ज्ञेय, एक समय का ज्ञान, वह ज्ञान और अनन्त शक्ति का पिण्ड वह ज्ञाता। ज्ञाता वह, ज्ञान वह और ज्ञेय भी वह। परज्ञेय के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। ओहोहो! लो!

व्यवहार से जाना हुआ प्रयोजनवान, भाई! आया है न, ऐई! यह तो वापस यहाँ निकाल डाला। यह व्यवहार से जाना हुआ प्रयोजनवान, व्यवहार का ज्ञान नहीं, वह तो अपना ज्ञान है, ऐसा कहते हैं। व्यवहार कहा था न? परन्तु व्यवहार से जाना हुआ प्रयोजनवान है। बाहर में रागादि हों और अशुद्धता हो, उसे जानता है। इस प्रकार जानने के लिये प्रयोजनवान है। यहाँ कहते हैं कि वह इसका ज्ञान नहीं है। वह तो अपनी ही पर्याय का ज्ञान है और उस समय की पर्याय का ज्ञान, उतना ज्ञेय नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ज्ञान की एक समय की पर्याय में जाननेवाला,... उसमें पूरा द्रव्य अपना द्रव्य, अपना गुण और अपनी पर्याय वह ज्ञेय है, परज्ञेय नहीं। समझ में आया? अलौकिक मार्ग है। अमृत की सड़क पर चलने का यह मार्ग है। समझ में आया?

कहते हैं कि मैं पर को जानता हूँ, ऐसा ज्ञान मेरा ?—नहीं। और मैं पर को जानता हूँ ? —नहीं। मैं तो मुझे मेरे द्रव्य-गुण और पर्याय की शक्ति है, उसे जाननेवाला मैं—ज्ञान, तीनों मेरे ज्ञेय, और यह अनन्त शक्ति का पिण्ड, वह पूरा ज्ञाता। वह ज्ञाता, वह भी मैं; ज्ञेय, वह भी मैं और ज्ञान भी मैं। मुझसे तीनों भिन्न नहीं हैं। आहाहा! पहले चार को निकाल डाला, इन तीन का भेद निकाल डाला। सूक्ष्म बात है। समझ में आया ?

देखो! ध्यान रखना। शरीर में रोग हो। समझ में आया ? वह तो जाननेयोग्य है। शरीर में रोग हो, राग हो, वह जाननेयोग्य है। यहाँ तो कहते हैं, नहीं। वह कहाँ है ? समझ में आया ? वह तो अपनी ज्ञान की पर्याय को जानता है। राग सम्बन्धी का ज्ञान, राग सम्बन्धी का ज्ञान वह ज्ञान तो मेरा अपना है। उसका है ? और उसे देखना है ? समझ में आया ?

मूलजीभाई ने जवाब दिया था। सुना था न ? पोपटभाई! यह मूलजीभाई, नहीं ? लाखाणी। अन्तिम स्थिति में। उपड़ा हुआ... क्या कहलाता है तुम्हारे ? हार्टफेल। पीड़ा। (संवत) १९८४ में। पैसेवाले व्यक्ति, हों! यह... मैं पैसा... १९७६ के वर्ष में। सोलह लाख रुपये १९७६ के वर्ष में मुम्बई में। अभ्यास बहुत और उसमें रुचि बहुत। अन्त में बुलाया। सवेरे... सवेरे में। दोपहर ढाई बजे सो रहे होंगे। बुलाओ लालूभाई को, वे (परिजन) कहें बुलाओ डॉक्टर को। यह कहे, बुलाओ लालूभाई को। लालूभाई ने कहा, भाई! यह रोगादि होते हैं, उनका आत्मा जाननेवाला है, रोगादि आत्मा में नहीं हैं। आत्मा रोग और राग का जाननेवाला है। शरीर के धर्मों का आत्मा जाननेवाला है, ऐसा कहा। (तब उन्होंने कहा), शरीर का जाननेवाला आत्मा है ? शरीर का जाननेवाला आत्मा है ? अन्त में ऐसा बोले, जेठालालभाई! मरने की—देह छूटने की तैयारी। ऐई! पोपटभाई! ऐसा वीर्यवाला था। शरीर को जानने का ? शरीर को जाने ? यह रोग होता है, उसे जाने ? अपने को न जाने ? ऐई! प्राणभाई! अभ्यास था और पुरुषार्थ... अवसर था तब उस समय इतना तो वीर्य का पुकार आना चाहिए न! मरते हुए ऐसा कहा। इस ओर होवे न हार्ट ? तुम्हारे क्या कहते हैं ? हृदय।

शरीर में रोग है, आत्मा रोग का जाननेवाला है, आत्मा रोगमय नहीं है। ध्यान रखना। तब उन्होंने उसका जवाब दिया। ऐई! प्राणभाई! यह मरते हुए जवाब दिया। पहले से बहुत लाखोंपति था। ७६ के वर्ष में। क्या शरीर के रोग को जाननेवाला आत्मा ? रोग को जाने या अपने को जाने ? ऐई! शिवलालभाई! तब लोग ऐसा कहे कि इन लोगों के आश्रितों का मरण हो, वह भी अलग प्रकार का। पडकार तो आया अन्दर से कि इसे ऐसे जाना मुझे कि ऐसे जाना मुझे ?

समझ में आया ? इस रोग को जानना नहीं। रोग सम्बन्धी का जो ज्ञान अपने में हुआ, उसे वह जानता है और उसे इतने को भी नहीं, यहाँ तो कहते हैं। आहाहा! एक पर्यायसम्बन्धी का ज्ञान इतना उसका ज्ञेय है ? ज्ञान का इतना ज्ञेय है ? वह पर्यायदृष्टि हुई, अंशदृष्टि हुई। आहाहा! समझ में आया ?

इस प्रकार दृष्टि, द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों ज्ञेय हैं। इन तीनों ही ज्ञेय का ज्ञान स्वयं अपना ज्ञान करता है और स्वयं अपना ज्ञेय होता है। पर को ज्ञेय करके पर का ज्ञान करता है, यह वस्तु में है नहीं। आहाहा! समझ में आया ? कहो, चिमनभाई! समझ में आता है या नहीं यह ? आहाहा! ऐसा मार्ग है, बापू! तेरा मार्ग ऐसा है। तेरा तुझमें होगा या तेरा पर में होगा ? पर को ऐसा देखता है कि यह राग है और रोग है और यह है... वह तो पर में गया। उस सम्बन्धी का ज्ञान तो तेरा, तुझे तू देख। तेरी नजर तुझमें रख, तेरी नजर तुझमें रख। तेरी नजर यहाँ ज्ञेय में रखनी है ? ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? नजर वहाँ रखनी है या नजर यहाँ रखनी है ? मूल तो ऐसा कहते हैं। अरे! ऐसा यह कैसा धर्म ? यह किस प्रकार का ? ऐसा वीतराग का मार्ग होगा ? जिनेश्वरदेव का ऐसा मार्ग होगा ? तो अन्यत्र कहीं भी ? ऐसा तो कहीं सुनते नहीं थे। सूर्यास्त से पहले भोजन करो, कन्दमूल नहीं खाना, अमुक करना, अपवास करना, ऐसा सुनते थे। वीतराग का मार्ग तो ऐसा होता है। कन्दमूल नहीं खाना, सूर्यास्त से पूर्व भोजन करना, अपवास करना,... एक... पच्चीस अपवास का लाभ हो, एक उपवास के ऊपर एक... करे तो तीन अट्ठम का लाभ एक अट्ठम का हो, ऐसा सब सुना था या नहीं ? ऐ... ! ...भाई! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि अपने ज्ञेय को जाने तो आत्मा को लाभ हो। उसकी नजर अपने ज्ञेय में (जानी चाहिए)। पर्याय, द्रव्य और गुण अर्थात् वास्तव में तो द्रव्य पर दृष्टि पड़ी है। उसमें ज्ञान, गुण और पर्याय का ज्ञान उसमें आ जाता है। आहाहा! समझ में आया ? भाई! हमारे तो यहाँ गुजराती भाषा चलती है न! क्या सौभागमलजी! आहाहा! यहाँ कहते हैं कि मेरे अतिरिक्त दूसरी कोई चीज़ ही नहीं है। ऐसा कहते हैं। भाई! यह मैं ही हूँ। दूसरा कोई है ही नहीं। आहाहा!

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह उसका ज्ञान, वह मेरा ज्ञान है। छहों द्रव्यों का ज्ञान, वह मेरा ज्ञान है अर्थात् मैं ही हूँ, वह है ही नहीं। अमरचन्दभाई!

ज्ञान की एक समय की पर्याय है न ? उस पर्याय को ही माने तो छह द्रव्य को माना।

परन्तु द्रव्य को नहीं माना, पर्याय को माना। उस पर्याय को माना कब कहलाये ?—कि एक समय की पर्याय छह द्रव्य को तीन काल, तीन लोक को जानने की ताकतवाली पर्याय को माने तो पर्याय को मानी कहलाये, वह भी पर्याय को माना, अंश को माना।

श्रोता : पर्याय को माना कब कहलाये ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उस पर्याय की भी मान्यता खोटी है, ऐसा कहते हैं। अकेली पर्याय को माने तो वह द्रव्य को नहीं मानता। अकेली पर्याय को माने तो द्रव्य की दृष्टि खोटी है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। समझ में आया ? यह तो इसने पर्याय को माना, द्रव्य को कहाँ माना ? समझ में आया ? उसमें बहुत लिया था। कलश-टीका में। पर्याय को मानता है, छह द्रव्य को जाने तो एक समय की पर्याय को ही वह मानता है, द्रव्य को नहीं मानता। यहाँ कहते हैं, पर को जानने के काल में अपनी ज्ञान की पर्याय की कल्लोल उठती है, उसे वह जानता है और उसे जानते हुए द्रव्य-गुण को भी जानता है... दृष्टि वहाँ पड़ी है न ! समझ में आया ? आहाहा ! ऐसा वाचक का वांचन भी दूसरे-अन्य के शास्त्रों में नहीं है।

ज्ञेयों के आकार से होनेवाले ज्ञान की कल्लोलों के रूप में परिणमित होता हुआ वह... उसका ज्ञान, उसका वह ज्ञेय और उसका ज्ञाता... **वस्तुमात्र जानना चाहिए। (अर्थात् स्वयं ही ज्ञान, स्वयं ही ज्ञेय...)** पूरा द्रव्य-गुण-पर्याय **और स्वयं ही ज्ञाता...** जाननेवाला स्वयं पूरा त्रिकाल। **इस प्रकार ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातारूप तीनों भावयुक्त वस्तुमात्र जानना चाहिए।** ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातारूप तीनों भावसहित वस्तुमात्र जानना। ऊपर आ गया था न ? इसका (स्पष्टीकरण) किया। **ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातारूप वस्तुमात्र जानना चाहिए।** उसका स्पष्टीकरण कोष्ठक में किया। **इस प्रकार ज्ञान-ज्ञेय...** ज्ञान भी स्वयं, ज्ञेय भी स्वयं, ज्ञाता भी स्वयं, **तीनों भावयुक्त वस्तुमात्र (अभेद) जानना चाहिए।** तीन भेद भी जिसमें नहीं है। ऐसा ज्ञायकमात्र भगवान, उसे दृष्टि में लेने से सम्यग्दर्शन होता है। तीन का भेद पाड़ने पर भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

९

श्री समयसार कलश-टीका, कलश - २५३-२५४, प्रवचन - २५०
दिनांक - १५-१२-१९६५

स्याद्वाद अधिकार कलश टीका, सातवाँ कलश है फिर से **भावार्थ इस प्रकार है कि कोई मिथ्यादृष्टि जीव...** यह परद्रव्य से नास्तिरूप का श्लोक है। आत्मा परद्रव्य से नहीं है, इसका यह श्लोक है। अज्ञानी परद्रव्य से हूँ, ऐसा मानता है। ऐसा पहला बोल लेकर वह सुलटा लेंगे। **वस्तु को द्रव्यरूप मानता है, पर्यायरूप नहीं मानता है,...** अर्थात् कि वस्तु है परन्तु पर्याय में यह सब भेद और सब ज्ञात होता है, वह दूसरी चीज़ है—ऐसा वह नहीं मानता। यह सब मैं ही हूँ। पर्याय में जो सब ज्ञात होता है, वह सब मैं ही हूँ। मुझसे भिन्न कोई चीज़ नहीं। ऐसा अज्ञानी पर को एकरूप मानकर अपना पर से भिन्नपना छूट जाता है। **इसलिए समस्त ज्ञेय वस्तु ज्ञान में गर्भित मानता है।** जितनी चीज़ जानने में आती है, वह सब आत्मा में घुस गयी है सब, ऐसा। जानने में जो चीज़ आवे, वह आत्मा में अन्दर प्रविष्ट (हो गयी), भिन्न नहीं रहती, अद्वैत सब एक ही है। **ऐसा कहता है...** उसका स्पष्टीकरण। यहाँ तक कल आया था।

उष्ण को जानता हुआ ज्ञान उष्ण है,... खट्टा मुँह नहीं होता? खट्टा। उस समय ज्ञान भी खट्टा होगा न? खट्टा जीव हो गया नहीं कहते? कहते हैं ऐसा? खट्टा जीव होता होगा? खट्टा तो ज्ञान की पर्याय में खट्टा है, ऐसा ज्ञात होता है, ज्ञान खट्टा नहीं होता। समझ में आया? आत्मा की ज्ञानपर्याय, उसमें खट्टा ज्ञात हो, कहीं ज्ञान खट्टा नहीं होता। खट्टा तो जड़ है। ज्ञान तो चेतन है। चेतन की पर्याय खट्टी होवे तो जड़ हो जाए। समझ में आया?

यहाँ पहले उष्ण की व्याख्या की है कि **उष्ण को जानता हुआ...** गर्म-गर्म हुआ, ऐसा। पानी गर्म पड़े, अग्नि पड़े न तो मानो ज्ञान गर्म हो गया, ज्ञान गर्म हो गया, आत्मा गर्म हो गया। ऐसा होगा या नहीं? इस ज्ञान में रोग दिखता है, वहाँ यह ज्ञान रोगमय हो गया, लो! ऐसा मानता है, वह मिथ्यादृष्टि पर से अपनी भिन्नता को नहीं मानता। समझ में आया?

उष्ण को जानता हुआ ज्ञान उष्ण है,... गर्म... गर्म हुआ तो ज्ञान में गर्म तो ज्ञात हुआ

है, कहीं गर्मपना ज्ञान में आया नहीं है और ज्ञान उष्णरूप में गया नहीं है। जाता है ? गये बिना जाना किस प्रकार ? ऐसा कहते हैं। गर्म को जाना तो ज्ञान ने उसमें प्रवेश किया न ? समझ में आया ? यह प्रश्न (संवत्) १९८४ में एक खत्री ने राणपुर में किया था। नारणभाई के पास वह खत्री रहता था, खत्री। दुकान के सामने। दुकान अर्थात् उसका घर, उसकी इस ओर दुकान (थी)। वह वृद्ध एक वृद्ध आया था। यह तुम कहते हो कि इस परमाणु को आत्मा जानता है तो परमाणु में प्रवेश किये बिना ज्ञान कैसे जाने ? ऐसा प्रश्न (किया) प्रवेश करना पड़े, ऐसी जरूरत होवे तो ज्ञान का सामर्थ्य क्या ? यह प्रवेश करना पड़े, प्रवेश करके जाने तो ज्ञान का सामर्थ्य क्या ? वह प्रवेश करके जाने, इसका अर्थ कि ज्ञान में पर से भिन्न रहकर जानने का सामर्थ्य नहीं है। मुझमें पर से भिन्न रहकर जानने की (ताकत) नहीं है। इसलिए मैं जानता हूँ, वह पर में एक होकर जानता हूँ। उसे स्वयं को पर से भिन्न जानने की शक्तिवाला जाना नहीं। समझ में आया ?

उष्ण है, उस उष्णता में प्रवेश किये बिना, अन्दर प्रवेश किये बिना ज्ञान किस प्रकार जाने ? इसका अर्थ कि ज्ञान में परवस्तु को पृथक् रहकर-भिन्न रहकर जानने की ताकत है, ऐसा अपना अस्तित्व पर से भिन्न है, ऐसा वह मानने को तैयार नहीं है। अपन सब एक हैं। लकड़ी ज्ञात हो, घड़ी ज्ञात हो, सब ज्ञात हो। बराबर ज्ञात होता है, अढाई और सात (बजे)। कहाँ से ज्ञात हुआ ? उस प्रकार ज्ञान में प्रवेश हुआ, तब ज्ञात हुआ या नहीं ? परन्तु ज्ञान उसमें प्रविष्ट हुआ तो ज्ञान का सामर्थ्य पर से पृथक् रहकर जानने का है, वैसा सामर्थ्य कहाँ गया ? वह ज्ञान का सामर्थ्य ही है कि पर से पृथक् रहकर उसे जाने। पर में प्रवेश होकर जाने, वह ज्ञान सामर्थ्य कहलाता ही नहीं, वह तो जड़ हो गया। समझ में आया ? इस रोग को जानते हुए ज्ञान रोगमय हो गया, ऐसा माननेवाला रोग से पृथक् ज्ञान रोग को पृथक् रखकर रोग का ज्ञान करता है, वह ज्ञान स्व का और पर का करे, ऐसा ज्ञान का सामर्थ्य है। समझ में आया ?

शीतल को जानता हुआ ज्ञान शीतल है। ठण्डा... ठण्डा (आवे वहाँ) मैं ठण्डा हो गया। ज्ञान में वह ठण्डा ज्ञात होता है न ? तो ज्ञान मानो ठण्डे में गया, (ऐसा मानता है)। ठण्डे में गये बिना ठण्डा कैसे जाने ? परन्तु ज्ञान ज्ञान में रहकर ठण्डे को जाने। ऐसे ठण्डे से ज्ञान भिन्न है, ऐसा अज्ञानी नहीं मानता। समझ में आया ? यहाँ विशेष क्या है कि जैसी उष्णता है, वैसा ही यहाँ ज्ञान होता है, इसलिए उसे ऐसा हो गया है कि यह ज्ञान उष्णरूप हो गया। समझ में आया ? परन्तु ज्ञान का स्वभाव ऐसा है कि जैसा सामने हो, वैसा अपने को पृथक् रखकर उसी काल में अपने सामर्थ्य से जानता है। समझ में आया ?

उसके प्रति उत्तर इस प्रकार है कि ज्ञान ज्ञेय का ज्ञायकमात्र तो है,... यह तो दो दृष्टान्त दिये, हों! ऐसा सब ले लेना। समझ में आया? लड़के और स्त्रियाँ ऐसे रोते हों और रोते हुए कलबलाहट करें, हों! कलबलाहट, घर में (चलती हो) उसे ज्ञान देखे, इसलिए ज्ञान में उस कलबलाहट का प्रविष्ट हो, तब ज्ञान उसे जाने न? ऐसा होता होगा? कहते हैं कि उस कलबलाहट की भिन्नता रखकर ज्ञान जानता है, उसका नाम ज्ञान कहलाता है। वह मात्र जानता है। समझ में आया? इसी प्रकार राग को ज्ञान जाने, इससे ज्ञान राग में प्रवेश करे तो राग को जाने, ऐसा (मानता होवे) तो उसे ज्ञान के सामर्थ्य की खबर नहीं है। समझ में आया? यहाँ तो यह बात है, हों! वह राग है, वह वास्तव में परवस्तु है। विकल्प है न, विकल्प? उस राग को ज्ञान जाने तो ज्ञान रागमय हो गया, ऐसा माननेवाला राग से भिन्न ज्ञान राग को जाननेवाली सत्ता है, उसे वह स्वीकार नहीं करता। समझ में आया? मेल ऐसा खाये परन्तु मेल ऐसा नहीं खाता, तब ज्ञान किसका करे? ज्ञान तो जैसी चीज़ हो, वैसा ज्ञान करे तो वह ज्ञान बराबर कहलाये न? उसे ऐसा कि जैसी चीज़ है, वैसा ज्ञान करे, इसलिए ज्ञान उसमें प्रविष्ट हो गया। ज्ञान भिन्न रहकर जैसा है, वैसा ही, उसी प्रकार जाने—ऐसे सामर्थ्य के अस्तित्व का अज्ञानी स्वीकार नहीं करता। समझ में आया? आहाहा!

उसके प्रति उत्तर इस प्रकार है कि ज्ञान ज्ञेय का ज्ञायकमात्र तो है,... भगवान आत्मा का ज्ञान, ज्ञेय का जाननेमात्र तो है, ज्ञेय को जाननेमात्र तो है। **परन्तु ज्ञेय का गुण ज्ञेय में है,...** इस राग को, उष्ण को, शीतल को, खट्टे को, मीठे को जाननेमात्र—उस ज्ञेय को जाननेमात्र ज्ञानमात्र है परन्तु ज्ञानमात्र में उस ज्ञेय का जो गुण—खट्टा, मीठा, मधुर, वह यहाँ आ नहीं जाता। इस ज्ञान का गुण स्व-पर को जानना, वह गुण पर में नहीं जाता। ज्ञान का गुण जानना। वह जानना गुण खट्टा, मीठा, मधुर ज्ञेय में कहीं प्रवेश नहीं करता। तथा खट्टा, मीठा, कड़वा वह जो ज्ञेय, इस ज्ञान में उस ज्ञेय का गुण नहीं आता। ज्ञेय सम्बन्धी का ज्ञान अपना सामर्थ्य है, इसलिए यहाँ ज्ञात होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

ज्ञेय का गुण ज्ञेय में है,... अर्थात् कि खट्टा, मीठा, कड़वा, राग, द्वेष, शरीर, वाणी, मन, इन सबमें जो गुण हैं, वे गुण उस ज्ञेय में रहे हुए हैं, उसमें रहे हैं। जानने के गुण में उनका गुण (नहीं है)। उनका गुण यहाँ होता भी नहीं। इसका गुण तो जानना है। यह जानने का गुण, वह गुण पर के गुण में गया नहीं और खट्टे आदि का गुण ज्ञान में आया नहीं। समझ में आया?

पुण्य-पाप के विकल्प, उनका गुण कलुषितता, आकुलता... समझ में आया? यह ज्ञान

उसे जानते हुए ज्ञान में कलुषितता नहीं आती और कलुषितता में ज्ञान का गुण जानना, वह कलुषितता में नहीं जाता। समझ में आया? जो दु:खरूप भाव हुआ, उस दु:खरूप भाव का गुण आकुलता है। वह गुण ज्ञान की अवस्था में वह गुण नहीं आता परन्तु वह आकुलता है, उसी प्रकार का ज्ञान यहाँ होता है, वह तो ज्ञान का स्वभाव है। परन्तु उस आकुलता का गुण, वह आकुलता है, ऐसा ज्ञान जाने, परन्तु आकुलता का गुण, आकुलता का दु:ख, वह ज्ञान में नहीं आता। आहाहा! समझ में आया इसमें?

इसी प्रकार ज्ञान का गुण जानना है, वह जानने का गुण राग-द्वेष, खट्टे-मीठे में वह गुण नहीं जाता। कहो, धर्मचन्दजी! यह इंजेक्शन लगावे तो रक्त बदल नहीं जाता एकदम? ज्ञान में भी एकदम आवे कि, हाँ अब मुझे ठीक है, अब मुझे ठीक है। ऐसा आता है या नहीं? परन्तु यह तो वहाँ (अवस्था) बदली, वैसा ही ज्ञान में ज्ञात हुआ, ज्ञान के स्वभाव के अस्तित्व के सामर्थ्य के कारण, उसके (ज्ञेय के) अस्तित्व के कारण नहीं। उसके अस्तित्व के कारण से होवे तो वह गुण यहाँ आ जाना चाहिए, अत: वह गुण तो जड़ है, तो यहाँ आवे तो ज्ञान जड़ हो जाए। आहाहा! समझ में आया?

परन्तु ज्ञेय का गुण ज्ञेय में है,... ज्ञेय अर्थात् ज्ञान होनेयोग्य वस्तु का गुण ज्ञात होवे योग्य में रहा है। समझ में आया? और **ज्ञान में ज्ञेय का गुण नहीं है।** है न? **वही कहते हैं... 'किल पशु: विश्राम्यति' 'किल'** अर्थात् **अवश्य कर...** करके। **'पशु:'** अर्थात् **एकान्तवादी.. 'पशु: पश्यते बध्यते कर्म इति पशु:'** जिसमें अपनी ज्ञान पर्याय को एकाकार राग में कर डालता है। समझ में आया? एकाकार मानता है, वह राग में एकाकार मानता है। उसे जानते हुए जाननेवाला भिन्न है और ज्ञेय का गुण भिन्न, ऐसा न मानकर ज्ञान में राग, शरीर को एकत्व मानता है, ऐसा **'पशु:'**। **'पशु:'** अर्थात् **मिथ्यादृष्टि जीव...** समझ में आया? आहाहा!

'विश्राम्यति' यह जो दिखता है न, वहाँ इसका ज्ञान स्थिर हो जाता है, वहाँ एकाकार हो जाता है। **'विश्राम्यति'** विश्राम लेता है अर्थात् कि खेदखिन्न होता है, ऐसा इसका अर्थ है। राग-द्वेष, पुण्य-पाप, खट्टा-मीठा ज्ञान जानते हुए ज्ञान खट्टे-मीठे के कारण हुआ, इसलिए मेरा गुण उसमें गया, उसमें विश्राम पाता है। उसमें विश्राम पाते हुए खेद होता है और दु:ख होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

शरीर की क्रिया माँस की, हड्डियों की, चमड़ी की हो, वह ज्ञेय है, वह ज्ञान में इस

प्रकार से ही ज्ञात होती है। वहाँ-वहाँ काल में उस-उस प्रकार की वासना और वासना के समय होती जड़ की क्रिया, वह ज्ञानपर्याय उसे जानती है, तथापि उसका गुण, उसका स्वरूप, उसकी शक्ति उस ज्ञान में आयी नहीं और ज्ञान का स्व-पर को जानने का स्वभाव—गुण वह पर में गया नहीं, तथापि वह ज्ञान उस राग को और शरीर की क्रिया को जानते हुए, वहाँ ज्ञान स्थिर हो जाता है, रुक जाता है। रुक जाता है अर्थात् यहाँ भिन्न है, ऐसा न मानकर वहाँ रुक जाता है; इसलिए वह पर में विश्राम को प्राप्त हुआ अर्थात् ज्ञान दुःखरूप परिणमा। समझ में आया?

पाँच-पचास लाख रुपये आवे, ऐसा कोई कहे। पचास लाख की आमदनी है। ज्ञान ने जाना कि ऐसी कुछ वाणी कहती है। उसे ज्ञान जानता है परन्तु ज्ञान जानते हुए उन शब्दों से पृथक् रहकर ज्ञान जानता है। उन शब्दों की पर्याय में ज्ञान प्रविष्ट होकर नहीं जानता, प्रविष्ट होकर जाने तो ज्ञान जड़ हो जाए। तथा उन शब्दों की पर्याय इस ज्ञान में आयी नहीं। शब्दों की पर्याय का धर्म जड़ है, चेतन की पर्याय का धर्म चेतना है। इस चेतना की पर्याय में जड़ का गुण आया नहीं परन्तु यह ज्ञान वहाँ ऐसा आया, जहाँ सुना और उसके कारण ज्ञान इस प्रकार ऐसा हुआ (कि) ज्ञान वहाँ रुक गया। समझ में आया? इन शब्द की वर्गणा में वह ज्ञान रुक गया, विश्राम को प्राप्त हुआ, ज्ञान को खेदखिन्न किया, दुःखी किया, कहते हैं। कहो, जुगराजजी!

श्रोता : अपने को जाना और पर को नहीं जाना।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपने को जाना और पर को नहीं जाना। पर को जानना तो स्वभाव है। उसके बदले पर को जानने पर उसमें विश्राम पा गया कि अरे! यह जानना मुझे पर के कारण हुआ है, यह जानना मुझे पर के कारण हुआ है। मेरे कारण से मेरा ज्ञान हुआ है, ऐसा नहीं मानता। आहाहा! देखो! यह भेदज्ञान की व्याख्या है यह सब। समझ में आया?

अत्यन्त खेदखिन्न होता है। वस्तुस्वरूप को साधने के लिये असमर्थ होता हुआ... इसका अर्थ करें तो देखो! ऐसा शब्द है न पहला? **'विश्राम्यति'** का अर्थ **वस्तुस्वरूप को साधने के लिये असमर्थ होता हुआ...** अर्थात् कि खट्टा, मीठा आदि, राग आदि जो ज्ञात हुआ, उससे मेरी चीज़ भिन्न है, ऐसे वस्तु के स्वरूप को साधने में असमर्थ हुआ, ऐसा (कहना है)। समझ में आया?

अपने ज्ञान में जो चीज़ का ज्ञान हुआ, उस चीज़ में मैं गया, तब मुझे ज्ञान हुआ; इसलिए ज्ञान वहाँ विश्राम पाया। इसलिए ज्ञान, वस्तु का स्वरूप भिन्न है, ऐसे स्वरूप के साधने में असमर्थ हो गया। ज्ञान राग, द्वेष, कलुषितता या यह सब शरीर, उसकी पर्याय को जानता ज्ञान,

ज्ञान स्वरूप का मेरा स्वरूप है, मेरा स्वरूप, ऐसे साधने को असमर्थ हुआ, ऐसे साधने को असमर्थ हुआ अर्थात् उस सुख को साधने को असमर्थ हुआ। समझ में आया? परसम्बन्धी का ज्ञान मेरा ज्ञान है, ऐसा साधे तो ज्ञान में ज्ञातापने की पर्याय सुखरूप परिणमे, ऐसा कहते हैं। समझ में आया इसमें? परसम्बन्धी का ज्ञान... यह तो स्याद्वाद की शैली है। वे कहे, अनेकान्त... अनेकान्त... अनेकान्त करके इतना करे कि मानो समन्तभद्र का अनेकान्त है, इसलिए मानो दोनों नय का और सब मानो सब (एक है), लोगों को ऐसा लगता है और यह अध्यात्म की बात मानो एकान्त की हो, इसमें दूसरा (नहीं है, ऐसा लगता है परन्तु) ऐसा नहीं है।

समन्तभद्राचार्य भी अनेकान्त इसी प्रकार से कहते हैं। समझ में आया? आता है न? आया है न? दो पक्ष की, दो पक्ष की बात है उसकी। एक व्यक्ति और ऐसा कहता था। कुन्दकुन्दाचार्य की एक पक्ष की (बात है)। (ऐसा) एक बार आया था। ऐसा भी नहीं है, दोनों का एक प्रकार से है। यहाँ स्वसन्मुख ढलकर पर का ज्ञान होता है, ऐसा कहते हैं। वहाँ भक्ति को मार्ग, ऐसा कहते हैं कि हे प्रभु! आपकी भक्ति में मेरे परिणाम निर्मल होते हैं। यह मेरे परिणाम निर्मल होते हैं, उसमें आप निमित्त कहलाते हो, ऐसा। समझ में आया? उसके कारण निर्मल हों, ऐसा नहीं है और निर्मल परिणाम शुभ हुए, तथापि ज्ञान की पर्याय उसे जाननेवाली है। शुभपरिणाममय ज्ञान हो नहीं गया। आहाहा! और शुभमय ज्ञान होवे, वह ज्ञानस्वरूप शुभ से भिन्न साध सका नहीं, इसलिए उसे शान्ति हुई नहीं। उस शुभ में ज्ञान रुक गया, इसलिए खेदखिन्न हो गया। कहो, वजुभाई! अरे.. अरे..! गजब बात भाई!

श्रोता : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो पण्डितजी को पूछकर पहले किया था। कितने ही शब्द पूछ लेते हैं, और किस प्रकार होता है वहाँ? कहो, समझ में आया इसमें? अपने तो उसमें देख लिया। परन्तु इस विश्रान्त का अर्थ यह है। बस! उसमें रहा अर्थात् उसमें कुछ रहा नहीं परन्तु मानता है कि यह ज्ञान इसका हुआ न, इसलिए यह मैं हूँ, ऐसा। यह मैं हूँ। ऐसा हुआ, इसलिए यह मैं हूँ। परन्तु ऐसे यह मैं हूँ, ऐसे ज्ञान के स्वरूप को अज्ञानी अनेकान्तरूप से जीव को न मानकर एकान्त रागमय मानकर दु:खमय हो जाता है। समझ में आया? आहाहा! समझ में आया इसमें?

हर्ष आ जाए हर्ष। हर्ष आया। यद्यपि हर्ष आया, वह कहीं चीज़ के कारण नहीं आता। हर्ष आया, वह कहीं ज्ञान में हर्ष प्रविष्ट नहीं हो जाता। समझ में आया? ज्ञान की पर्याय हर्ष

को जानती है। हर्ष का गुण ज्ञान की पर्याय में आया नहीं। हर्ष का गुण तो आकुलता है। हर्ष का गुण क्या है? हर्ष अर्थात् क्या? आकुलता। और उसका ज्ञान होना, अर्थात् क्या? हर्ष से भिन्न पड़ा हुआ ज्ञान अनाकुलता को साधता है। यह कहा न? देखो न!

ज्ञान स्वयं पर से भिन्न है, ऐसे स्व के लक्ष्य से वस्तु पर को जानना, ऐसे वस्तु को साधना, उसमें इसका पुरुषार्थ असमर्थ रहता है। समझ में आया? आहाहा! कहो, समझ में आया या नहीं इसमें? जमुभाई! हें? क्या कहा?

श्रोता : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक करते हैं। बीच में थोड़ा-थोड़ा विश्राम आता है, कहीं एकदम नहीं आता।

भगवान आत्मा! यहाँ ज्ञानप्रधान से वस्तु की बात लेनी है न! ज्ञान पर को जानते हुए, उसी प्रकार का ज्ञान उस काल में अपने स्वभाव के सामर्थ्य से होता है, ऐसे स्वरूप को साधकर स्व के लक्ष्य से ज्ञान की पर्याय मुझसे हुई है, उसके कारण नहीं। ऐसे स्वरूप को साधना चाहिए तो वहाँ आगे शान्ति और अनाकुलता की पर्याय वेदन में आये। समझ में आया? परन्तु राग-द्वेष और पर को जानते हुए ज्ञान वहाँ लक्ष्य में चढ़ गया। इस ओर लक्ष्य में आया नहीं कि ज्ञान इसकी ओर से आता है और उसे जाननेवाला मैं पर से भिन्न हूँ। अर्थात् ज्ञान में वह वर्तमान में ज्ञात होते हुए उसी प्रकार से मेरा ज्ञान वैसा हुआ, ऐसा पर में स्थिर होता, विश्राम लेता, टिकता हुआ स्वयं दुःखपने का वेदन करता है। **'विश्राम्यति'** ऐसा लिखा है न? देखो! **अत्यन्त खेदखिन्न...** ऐसा। अत्यन्त अर्थात् **'वि' 'श्राम्यति'** अर्थात् खेदखिन्न। ऐई! **'विश्राम्यति'** अर्थात् **'वि'** अर्थात् अत्यन्त, **'वि'** अर्थात् अत्यन्त और खेदखिन्न **'श्राम्यति'** अर्थात् श्रम होता है, उसे दुःख होता है, ऐसा। ऐसा लिया। समझ में आया इसमें? कहो, राजमलजी! इसमें है या नहीं? देखो! कितने शब्द करते हैं!

'वि' अत्यन्त। विशेष है न? विशेष। विरुद्ध नहीं, विशेष। **'वि'** अर्थात् विशेष; विशेष अर्थात् अत्यन्त; अत्यन्त अर्थात् बहुत। **'श्राम्यति'** अर्थात् खेद पाता है। बहुत दुःखी होता है, ऐसा कहते हैं। शब्दों के भी सटकर अर्थ किये हैं न! यहाँ देखता अर्थ किया। भाव अर्थ खेंचकर इन्होंने अर्थ किये हैं। वह कहे, वहाँ स्थिर हो-स्थिर हो। परन्तु स्थिर होता है (तो) उसे होता क्या है? राग-द्वेष, पुण्य-पाप और शरीरादि की पर्याय में ज्ञान स्थिर, होता है क्या?—कि अत्यन्त दुःख। एकान्तरूप से उस पर को ही अपना मानकर पर से भिन्न नहीं

मानता, इसलिए एकान्त का माननेवाला दु:खी होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

किस कारण से? क्या करने से दु:खी होता है? **'परद्रव्येषु स्वद्रव्यभ्रमत:'** देखो! **'परद्रव्येषु स्वद्रव्यभ्रमत:' ज्ञेय को जानते हुए ज्ञेय की आकृतिरूप परिणमता है ज्ञान,...** जानने के पदार्थरूप से जानता ज्ञान। **ज्ञेय को जानते हुए ज्ञेय की आकृतिरूप...** जैसा ज्ञेय का स्वभाव है, उसरूप परिणमा है ज्ञान। **ऐसी जो ज्ञान की पर्याय, उसमें... 'स्वद्रव्य'** ऐसी जो ज्ञान की (पर्याय) **उसमें... 'स्वद्रव्य' निर्विकल्प सत्तामात्र ज्ञानवस्तु होने की (भ्रमणा) होती है,...** भ्रमणा होती है। लो! ज्ञान की पर्याय में ज्ञेयवस्तु को जाननेरूप परिणमता ज्ञान, उसे यह आत्मा हूँ, निर्विकल्प वस्तु यह आत्मा हूँ—ऐसा उसे भ्रम हो जाता है। समझ में आया?

बात तो किस प्रकार ली है? कि कहीं द्रव्य का अनुभव नहीं है। भाई! वेदन है, वह कहीं द्रव्य का नहीं होता। पर्याय का वेदन है। वेदन-अनुभव पर्याय का होता है, द्रव्य का अनुभव नहीं होता। समझ में आया? तो कहते हैं कि एकान्ती पर्याय में दु:ख को वेदता है, अनुभव करता है। समझ में आया? और अनेकान्ती आनन्द को अनुभव करता है। अनुभव करना तो पर्याय का है। परन्तु ऐसे लक्ष्य है, मेरा अस्तित्व यहाँ है, इससे आनन्द को अनुभवता है। सभी जीव को पर्याय का अनुभव है, द्रव्य का अनुभव किसी को नहीं होता। समझ में आया? द्रव्य का ज्ञान होता है, उसका वेदन नहीं होता। वेदन तो एक समय की वर्तमान वेदन की दशा, इस अपेक्षा से इन्होंने बात ली है। समझ में आया?

'स्वद्रव्य' निर्विकल्प सत्तामात्र ज्ञानवस्तु होने की होती है भ्रान्ति, उस कारण से... पर्याय में—अवस्था में भ्रम पड़ता है कि यह... यह ही मैं हूँ, यह ही मैं हूँ। ज्ञेयाकार ज्ञान की आकृति का परिणमन अपने में हुआ, यही मैं हूँ, पूरी वस्तु ही यह हूँ, ऐसा मानकर दु:ख का अनुभव अज्ञानी एकान्तरूप से, एक पक्ष माननेवाला दु:खी होता है। समझ में आया? दूसरे प्रकार से कहें तो उसे अधर्म होता है, ऐसा। समझ में आया?

भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार उष्ण को जानते हुए उष्ण की आकृतिरूप ज्ञान परिणमता है, ऐसा देखकर ज्ञान का उष्णस्वभाव मानता है... ज्ञान का गर्म स्वभाव मानता है मिथ्यादृष्टि एकान्ती जीव। ज्ञान का गर्म, ज्ञान का शीतल, ज्ञान का मीठा, इस जड़ के स्वाद का ज्ञान हो तो जड़ के स्वादरूप मैं हो गया। समझ में आया? मक्खन जैसे (कोमल हो),

उसका वैसा ही ज्ञान होता है तो वह ज्ञान मानो मक्खनरूप हो गया। कहो, समझ में आया? मणिभाई! घी का भाखरी होती है न बढ़िया तली हुई। ऐसे भर्र... भर्र चूरा हो। ऐसे फट... फट.. फट.. और घी तथा वह क्या कहलाता है यह? भाखरी। इतनी... इतनी... घी में तलकर बनाते है। साटा जैसी, साटा मीठा होता है न? वह ऐसे चूरा होता है और उसमें जहाँ स्वाद आवे, वह स्वाद है जड़ का। ज्ञान जानता है कि वह स्वाद ज्ञात हुआ और उस स्वादमय मैं हो गया। आहाहा! समझ में आया?

स्वाद की पर्याय को ज्ञानपर्याय से भिन्न मानना चाहिए। उसके सम्बन्धी का ज्ञान, वह मेरा है, ऐसा यदि ज्ञान को साधे तो उसे वहाँ शान्ति हो, परन्तु वह स्वादमय ज्ञान हुआ, ऐसा माननेवाले को ज्ञान में अशान्ति का वेदन होता है, यह ऐसा कहते हैं, लो! आहाहा! और मानता है कि यह बहुत मिठास! बिना दाँत ऐसे चूरा हो जाए, लो! यह मावा होता है न? मावे का जामुन, गुलाबजामुन मावे का। ऐसे पोचा... पोचा... पोचा... फट.. फट.. उतर जाए। ज्ञान जानता है। बहुत मीठा था, बहुत मीठा! साटा ऐसा मीठा था। साटा मीठा था, वह ज्ञान में आ गया न तुझे? मिठास भी मीठी लगी न? मीठा लगा न? मीठा लगा न? लगा अर्थात् जाना। लगा अर्थात् घुस गया। मीठा, उसे जाना? लगा अर्थात् क्या? मीठा लगा; लगा अर्थात् जाना। उसके बदले मीठा लगा? अन्दर घुस गया? जिसकी ज्ञानपर्याय ज्ञाता की है, स्वद्रव्य की है, ऐसी नहीं अस्ति में प्रतीति, उसे ज्ञान की पर्याय पर से है, ऐसे पर में स्थित होते, दुःखी... दुःखी... दुःखी... हो रहा है। क्यों?

देखो! कहते हैं **'दुर्वासनावासितः'** वापस एक-एक कारण देते हैं। **'दुर्वासनावासितः' अनादि का मिथ्यात्व संस्कार... 'दुर्वासनावासितः'** अनादि के संस्कार। भगवान स्व अस्तित्व से अत्यन्त भिन्न राग से, स्वाद से, काल से, शरीर की इन्द्रिय के भोग से, सबसे भिन्न है, ऐसा न मानकर अनादि के मिथ्यात्व संस्कार के कारण। **'दुर्वासनावासितः' अनादि का मिथ्यात्व संस्कार उससे...** भाषा क्या कही है? यह कर्म के कारण से नहीं, ऐसा कहते हैं। भाई! क्या कहा? **'दुर्वासनावासितः'** कर्म के कारण से, दर्शनमोह के कारण से नहीं। देखो! ऐसा लिया, देखो! उसकी वासना—ऐसी गन्ध अनादि की घुस गयी है। आहाहा! है? **'दुर्वासना'** बुरी वासना। कर्म के कारण नहीं। उसकी पर्यायबुद्धि में परवस्तु में ही रुक गया है वह। ऐसी वासना—दुर्वासना उसने अज्ञान से खड़ी की है। कर्म के कारण नहीं। आहाहा!

अनादि का मिथ्यात्व संस्कार... देखा? वासना अर्थात् संस्कार, 'दु' अर्थात् मिथ्यात्व।

मिथ्या संस्कार, ऐसा। दु अर्थात् मिथ्या, वासना संस्कार—बुरा संस्कार। **उससे... 'वासित' हुआ है...** गन्ध में चढ़ गया, बुरी गन्ध में चढ़ गया। **स्वभाव से भ्रष्ट ऐसा।** भगवान ज्ञाता अपनी ज्ञानपर्याय में, अपने अस्तित्व में रहकर उसे जानता है, ऐसे ज्ञान से वह अज्ञानी भ्रष्ट हो गया है। समझ में आया? यह स्याद्वाद अधिकार जरा है ऐसा कि बहुत सूक्ष्म है। समझ में आया? अब तो इसमें तो दृष्टान्त भी देते हैं। उष्ण का आया न? दृष्टान्त देते हैं या नहीं? दृष्टान्त देते हैं। दृष्टान्त नहीं देते?

अनादि की मिथ्यात्व संस्कार की वासना से, इस वासना से स्वभाव से भ्रष्ट। अस्ति-नास्ति की है। ऐसे चढ़ गया, इसलिए स्वभाव से भ्रष्ट हुआ है। मैं ज्ञानस्वरूप भगवान हूँ, मेरा अस्तित्व तो जानने-देखनेरूप मेरा अस्तित्व है, पर के कारण मेरा अस्तित्व नहीं है। समझ में आया?

ऐसा क्यों है? 'सर्वद्रव्यमयं पुरुषं प्रपद्य' ठीक! **'सर्वद्रव्य' जितने समस्त द्रव्य हैं, उनका जो द्रव्यपना... 'मयं' उस मय जीव है...** यह सब मैं ही हूँ। समझ में आया? स्त्री-अर्धांगिनी है। नहीं कहते? आधा अंग मेरा और आधा अंग तेरा, ऐसे होकर दो होंगे? पूरे घर को सम्हाले, घर को सम्हाले सब आधा अंग हो या नहीं उसका? मूढ़ है। कहते हैं कि किसी द्रव्य को अपनेरूप से माने बिना छोड़ा नहीं, ऐसा कहते हैं। परद्रव्य, परगुण और पर की पर्याय अपनेरूप माने बिना एक भी छोड़ी नहीं। समझ में आया? आहाहा!

जितने समस्त द्रव्य हैं, उनका जो द्रव्यपना उस मय जीव है अर्थात् उतने समस्त स्वभाव जीव में हैं... यह सब भाव मेरे जीव में हैं। कर्म के, राग-द्वेष के, विकार के, यह सब संयोग के-ऐसे जीव के स्वभाव में यह सब है, ऐसा मानकर... **ऐसा जीव वस्तु को प्रतीतिरूप मानकर।** सब मैं हूँ ऐसा, सब मुझमें है ऐसा। वह आत्मा ऐसा मानकर अपने भिन्न आत्मा को खो बैठता है। कहो, समझ में आया इसमें? अच्छे घर में रहा होवे न, पच्चीस वर्ष तो भी अच्छा घर याद आवे। लो! मूढ़ होकर, ऐसा कहते हैं यहाँ तो? अरे! जिस घर में सुखी हुए—ऐसे बहुत लोग कहते हैं, हों! जिस घर में सुखी हुए, उस घर में ऐसा हुआ, ऐसे ग्वाल हुए, अविवाहित थे, उसमें स्त्री हुई, पुत्र हुए, उस घर में सब हो गया। अब वह घर छोड़ना... परन्तु कहा था? घुस कहाँ गया था, उसे छोड़ना? जहाँ-जहाँ गया, वहाँ एकाकार हो गया। यह क्षेत्र में लेंगे। यहाँ तो द्रव्यरूप से उसके ज्ञान में यह सब है, वह मैं हूँ—ऐसा मानकर अपने अस्तित्व की मौजूदगी ज्ञान की भिन्न साधनी चाहिए, उस शान्ति को चूक जाता है। ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

ऐसा **'पुरुष प्रपद्य'** उस प्रतीतिरूप आदर करे, मानता है। उसे आदर करता है कि अपने सब हैं। पूरी दुनिया ज्ञान में ज्ञात होती है, अपनी दुनिया पूरी हम हैं। समझ में आया? नौकर को अच्छा सेठ मिले, सेठ को अच्छा नौकर मिले, अपन सब एक ही हैं। ऐ... शशीभाई! आहाहा! अरे! परन्तु कहाँ तू भिन्न तीनों काल में और तीनों काल की चीज़ को मुझमें माने! ऐसा कहते हैं। यहाँ तो सब बात ली है न? एक को माना, तद्नुसार पूरी दुनिया को ही स्वयं अपनी पर्याय में माना, पूरी दुनिया वही मैं हूँ। पूरी दुनिया वह मैं ही स्वयं हूँ, मेरा ही सब सिक्का चलता है सर्वत्र। समझ में आया? **उनका जो द्रव्यपना उस मय जीव उतने समस्त स्वभाव जीव में हैं ऐसी प्रतीतिरूप मानकर – ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव मानता है।** ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव अपने चैतन्य की भिन्नता को खो बैठकर मृत्यु करता है। अब सुलटा लेते हैं। जो कहना है बोल, वह अब लेते हैं।

'तु स्याद्वादी स्वद्रव्यं आश्रयेत् एव' देखो! धर्मी जीव अनेकान्तवादी। स्याद्वादी का अर्थ ही अनेकान्तवादी, अनेकान्तवादी का अर्थ है सम्यग्दृष्टि। समझ में आया? **'स्वद्रव्यम् आश्रयेत्' ज्ञानमात्र जीववस्तु ऐसा साध सकता है...** देखो! क्या कहते हैं? यह रागादि, पर आदि का ज्ञान होने पर मैं तो ज्ञानमात्र वस्तु हूँ। मैं रागमात्र, पुण्यमात्र, शरीर—ऐसा भी मैं नहीं, उनरूप हूँ ही नहीं। देखो! यह अनेकान्त! ऐसा नहीं कि इसरूप हूँ और इसरूप हूँ, इसका नाम अनेकान्त। आहाहा! यह तो अनेकान्त की व्याख्या अलग कर डाले। अपने शरीररूप भी हैं और आत्मारूप भी हैं, तो अनेकान्त है। ऐसा नहीं है। आत्मा अपने स्वरूपरूप है और पररूप नहीं, इसका नाम अनेकान्त है। आहाहा! अनेकान्त की व्याख्या (ऐसी करे)। समझ में आया?

'तु स्याद्वादी स्वद्रव्यम् आश्रयेत् एव' एकान्तवादी मानता है, वैसा नहीं है,... 'तु' का इतना अर्थ किया। **'स्वद्रव्यम् आश्रयेत्'** समझ में आया? **ज्ञानमात्र जीववस्तु ऐसा साध सकता है–अनुभव कर सकता है। सम्यग्दृष्टि जीव... 'एव'** अर्थात् **ऐसा ही है।** लो! मैं किसी भी चीज़ को जानने के काल में जानने की पर्याय मेरे ही अस्तित्व में है, मेरा अस्तित्व है, ऐसे ज्ञायकपने को ज्ञान की पर्याय से स्वयं को साधता हुआ वहाँ शान्ति को साधता और वेदता है। समझ में आया? **अनुभव कर सकता है।** ऐसा कहा है न? अनुभव करता है, वह तो पर्याय है। आहाहा! समझ में आया इसमें? स्याद्वादी अपने जीववस्तु, ज्ञानमात्र जीववस्तु। ज्ञानमात्र अर्थात् राग-द्वेष आदि भले ज्ञात हुए परन्तु मैं तो ज्ञानमात्र हूँ; रागमय नहीं, पुण्यमय नहीं, शरीरमय नहीं, कर्ममय नहीं, परमय नहीं। मैं तो सब पदार्थों को एक क्षण में मेरे ज्ञान में

अस्तित्व में, मुझमें, सत्ता में रहकर, भिन्न रहकर जाननेवाला मेरा ज्ञान मुझसे है–ऐसे स्वरूप के लक्ष्य से ज्ञान को साधता हुआ शान्ति को, सम्यक् को वेदता है। ओहो! भारी साधक और बाधक, भाई! ऐसा कहे तो बाधक और ऐसा कहे तो साधक। दोनों को अपना माने तो क्या दिक्कत? अनेकान्त किसे कहे? कि यह भी मेरा और यह भी मेरा। (अज्ञानी लोग) नियत का भारी करते हैं।

कहते हैं, सम्यग्दृष्टि जीव **'एव' ऐसा ही है।** अर्थात्? भगवान आत्मा पर के ज्ञेय को जानने के भाव के काल में अर्थात् मेरा स्वरूप तो उससे अत्यन्त भिन्न है। उस चीज़मय हुआ नहीं, वह चीज़ मेरे ज्ञानगुण में आयी नहीं, मेरा ज्ञानगुण वहाँ गया नहीं। मेरा भगवान ज्ञानस्वभाव, वह वर्तमान ज्ञानरूप पर को जानने में पर से पृथक् रहकर जानने का काम करता है। वह जानने का काम स्वयं से होता है, ऐसे साधते हुए वहाँ अनेकान्तपने के अमृत का स्वाद और शान्ति अनुभव करे, उसे अनेकान्त का अनुभव कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया?

अब इसमें बाहर का क्या करना? कि यह करने से (ऐसा होता है ऐसी) तो इसमें कुछ बात ही नहीं आती। यहाँ तो होवे, उसका ज्ञान वह भी मुझसे ज्ञान हुआ। पर का हो, उसका ज्ञान वह भी हुआ, इसलिए ज्ञान, नहीं ऐसा नहीं। वे कहते हैं कि नहीं, परद्रव्य का कर्ता न माने वह जैन नहीं है। अरे! भगवान! गजब करता है न तू।

यहाँ तो कहते हैं जो ज्ञात होता है ज्ञेय, वह कर्ता और ज्ञान की पर्याय कार्य—ऐसा नहीं है। समझ में आया? मात्र वह चीज़ निमित्तरूप से है, उसका ज्ञान अपने में अपने से होता है, ऐसा स्वज्ञान और पर से पृथक् साधता ज्ञान अनेकान्तरूप अर्थात् पर से नास्तिरूप मैं हूँ, स्व से अस्ति हूँ—ऐसा जानते हुए ज्ञान में शान्ति का वेदन होता है, उसे धर्म कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? कहो, सोगनचन्दजी! क्या है? ऐसी बातें! छोड़ो न समझे बिना, करो न कुछ। धर्म करना है न! परन्तु धर्म किस प्रकार से होगा? अनेकान्त वस्तु है, उसे अनेकान्तरूप से रखने से धर्म होगा। समझ में आया? ओहो! यह राग, द्वेष, पुण्य, पाप, विकल्पों को उन्हें वैसे ज्ञेयरूप से रखना और ज्ञान में उसके स्व-परप्रकाशक के ज्ञान में ज्ञानपने के कारण से रखना। उसके कारण से ज्ञान हुआ नहीं और उसमय ज्ञान हुआ नहीं। ऐसे ज्ञान की पर्याय स्व के लक्ष्य से स्वरूप के साधन से अस्तित्व रखती हुई, पर से नास्तित्वरूप परिणमता ज्ञान, स्वरूप को अनेकान्तरूप साधे, उसे सम्यग्दर्शन और अनुभव होता है—ऐसा कहते हैं। समझ में आया? ऐसा भारी सूक्ष्म!

पुनश्च भगवान की प्रतिमा और यात्रा, और यहाँ उसमें कहाँ आया उसमें ? ऐई ! वह तो जब शुभराग होता है, तब उस राग में उसके सन्मुख लक्ष्य जाता है। वह शुभराग और उसका ज्ञान, उस लक्ष्य का ज्ञान, ज्ञान की पर्याय में अपने अस्तित्व से होता है; वह राग के कारण नहीं, सामने चीज़ के कारण नहीं। समझ में आया ? उस काल में ज्ञान की पर्याय उस प्रकार के राग को और उस प्रकार की प्रतिमा आदि भगवान को जाननेयोग्य जो ज्ञान की पर्याय, उसे वह ज्ञान जाने अवश्य, परन्तु उसे अपना मानकर अथवा वह ज्ञान वहाँ गया अथवा उससे यहाँ ज्ञान हुआ, —ऐसा धर्मी नहीं मानता। आहाहा ! गजब ! जुगराजजी ! भारी काम भाई ! यह तो वे कहें, उड़ाओ, उड़ाओ। भाई ! इस शुभभाव के समय वैसा ही ज्ञान उसे आता है। समझ में आया ?

भक्ति के काल में भगवान सामने हों और राग हो ऐसा। तो ज्ञान की पर्याय राग को स्पर्श किये बिना, निमित्त को स्पर्श किये बिना, राग और निमित्त बिना, उसके आश्रय बिना ज्ञान की पर्याय स्वयं से होती है, पर से नहीं होती—ऐसे ज्ञान को साधे, उसे सम्यग्दृष्टि का अनेकान्त ज्ञान कहा जाता है। आहाहा ! समझ में आया ? गजब बात, भाई ! एक ओर वह वस्तु रखना तथा फिर उससे भिन्न ज्ञान रखना। तब तो यहाँ अस्ति-नास्ति होगी। वजुभाई ! वापस वे उड़ा दे शुभभाव और शुभ के समय का निमित्त तो उस सम्बन्धी का ज्ञान उस काल में उड़ जाता है। समझ में आया ? उस समय भक्ति और उसका शुभराग, उस सम्बन्धी का ज्ञान स्व को जानते हुए उस सम्बन्धी का ज्ञान उस काल में होता है। यदि ऐसी ज्ञान की पर्याय न माने और अज्ञान शुभ ही न हो और सामने न हो तो उस ज्ञान की पर्याय का जो उस समय का सामर्थ्य है, उसे वह नहीं मानता। आहाहा ! समझ में आया ? गजब बात, भाई !

ज्ञान की पर्याय में उसी प्रकार से उस प्रकार से शुभराग का काल है, वहाँ सामने निमित्त है और ऐसा ही ज्ञान का स्वकाल है। यहाँ स्वकाल बाद में आयेगा परन्तु ऐसा ही ज्ञान का अस्तित्व है, तो सामने ऐसा ही होता है। ऐसी स्थिति के काल के ज्ञान को ऐसी स्थिति न माने और यह न हो और ज्ञान उस प्रकार का परिणमता अकेला माने तो उसे ज्ञान की खबर नहीं है। समझ में आया ? और उस ज्ञान की पर्याय, वह है तो यहाँ हुई है तो ज्ञान में उसकी नास्ति है, ऐसा वह नहीं मानता।

श्रोता : ज्ञेय की विद्यमानता के कारण से ऐसा भ्रम होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं; उसकी भ्रमणा के कारण से भ्रम होता है। ज्ञेय की विद्यमानता के कारण से होता होवे तो सबको होना चाहिए। दुर्वासना, नहीं लिखा था कारण ?

कारण दिया था। उसे मिथ्या संस्कार के कारण से। देखो! लिखा, देखो! दूसरी लाईन है। क्या? ज्ञेय के कारण से नहीं; उसकी भ्रमणा के कारण से होता है। उसका ज्ञान का अस्तित्व उस काल में स्वयं से ऐसा ही होता है, ऐसा न मानकर ऐसा ही उस प्रकार से वहाँ ज्ञात हो, उसे ज्ञान उसके कारण से हुआ, ऐसी वासना—दुर्वासना के कारण से भ्रम पड़ता है। ऐसा कहा था न? 'भ्रमयन्ति' नहीं कहा था? समझ में आया? 'भ्रमन्ति' कहीं आया था? कहीं आया था न? **'भ्रमत:'** देखो न! **ज्ञानवस्तु होने की होती है भ्रान्ति।** देखो! नीचे से दूसरी लाईन, इस ओर २२६, नीचे से दूसरी लाईन **'भ्रमत:'** भ्रमणा होती है। समझ में आया? यह मानो यह होवे तो होता है और यह होवे तो नहीं। परन्तु यह होवे तो होता है, वह काल तेरे अपने अस्तित्व का है। पर के अस्तित्व के कारण तेरा अस्तित्व नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा कि यह ज्ञेय ज्ञात होता है, ऐसा ही बराबर ज्ञात होता है, इसलिए ज्ञेय भ्रान्ति का कारण होगा? तब तो सबको ज्ञेय जहाँ रहे, तब तक भ्रान्ति चालू ही रहे। कभी भ्रान्ति मिटे नहीं।

श्रोता : ज्ञान होवे, तब सामने अवश्य होवे?

पूज्य गुरुदेवश्री : जरूर-फरूर की बात नहीं है। होता है, वहाँ होता है उसमें क्या? यहाँ क्या काम है उसे? होता है, फिर और जरूर की क्या यहाँ बात है? वहाँ होता है, उसके कारण से वहाँ? यहाँ ज्ञान अपने कारण से अपने से होता है। और उसमें होता है, इसलिए यह होना चाहिए, यह प्रश्न कहाँ रहता है? निमित्त होना चाहिए, निमित्त होना चाहिए (-ऐसा लोग कहते हैं)। परन्तु होना चाहिए का अर्थ क्या? ज्ञान की पर्याय उसी प्रकार से और संयोग को जो जानता हुआ ज्ञान परिणमता है, उस काल में ऐसा ही निमित्त और संयोग होता है। यह उसकी ज्ञान की पर्याय का अस्तित्व होना है, इसलिए वह वहाँ अस्तित्व है, ऐसा नहीं है और उसके अस्तित्व के कारण से इस ज्ञान का स्व-पर परिणमन हो, उस अस्तित्व के कारण से, ऐसा नहीं है। गजब बात, भाई! आहाहा!

श्रोता : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अज्ञान की वासना के कारण से होता है, पर के कारण से नहीं। स्वभाव के कारण से नहीं, पर के कारण से नहीं। बीच की वासना घुस गयी है, उसके कारण से—ऐसा कहते हैं, लो! यह तो अजर प्याला मार्ग है, भाई! समझ में आया? परम सत्य का साधन यह है। आहाहा! अनादि की है न? अनादि की करता आया है, इसलिए। वापस करता है... पूर्व की है, इसलिए अभी है, ऐसा भी नहीं। पूर्व का है, इसलिए ऐसा नहीं। ऐसा कहते

हैं कि अनादि का है। वह नया-नया करता ही आता है, भ्रमणा खड़ी करता ही आता है। यह है तो यह हूँ, यह है तो यह हूँ, यह है तो यह हूँ—ऐसा ही इसे ज्ञान होता है, इसलिए यह है, वह मैं हूँ। देखो! यह निमित्तवाले के निमित्त उड़ जाते हैं इसमें। आहाहा! अर्थात् कि उससे होता है, यह बात उड़ जाती है। होता है, तब उसे निमित्त कहा जाता है। होता है, तब उसे निमित्त कहा जाता है। ज्ञान ज्ञानरूप से, उपादानरूप से स्वयं से परिणमता है, उस सम्बन्धी का ज्ञान अपना अपनेरूप परिणमे, वह उपादान है। सामने चीज़ है, परन्तु वह है तो यहाँ ज्ञान ऐसा परिणमता है—ऐसा नहीं है। वह है तो यहाँ परिणमता है तो उसके कारण से यहाँ अस्तित्व है, अपने कारण से अस्तित्व है, ऐसा इसने माना नहीं। समझ में आया? ऐसी ज्ञान की कोर्ट होगी ऐसी कुछ? भगवान ने अनेकान्त का फैसला कोर्ट में ऐसा किया है। समझ में आया? आहाहा!

उसमें कुन्दकुन्दाचार्य। उनकी कथन की पद्धति अकेली सत्य के डोर की है। आहाहा! इससे शासन के स्तम्भरूप से रखे हैं न? 'मंगलम् भगवान वीरो, मंगलम् गौतमोगणी, मंगलम् कुन्दकुन्दार्यो' कुन्दकुन्दादि आचार्यों को मुख्य रखा, देखो! गणधर के पश्चात् रखा कुन्दकुन्दाचार्य! आहाहा! धर्मधुरन्धर आचार्य पद का (आज) यह दिन है, देखो न! सब ऐसे पके हैं। अमृतचन्द्राचार्य महाधर्म के स्तम्भ दिगम्बर सन्त मुनि! वे अन्तर के आत्मध्यान के अमृत में अनुभव के वेदन में स्थित, वे कहते हैं कि हम तो पर को जानने के काल में पर से तो नहीं, हों! ऐसा ही ज्ञान होता है न? वह ऐसा ही ज्ञान होता है, तब कैसा ज्ञान होता है? ज्ञान कहीं दूसरे प्रकार का होगा? ज्ञान का यथार्थपना किसे कहते हैं? जैसा वहाँ है, वैसा यहाँ ज्ञान होता है; इसलिए ज्ञान उसके कारण से हुआ है? ज्ञान का यथार्थपना कैसे कहलाये? जैसा है, वैसा जाने उसका नाम यथार्थपना है। परन्तु वह है तो जानता है? वह यथार्थपना है? समझ में आया? आहाहा!

ज्ञानमात्र जीववस्तु ऐसा साध सकता है–अनुभव कर सकता है। सम्यग्दृष्टि जीव... 'एव' ऐसा ही है। ऐसा ही है। **कैसा है स्याद्वादी? 'समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां जानन्'** यह सिद्ध करना है, देखो! यहाँ नास्ति का भंग है न? **'समस्तवस्तुषु'** मेरी वस्तु के अतिरिक्त **'परद्रव्यात्मना'** परद्रव्यस्वरूप जितनी **ज्ञान में प्रतिबिम्बित हुआ है समस्त ज्ञेय का स्वरूप,...** ज्ञान में जानने में आया सब वस्तु का स्वरूप। **उसमें... 'परद्रव्यात्मना'** वह परवस्तु का स्वरूप है। ऐसा अनुभव करता है। **ज्ञानवस्तु से भिन्नपना,...** ऐसा, ऐसा लिया। नहीं तो ज्ञानवस्तु से भिन्नता अनुभव करता है। ऐसा परद्रव्य है न? ज्ञानवस्तु से भिन्नपना अनुभव करता है। समझ में आया?

'परद्रव्यात्मना' ज्ञान में सब ज्ञात होने पर भी वह परद्रव्यस्वरूप है, उसरूप मैं नहीं हूँ। समझ में आया? ओहो! ज्ञान में जानने में सब वस्तु आयी, वह **समस्त ज्ञेय का स्वरूप, उसमें अनुभवता है ज्ञानवस्तु से भिन्नपना,...** ऐसा, नास्तिपना। परवस्तु का ज्ञान में जानना आया परन्तु उस परवस्तु का मुझमें नास्तित्व है। ऐसा ज्ञान में ज्ञानी—स्याद्वादी अनेकान्त अनुभव करता है। आहाहा! यह अनेकान्त है, लो! समझ में आया? नास्तिपना अनुभव करता है अर्थात् **भिन्नपना, उसके कारण नास्तिपना अनुभवता हुआ।** भगवान की वाणी भी ज्ञान में आयी, परन्तु कहते हैं कि नहीं। वाणी से ज्ञान का नास्तिपना अनुभव करता है। समझ में आया? वहाँ यह ज्ञानी गणधर आदि भी बैठे हैं और ज्ञान में जो ज्ञात होता है तो वह अस्तित्व वाणी के कारण यहाँ ज्ञान हुआ है, ऐसा नहीं है और जैसा वाणी में आशय आवे, वैसा यहाँ ज्ञान होता है, वह तो ज्ञान का पर से पृथक् रहकर अपने में अपने को जानने में सामर्थ्यवाला ज्ञान ऐसा है। समझ में आया? इतने भंग! कितने उड़ा देते हैं और कितने सिद्ध करते हैं! समझ में आया?

भावार्थ इस प्रकार है कि समस्त ज्ञेय ज्ञान में उद्दीपित होता है... सब ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात होते हैं। उद्दीपित होते हैं अर्थात् ज्ञात होते हैं, हों! ज्ञान आ नहीं जाता। **परन्तु ज्ञेयरूप है, ज्ञानरूप नहीं हुआ है।** परवस्तु पररूप ज्ञान (रूप) में हुई नहीं। **कैसा है स्याद्वादी?** यह एक बोल रह गया है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

१०

श्री समयसार कलश-टीका, कलश - २५३-२५४, प्रवचन - २५१
दिनांक - १६-१२-१९६५

स्याद्वाद अधिकार, सातवें श्लोक का अन्तिम थोड़ा बोल है। **कैसा है स्याद्वादी?** इतना अन्तिम शब्द बाकी है। अर्थात् क्या चलता है यह? आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप स्वद्रव्य है, उसमें परद्रव्य का ज्ञान होने से अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं परद्रव्य से ही हूँ। ज्ञान की पर्याय का स्वभाव परज्ञेय को जानने का है, ऐसा जानते हुए उसे ऐसा है कि इन सब पररूप ही मैं हूँ। **स्याद्वादी.. 'निर्मलशुद्धबोधमहिमा' मिथ्यादोष से रहित...** अर्थात् पर के कारण मैं हूँ, ऐसा नहीं है। मेरे ज्ञान में परद्रव्य ज्ञात होते हैं, तथापि परद्रव्य के कारण मैं हूँ—ऐसा नहीं है। अपने अस्तित्व पर लक्ष्य और मान्यता होने से धर्मी जीव उसके ज्ञान में पर ज्ञात होता अवश्य है। ज्ञात होने पर भी उससे मैं हूँ—ऐसा नहीं है। समझ में आया?

मिथ्यादोष से रहित... शब्द है तो ज्ञान है, यह पुस्तक है तो ज्ञान होता है, ऐसे परद्रव्य हैं तो ज्ञान होता है—ऐसा धर्मी नहीं मानता। **तथा रागादि अशुद्ध परिणति से रहित...** जिससे परद्रव्य के कारण मेरा ज्ञान नहीं है, ऐसा माननेवाला स्वद्रव्य के कारण मेरी अवस्था ज्ञान आदि वस्तु है, उसे परद्रव्य के ओर की एकताबुद्धि (के नाश) में राग का नाश हो जाता है। समझ में आया? और **'बोध' अनुभवज्ञान उससे है... 'महिमा'** मैं तो ज्ञानस्वरूप मुझसे हूँ, चैतन्यमूर्ति हूँ, ऐसे अपने बोध का अनुभव ज्ञान के अनुभवज्ञान से मैं हूँ, ऐसे अपने प्रताप को प्रसिद्ध करता है। कहो, समझ में आया इसमें? इतना शब्द था।

सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा को पर का जानना होने पर भी, पर से मैं नहीं हूँ। मैं तो मेरे स्वरूप के ज्ञानबोध से हूँ, ऐसी अपनी सत्ता की दृष्टि रखकर अपने अस्तित्व में मुझसे मैं हूँ, पर से नहीं—ऐसा अपने ज्ञानस्वरूप को रागरहित करता हुआ, पर के सम्बन्ध बिना करता हुआ, अपने ज्ञान के साथ एकत्व करता हुआ ज्ञान का अनुभव करता है। यह उसकी **'महिमा'** अर्थात् प्रताप है। समझ में आया? यह तो अकेले अनेकान्त के नियम हैं न! जरा सूक्ष्म है। यह छह बोल हुए। अब स्वक्षेत्र से अस्ति का सातवाँ बोल है। आत्मा अपने क्षेत्र में है, परक्षेत्र से नहीं।

भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः सदा
सीदत्येव बहिः पतंतमभितः पश्यन्पुमांसं पशुः।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन्।।८-२५४।।

इसमें ऐसा कहना है कि ऐसा प्रत्येक में भावार्थ से उठाया है। **भावार्थ इस प्रकार है कि मिथ्यादृष्टि (अर्थात् असत्यबुद्धि) जीव ऐसा है कि जो वस्तु को पर्यायरूप मानता है,...** यहाँ भाषा ऐसी है। अर्थात ? बस, दो ही बात। इस ज्ञानपर्याय में परक्षेत्र के आकार ज्ञान होता है। कहते हैं न अभी, अभी कहाँ छोड़ देते हैं ? ज्ञान पर का क्षेत्र जानता है, पर का क्षेत्र यह घर, मकान, घट-पट, इनकी चौड़ाई को, इनके क्षेत्र को, इनके अवगाहन को ज्ञान जानता है। जानते हुए अज्ञानी को ऐसा लगता है कि यह ज्ञान का अस्तित्व इस पर जितना बड़ा-छोटा क्षेत्र है, उतना मैं हूँ।

श्रोता : अपने मकान का क्षेत्र किसका ?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्षेत्र किसका होगा ? मगनभाई ? मुझे तो आज एक विचार दूसरा आया था, वे नैयायिक इन्द्रिय को सन्निकर्ष कहते हैं न ? नहीं ? इन्द्रिय को प्रमाण कहते हैं। इसलिए उस सन्निकर्ष को, मेरा तो ऐसा कहना है कि प्रमाण कहते हैं। यह मस्तिष्क में आया। उसके अर्थ में उन्होंने नहीं लिखा, वह तो समुच्चय लिखा है—नैयायिक शब्द। परन्तु उस इन्द्रिय को सन्निकर्ष (कहते हैं)। इन इन्द्रियों को प्रमाण कहते हैं। यह अर्थ में नैयायिक रखा है। संस्कृत में 'अध्यात्म तरंगिणी' अध्यात्म क्या कहलाता है ? 'परम अध्यात्म तरंगिणी' अर्थात् कि यह इन्द्रियाँ हैं, वे प्रमाण हैं, ऐसा वे मानते हैं। वह है तो ज्ञान है। अर्थात् इन इन्द्रियों का क्षेत्र पर है। आत्मा का स्वक्षेत्र असंख्य प्रदेश में स्वयं स्वतन्त्र अपनेरूप असंख्य प्रदेश में आत्मा का अस्तित्व है और यह इन्द्रियाँ जो जड़ हैं, उनका क्षेत्र ही पर है, तथापि वे इन्द्रियाँ हैं तो मुझे ज्ञान होता है, ऐसी इन्द्रियाँ हैं तो मुझे ज्ञान होता है, उस परक्षेत्र से मैं हूँ—ऐसा वह मानता है। समझ में आया ?

यह इन्द्रियाँ है तो ज्ञान होता है या नहीं अन्दर ? इन्द्रिय बिना होगा ? कहते हैं कि इन्द्रियाँ तो जड़ हैं, भाई ! वे तो परक्षेत्र में हैं, वे कहीं तेरे क्षेत्र में नहीं हैं। तेरे क्षेत्र में तो असंख्य प्रदेश में ज्ञानघन है, वह तेरा क्षेत्र है। तेरे क्षेत्र में अर्थात् तेरे अवगाहन में—तेरी चौड़ाई में, तेरे अवगाहन में—तेरी चौड़ाई में, तेरी चौड़ाई और तेरा अवगाहन तो असंख्य प्रदेश में है। यह चौड़ाई और यह अवगाहन तो पर है। कब होगा यह ? त्रिकाल ऐसा है।

वस्तु अपने अवगाहन अर्थात् चौड़ाई में उसे स्वक्षेत्र असंख्य प्रदेश में उसका ज्ञान आदि गुण, आनन्द आदि गुण, वह सब असंख्य प्रदेश में स्व-अवगाहन में है। ऐसा न मानकर उसके ज्ञान में परक्षेत्र की अस्ति है, इसलिए यहाँ ज्ञान दिखता है न? यह इन्द्रियाँ घट-पट आदि की जो चौड़ाई या मकान की चौड़ाई या सब क्षेत्र आदि घट-पट (आदि), उसी प्रकार का ज्ञान में वैसा ही क्षेत्र ज्ञान जानता है। ऐसे चौड़े छोटे-बड़े क्षेत्र को ज्ञान जानता है, तो उसे ऐसा हो जाता है कि छोटे-बड़े क्षेत्र को बराबर ज्ञान जानता है तो वह मेरा क्षेत्र पर में ही जाता है, पर के कारण मेरा क्षेत्र है। मैं यहाँ रहकर इतना बड़ा कैसे जानूँ? मैं यहाँ रहकर यह नीम ज्ञात होती है, लो! देखो! यह अलमारी ज्ञात होती है। कहते हैं कि मेरे ज्ञान की पर्याय ऐसे क्षेत्राकार होती है, इसका अर्थ कि मैं इतना चौड़ा हो जाता हूँ। समझ में आया? मिथ्यादृष्टि ऐसा मानता है। वस्तु को पर्याय मानता है। पर्याय अर्थात् एक क्षण की अवस्था पर आकार चौड़ी आदि इतनी चौड़ी होती नहीं, चौड़ी तो अपने क्षेत्रप्रमाण ज्ञान की पर्याय होती है। समझे न? पहोली कहते हैं? क्या कहते हैं? चौड़ी। उस चौड़ाई में बड़ा ऐसे दिखे। नीम दिखाई दे, पीपल दिखाई दे, मकान इतना बड़ा दिखाई दे। इसलिए उस ज्ञान की पर्याय में इतना ही क्षेत्र दिखता है। उसका अर्थ कि उस क्षेत्राकार मैं हो जाता हूँ। समझ में आया?

मकान में क्षेत्राकारवर्ती हो जाए, तब क्षेत्र छोड़ना इसे सुहाता नहीं है न? उस क्षेत्र से कैसे निकलना? इस क्षेत्र से निकलूँगा तो मानों मैं ही निकल जाता हूँ! परन्तु तू तो तेरे असंख्य प्रदेश के क्षेत्र में है। भीखाभाई! इस मकान में फर्नीचर होवे न, ठीक से होवे। उसका क्षेत्र इतना। कितना? असंख्य प्रदेश में। दिखता है इतना (बड़ा)। मानो इस ज्ञान का क्षेत्र पर के कारण हो। पर का क्षेत्र ज्ञान में जानने की सामर्थ्य की शक्ति है, ऐसा न मानकर पर के क्षेत्र में ही मेरी ज्ञान की दशा चली गयी और पर के कारण मैं हूँ—ऐसा माननेवाला अपने ज्ञान के क्षेत्र को अपने क्षेत्र में रहा हुआ, व्याप्त नहीं मानता। समझ में आया?....

यह घट-पट घड़े की चौड़ाई, वस्त्र की चौड़ाई, मकान की चौड़ाई, दरवाजे की चौड़ाई, खिड़की की चौड़ाई, यह सरिया की चौड़ाई, यह घड़ी की चौड़ाई है या नहीं? देखो! इस चौड़ाई में मेरा क्षेत्र वहाँ घुस गया, ऐसा (मानता है)। उस सम्बन्धी का ज्ञान यहाँ होता है। इतने ही क्षेत्र में इतने बड़े क्षेत्र का या छोटे क्षेत्र का ज्ञान यहाँ होता है परन्तु उस छोटे-बड़े क्षेत्ररूप आत्मा हो गया है, ऐसा नहीं है। अज्ञानी को ऐसा हो जाता है कि आहाहा! इतना बड़ा ज्ञात होवे तो मैं तो उस क्षेत्रमय हो गया, मेरा ज्ञान ही वहाँ चला गया, वहाँ ही विश्राम पा गया। समझ में आया?

इतनी आँख में ज्ञान है, ज्ञान तो पूरे में है। बड़ा पर्वत ज्ञात होता है। पर्वत पर जाता हो तो कितना ज्ञात होता है, देखा है ? आहाहा! यात्रा-बात्रा जाते हैं न ? उसमें चलकर जाना होवे तो जरा मेहनत पड़ती हो परन्तु कोई डोली में बैठा हो तो उसे देखने का बहुत रहता है। नीचे ऐसे कहाँ का कहाँ पच्चीस, पच्चीस-तीस कोस का ऐसा कहीं का कहीं लगे ठेठ। गिरनार में तो जैतपुर-बैतपुर कहीं नजदीक लगता है, वह दिखता है। ओहो! यह ज्ञान मानो वहाँ चला गया। इतना ज्ञान इतने को जाने, इतना ज्ञान इतने को जाने तो ज्ञान इतना हो गया। एकाकार हो गया, ऐसा मानता है परन्तु मेरा ज्ञान मेरे क्षेत्र में रहकर उसे जानते हुए उसरूप नहीं होता, ऐसा अज्ञानी नहीं मानता। कहो, समझ में आया इसमें ? कहो, मलूकचन्दभाई! यह फिर यह याद आया। बाईस मंजिल हमारा किया हुआ था। बाईस मंजिल और दो मंजिल और पाँच मंजिल और यह मंजिल, परन्तु यह तो क्षेत्र की उसकी चौड़ाई है। उसकी चौड़ाई का ज्ञान यहाँ की चौड़ाई में रहे हुए ज्ञात होता है। यहाँ की चौड़ाई वहाँ चली जाती है, (ऐसा नहीं है)। समझ में आया ?

यह इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों को ही प्रमाण माना। क्योंकि इन्द्रियाँ न हो तो ज्ञान कैसे होगा ? परन्तु मैं न होऊँ तो कैसे होगा ?—ऐसा नहीं। यह इन्द्रियाँ होवे तो ज्ञान होगा, ऐसा मानते हैं बहुत ? विशेष ज्ञान। देखो न! जयधवला में लिखा है न ? यह इन्द्रिय से ज्ञान होगा। इन्द्रिय से ज्ञान होगा, इन इन्द्रियों से तेरी विशेष दशा हुई तो फिर सामान्य जो गुण त्रिकाल है, उसने विशेष क्या किया ? क्या किया ? वह सामान्य अर्थात् कायम रहनेवाला ज्ञानगुण, कायम रहनेवाला ज्ञानगुण। उसकी वर्तमान अवस्था की दशा होना, वह उसकी विशेष अवस्था कहलाती है। उसकी विशेषता। सामान्य त्रिकाल एकरूप, उसकी वर्तमान दशा, वह विशेष अवस्था। वह ज्ञान की विशेष अवस्था यदि इन्द्रियों से होवे तो, उन इन्द्रियों से विशेष हुआ, इन्द्रियों से विशेष हुआ तो सामान्य का विशेष नहीं रहा। कहा या नहीं ? ...भाई! सामान्य अर्थात् कायम रहनेवाला। सोना है सोना... सोना... सोना... वह कायम रहनेवाला है और उसकी वर्तमान अवस्था कुण्डल, कड़ारूप हुई, वह विशेष। अब वह विशेष अवस्था कोई कहे कि स्वर्णकार ने की, हथौड़े ने की वह विशेष अवस्था। यदि उनसे विशेष हुई तो सामान्य, विशेष बिना का रहा ? सामान्य, विशेषरूप परिणमा है, वह सामान्य स्वयं विशेषरूप हुआ है। समझ में आया ?

निमित्तकर्ता का आया था। भगवान वाणी के निमित्तकर्ता हैं, नहीं तो प्रमाण नहीं ठहरे। उपादान एकान्त कर्ता माननेवाले (को) निमित्तकर्ता को उड़ाना है, प्रमाण नहीं सिद्ध होगा। इसलिए भगवान ने कहा है, ऐसा नहीं माने, भगवान ने जाना ऐसा मानकर नियत को मानते हैं।

भगवान ने जाना, ऐसा नियत को मानते हैं, भगवान ने कहा—ऐसा कहने जाए तो कहा तो भगवान ने कहा तो कर्ता हो जाते हैं। ऐई! विचित्रता है। अकेले उपादान कर्ता माननेवाले, निमित्तकर्ता नहीं माननेवाले केवली का कहा हुआ है, ऐसा नहीं मानते। परन्तु आचार्यों ने तो ऐसा कहा है कि केवली ने कहा हुआ कहता हूँ, केवली ने देखा हुआ कहता हूँ—ऐसा कहीं नहीं कहा।

हाँ, यह लिखते हैं। यह किसी ने प्रश्न पूछा था। 'णिदिट्ठं' 'णिदिट्ठं' का अर्थ देखना होता है ? या कहना होता है ? इसमें से बड़ी चर्चा उठायी। रयणसार का कोई प्रश्न है। यह तो देखा, वह कहा जाता है और कहना वह कहा भी कहा जाता है। सुन न अब। कहा हुआ कहा जाता है, यह तो निमित्त से बात है। निमित्त कर्ता है, उसका कहाँ अर्थ हो गया ? वह वाणी को रचता है। उपादानरूप से नहीं परन्तु निमित्तरूप से वाणी को रचता है। वाणी को आत्मा रचे ? यह तो कुछ गजब करते हैं न! समझ में आया ?

यह इन्द्रियों के रचे, यह इन्द्रियाँ होवे तो ज्ञान हो, इन्द्रिया उसमें निमित्तकर्ता ज्ञान की है, उसके क्षेत्रप्रमाण यहाँ ज्ञान होता है, उसके ज्ञान में भी चौड़ाई परन्तु इतने क्षेत्र प्रमाण हुई। देखो! ऐसा। परन्तु वह क्षेत्र पर है और तेरा क्षेत्र अत्यन्त पृथक् है। अपनी चौड़ाई के क्षेत्र की अस्ति में पर की चौड़ाई की छोटे-बड़े के ज्ञान की आकृति अपने क्षेत्र प्रमाण जानते हुए उसका क्षेत्र मानो पररूप हो गया, ऐसा अज्ञानी को भ्रम पड़ जाता है। बहिर्बुद्धि है न ? ऐसा यहाँ कहते हैं। बहिररूप से परक्षेत्र को जानते हुए परक्षेत्ररूप हो गया, ऐसा लगता है। समझ में आया ?

द्रव्यरूप नहीं मानता है,... अर्थात् अपना भिन्न क्षेत्र है, ऐसा नहीं मानता; **इसलिए जितना समस्त वस्तु का है आधारभूत प्रदेशपुंज,...** देखो! इसके लिए जितनी दूसरी वस्तुएँ हैं, उनका आधारभूत क्षेत्र—प्रदेश। घड़े का घड़े प्रमाण क्षेत्र चौड़ा है या नहीं ? वस्त्र का वस्त्र प्रमाण चौड़ा है या नहीं ? नदी का नदी प्रमाण, पर्वत का पर्वत प्रमाण चौड़ा क्षेत्र है या नहीं ? लड्डुओं का लड्डुओं प्रमाण, दाल का दाल प्रमाण। उसके आधारभूत उसके प्रदेश—उनका क्षेत्र है। **उसको जानता है ज्ञान।** उन्हें जानती है ज्ञान की दशा। जैसा उनका क्षेत्र प्रदेश का, पर का है, तत्प्रमाण ज्ञान की दशा जानती है।

जानता हुआ उसकी आकृतिरूप परिणमता है ज्ञान। आकृति को यहाँ वजन है न ? यहाँ क्षेत्र का वजन है। समझ में आया ? जैसी परवस्तु है, उसके क्षेत्र प्रमाण ही ज्ञान की पर्याय उतने प्रमाण परिणमती है, परन्तु परिणमती है, वह अपने क्षेत्र में परिणमती है। उसके क्षेत्र

में जाकर और उसके क्षेत्र के कारण, उसके क्षेत्र में जाकर और उसके क्षेत्र के कारण (परिणमती नहीं) । समझ में आया ? बड़ा पत्थर का स्तम्भ हो, छह हाथ का स्तम्भ पुरुषाकार (हो) । ज्ञान उसे जाने । इसलिए उसे (ऐसा लगता है) कि इतना बड़ा क्षेत्र इसमें ज्ञात हुआ तो यह मेरा ज्ञान इतने आकाररूप हो गया । पुरुष के छह हाथ के पत्थर जितना मेरा ज्ञान हो गया । समझ में आया ? क्योंकि वहाँ उसकी बहिर्बुद्धि में जितना चौड़ा दिखायी दे, इतना मेरा ज्ञान चौड़ा होकर वहाँ परिणम गया, (ऐसा मानता है) । समझ में आया इसमें ?

मकान-बकान में क्या ? उस मकान (में) जहाँ रहा हो, वहाँ से निकलना सुहाता नहीं, एकाकार हो गया, क्षेत्राकारवर्ती । जो मकान पचास-पचास वर्ष से प्रयोग किया हो, वह ज्ञान की पर्याय में ऐसी क्षेत्राकारवृत्ति हो गयी हो, लो ! हुआ है तो क्षेत्राकार अपनी ज्ञान की पर्याय । वह क्षेत्राकार पर के क्षेत्ररूप नहीं, परन्तु उसमें से निकलना इसे सुहाता नहीं है । आहाहा ! वह कहाँ तेरा क्षेत्र तो अत्यन्त निराला है । कोई क्षेत्र घर में भी नहीं और घट में भी नहीं, वस्त्र में भी नहीं, इस शरीर के इन्द्रिय के आकार के क्षेत्र में भी तू नहीं । आहाहा ! समझ में आया ?

परिणमता है ज्ञान। इसका नाम परक्षेत्र है। यहाँ अभी इसका नाम ही परक्षेत्र गिना है, भाई ! ज्ञान में पर का ज्ञात होना, इसका नाम ही परक्षेत्र । आहाहा ! उसे ही यहाँ पर्याय को माने, ऐसा कहा है, देखो ! समझ में आया ? इतना ही मैं हूँ, पर को जानने के क्षेत्र जितना ज्ञान, उतना मैं हूँ । **उस क्षेत्र को ज्ञान का क्षेत्र मानता है।** वह क्षेत्र कोई ज्ञान की पर्याय में जितना क्षेत्र ज्ञात होता है, उतना ज्ञान का क्षेत्र मानता है ।

एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव उस क्षेत्र से सर्वथा भिन्न है चैतन्य प्रदेशमात्र ज्ञान का क्षेत्र... पर के क्षेत्र के आकार परिणमित ज्ञान उतना ही नहीं है । भिन्न असंख्य प्रदेशी भगवान चैतन्य प्रदेशमात्र असंख्य चैतन्य के प्रदेश के क्षेत्र की चौड़ाई मात्र है । **उसे नहीं मानता।** देखो न ! यह वेदान्त आदि ऐसा ही मानते हैं न ? ज्ञान पूरे लोकालोक व्यापक हो जाता है । समझ में आया ? अद्वैत एकाकार क्षेत्र में हो जाए तो आत्मा कहलाये न ? अखण्ड आत्मा इतने क्षेत्र में रहे, वह नित्य कैसे रह सकेगा ? इतने क्षेत्र में वस्तु नित्य कैसे रहे ? ऐसा कहते हैं । पूरे क्षेत्र में व्याप्त हो जाए तो नित्य रह सके—ऐसा नहीं है । उसका क्षेत्र भले इतना ही हो, परन्तु उसका नित्यपना अनन्त गुणों से स्वतन्त्र पर से भिन्न है, ऐसा भिन्न वह मानता नहीं है । समझ में आया ?

अनन्त में अनन्त मिल जाए, ऐसा कहते हैं, लो ! एक बार 'संतबाण' का दृष्टान्त आया

था। एक मनुष्य रखा था। यहाँ से बड़ा प्रकाश रखा था। उसमें से प्रकाश सर्वत्र फैल गया। आया था ? देखा था ? एक बार चित्र निकाला था। मानो ज्ञान पर में अनन्त में व्याप गया, इसका नाम आत्मा कहलाता है। लोग कितने ही नहीं कहते कि भाई! यहाँ से देह छूटा, अनन्त में अनन्त व्याप्त हो गया। हो गया, जाओ! परन्तु कहाँ व्यापे ? परक्षेत्र में व्याप्ता होगा ? समझ में आया ?

उसे नहीं मानता है। अपना चैतन्य पदार्थ क्षेत्र असंख्य प्रदेश यहाँ ही है, इतने में ही है। क्यों ?—कि ऐसे एकाग्र करने जाता है तो इतने क्षेत्र में एकाग्र करता है। उसका क्षेत्र यदि लम्बा होवे तो ऐसा होवे तो उसे एकाग्र हो। क्या कहा ? जितने में इस जितने क्षेत्र में चौड़ाई में है, ऐसे अन्दर एकाग्र होता है उसमें, तो जितने में एकाग्र हो, उतने में ही उसका क्षेत्र है। ऐसा यदि यह सब क्षेत्र लम्बा हो तो ऐसा उसे बहुत ऐसा लम्बा हो तो एकाग्र हो।

श्रोता : संसार में एकाग्र होता है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : संसार ? परन्तु संसार में नहीं ? राग में एकाग्र होता है या नहीं ? कितने में होता है ? कितने में ? कितने में होता है ? इस इतने क्षेत्र में होता है या सब क्षेत्र में होता है ? राग में एकाग्र नहीं होता ? राग में एकाग्र कितने क्षेत्र में होता है कहो ?... समझ में आया इसमें ?

इष्टोपदेश में कहा है, एक दृष्टान्त दिया है कि यदि तू ऐसा कहता हो कि आत्मा सर्वत्र व्यापक है, तो फिर उसकी एकाग्रता तो इतने में ही दिखती है। रागादि की एकाग्रता इतने में और ज्ञान की एकाग्रता इतनी चौड़ाई में ही ज्ञान की एकाग्रता ऐसे दिखती है। अत: उसका क्षेत्र तो इतना ही है। उसके बदले इस परक्षेत्र में मैं हूँ (—ऐसा जो मानता है) वह तेरी भ्रमणा है। तुझे स्वक्षेत्र की अस्ति में अनन्त गुण का पिण्ड है, उसकी तुझे खबर नहीं है। समझ में आया ? अनेकान्त है न ? निमित्त कर्ता न माने तो उसे वापस भगवान ने देखा है, ऐसा कहना है, भगवान ने कहा है, ऐसा उसे नहीं मानना। देखा और कहा में अलग होगा ? परन्तु कहा हुआ कहा जाता है, यह तो निमित्त....

श्रोता : कहा उन्होंने और देखा उन्होंने।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा, कहा कहे तो भगवान कर्ता हो जाए और इन्हें निमित्तकर्ता मानना नहीं। कहे, उसमें निमित्तकर्ता भले बोलो परन्तु कर्ता कब थे ? निमित्त है। निमित्त नहीं ? वस्तु नहीं ? लोकालोक नहीं ? कि लोकालोक है, इसलिए ज्ञान हुआ केवलज्ञान का ? इसलिए लोकालोक है, इसलिए केवलज्ञान हुआ ? लोकालोक है, इसलिए केवलज्ञान हुआ ? तथापि केवलज्ञान में लोकालोक निमित्त है। इसका अर्थ क्या ? यह कर्ता है, इसलिए यहाँ केवलज्ञान

हुआ ? केवलज्ञान अपने में प्रगट हुआ, पूर्ण सर्वज्ञदशा (प्रगट हुई, वहाँ) लोकालोक निमित्त कहलाता है। ज्ञान उसे निमित्त कहलाता है, ज्ञान उसे निमित्त कहलाता है। किसे ? लोकालोक को; और लोकालोक इसे निमित्त कहलाता है। बस! निमित्त का अर्थ ही पृथक् एक चीज़ है। इतनी बात है। परन्तु केवलज्ञान ने लोकालोक को उत्पन्न किया है ? और लोकालोक ने इसका केवलज्ञान उत्पन्न किया है ? कर्ता भिन्न और निमित्त भिन्न। पश्चात् उसे निमित्तपने का आरोप करके कर्ता कहा, वह तो आरोप है, वास्तविक (स्थिति) नहीं है। वह तो असत् है। परन्तु करे किसे ? परिणमे, वह कर्ता। सिद्धान्त क्या है ? यह है न ? जयसेनाचार्य ने ऐसा शब्द रखा है। परिणमे, वह कर्ता।

श्रोता : कलश में भी ऐसा ही आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा ही आवे न सर्वत्र। अपने चार बोल नहीं आये थे ? चार बोल का व्याख्यान आया है न आज ? व्याख्यान के चार बोल। आज आया है। कहो, समझ में आया इसमें ? परिणमे, वह कर्ता। वह क्षेत्र यहाँ परिणमता है ? आत्मा अपने क्षेत्र में परिणमता है, पर के जाननेरूप (परिणमता है) परन्तु पर को जाननेरूप परिणमते हुए पर के क्षेत्र के आकार होकर परिणमता है, वह तो ज्ञान हुआ। परन्तु पर के क्षेत्र की चौड़ाईरूप होकर परिणमता है ? पर के क्षेत्र की चौड़ाईरूप होकर परिणमता है। पर के क्षेत्र का ज्ञान स्वक्षेत्र की चौड़ाई में रहकर परिणमता है। समझ में आया ? भारी बातें, भाई!

लोकालोक केवलज्ञान में ज्ञात होता है, लो! यह हो सात हाथ की देह। एक समय की पर्याय लोकालोक को ऐसे एक समय में जानती है। लोकालोक के आकार यहाँ ज्ञान हुआ ? लोकालोक का जैसा आकार है, वैसी ज्ञान की पर्याय परिणमती अवश्य है, परन्तु उसके आकार प्रमाण बड़ी हो गयी है ? इतनी बड़ी हो गयी है ? आहाहा! समझ में आया ?

भगवान आत्मा... ! देखो! एक समय का केवलज्ञान, एक समय में आवे पूरा ज्ञान। उसमें लोकालोक भी ज्ञात हो जाता है। वह तो ज्ञान ज्ञात होने से ज्ञात हो जाता है। समझ में आया ? और वह पर्याय ज्ञात होने पर तीन काल, तीन लोक उसमें इकट्ठे ज्ञात हो जाते हैं, तथापि एक समय में अनुभव का वेदन है, वह कहीं तीन काल के द्रव्य का अनुभव—वेदन उसमें नहीं आ जाता। भोक्तापना वेदन नहीं आ जाता एक समय में। पर का भोक्ता तो नहीं, पर के द्रव्य का भोक्ता नहीं, पर के क्षेत्र का भोक्ता नहीं, पर के काल का भोक्ता नहीं, पर के भाव का भोक्ता नहीं, परन्तु अपने पूरे द्रव्य का एकपने में भोक्ता नहीं। आहाहा! समझ में आया ? परन्तु यह

भोक्ता, ऐसा इसे ज्ञात हो कि आहा! लड्डू आया और यह आया तो ज्ञान तत्प्रमाण जानने को परिणमा और (तो ऐसा लगता है कि) मैंने इसे भोगा, इस क्षेत्र को भोगा, इसे भोगा। वह क्षेत्र तो पर है, लड्डू का क्षेत्र पर है। इतना लड्डू और इतना लड्डू और इतना। समझ में आया? परन्तु जहाँ ज्ञान की पर से भिन्नता भासित नहीं होती और वहाँ पर से एकत्वता भासित होने से पर के आकार ज्ञान होने पर पररूप मैं (हो गया), पर के क्षेत्र में गया, मेरा ज्ञान प्रवेश कर गया। मेरी ज्ञान अवस्था पर के क्षेत्र में प्रवेश कर गयी उड़कर! ऐसा अज्ञानी को अपना सिमटना अपनी पर्याय अपने क्षेत्र में है, ऐसा नहीं मानता। सूक्ष्म बात है। अनेकान्त वस्तु का अनेकान्त। यह सूक्ष्म बात है, समझे न?

अनेकान्त में ऐसा नहीं है कि परक्षेत्र को जाने, इसलिए परक्षेत्र में गया और स्वक्षेत्र को जाने, इसलिए स्वक्षेत्र में रहा, ऐसे दो होंगे? परक्षेत्र को जाने, इसलिए परक्षेत्र में गया; स्वक्षेत्र को जाने, इसलिए स्वक्षेत्र में रहा तो अनेकान्त कहलाये, ऐसा होगा? स्व और पर के क्षेत्र को जानता ज्ञान स्वक्षेत्र में रहा है, परक्षेत्र में गया नहीं। भारी! जाने दोनों को और रहा एक में। है? परन्तु दूसरा होवे किस प्रकार? समझ में आया? यह कहता है कि नहीं; मेरे क्षेत्र में नहीं, मैं तो परक्षेत्र में गया, पूरा चला गया, बह गया। क्षेत्राकार ज्ञान हुआ न (तो) परक्षेत्र में बह गया। जुगराजजी! बड़ी दुकान चलती हो और धूमधाम (होती हो), पचास हजार, लाख की आमदनी होवे न... आहाहा! पेढ़ी पर बैठा हो तो सब आकार ही भासित हो। मानो यह हो गया, यहाँ घुस गया। तुम्हें तो कहाँ माल-बाल होगा? इन्हें तो, इन्हें माल हो न, लाख, दो लाख का माल हो, पाँच लाख का। ऐ... धमाल! मुम्बई में तो दिन भी वह करना पड़े, लाईट करना पड़े। आगे गहरा-गहरा होवे तो। वहाँ उजाला कहाँ से पहुँचे? ऐसे से ऐसे और ऐसे से ऐसे... ऐसे... ऐसे... कितने ही जाएँ ऐसे। गहरा-गहरा पच्चीस हाथ ऐसे जाए और वापस पच्चीस हाथ ऐसे जाए। अब वहाँ कहाँ (प्रकाश जाए)? ऐसा अन्दर से ऐसे एकाकार हो जाए मानो कि आहाहा! मेरी दुकान बड़ी चौड़ी! ऐ... जैचन्दभाई! परन्तु तेरी दुकान तो असंख्य प्रदेश में है। चौड़ी-बौड़ी कहीं नहीं, सुन न! आहाहा! समझ में आया?

उसके प्रति समाधान ऐसा कि ज्ञान वस्तु परक्षेत्र को जानती है... देखो! **परन्तु अपने क्षेत्ररूप है,...** चाहे जितना छोटा-बड़ा क्षेत्र जाने, तो छोटे-बड़े क्षेत्रप्रमाण यह ज्ञान हो गया है, ऐसा नहीं है। क्षेत्र तो अपने असंख्य प्रदेश हैं, उनमें ही रहा हुआ है। नीम को जाने तो भी नीम के क्षेत्र आकार ज्ञान हुआ नहीं। क्षेत्र आकार अर्थात् चौड़ा। उसके जाननेरूप यहाँ हुआ है, वह अलग है और इतनी छोटी को इतना जाने, इतनी एक छोटी चीज़ ज्ञात हो चपटी। तो

चपटी के प्रकार क्षेत्र से उसका ज्ञान परिणमा है, परन्तु चपटी के क्षेत्र जितना ज्ञान हो गया है ? समझ में आया ? आहाहा !

ऐसा कहते हैं, छोटे-बड़े क्षेत्र हैं, उनके सामने (पदार्थ के) क्षेत्र, उनके क्षेत्र को जानता ज्ञान, ज्ञान की आकृतिरूप स्वत: अपना स्वभाव है, इसलिए परिणमे अवश्य परन्तु वह कहीं छोटे-बड़े क्षेत्र के आकार ज्ञान हो नहीं जाता। उनके आकार हो नहीं जाता, वह तो अपनी आकृति में रहकर परिणमता है। **पर का क्षेत्र ज्ञान का क्षेत्र नहीं है।** लो, है न ? **अपने क्षेत्ररूप है। पर का क्षेत्र ज्ञान का क्षेत्र नहीं है। वही कहते हैं...** लो ! यह तो भावार्थ अर्थात् कहना है यह, उपोद्घात कहा।

'पशु: सीदति एव' 'पशु:' अर्थात् **एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव...** पशु अर्थात् **'बध्यते कर्म इति पशु'** समझ में आया ? **'बध्यते कर्म इति पशु'** पहले में आया है। पहले यहाँ 'पशु' शब्द उठाया है। **एकान्तवादी...** अर्थात् पर के ऊपर लक्ष्य करनेवाला, स्व के लक्ष्य के क्षेत्र को छोड़नेवाला, स्व का क्षेत्र अस्तित्व में न रखनेवाला। महान अस्तित्व अपना असंख्य प्रदेशी जिसका आधार है, उसे नहीं माननेवाला परक्षेत्र के जो परद्रव्य के, उनके प्रदेश का जो आधार है, उसे जानता हुआ **'सीदति' ओलों के समान गलता है।** ओला... ओला क्या कहलाता है ? ओला। यह पानी के ओले नहीं (होता) ? बर्फ... बर्फ। यह ओले पड़े। यह ओले गिरते हैं न ?

अभी ही गिरे थे। गिरे, साथ ही पिघल जाए। ओला एकदम पिघल जाता है। ओला अर्थात् बर्फ, लो, ओला लो। एकदम-एकदम पिघलने लगे। एक बार ओला नहीं हुए थे ? भाई ! कालावाड़ में नहीं ? बेचरभाई साथ में थे। तुम ले गये थे। नहीं ? थैली में अधमण (संवत) २००० का वर्ष। रास्ते में वर्षा आयी। कालावाड में २००० के वर्ष की बात है। कालासर, कालावाड नहीं। वहाँ दरबार के उसमें उतरे थे इतने ओले। बेचरभाई और रामजीभाई सब थे। फिर मोटर गयी, उसमें ले गये थे। अधमण थैली में ले गये थे। बड़े पड़े थे, बड़े। परन्तु वे तो एकदम पिघलने लगे अन्दर से। इसी प्रकार मानो आत्मा परक्षेत्र को जानते हुए ज्ञान का स्वक्षेत्र पिघलने लगा हो। समझ में आया ? और अपने क्षेत्र से मानो खाली हो जाता हो। परक्षेत्र में व्याप्त ज्ञान मानो परक्षेत्ररूप हो जाता हो, ऐसा करके अपने क्षेत्र का ज्ञान पिघल जाता है। **'सीदति'** दृष्टान्त कैसा दिया ? समझ में आया ?

ज्ञानमात्र जीववस्तु है ऐसा नहीं साध सकता है। मैं तो पर को, क्षेत्र को जानता हुआ

मेरे स्वक्षेत्र में ही मेरा ज्ञान बसा हुआ है। ऐसे अपने स्वरूप को पर से भिन्न साध नहीं सकता। **'एव' निश्चय से ऐसा ही है।** लो! ऐसा ही है, कहते हैं। अपने स्वरूप को पर से (भिन्न) साध नहीं सकता और पर के क्षेत्राकार एकाकार हो गया हुआ मानता है। **कैसा है एकान्तवादी? 'भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः' अपने चैतन्य प्रदेश से अन्य है जो समस्त द्रव्यों का प्रदेशपुंज...** लो! पूरे लोक के सब। अपने चैतन्य प्रदेश के असंख्य प्रदेशी यहाँ भिन्न है न? ऐसे उससे अन्य **समस्त द्रव्यों का प्रदेशपुंज...** सब द्रव्यों के प्रदेशपुंज। यहाँ क्षेत्र लेना है न? परमाणु का क्षेत्र, स्कन्ध का क्षेत्र, समझे? **उसकी आकृतिरूप परिणमा है...** ऐसा जो पर का क्षेत्र, उसके आकाररूप (परिणमे), ऐसा यहाँ ज्ञान। **'बोध्यनियतव्यापार'** क्यों?—कि **ज्ञेय-ज्ञायक का अवश्य सम्बन्ध...** देखो! नियत का अर्थ किया। बोध्य (अर्थात्) ज्ञात होनेयोग्य और जाननेवाला, इसका नियत-निश्चय व्यापार, निश्चय सम्बन्ध है ऐसा। जैसा क्षेत्र हो वह ज्ञात होनेयोग्य है, जाननेवाला ज्ञान है, ऐसा दोनों को नियत सम्बन्ध है। समझ में आया?

बोध—ज्ञात होनेयोग्य। **ज्ञेय-ज्ञायक का अवश्य सम्बन्ध है।** इसकी इतनी ही व्याख्या (की)। ज्ञात होनेयोग्य वस्तु, जाननेवाला स्वयं। परक्षेत्र में ज्ञात होनेयोग्य वस्तु रही। यह स्वयं जाननेवाला स्वक्षेत्र में उसे बराबर जाने। ऐसा ही उनका दोनों का सम्बन्ध है। ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है। यह तो ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध कहीं टूट जाए?

उसमें निष्ठ है अर्थात् एतावन्मात्र को (इतनामात्र को) जानता है... लो! यह सम्बन्ध हुआ इतना ही आत्मा है, ऐसा मानता है। परन्तु उसे जाननेवाला मेरा स्वरूप अत्यन्त मेरे क्षेत्र में भिन्न है, ऐसा अज्ञानी जानता नहीं। समझ में आया? **ज्ञान का क्षेत्र, ऐसा है एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव। 'सदा' अनादि काल से ऐसा ही है।** अनादि काल से अज्ञानी ऐसा ही मानता है, ऐसा कहते हैं। अनादि काल से, निगोद से लेकर परक्षेत्र में अपना क्षेत्र (मानता है)। (अपना स्वक्षेत्र) मानता नहीं। असंख्य प्रदेशी अपने क्षेत्र की नजर होवे तो उसे परक्षेत्र में मैं हूँ, यह आवे नहीं। वह तो (ऐसा ही मानता है कि) स्वक्षेत्र में अनन्त गुण का पिण्ड मेरे इस क्षेत्र में है। समझ में आया? परक्षेत्र में नहीं। समझ में आया? गिरनार, शत्रुंजय, सम्मेदशिखर सब क्षेत्र हैं या नहीं? उन क्षेत्र में ऐसे एकाकार हो जाए कि मानो यह पूरा ज्ञान वहाँ गया।

श्रोता : ये तो जैन के क्षेत्र हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : जैन के क्षेत्र हैं या पर के क्षेत्र हैं ? कहो, किसके क्षेत्र होंगे ? यह क्षेत्र, क्षेत्र के हैं। जैन के क्षेत्र हैं ? उसमें विवाद उठावें।

कहते हैं, ज्ञान में ये ज्ञात होने पर इनरूप मैं हो गया, ऐसा माननेवाला परक्षेत्र से अपना क्षेत्र भिन्न नहीं समझ सकता, अनुभव नहीं कर सकता। समझ में आया ? **अनादि काल से ऐसा ही है।** अनादि काल से ऐसा है। **और कैसा है मिथ्यादृष्टि जीव ? 'अभित: बहि: पतन्तं पुमांसं पश्यन्' 'अभित:' मूल से लेकर...** सर्वथा, ऐसा। **'अभित:'** अर्थात् सर्वथा है न ? सर्वथा। **'बहि: पतन्तं'** सर्वथा। **'बहि: पतन्तं' परक्षेत्ररूप परिणमी है ऐसे जीववस्तु को मानता है...** मैं तो परक्षेत्ररूप परिणम गया हूँ। उसमें दृष्टान्त आया है न ? भैंस का—पाड़ा का, पाड़ा का। पाड़ा का ध्यान होने पर मैं पाड़ा ही हो गया। दरवाजे में से निकलते हुए ऐसे-ऐसे करने लगा। क्या है परन्तु तुझे ? किसी को पाड़े का ध्यान करना है। तुझे प्रिय क्या है ? कि पाड़ा, भैंस, भैंस। बड़ी भैंस आधे मण दूध दे। उसका ध्यान करता है। ऐसा करते... करते... करते... मैं भैंस हो गया। ऐ, बाहर आओ न ! दरवाजा छोटा है, इसलिए जरा सा ऐसा भैंस का सींग होता है न ? ऐसा निकालकर बाहर आया। परन्तु तू भैंस कहाँ हो गया है ? इसी प्रकार जो क्षेत्र का ज्ञान करे, उस क्षेत्र में से उसे निकलना सुहाता नहीं। समझ में आया ? यह भैंस का दृष्टान्त समयसार में आता है।

परक्षेत्ररूप परिणमा है ऐसे जीववस्तु को मानता है-अनुभवता है, ऐसा है मिथ्यादृष्टि जीव। लो ! यहाँ तक तो परक्षेत्र में अपनापना मानता है, यह बात की। सिद्धान्त तो सिद्ध करना है, आत्मा स्वक्षेत्र में है, वह यह बोल है। श्लोक तो स्वक्षेत्र असंख्य प्रदेश में ही भगवान यहाँ है, ऐसा सिद्ध करना है। परन्तु उसके सामने पहले परक्षेत्र में जीव मानता है कि मैं हूँ, ऐसी यह बात की। **'पुन: स्याद्वादवेदी तिष्ठति' एकान्तवादी जैसा कहता है, वैसा नहीं है...** उसमें **'सु'** आता था, इसमें **'पुन:'** आता है।

'स्याद्वादवेदी' अनेकान्तवादी जैसा मानता है, वैसी वस्तु है। लो ! अनेकान्तवादी अर्थात् पर को जानने पर भी मैं तो मेरे क्षेत्र में हूँ, परक्षेत्र में नहीं—इसका नाम अनेकान्तवाद। परन्तु परक्षेत्र में भी हूँ और मेरे क्षेत्र में (भी हूँ), इसका नाम अनेकान्त नहीं है। नियत ने तो गजब किया है, भाई ! नियत, तुम्हारा क्रमबद्ध तो ऐसा कर डाला। क्रमबद्ध रखते समय खबर नहीं होगी। रखा है, उसमें यह आया है, हों ! क्रमबद्ध करके नियत स्थापित करना है और भगवान ने देखा है, ऐसा स्थापित करना है। परन्तु भगवान ने कहा है, ऐसा नहीं मानते। आहाहा ! अरे !

भगवान! थोड़े-बहुत लोग जाओ और वहाँ जाकर समझाओ, नहीं तो यह सब गाँव-गाँव में विवाद होगा। उसमें आया है, भाई! थोड़ा समाज-नेता वहाँ जाओ और वहाँ जाकर (समझाओ)। अरे! भगवान! आहाहा! अरे! प्रभु! क्या हो?

भाई! तेरी स्वतन्त्रता तुझे जैसे भासित नहीं हो और पुण्य में मिठास लगती है न लोगों को! ऐसी मिठास, ऐसी मिठास। आहाहा! भगवान भी पुण्य को भोगते हैं। पहले लिखा, आज लिखा। वह तो खूब लिखता है। भगवान भी पुण्य को भोगते हैं, पुण्य फला अरिहन्ता। अरे! पुण्य के परमाणु का क्षेत्र अलग, इस समवसरण का फल अलग। उसे भगवान भोगते होंगे? आहाहा! अज्ञानी पर को भोग सकता है? पुण्य के फलरूप से मकान, पैसा, मोटरें, यह सब भोग सकता है या नहीं? आहाहा!

कहते हैं, धर्मी जीव **अर्थात् अनेकान्तवादी जैसा मानता है, वैसी वस्तु है। भावार्थ इस प्रकार है कि वह वस्तु को साध सकता है।** धर्मी जीव अपने ज्ञान में परक्षेत्र (का) जानने का पर का ज्ञान होने पर भी मैं तो मेरे स्वक्षेत्र में ही व्याप्त हूँ, मेरे असंख्य प्रदेश के क्षेत्र में रहा हुआ हूँ, (ऐसा मानता है)। महान क्षेत्र दिखायी दे तो कहीं महान क्षेत्र जितना हो गया, छोटा क्षेत्र दिखायी दे तो छोटे क्षेत्र जितना हो गया और मेरे जितना दूसरा क्षेत्र दिखायी दे तो उसरूप क्षेत्र हो गया, ऐसा है नहीं। समझ में आया?

वस्तु को साध सकता है। कैसा है स्याद्वादी? 'स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः' समस्त परद्रव्य से भिन्न... स्वक्षेत्र अर्थात् यहाँ पहले सिद्ध तो चैतन्यप्रदेश है, उसे सिद्ध करना है। परन्तु सब परद्रव्य, उनके क्षेत्र, उनके जो आधार प्रदेश, उनसे भगवान आत्मा का क्षेत्र अत्यन्त भिन्न है। कहो, समझ में आया? यह भगवान का समवसरण और भगवान का यह और भगवान की वाणी और... वह तो निमित्तपने का ज्ञान करने के लिये बात है। वाणी तो जड़ की है। जड़ की वाणी चैतन्य की होती होगी? चैतन्य की वाणी को ऐसा कि निमित्तकर्तारूप से न मानो तो फिर वाणी का प्रमाण रहेगा नहीं। जड़ में प्रमाण क्या आवे? जड़ में प्रमाण कहाँ था? प्रमाण तो ज्ञान में है। आहाहा! भारी कठिन बात हो गयी। बड़ा धक्का लग गया है कि अरे रे! यह सब... यह धक्का लग गया। यह शासन निभता है, उसके ऊपर बड़ा धक्का लगता है, ऐसा कहते हैं।

व्यवहारचारित्र ही वस्तु है। अभी शुद्ध उपयोग तो है नहीं और इस व्यवहारचारित्र को त्याज्य माने, व्यवहारचारित्र बेचारे मुश्किल से पालन करते हैं। और समकित दृष्टि का प्रकाशपना

तो उसके संयम और तप के ऊपर है। जितने प्रमाण में संयम, तप (होवे उतने प्रमाण में) समकित की किरणें उसके कारण बाहर दिखती है। अब उसे उड़ते हैं, कहते हैं। कहो! उसकी किरणें बाहर आती होंगी! राग की मन्दता और और बाहर के त्याग के कारण समकित बाहर आ जाता होगा? समझ में आया? ऐसा कि बाह्यत्याग के ऊपर समकित का प्रमाण है, ऐसा! बाह्यत्याग को उड़ावे तो समकित भी रहा नहीं और त्याग भी रहा नहीं, इसलिए उन लोगों को— नियतवाद माननेवालों को त्यागी को बहुमान करने का रहता नहीं। आहाहा! भारी बात। खलबलाहट हो गया है।

कहते हैं, धर्मी तो (ऐसा मानता है कि) परद्रव्य से मेरी चीज़ त्रिकाल भिन्न है। समझ में आया? वाणी हो, क्षेत्र हो, मकान हो या समवसरण हो या सम्मेदशिखर हो। **परद्रव्य से भिन्न अपने स्वरूप चैतन्यप्रदेश...** अपने असंख्य चैतन्य प्रदेश स्वरूप। क्षेत्र है न? **उसकी सत्तारूप से... 'निरुद्धरभसः' परिणमा है ज्ञान का सर्वस्व...** लो! **'निरुद्धरभसः'** इसमें, पर से हटकर अपने में परिणमता है। **ज्ञान का सर्वस्व...** सब ज्ञान का सर्वस्व यहाँ ही है, पर में कुछ नहीं। पर के क्षेत्र के कारण कुछ है ही नहीं। आहाहा!

भगवान आत्मा पूरे लोकालोक (में) व्याप जाए, ऐसा कहते हैं। शास्त्र में नहीं कहा? सर्वगत। लो! सर्वगत कहा है या नहीं प्रवचनसार में? परन्तु सर्वगत किस अपेक्षा से कहा है, सुन तो सही! वह परगत तो यहाँ है और पर में यहाँ है और यह वहाँ है। वह तो ज्ञेय-ज्ञायक के निमित्तपने की व्याख्या की है। इस ज्ञान में वह सब चीज़ें ज्ञात हो जाती हैं, इस अपेक्षा से पर इसमें आया और यह वहाँ ज्ञान सबको जानता है, इसलिए व्यवहार की अपेक्षा से मानो व्यापक हो गया, ऐसा कहने में आता है। व्यापक तो यहाँ है, यहाँ इतने में व्यापक है। समझ में आया? यह बड़ा विवाद क्षेत्र का, व्यवहार-निश्चय का यह डाला है।

इतनी सब (बातें आवें), इसलिए एक व्यक्ति (कहता है), विकल्परहित हो जाओ, बापू! विकल्परहित हो जाओ; परन्तु किस प्रकार विकल्परहित होता है। जिस वस्तु का अस्तित्व कितने क्षेत्र में है, वह द्रव्य है, कितना काल है, कितना भाव है—ऐसा जाने बिना विकल्परहित होगा किस प्रकार? जैसा सत् है, उस प्रकार से ज्ञान करेगा तो विकल्परहित होगा। परन्तु जिस प्रकार से सत् है, उस प्रकार से ज्ञान जानता नहीं (और कहे), विकल्परहित हो जाओ। किस प्रकार विकल्परहित होगा? समझ में आया? जिस प्रकार असंख्य प्रदेश में ही अपना स्वभाव और क्षेत्र इतने में ही है, ऐसा ज्ञान उसके ख्याल में न आवे और ऐसा का ऐसा

व्यापक है और ऐसा है और वैसा है माने तो वह ज्ञान तो सत्य हुआ नहीं। सत्य ज्ञान बिना विकल्प किस प्रकार टूटेगा इसे ? समझ में आया ? आहाहा!

परक्षेत्र में व्यापक माने। सबमें अपने एक ही हैं, विकल्प घटाओ। परन्तु किस प्रकार घटेगा ? तेरी मान्यता ही खोटी हुई, असत्य हुई। असत्य मान्यता है, वही विकल्परूप एकाकार हो गया है। चला है न सब अभी ? मुम्बई में भाषण चलते हैं। विकल्परहित हो जाओ, विकल्प घटा डालो। विचार भी नहीं। परन्तु विचार नहीं, विचार नहीं तो मतिज्ञान रहित हो जाए आत्मा ? उसमें विकल्प नहीं। परन्तु विकल्प नहीं, (ऐसा कहते हो) परन्तु पहले विचार में यह चीज़ इतने में है, इतना क्षेत्र है, ऐसा नक्की हुए बिना, अस्तित्व का क्षेत्र ही इतना है, यह इतना ज्ञान नक्की हुए बिना उस ज्ञान में सत्यता कैसे आयेगी ? और सत्यता आये बिना विकल्प टूटेगा किस प्रकार ? और ऐसा, वह तो मिथ्यात्व का विकल्प पड़ा है एकाकार। क्या कहा ? समझ में आया इसमें ? जमुभाई!

आत्मा ऐसे सर्व व्यापक है, सर्व क्षेत्र में है—ऐसा जो ज्ञान किया, वह तो ज्ञान मिथ्यात्व के विकल्प से एकाकार परिणम गया है। अब उसे विकल्परहित करो। परन्तु किस प्रकार विकल्परहित होगा ? आहाहा! समझ में आया ? इस जैन में भी बराबर खबर नहीं, इसलिए कितने ही ऐसा मान लेते हैं ? हाँ, भाई! यह तो निश्चय कहते हैं न! निश्चय में फिर और ऐसा क्या ? अमुक क्या ? भेद क्या ? सिद्ध में और अलग क्या ? सब सिद्ध एक हो गये। सिद्ध अनन्त हैं, उनके क्षेत्र प्रत्येक के अलग ? सब सिद्ध में एक-एक जीव का सिद्ध का क्षेत्र अलग ? इतने सबके (क्षेत्र) अलग ? पूर्ण हो गये, वहाँ भी अलग ? एक-एक सिद्ध का स्वतन्त्र असंख्य प्रदेशी क्षेत्र अलग है। दूसरे सिद्ध के साथ कोई मिलते नहीं। इसका विवाद तो कितना! सिद्ध में एक हो जाए न! यहाँ मलिन है, तब तक भले अलग हो। पूर्ण हो जाने के बाद पानी में पानी मिल गया, जाओ! अनन्त में अनन्त मिल गया; इसलिए अपना क्षेत्र अलग माना नहीं। सिद्ध को भी अपने असंख्य प्रदेश में उसने नहीं माना। वह तो निर्मल हो गये, इसलिए सब क्षेत्र में 'एक में अनेकम् और अनेक में एकम्'। आता है या नहीं। कान्तिभाई! ज्योति में ज्योति मिल गयी है। इस स्वक्षेत्र के अस्तित्व में ही मैं हूँ, इसका उसे सच्चा ज्ञान नहीं और सच्चा ज्ञान नहीं; इसलिए स्वसन्मुख ढलकर मिथ्याज्ञान का विकल्प है, वह ऐसे ज्ञान बिना टलता नहीं है। आहाहा! समझ में आया ?

यहाँ आचार्य सभी बात को ऐसा कहते हैं। वैसे तो सब ऐसा कहते हैं, भगवान ऐसा है,

बड़ा ऐसा है, यह परमात्मा ऐसा, अनन्त गुण का निर्मलानन्द महापरमात्मा (है, ऐसी) सब बातें करे परन्तु कितने क्षेत्र में ? यह क्षेत्र-बेत्र की बात रहने दो, यह भाग पड़ जाए। इतने ही क्षेत्र में यह भाग पड़ गया। इतना तत्त्व होता नहीं। (ऐसा अज्ञानी मानते हैं।)

यहाँ कहते हैं कि धर्मी जीव **समस्त परद्रव्य से भिन्न अपने स्वरूप चैतन्यप्रदेश उसकी सत्तारूप से परिणमा है ज्ञान का सर्वस्व जिसका, ऐसा है स्याद्वादी।** समझ में आया ? **'निरुद्धरभसः' 'रभसः'** अर्थात् शीघ्र।

श्रोता : वेग।

पूज्य गुरुदेवश्री : वेग। बाहर से रोका है वेग जिसने ? अन्दर में परिणमा है, अन्दर में, ऐसा। असंख्य प्रदेश में रुक गया है। वेग बाहर में क्षेत्र-परक्षेत्र में मानो मैं हूँ, यह वेग रुककर स्वक्षेत्र मैं हूँ, ऐसा परिणमा है। समझ में आया ? वेदान्त और दूसरे बहुत थे, अब जैन में भी ऐसे निकले हैं कितने ही बातें करनेवाले, निश्चय का ऐसा। कितने क्षेत्र-बेत्र का पूछना नहीं। उसकी श्रद्धा ? और श्रद्धा कैसी ? आत्मा और आत्मा की श्रद्धा दो भेद पड़ गया।

यहाँ तो कहते हैं, कहते हैं कि इस आत्मा का असंख्य प्रदेश क्षेत्र में रहा हुआ दूसरे सबको जानने पर भी स्वयं अपने असंख्य प्रदेश में ही है, बाहर में जाता नहीं। निर्मल होवे तो भी स्वक्षेत्र में है और मलिन होवे तो भी स्वक्षेत्र में है। स्वक्षेत्र को छोड़कर दूसरे क्षेत्र को कभी स्पर्श नहीं करता। व्यापे तो क्या, परन्तु स्पर्श भी नहीं करता। समझ में आया ? इस इन्द्रिय को, इन्द्रिय के क्षेत्र को आत्मा ने स्पर्श भी नहीं किया है, कर्म के क्षेत्र को स्पर्श नहीं किया है। ऐसे अपने क्षेत्र में रहा हुआ परसन्मुख के वेग की गति को रोकता हुआ स्व की गति में परिणमन करता है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

११

श्री समयसार, गाथा - १५५-१५६, श्लोक - १०६-१०७ प्रवचन - १६५
दिनांक - २६-११-१९६१

यह समयसार, पुण्य-पाप अधिकार। १५५वीं गाथा का भावार्थ। **आत्मा का असाधारण स्वरूप ज्ञान ही है।** भावार्थ की पहली लाईन। आत्मा का असाधारण अर्थात् कि ज्ञानस्वरूप ही आत्मा है। दूसरे गुण भले हों परन्तु वे सब ज्ञान में ही ज्ञात होते हैं और इसलिए ये ज्ञान द्वारा कथन करने में भी मानो कि यहाँ से कथन करने में आता है। सर्वज्ञ को भी ज्ञान में सब ज्ञात होता है। इसलिए ज्ञान ही वह आत्मा है, ऐसा यहाँ कहा जाता है। जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... स्वभाव जो दया, दान, तप के रागरहित, शुभाशुभ के विकल्परहित, ऐसा जो आत्मा है, उसका असाधारण स्वरूप ज्ञान है।

और इस प्रकरण में ज्ञान को ही प्रधान करके विवेचन किया है। ज्ञान, वह आत्मा **इसलिए 'सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र - इन तीनों स्वरूप ज्ञान ही परिणमित होता है'...** अर्थात् क्या? ज्ञान त्रिकाली आत्मा का तादात्म्यस्वभावभाव, उसे अन्तर्मुख दृष्टि देने पर, वह ज्ञानस्वभाव जो शक्तिरूप है, वही निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणमनरूप दशा को पाता है। उसे ही यहाँ धर्म और मोक्ष का मार्ग कहा जाता है। कहो, समझ में आया? भगवान आत्मा अर्थात् कि चैतन्यस्वरूप, उसके अन्तर में दृष्टि पड़ने पर उस ज्ञानस्वभाव का शक्तिपना है, वही परिणमन अर्थात् पर्याय में-अवस्था में सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान और निर्विकारी वीतराग परिणतिरूप आत्मा परिणमे, उसे ज्ञान का परिणमन कहने में आया है, उसे धर्म कहने में आया है। यह धर्म, वह मोक्ष का कारण है। **यह कहकर ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है।** ज्ञान ही स्वयं सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान, वीतरागी निर्विकल्प निर्दोष निर्विकल्प शान्तिरूप ज्ञानगुण का ही परिणमना है, वह परिणमना, वह ज्ञान का ही परिणमना है, ऐसा कहने में आता है।

ज्ञान है वह अभेद विवक्षा में आत्मा ही है... ज्ञानगुण और गुणी एकता गिने तो यह ज्ञान, वही आत्मा है, दूसरी कोई चीज़ नहीं। दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा का राग, वह कहीं

आत्मा नहीं है, वह कहीं आत्मा का स्वरूप नहीं है, वह कहीं आत्मा को कल्याणकर कोई चीज़ नहीं है। **ऐसा कहने में कुछ भी विरोध नहीं है,...** ज्ञान और आत्मा को एक कहने में और एकरूप परिणमन में वह ज्ञान का ही परिणमन होता है, वही मोक्ष का कारण कहने में, ज्ञान को मोक्ष का कारण कहो या आत्मा को कहो, उसमें कुछ विरोध नहीं है। **इसीलिए टीका में कई स्थानों पर आचार्यदेव ने ज्ञानस्वरूप आत्मा को 'ज्ञान' शब्द से कहा है।** आगे भी ४१५ पृष्ठ में है। १५५ गाथा पूरी हुई। अब देखो, अब इस गाथा का, इस अधिकार का मर्म।

अब, परमार्थ मोक्षकारण से अन्य जो कर्म... कर्म अर्थात् कार्य। दया, दान, व्रत, तप, जप, भक्ति, पूजा, यात्रा, नामस्मरण, भगवान का जाप, यह सब राग है, यह सब कर्म है, यह पुद्गल के उदयजन्य विभावभाव हैं। इनमें धर्म किंचित् नहीं और इनके द्वारा नहीं और इनमें धर्म नहीं। धर्म कोई दूसरी चीज़ है। **कर्म उनका निषेध करते हैं:-**

परमार्थ मोक्षकारण से अन्य... यह कर्म अर्थात् राग की क्रिया। दया, दान, व्रत, तप, संयम की इन सब क्रियाओं का राग है, उसका यहाँ निषेध किया जाता है।

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठ-मस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ।।१५६।।

नीचे हरिगीत।

विद्वान् जन भूतार्थ तज, व्यवहार में वर्तन करे।
पर कर्मनाश विधान तो, परमार्थ-आश्रित संत के।।१५६।।

सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ देवाधिदेव ने ज्ञान में ऐसा देखा कि कितने ही विद्वान नाम धरानेवाले—पण्डित नाम धरानेवाले इस व्यवहार का पक्ष लेकर व्यवहार से कल्याण होता है, ऐसा बता रहे हैं। समझ में आया? इसका अर्थ लेते हैं। क्योंकि पाठ में मोक्षहेतु (शब्द) पड़ा है। इसलिए विद्वान यह अर्थ में नहीं आयेगा।

इसका **अन्वयार्थ :- निश्चयनय के विषय को...** अर्थात् कि भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग के सूक्ष्म काल में पूर्ण स्वरूप परमार्थ से सच्चिदानन्द ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द, ऐसा जिसका आत्मा के साथ तादात्म्य अनादि-अनन्त स्वभाव है। ऐसे विषय को, ध्येय को लक्ष्य में न लेकर। उसके विषय को लक्ष्य में, ध्येय में न लेकर, उसके विषय को छोड़कर **विद्वान...** शास्त्र में से शास्त्र के पढ़े हुए शास्त्र में से ऐसा निकालते हैं कि

व्यवहार द्वारा प्रवर्तते हैं। व्यवहार की बातें शास्त्र में से निकालकर ऐसा कहते हैं कि देखो! इस व्यवहार से भी कल्याण प्रवर्तता है। दया, दान, व्रत, खाना, पीना, लेना - ऐसा विद्वान-पण्डित नाम धराकर व्यवहार की प्रवृत्ति जो शास्त्र में कही है, उसमें प्रवर्त रहे हैं और उससे कल्याण होगा, ऐसा मानकर वहाँ ही खड़े रहे हैं।

व्यवहार के द्वारा प्रवर्तते हैं;... समझ में आया? उस समय भी यह होगा। अनादि काल का अज्ञानी को व्यवहार का पक्ष खड़ा है। किंचित् दया, दान, व्रत, तप, किंचित् कषाय की मन्दता क्रिया करेंगे तो कल्याण होगा, तो अन्तर में जाने का आधार मिलेगा, ऐसा अनादि के पण्डित / विद्वान नाम धराकर शास्त्र के पढ़े हुए भी शास्त्र में से व्यवहार की क्रिया जो दया, दान, कषाय मन्द की भक्ति, पूजा, दान, सामायिक , प्रौषध, प्रतिक्रमण, पूजा, यात्रा, यह परिणाम राग है, उसे विद्वान मोक्ष का कारण व्यवहार में मानकर प्रवर्त रहे हैं। समझ में आया? बहुत पढ़े और व्यवहार का कथन शास्त्र में बहुत आता है। समझ में आया?

अभी एक व्यक्ति ने लिखा था न, ऐसा कहा है, व्यवहार को हस्तावलम्ब तुल्य कहा है। परन्तु यहाँ तो कहते हैं, भाई! सुन न, प्रभु! दया, दान आदि व्यवहार आदि राग जो शुभ, भक्ति, पूजा आदि का राग आता है, होता है परन्तु वह चीज़ धर्म का कारण नहीं है। उसे निमित्त गिनकर शास्त्र में जैन परमेश्वर ने उसे हस्तावलम्ब अर्थात् निमित्तरूप से सहायक कहा गया है। तीन बातें ली हैं। एक तो अनादि अज्ञानियों को व्यवहार का पक्ष है। दया, दान, कषाय की मन्दता के परिणाम होंगे तो कल्याण होगा। यह एक बोल। दूसरा, परस्पर एक दूसरे प्ररूपणा भी इस प्रकार की कर रहे हैं। व्यवहार होवे तो शुद्धि होगी... व्यवहार होवे तो शुद्धि होगी। इस प्रकार अज्ञानी व्यवहार को मोक्ष का कारण परस्पर मनवाकर प्ररूपित कर रहे हैं। दो। अज्ञानी को अनादि का राग का, विकल्प का दया, दान का पक्ष भी है। उससे कषाय मन्द करते-करते ब्रह्मचर्य पालो, सत्य बोलो, व्यवहार करो, यह करो, यह करो, यह कर्ताबुद्धि से करो और उसमें से कल्याण होगा। ऐसे एक तो जीव को उसका अनादि का पक्ष है, कथन की प्ररूपणा भी परस्पर अज्ञानी कर रहे हैं और जैन शास्त्र में भी उस व्यवहार को हस्तावलम्ब तुल्य गिनकर उसका कथन शास्त्र में बहुत है, बहुत है। परन्तु तीनों का फल संसार है। समझ में आया?

अब उसे हस्तावलम्ब तुल्य कहा, उसमें से निकालकर कहते हैं कि उससे कल्याण होगा। उसमें अर्थ नहीं। उसमें जो अर्थ कहा है, ग्यारहवीं गाथा है न? ११-११ पण्डित जयचन्दजी इसका अर्थ करते हैं, ११वीं गाथा। इसमें पृष्ठ २१ है। ग्यारहवीं गाथा। पण्डित

जयचन्दजी (कृत भावार्थ)। **प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादि काल से है।** यहाँ तो और भेदरूप पक्ष अनादि काल से है। भगवान आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड है और उसमें गुण रहे हुए हैं। ऐसा जो भेद और राग-विकल्प का भेद, उसका पक्ष तो अनादि काल से ही अज्ञानी को है। एक बोल।

ऐसा उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं। दूसरा बोल। परस्पर एक-दूसरे कहे व्यवहार चाहिए, व्यवहार चाहिए, व्यवहार अच्छा होवे तो कल्याण होगा। यह पैर उठाने के लिये व्यवहार साधन है। ऐसा अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, वस्तु के अजान **उपदेश भी बहुधा...** बड़ा व्यवहार का उपदेश करनेवाले। **सर्व प्राणी परस्पर करते हैं।** दो। **और जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश शुद्धनय का...** हस्तावलम्ब अर्थात् सहायक अर्थात् निमित्त जानकर। **बहुत किया है।** शास्त्र में। **परन्तु उसका फल संसार ही है।** तीनों का फल संसार है। वीतराग ने कहा व्यवहार। निमित्तरूप से कहा, वह इसका फल संसार है।

श्रोता : व्यवहार का फल संसार है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान ने कहा है न, ऐसा कहते हैं न ?

विद्वान ऐसे व्यवहार के पक्ष के कारण और उसकी श्रद्धा और प्ररूपणा करा रहे हैं कि उससे आत्मा का कल्याण होगा। तो कहते हैं कि इन तीनों का फल—इसके पक्ष का फल, परस्पर इस कथन का फल और इसे जिनवाणी में प्राप्त व्यवहार का पक्ष, शास्त्र में उसका बहुत कथन हो, व्यवहार का कथन ही बहुत हो, उसका पक्ष लेकर बात करते हैं परन्तु उसका फल संसार परिभ्रमण है। उसमें कहीं आत्मा को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का व्यवहार मार्ग में रास्ता नहीं है। ओहोहो! समझ में आया ? यह पण्डित जयचन्दजी (लिखते हैं)। यहाँ पाठ में है न ? **'ववहारोऽभूदत्थो'** इसलिए बताना पड़ता है न। मूल पाठ है कि व्यवहार असत्यार्थ है। फिर दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, तप, जप, भक्ति, अपवास करके मर जाता हो, ब्रह्मचर्य पालन करके, शील पालन करके, दया पालन करके, बाहर की अहिंसा पालन करके अन्दर के शुभपरिणाम में, हों! अभूतार्थ...

'भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ' त्रिकाल विषय जो शुद्धनय है, उसका विषय अभेद अखण्डानन्द प्रभु, उसका विषय वह शुद्ध है, शुद्ध का भूतार्थ है **'भूदत्थमस्सिदो खलु'** ऐसे त्रिकाल ज्ञायकभाव में अभेद दृष्टि करने से, भूतार्थ का आश्रय मिलने से वह जीव सम्यग्दृष्टि हो सकता है। व्यवहार के लक्ष्य से, व्यवहार के पक्ष से, व्यवहार के आश्रय से, व्यवहार के

अवलम्बन से तीन काल-तीन लोक में जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। समझ में आया? तो और चारित्र तथा व्रत, वे तो कहाँ से आये? सम्यग्दर्शन बिना व्यवहार के आश्रय से हमें कल्याण होगा, नव तत्त्व के भेद का विकल्प उठे, उससे भी आत्मा को सम्यग्दर्शन होगा, ऐसा माननेवाले, मनवानेवाले पण्डित;... कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं उस समय भी थे। अनादि काल से चले आ रहे हैं।

निश्चयनय के विषय को छोड़कर विद्वान व्यवहार के द्वारा प्रवर्तते हैं;... १५६ गाथा का अन्वयार्थ। **परन्तु परमार्थ के...** भगवान आत्मा आत्मस्वभाव, आत्मस्वरूप, वीतरागी, जिसमें दया, दान, व्यवहारत्नत्रय के विकल्प का अभाव है। व्यवहाररत्नत्रय के... व्यवहाररत्नत्रय तो वास्तव में पुद्गल परिणाम है, वास्तव में परद्रव्य स्वभाव है। नीचे (अर्थ) करेंगे। वह परद्रव्य का स्वभाव है। कहीं स्वद्रव्य का स्वभाव नहीं। और उस व्यवहाररत्नत्रय का नाम भी निश्चय आत्मा के अभेद अनुभव की दृष्टि, ज्ञान और रमणता करे, उसे ऐसे विकल्प को व्यवहाररत्नत्रय का नाम दिया जाता है परन्तु अज्ञानी पहले से व्यवहाररत्नत्रय से लाभ होगा—ऐसा माननेवाले व्यवहार में प्रवर्त कर, व्यवहार में उलझकर, दूसरे को व्यवहार कहकर, व्यवहार में लाभ होगा, ऐसा बतलाकर (प्ररूपणा करते हैं)। भेद में, राग में, पुण्य में, दया, दान में (कल्याण मानते हैं)।

परन्तु परमार्थ के (-आत्मस्वरूप के) आश्रित यतीश्वरों के ही कर्मों का नाश... अर्थात् कि जो परमार्थस्वरूप भगवान अभेद अखण्डानन्द है, उसका अन्तर्मुख होकर आश्रय लेनेवालों को सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र होकर उन्हें कर्म का नाश होता है, दूसरे को कर्म की निर्जरा तीन काल-तीन लोक में नहीं होती। समझ में आया? **कर्मों का नाश आगम में...** परमार्थ के आश्रय से कहा है। भगवान के आगम में तो (ऐसा कहा है)। त्रिलोकनाथ परमेश्वर जैन वीतराग के शास्त्र में, आगम अर्थात् शास्त्र, उसमें तो अकेला निश्चय... निश्चय... निश्चय... त्रिकाल अखण्डानन्द, अभेद, गुण-गुणी का भी जहाँ भेद नहीं, ऐसे अभेद के आश्रय से ही मिथ्यात्व का नाश, अज्ञान का नाश, राग का नाश (होता है)। समकित, सम्यग्ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति और मोक्ष की उत्पत्ति निश्चय के आश्रय से कही है। तीन काल-तीन लोक में वीतराग के आगम में व्यवहार से कहीं लाभ होता है, यह बात आगम में हो नहीं सकती और जो कहता है, वह आगम नहीं है। कहो, समझ में आया? बात बहुत परन्तु, भाई!

कहा या नहीं? **(केवल व्यवहार में प्रवर्तन करनेवाले पण्डितों के कर्मक्षय नहीं**

होता)। केवल क्यों कहा ? कि निश्चय बिना व्यवहार तो होता नहीं परन्तु निश्चय के बिना की अकेले राग की मन्दता से, शुभपरिणाम से, शुक्ललेश्या से नौवें ग्रैवेयक में गया। शरीर के खण्ड-खण्ड करे तो क्रोध न करे, इतनी तो जिसकी क्षमा, दूसरे देवलोक की इन्द्राणी डिगाने आवे तो चलित न हो, इतना तो जिसका ब्रह्मचर्य। समझ में आया ? और प्राण जाए तो उसके लिये आहार करके पानी की एक बूँद न ले, इतना जिसे अहिंसा की दया का भाव, परन्तु वह सब राग है। उस राग की क्रिया से पण्डित... विद्वान लिये हैं न ? विद्वान निकाल-निकाल कर शास्त्र में से दोहन निकालते हैं कि इस व्यवहार से मोक्ष होगा... व्यवहार से मोक्ष होगा... व्यवहार से मोक्ष होगा... पहला कदम व्यवहार है, उससे आत्मा ऊँचा उठेगा, ऐसा अज्ञानी पण्डित व्यवहार में प्रवृत्ति, व्यवहार में प्रवर्ताते हैं, शास्त्र में से उसका अर्थ व्यवहार से लाभ होगा ऐसा करते हैं। उन्हें अकेला संसार फलता है, चार गति फलेगी, उन्हें जन्म-मरण का अन्त नहीं आयेगा। कहो, समझ में आया ?

टीका :- परमार्थ मोक्षहेतु से अन्य,... परमार्थ अर्थात् वास्तव में मोक्ष का कारण, उससे भिन्न। मोक्ष के कारण से भिन्न अर्थात् बन्ध का कारण। **व्रत...** व्रत के पाँच भेद— अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये सब बन्ध के कारण के भाव हैं। भाव, हों! भाव। देह की क्रिया नहीं। उसके परिणाम में पंच महाव्रत के परिणाम मिथ्यादृष्टि को अज्ञान में वर्तें, वे शुभपरिणाम बन्ध का ही कारण है। सम्यग्दृष्टि को वह विकल्प आवे तो भी वह बन्ध का ही कारण है, वह कभी निर्जरा और संवर का किंचित् भी कारण नहीं है। समझ में आया ? इस व्रत के पाँच भेद। यह क्या है ? कि मोक्ष के कारण से भिन्न। अर्थात् कि बन्धन का हेतु।

तप... बारह प्रकार के तप—अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसंग, रसपरित्याग, कायक्लेश... इत्यादि। प्रायश्चित्त, विनय, इत्यादि शुभभाव, शील—शीलस्वभाव। कषाय की मन्दता का स्वभाव, ऐसे कठिन नियम धारण करना, अभिग्रह (धारे कि) दो-दो महीने के परिणाम शुभ रखकर संथारा करे, सल्लेखना—यह **शुभकर्मस्वरूप...** शुभकर्मस्वरूप अर्थात् शुभभावस्वरूप अर्थात् पुण्यभावस्वरूप **मोक्षहेतु कुछ लोग मानते हैं,...** कितने ही अर्थात् उसमें विद्वान कहे हैं वे। समझ में आया ? भारी जगत को...

व्रत, तप, दया, दान, शील, ऊपर बहुत बोल आये थे पहले। नियम, शील, तप इत्यादि शुभपरिणाम, शुभभाव जो कर्म द्रव्य का स्वभाव है, वह जीवद्रव्य का स्वभाव नहीं। उसे मोक्ष का हेतु, आत्मा को शान्ति का कारण अथवा आत्मा को परमानन्द का उपाय (कहते हैं)। कितने ही लोग व्यवहार को मोक्ष का हेतु मानते हैं। **उस समस्त ही का निषेध किया गया**

है;... वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने उस सब व्यवहार का निषेध किया है। उस व्यवहार से किंचित् भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र नहीं होता, मोक्षमार्ग जरा भी नहीं होता। समझ में आया? बहुत कठिन बात! अरे! परन्तु ऐसा कठिन चलना, कुछ सहारा (है या नहीं)?

अभी एक पण्डित का लेख आया है। पहली सीढ़ी चाहिए या नहीं? उसका साधन क्या? साधन व्यवहार का (साथ में होगा या नहीं?) सुन न अब, व्यवहार साधन व्यवहार से कहने में आता है। असत्यार्थ, अभूतार्थ दृष्टि से कथन है। व्यवहार-फ्यवहार कोई साधन है नहीं। भगवान आत्मा में साधन नाम का—करण नाम का एक गुण त्रिकाल पड़ा है। उसका आश्रय करने से आत्मा का स्वभाव साधन होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्विकल्प परिणति हो, वह एक ही मोक्ष का कारण है। समझ में आया? बहुत कठिन बात। जगत को ऐसा लगता है। भीखाभाई! यह सब आवे, तब हमें क्या करना? यह करना या नहीं करना? फिर ऐसा कहे। करने-फरने का प्रश्न कहाँ है? वह तो राग के काल में राग आता है, होता है। परन्तु ज्ञानी को भी वह संसार का कारण है। सम्यग्दृष्टि को भी व्रत-तप के शुभपरिणाम बन्ध का ही कारण है। वे जहर परिणाम हैं। आत्मा के अमृत को लूटनेवाले वे व्रत, तप, अहिंसा, सत्य, अचौर्य के भाव आत्मा की शान्ति को लूटनेवाले हैं। धर्मचन्दजी! गजब, कठिन बात, भाई! लोगों को सहन हो, ऐसी नहीं; सुनकर सहन हो, ऐसी नहीं। आहाहा!

भगवान त्रिलोकनाथ चैतन्य परमेश्वर, चैतन्य परमेश्वर ने केवलज्ञान से देखकर कहा, अरे! आत्मा! और तू पढ़ाई पढ़कर पण्डित हुआ और पण्डिताई में से तूने निकाला कि यह सब व्रत, तप, भक्ति, पूजा, दया, दान से कर्म का क्षय होगा अर्थात् मोक्ष होगा अथवा धर्म होगा। यह तू मूढ़ता से पढ़ा है। तेरा सब पठन मूढ़ता का है। समझ में आया? आहाहा! नेमिदासभाई! यह तो नागा, बादशाह से आघा—ऐसा नहीं कहते? बादशाह से आघा, ऐसा कहते हैं या नहीं? नागा, बादशाह से आघा। किसी को गिने ऐसा नहीं हैं। नग्न दिगम्बर मुनि कुन्दकुन्दाचार्य महाराज जंगल में बसते हैं। उन्होंने पुकार करके कहा कि सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ का मार्ग यह है। अज्ञानियों ने किसी प्रकार मार्ग को वेडफी डाला है। और व्यवहार की क्रिया करते-करते, व्यवहार की दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, जप, पूजा, यात्रा करते हुए सम्मेदशिखर की, शत्रुंजय की और गिरनार की यात्रा करते-करते कर्म की निर्जरा होगी, सम्यग्दर्शन होगा—ऐसा जो मनवा रहे हैं, उन्हें वीतराग कहते हैं कि उस भाव का हमने निषेध किया है। तू जिसका आदर कराता है, उसका हमने निषेध किया है। वह सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है। आहाहा!

देखो! व्यवहार शास्त्र में आता है, भगवान के दर्शन समकित का कारण, देवऋद्धि समकित का कारण, नरक में वेदना समकित का कारण, जातिस्मरण समकित का कारण— ये सब निमित्तों के अभूतार्थनय के कथन हैं। आहाहा! ऐसा निकालकर और शास्त्र के पठन से ज्ञान होता है, शास्त्र परद्रव्य को पढ़ने से ज्ञान होगा, ऐसा शास्त्र में आवे, वह अभूतार्थनय का कथन है। और पाँच महाव्रत के परिणाम को चारित्र व्यवहार से कहा, वह अभूतार्थनय का कथन है, चारित्र-फारित्र वह है नहीं। अट्ठाईस मूलगुण मुनि को होते हैं, श्रावक के बारह व्रत के विकल्प उठे, वह चारित्र नहीं। चारित्र नहीं, उसको चारित्र कहे, उसे व्यवहारनय का विषय कहने में आता है। यह सब सर्वज्ञ परमात्मा ने मोक्ष के हेतुरूप से निषेध किया है। समझ में आया? और लोग काँपते हैं। परन्तु ऐसा कहेंगे तो यह करेंगे नहीं, यह देवदर्शन जाते हैं बेचारे, वह भी नहीं करेंगे। परन्तु जानेवाला जाएगा ही, सुन न अब। यह क्रिया देह की होनेवाली है और (उस) काल में उसे देवदर्शन के शुभभाव आवे तो हुए बिना रहेंगे किसके? उसकी दृष्टि में बड़ा शल्य है। दृष्टि में शल्य है कि यह क्रिया मुझे कल्याण और सम्यग्दर्शन का कारण होगी। ऐसी उसकी मान्यता ही मिथ्यादृष्टि की मूढ़ दृष्टि है। समझ में आया? सबको ऐसा कठिन हो गया है न कि किसी प्रकार से विश्राम मिले जगत को। और वे बेचारे दीन, भिखारी। उसे ऐसी बात करे तो कहे, हाँ, यह बात बराबर है। अध्यात्मी क्रियाकाण्ड को निषेधकर धर्म नहीं कहते। तीन लोक के नाथ नहीं कहते, ऐसा कहते हैं।

उस समस्त ही का निषेध किया गया है;... है? टीका में तीसरी लाईन। जो विद्वान, कितने ही अर्थात् विद्वान; जप, तप, भक्ति, दान, दया, यात्रा और कठोर नियम लेना, उसे लोग मोक्ष का कारण (कहते हैं), उस परिणाम को मोक्ष का कारण कहते हैं। वह सम्पूर्ण निषेध किया गया है। जैनशासन में वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा ने उसे छूटने के उपायरूप से निषेध किया है। वह छूटने का उपाय नहीं है **क्योंकि वह (मोक्ष हेतु) अन्य द्रव्य के स्वभाववाला (पुद्गलस्वभाववाला) है...** देखो! अहिंसा के, सत्य के, अचौर्य के, ब्रह्मचर्य के, अपरिग्रह के, भक्ति के, पूजा के, नामस्मरण के परिणाम जो होते हैं, कहते हैं कि वह अन्य द्रव्य के स्वभाववाला है। वह तो पुद्गलस्वभावी परिणाम है। वह आत्मस्वभावी परिणाम नहीं है। आहाहा! शशीभाई! पुद्गलस्वभाव। जैन के वाड़ा में जन्मा हो, उसने कभी सुना न हो। यह दया, दान के परिणाम करना, शाम-सवेरे प्रतिक्रमण, मिच्छामि दुक्कडम, मिच्छामि दुक्कडम रटते रहते हैं। कहते हैं कि वह परिणाम वह सब व्रत के, अहिंसा और सत्य के, उनके अतिचार टालना, वह तो शुभराग, वह सब पुद्गल के स्वभावी होने से, वह तो जड़कर्म के उदय के

संग से उत्पन्न हुआ द्रव्यस्वभाव जड़ का है, वह पुद्गलस्वभाव है; वह चैतन्यस्वभाव नहीं। देवचन्दभाई! वे सब... हैं सब। मजा बहुत आता है कि चलो भाई! शत्रुंजय की यात्रा करे, गिरनार की यात्रा करें, बहुत कल्याण होगा, कदम-कदम पर संवर और निर्जरा। धूल में भी हो ऐसा नहीं है, सुन न अब। कदम-कदम में तेरा काल जाए ऐसा है। यदि उसके परिणाम और उस क्रिया से तू धर्म माने तो मिथ्यादृष्टिपना क्षण-क्षण में पोषित होता है। वह सम्मेदशिखर का माने 'एक बार वन्दे जो कोई।' जाओ। 'नरक-पशु न होई।' धूल में अब। नरक-पशु न होवे तो दूसरे भव में जाएगा। कदाचित् एकाध भव शुभपरिणाम से स्वर्ग आदि मिले, परन्तु उसकी क्रिया करता हो और शुभपरिणाम तथा वैरागी-त्यागी दिखता हो तो स्वर्गादि मिले, फिर निकल कर पशु में होकर नरक में, निगोद में जाएगा। समझ में आया? यह बात (कठिन लगे), वह बात लोगों को मीठी लगती है। सहारा... सहारा... व्यवहार-व्यवहार, व्रत करें, दया पाले, अपवास करें, पर्यूषण में बेचारे महीने-महीने के अपवास करें, आठ-आठ दिन के अपवास करें। मात्र लंघन। यहाँ कहते हैं कि भगवान ने उसे धर्मरूप से निषेध किया है। वह धर्म-बर्म है नहीं। आहाहा!

परन्तु कारण (क्या)? कारण कहा न कि वह अन्य द्रव्य के स्वभाववाला होने से, यह कारण। ये सब परिणाम होते हैं, तेरी दशा में भाव होते हैं, वे जड़ के संग से हुए वास्तव में जड़ का स्वभाव है। भगवान आत्मा का वह स्वभाव नहीं है। आहाहा! समझ में आया? कर्ता-कर्म में तो आया है न कि वे सब परिणाम शुभ हों, उनकी आदि में, मध्य में, अन्त में आत्मा नहीं है। वह व्यवहार श्रद्धा, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, पंच महाव्रत, बारह व्रत का राग, परिणाम, हों! उसकी आदि, मध्य, और अन्त में पुद्गलकर्म है। उसकी आदि, मध्य और अन्त में आत्मा है नहीं। ओहोहो! समझ में आया? दो, पाँच, दस हजार, पचास हजार लोग इकट्ठे हों और बात करे। यह तो धर्म का लोप हुआ। भाई! यह कहाँ किया ऐसा? भगवान कहते हैं कि हमने तो पूरा निषेध किया है। यह क्रिया मोक्ष की कतरणी है। आहाहा! समझ में आया? बन्ध की करणी और मोक्ष की कतरणी—कैंची है।

यह **व्रत, तप इत्यादि**... शुभभाव। **शुभकर्म...** शब्द से शुभपरिणाम। कर्म अर्थात् जड़ नहीं। शुभपरिणाम, शुभभाव, कषाय की मन्दतारूप शुक्ललेश्या, शुक्ललेश्या, वह पुद्गल स्वभावी शुक्ललेश्या है; वह आत्मस्वभाव नहीं। शुक्ललेश्या, हों! शुक्लध्यान नहीं। शुक्ललेश्या, उज्ज्वल शुभभाव ऐसे कि लोग तो ऐसा कहे कि यह तिरने की तुम्बी है। अरे! सुन न अब। क्या चैतन्यवस्तु है, चिद्घन! उसके-वस्तु के अन्तर पेट में आनन्द और शान्ति पड़ी

है। उसे स्पर्श किये बिना... यह तो कर्म का स्पर्श है, यह तो चण्डाल का स्पर्श है। समझ में आया? उसकी श्रद्धा में पलटा न करे, उसके व्रत और तप तू कहाँ से लाया? हम व्रत पालते हैं, तप करते हैं, प्रतिमा पालते हैं, रण में शोर है। उस शोर में कहाँ कोई आवाज सुने, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

यह पूरा **व्रत, तप इत्यादि**... आया था न उसमें? बहुत बोल आये थे। व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि। १५४ गाथा में। इत्यादि सब पुद्गलद्रव्यस्वभावी हैं। वे उदयजन्य भाव हैं, वे स्वभावजन्य भाव नहीं हैं। पुद्गलस्वभाव में डाल दिये गये हैं। अभी तो श्रद्धा का स्वरूप क्या, उसे यहाँ बताते हैं। सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा में यह राग की क्रिया बन्ध का कारण है, जहर है। आत्मा के आश्रय के अतिरिक्त पर का आश्रय लिया जाए, इतनी विभावपरिणति अधर्म है। समझ में आया? जिसे व्यवहारधर्म कहने में आता है, निश्चयदृष्टिवाले को। वह व्यवहारधर्म परमार्थ से तो अधर्म ही है। कठिन भी क्या है। कहते हैं न पूरा निषेध किया गया है। निषेध में वह अधर्म निषेध किया गया है या धर्म निषेध किया गया है? बापू! वस्तुस्थिति, उसकी श्रद्धा, उसका आश्रय जो सम्यग्दर्शन, यह चीज़ समझे बिना, पाये बिना क्रिया करके मर जाए, सूख जाए। यह किया और वह किया और व्रत पालन किये, और तप पालन किये, वह सब कर्तृत्वबुद्धि का मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया?

क्योंकि वह (मोक्ष हेतु) अन्य द्रव्य... जीवद्रव्य का स्वभाव नहीं, ऐसा कहते हैं। **अन्य द्रव्य के स्वभाववाला (पुद्गलस्वभाववाला) है, इसलिए उसके स्व-भाव से...** उसके अर्थात्? उस राग की मन्दता के बहुत विकल्प, कोमल-कोमल-कोमल लगे, ऐसे शुभभाव द्वारा अर्थात् उसके 'स्व' अर्थात् शुभभाव के भाव द्वारा **ज्ञान का भवन**... अर्थात् आत्मा को सम्यग्दर्शन नहीं होता। ज्ञान का भवन अर्थात् आत्मा को सम्यग्दर्शन नहीं होता, उसके द्वारा आत्मा को सम्यग्ज्ञान नहीं होता; उसके द्वारा ज्ञान का भवन अर्थात् आत्मा की शान्ति की चारित्रदशा नहीं होती। समझ में आया? चन्दुभाई! यह बहुत कठिन बात है। चालीस वर्ष से कहीं सुनी नहीं हो। कौन जाने क्या होगा यह? यह सोनगढ़ में क्या कहते हैं?

भगवान! यह तो भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा फरमाते हैं। जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर प्रभु विराजते हैं। ऐसे ही अनन्त तीर्थंकर महावीर आदि हो गये। सबका कथन एक धारावाही चलता है। सन्तों कहो, ज्ञानी कहो, केवली कहो—सबकी एक ही पद्धति अनादि की चलती है, उसमें किसी के घर की कल्पना की बात नहीं है।

कहते हैं कि **उसके स्व-भाव से...** किसके ? अन्य द्रव्य के स्वभाववाला होने के कारण। उसके स्वभाव द्वारा अर्थात् पुण्य के परिणाम जो अन्यद्रव्य के स्वभाव हैं, व्यवहाररत्नत्रय जो निश्चयवाला हो, उसे व्यवहार कहा जाता है। उसको—अज्ञानी को तो व्यवहार कहलाता हो... जहाँ सम्यक् शुद्ध चैतन्य का अनुभव स्व आश्रय दृष्टि से हुआ नहीं और पर-आश्रय से लाभ मनवा रहा है, वह तो मिथ्यादृष्टि को व्यवहार भी नहीं कहलाता। समझ में आया ? परन्तु कहते हैं, सम्यग्दृष्टि को भी ऐसे विकल्प हों तो भी उनसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का होना नहीं होता, उस व्यवहार से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का टिकना नहीं होता और उस व्यवहार से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का बढ़ना नहीं होता। समझ में आया ?

उसके स्व-भाव से ज्ञान... अर्थात् आत्मस्वभाव का, ज्ञान अर्थात् निर्मल भगवान वीतरागी विज्ञानघन, उसके स्वभाव की पर्याय का, ऐसे व्यवहार द्वारा। इस व्रत-तप के, दया-दान के, भक्ति-पूजा के शास्त्र-श्रवण-मनन, विकल्प के, अरे! आत्मा का चिन्तवन गुण-गुणी के भेदवाला - ऐसे चिन्तवन द्वारा। वह चिन्तवन भी विकल्प है। वह पुद्गल के स्वभाववाला होने से **उसके स्व-भाव से ज्ञान का भवन...** ज्ञान कहो या आत्मा कहो। आत्मा के शुद्धस्वभाव का होना अर्थात् सम्यग्दर्शन का प्रगट होना, सम्यग्ज्ञान का होना या सम्यक्चारित्र का होना नहीं है।

मात्र परमार्थ मोक्षहेतु ही... किंचित् थोड़ा तो व्यवहार रखो। किंचित्कर कुछ-कुछ व्यवहार मदद करे थोड़ा ऐसा रखो। रखा न, पूर्ण बन्ध मार्ग में डाला। रखा न, पूर्ण बन्ध मार्ग में रखा न! चैतन्यस्वभाव अनादि-अनन्त आनन्दकन्द ज्ञायक स्वभाव एक के आश्रय से मात्र... मात्र... (अर्थात्) व्यवहार बिल्कुल नहीं। **परमार्थ मोक्षहेतु...** परमार्थ मोक्ष का हेतु। परमार्थ अर्थात् वास्तव में मोक्ष का कारण धर्म, परमार्थ अर्थात् वास्तव में पूर्ण आनन्द का कारण ऐसा उपाय, मोक्ष का उपाय ही **एक द्रव्य के स्वभाववाला (जीवस्वभाववाला) है...** एक द्रव्य के स्वभाववाला होने से भगवान वस्तु चैतन्य है। उसके आश्रय से जो स्वभाव की दशा (प्रगट होती है), विकल्प का आश्रय बिल्कुल नहीं भेद का आश्रय या व्यवहार के आश्रय से सम्यग्दर्शन बिल्कुल तीन काल में नहीं होता।

मात्र परमार्थ मोक्षहेतु ही... भाई! 'ही' में अनेकान्त नहीं रहता। अनेकान्त करो नहीं तो अनेकान्त ऐसा भी होता है। निश्चय से होता है और व्यवहार से नहीं होता, इसका नाम अनेकान्त है। निश्चय से मोक्षमार्ग होता है, व्यवहार से नहीं होता, इसका नाम अनेकान्त है।

यह तो कहते हैं नहीं ? कथंचित् निश्चय से, कथंचित् वयवहार से (होता है, यह अनेकान्त है)। मूढ़ है ? ऐसा तुझे किसने कहा ? तू कहाँ से लाया ? शास्त्र में निकाल-निकालकर ऐसा तूने कहाँ से निकाला ? भगवान तो ऐसा कहते नहीं। **मात्र परमार्थ मोक्षहेतु...** मोक्ष का हेतु अर्थात् मोक्ष का कारण अर्थात् कि धर्ममार्ग **एक द्रव्य के स्वभाववाला (जीवस्वभाववाला) है...** एक द्रव्य अर्थात् जीवस्वभावी। उसमें पुद्गलस्वभावी था। भगवान आत्मा अत्यन्त वीतरागी निर्विकल्प समाधि का पिण्ड, उसके आश्रय से विकल्प का आश्रय छूटकर निर्विकल्प स्वभाव के आश्रय से निर्विकल्प सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र **उसके स्वभाव के द्वारा...** अर्थात् उसकी पर्याय द्वारा आत्मा का सम्यग्दर्शन होता है, सम्यग्ज्ञान होता है, सम्यक्चारित्र होता है। कहो, समझ में आया ? एक गाथा बराबर समझे। इसमें तो पण्डितों को झटक डाला है। पण्डितों! ऐसा हमने कहा है ? शास्त्र में व्यवहार के लक्षण बहुत आये और निमित्त कहा। व्यवहार को साधन कहा और हेतु कहा, वहाँ तू चिपक गया ? तू समझता नहीं। समझ में आया ?

आता है न ? छहढाला में आता है। निश्चय का हेतु, व्यवहार और कारण और ऐसा आता है। यह तो निमित्त का ज्ञान कराने को वह चीज़ कौन थी ? उसके द्वारा तीन काल में सम्यग्दर्शन-ज्ञान होता है, ऐसा तीन काल-तीन लोक में हम कोई अनुयोग में हमने कहा नहीं। वाणी के जो आगम कहे, उस आगम में यह बात कभी आयी नहीं। तेरे घर की कल्पना उठाकर तू शास्त्र के उल्टे अर्थ करता है, वह तेरी श्रद्धा का दोष है; शास्त्र के आशय का दोष नहीं। समझ में आया ?

एक द्रव्य के स्वभाववाला (जीवस्वभाववाला) है, इसलिए उसके स्वभाव के द्वारा... उसके स्वभाव द्वारा अर्थात् ? इस द्रव्य के स्वभाव द्वारा। एक जीवस्वरूप चिदानन्द भगवान परमानन्द की मूर्ति, जिसमें संसार के उदयभाव का स्पर्श नहीं। संसार के उदय के इक्कीस बोल का उस स्वभाव को स्पर्श नहीं, छुआ नहीं। त्रिकाल स्वभाव उन उदय भाव के इक्कीस बोल के अभाव-स्वभावरूप है। ऐसे स्वभाव के पर्याय की निर्मल सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र, उसके द्वारा मोक्ष का हेतु कहा है, दूसरा कोई मोक्ष का हेतु नहीं है। अभी लक्ष्य बदलने को कैसी चीज़ होती है, उसकी खबर नहीं होती और बाहर की सिरपच्ची कर-करके मर जाए। धर्मचन्दजी! धर्मचन्द है। आहाहा!

यह मोक्ष के मार्ग की व्याख्या चलती है, हों! शुभपरिणाम के काल में शुभ हो, बन्धन हो, धर्म मानकर भटके, यह तो अनादि काल का है। यह कहीं नयी चीज़ नहीं है। अपूर्व दृष्टि

का विषय कि जो पुण्यपरिणाम से तीन काल में नहीं होता। अकेला स्वभाव अखण्ड-अभेद, उसके अवलम्बन से व्यवहार का निषेध करता... अर्थात्? आश्रय नहीं करता हुआ। निश्चय के आश्रय से सम्यग्दर्शन की—प्रथम चौथे गुणस्थान की प्राप्ति होती है और पश्चात् भी चारित्र की—पाँचवें गुणस्थान की प्राप्ति, वह भी त्रिकाल द्रव्यस्वभाव में उग्र पुरुषार्थ की अभेदता से प्रगट होती है। ये बारह प्रकार के व्यवहार के विकल्प पाले, इसलिए पाँचवाँ गुणस्थान आता है—ऐसा तीन काल, तीन लोक में नहीं है। समझ में आया? अभी सम्यग्दर्शन क्या और बिना प्रतिमा क्या और उसके बिना व्रत और उसके बिना तप और उसके बिना मुनिपना। हजारीमलजी! मुनिपना लिया। अट्ठाईस मूलगुण पालते हैं, इसलिए हम मुनि हैं। वह कहे—हम बारह व्रतधारी हैं, बात सच्ची है। बारह व्रत अर्थात् आस्रवधारी है। आस्रवधारी अर्थात् बन्धधारी। बन्धधारी अर्थात् परद्रव्यस्वभावधारी। परद्रव्यस्वभावधारी अर्थात् स्वद्रव्य के स्वभाव का अनादर करनेवाला। समझ में आया? नेमिदासभाई! बहुत बात... जगत के सामने यह तो बड़ा हमला, हों! विप्लव-विप्लव कहा था।

वे कहते थे। भाई दयाशंकरभाई कहते थे। दयाशंकरभाई राजकोट में प्रधान थे न! यहाँ अठारह दिन रहे। बहुत चर्चा चली, बहुत चर्चा चली। करते-करते सवेरे, दोपहर, रात। यह बात जगत के सामने बड़ा हमलो है, विप्लव है। सबके आसन खण्ड कर डालता है। पण्डितों के पानी उतर जाए, ऐसा है। विकल्प और दया-दान से कहीं किंचित् लाभ मनावे, उसे धर्म का कारण मनावे। अरे! राग, वह कहीं निर्विकल्प धर्म का कारण हो सकता है? निर्विकारी धर्म की परिणति का कारण कारणपरमात्मा है। अपना त्रिकाल स्वभाव, वह कारण है, ऐसा जो नहीं मानता, उसे परद्रव्यस्वभाव द्वारा कभी निर्जरा नहीं होती। और स्वभाव द्वारा ज्ञान हो, जिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है, उसे अपने ज्ञान का भवन अर्थात् आत्मा उसरूप परिणमता है। रागरूप परिणमना छोड़कर, व्यवहाररूप परिणमना छोड़कर, स्वभावरूप परिणमन की श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र की निर्विकारी समाधि का परिणमन एक ही जीवस्वभावी, एक ही मोक्ष का हेतु है। दूसरा कोई हेतु है नहीं। कहो, समझ में आया?

अब इसमें यह निश्चयमोक्षमार्ग एक ही मोक्ष का कारण है। उसमें नहीं आता? वे कहें कि टोडरमलजी ने ऐसा कहा है। हेतु एक द्रव्य के स्वभाववाला और वह परद्रव्य के स्वभाववाला। तथापि क्या लोगों को... ऐसा भी पढ़े गुने का अभिमान और अपनी बात रखने के लिये तोड़-मरोड़कर शास्त्रों के अर्थ विपरीत करके, जगत को बेचारे को खबर नहीं होती। वे मुश्किल से घण्टे-दो घण्टे निवृत्त हो। उसे उल्टे पाट पर चढ़ावे। उनको निवृत्ति नहीं होती।

जयभगवान! चलो, धर्म कर आये। क्यों कान्तिभाई! यह वहाँ राजकोट में सुनकर आये हैं न। कहो, समझ में आया इसमें?

एक द्रव्य के स्वभाववाला (जीवस्वभाववाला) है... अर्थात् कि जीवस्वभाव शक्ति का... समझ में आया? शक्ति अर्थात् आत्मा में शक्ति पड़ी है। ज्ञान की, आनन्द की, श्रद्धा की, चारित्र की, वीर्य की ऐसी अनन्त शक्तियाँ पड़ी हैं। वह शक्ति गुणरूप है, सत्त्वरूप है, अस्तिरूप है और उस अस्ति का एकरूप, वह आत्मा है। ऐसे एकरूप आत्मा के अन्तरदृष्टि का एक द्रव्यस्वभावी परिणाम प्रगट हुए बिना कदाचित् तीन काल में बन्ध का मार्ग छूटता नहीं और मोक्ष का मार्ग प्रगट नहीं होता। कहो, समझ में आया?

भावार्थ :– आत्मा का मोक्ष होता है... मोक्ष, वह आत्मा की पर्याय में आत्मा का मोक्ष होता है। तो उसका कारण भी आत्मस्वभावी होना चाहिए। न्याय से बात करते हैं। **इसलिए उसका कारण भी आत्मस्वभावी ही होना चाहिए।** कहीं विकार और विकल्प परस्वभावी से मोक्ष होगा? **जो अन्य द्रव्य के स्वभाववाला है, उससे आत्मा का मोक्ष कैसे हो सकता है?** यह पुण्य और दया, दान सब अन्य द्रव्य के स्वभाववाले हैं। है तो विभाव उसकी पर्याय में, परन्तु वह सब अन्य द्रव्य के संग से उपाधि होती है; इसलिए उसे अन्य द्रव्य के स्वभाववाला कहने में आया है।

अन्य द्रव्य के स्वभाववाला है, उससे आत्मा... की शान्ति कैसे होगी? मोक्ष अर्थात् शान्ति। मोक्ष अर्थात् पूर्ण शान्ति और पूर्ण शान्ति का कारण भी आत्मस्वभावी अपूर्ण शान्ति। उसमें राग कण भी मदद करता नहीं। समझ में आया? आहाहा! पहली चीज़ यह है, इसके लिये प्रयत्न नहीं, इसके लिये दरकार नहीं, इसकी गिनती नहीं, इसका बहुमान नहीं और बाहर की चीज़ पर यह खाना, यह पीना, यह किया, यह किया। इस शुभराग की क्रिया और इस आचरण से होगा। इसमें से धीरे-धीरे कल्याण होगा। इसमें मिथ्यात्व की जड़ पड़ी है। अनादि से जन्म गंवा दिया। कहीं जन्म के सफलपने का एक अंश भी प्राप्त किया नहीं। आचार्य कहते हैं, वह परद्रव्यस्वभावी है। समझ में आया? आत्मा का मोक्ष हो, वह तो आत्मस्वभावी है।

शुभकर्म पुद्गलस्वभाववाले हैं... शुभकर्म अर्थात् विकारी परिणाम। व्रत, तप, नियम, शील, संयम, दया, दान, अहिंसा सब भाव, वह पुद्गलस्वभावी है। शुभकर्म अर्थात् जड़ नहीं, पुद्गल के परमाणु नहीं; इसका शुभपरिणाम, वह शुभकर्म है। वे सब विभाव

परिणाम पुद्गलस्वभावी है। समझ में आया? ऐसा आत्मा का चिन्तवन करे। आत्मा ऐसा और वैसा, यह विकल्प भी पुद्गलस्वभावी है। **इसलिए उनके भवन से...** अर्थात् उसके होने से। अर्थात् कि शुभपरिणाम के क्रियाकाण्ड में शुभपरिणाम होने से **परमार्थ आत्मा का भवन नहीं बन सकता;...** वास्तव में भगवान आत्मा की शान्ति, निर्विकल्प श्रद्धा, निर्विकल्प ज्ञान, निर्विकल्प स्थिरता, वह राग की क्रिया के पुण्यपरिणाम के आश्रय से बिल्कुल किंचित् नहीं होता। **इसलिए वे आत्मा के मोक्ष के कारण नहीं होते।** इसलिए वह आत्मा की शान्ति का कारण नहीं होता।

ज्ञान आत्मस्वभावी है... जानना... जानना... जानना... जानना... जिसमें राग का अभाव, पुण्य का अभाव, व्यवहार का अभाव है—ऐसा आत्मस्वभावी ज्ञान; इसलिए उसके होने से, उसके होने से आत्मा का भवन होता है, स्वभाव की स्थिरता प्रगट होती है। स्वभाव की श्रद्धा, स्वभाव का ज्ञान और स्वभाव की शान्ति प्रगट होती है। **अत: वह आत्मा के मोक्ष का कारण होता है। इस प्रकार ज्ञान ही वास्तविक मोक्षहेतु है।** लो! आत्मा का स्वभाव शुद्ध ब्रह्मानन्दकन्द, उसके अन्तर में एकाकार आनन्द में व्यवहार के विकल्प का आश्रय छोड़कर, श्रद्धा छोड़कर, अवलम्बन छोड़कर स्वभाव के आश्रय से वास्तविक मोक्ष हेतु है। दूसरे कारण से मोक्ष नहीं होता। अर्थात् कि धर्म नहीं होता। और कोई ऐसा कहे। इस परिणाम से मोक्ष भले ही नहीं होता, वास्तविक पूर्ण केवलज्ञान नहीं होता इसलिए; परन्तु कितना ही धर्म होकर आगे तो बढ़ते हैं न? और पश्चात् मोक्ष का कारण (होगा)। अब इस भव में तो हमारे मोक्ष कहाँ है? इसलिए हमारे यह दया, दान, व्रत पालते-पालते आगे बढ़कर फिर मोक्ष होगा। ऐसा हो सकता है या नहीं? तीन काल में नहीं होगा, कहते हैं। पुद्गल के अवलम्बन से—आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होगा। सम्यग्दर्शन भी मुक्तस्वभाव है। भगवान आत्मा अबन्धपरिणामी वस्तु है, अबन्धस्वभावी। पुण्य के परिणाम दया, दान, व्रत, तप तो बन्धस्वभावी है। बन्धस्वभावी कहो, पुद्गलस्वभावी कहो, अन्य द्रव्यस्वभावी कहो।

भगवान आत्मा अबन्धस्वभावी त्रिकाल, उसके आश्रय से अबन्ध परिणाम, अर्थात्? अबन्ध परिणाम अर्थात् मोक्ष के मार्ग के परिणाम उसके आश्रय से होते हैं, विकल्प और व्यवहार के आश्रय से तीन काल, तीन लोक में सम्यग्दर्शन नहीं होता। समझ में आया? अबन्धस्वभाव अर्थात् आत्मा का मोक्षस्वभाव। मोक्षस्वभाव त्रिकाल मुक्त है। उसकी प्रतीति मोक्ष के मार्ग की, त्रिकाल मोक्षस्वभाव की, मोक्षशक्ति की प्रतीति, वह मोक्ष के मार्ग की पर्याय

है, मोक्ष के मार्गरूप है, वह अबन्धपरिणाम है। दया, दान, व्रतादि, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा व्यवहाररत्नत्रय, वह बन्धमार्ग है। पुद्गल के कारण वह तो पुद्गल का संयोग हो, उससे ये संयोग मिलते हैं, उसमें स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान उससे प्राप्त नहीं होते। समझ में आया?

अब इसी अर्थ के कलशरूप दो श्लोक कहते हैं:-

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत्।।१०६।।

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत्।।१०७।।

यह टीका की और पाठ है, उसका बहुत संक्षिप्त में यहाँ कलश कहते हैं। मन्दिर के ऊपर कलश चढ़ाते हैं न कलश? उसी प्रकार यह टीका के मन्दिर पर कलश चढ़ाते हैं, उसका सार करके।

ज्ञान एकद्रव्यस्वभावी (-जीवस्वभावी-) होने से... अर्थात् कि अन्दर श्रद्धा, ज्ञान और वीतराग परिणति अन्तरनिर्विकल्प सम्यग्दर्शन, निर्विकल्प ज्ञान और निर्विकल्प चारित्र—ऐसा जो ज्ञान **एकद्रव्यस्वभावी...** यह आत्मा के एक द्रव्यस्वभावी परिणति होने से **(-जीवस्वभावी) होने से ज्ञान के स्वभाव से हमेशा...** ज्ञान की निर्मल पर्याय, वीतरागी श्रद्धा, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी लीनता। **ज्ञान के स्वभाव से हमेशा...** समझ में आया? **'सदा'** है न **'सदा'**? किसी काल में (नहीं कहना) और सदा डाला वापस। भाई! किसी काल में कुछ अवश्य? दया, दान, व्रतादि के परिणाम से कहीं परिणाम से किसी काल में आत्मा के स्वभाव को लाभ होगा?—तीन काल में नहीं। **'सदा'** शब्द इसके लिये प्रयोग किया है।

'वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।' 'सदा' तीनों काल। जब देखो, तब आत्मा को ज्ञान अर्थात् शान्ति, आत्मा के स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन; आत्मा के स्वभाव के आश्रय से ज्ञान और चारित्र। वह एक द्रव्यस्वभावी अर्थात् जीवस्वभावी, आत्मस्वभावी होने से, उसके कारण से।—ऐसा कहा है। **ज्ञान के स्वभाव से...** स्वभाव की शुद्धि के आश्रय से। अन्दर शुद्धस्वभाव त्रिकाल के आश्रय से शुद्धि से **हमेशा...** अर्थात् तीनों काल। भरतक्षेत्र हो, ऐरावत क्षेत्र हो, महाविदेहक्षेत्र हो, चौथा काल हो या पाँचवाँ काल हो या चाहे जो काल हो। समझ में आया? जीव को सदा **ज्ञान का भवन बनता है;...** किसी समय भी इस

व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प से आत्मा के स्वभाव का सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप होना हो, ऐसा तीन काल में नहीं होता। समझ में आया? इतना अधिक डाला है। **हमेशा...** अर्थात् सदा।

इसलिए ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। आत्मा का यह दया, दान के परिणामरहित स्वभाव, शुद्ध, त्रिकाल, उसकी अन्तर्दृष्टि देने से (मोक्ष का कारण प्रगट होता है)। पहले श्रद्धा में ले। यह दया, दान, व्रत, तप की क्रिया से तीन काल में धर्म नहीं होता, इनसे मिथ्यात्व नहीं टलता, इनसे समकित नहीं होता। ऐसा पहले निर्णय करके आत्मा के स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है; इसके अतिरिक्त कभी दूसरे कारण से नहीं होता। इसलिए आत्मा का स्वभाव ही कि आत्मा का, ज्ञान कहो या आत्मा कहो, एक ही मोक्ष का कारण है; दूसरा कोई मोक्ष का कारण नहीं है। कहो, समझ में आया?

कर्म अन्य द्रव्यस्वभावी होने से... कर्म अर्थात् शुभपरिणाम। ओहोहो! व्यवहाररत्नत्रय के जो छठवें गुणस्थान में सन्तों को होते हैं। कहते हैं कि हो भले, परन्तु वह कर्मस्वभावी है, वह अन्य द्रव्यस्वभावी है, वह आत्मस्वभावी नहीं, वह बन्ध का कारण है। कार्य विकारी परिणाम व्यवहार के-शुभ के अन्य द्रव्यस्वभावी, पुद्गलस्वभावी होने से, उसके कारण से कर्म के अर्थात् पुण्य-परिणाम के स्वभाव से आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान का होना नहीं होता। ज्ञान का होना अर्थात् आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का होना नहीं होता।

इसलिए कर्म मोक्ष का कारण नहीं है। लो! शुभपरिणाम की क्रिया, अन्दर, हों! परिणाम उदयभाव के, जड़ के नहीं। शुभभाव ऐसे कषाय की मन्दता शुक्ललेश्या के परिणाम, वे शुभभाव छूटने का अर्थात् मिथ्यात्व छूटने का, अव्रत छूटने का, कषाय छूटने का वह कारण नहीं होता। शुभभाव मिथ्यात्व छूटने का कारण नहीं होता, क्योंकि राग है। मिथ्यात्व छूटने का कारण स्वभाव का आश्रय होता है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई कारण नहीं हो सकता। इस प्रकार से प्रसिद्ध प्रगट बात की है। अब यह बात इसे रुचे नहीं और बाहर के व्यवहार... व्यवहार... व्यवहार उत्थापित हो जाता है। सुन न, इस व्यवहार को उत्थापकर निश्चय करेगा, तब सम्यग्दर्शन होगा। इसके बिना तीन काल, तीन लोक में नहीं होगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

१२

श्री नियमसार, गाथा - १६६, श्लोक - २८२, प्रवचन - १९७
दिनांक - ३०-०७-१९८०

नियमसार, गाथा १६६।

अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ।।१६६।।

प्रभु केवली निजरूप देखें और लोकालोक ना।
यदि कोइ यों कहता अरे उसमें कहो है दोष क्या॥१६६॥

आहाहा! एक बात तो ऐसी है कि जहाँ-जहाँ आत्मा परमाणु के समीप में है, वह परमाणु को स्पर्शता नहीं है। कर्म, शरीर या कोई भी एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, त्रीइन्द्रिय के शरीर। क्योंकि आत्मा तो ज्ञान और दर्शन (स्वरूप है), वह किसी चीज़ को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! मात्र उसकी भूल यह है कि आत्मा के अतिरिक्त किसी भी एक परमाणु से लेकर लोकालोक (लोक) के परमाणु, उन्हें कुछ भी, वह कभी स्पर्शा नहीं तो उनका किया तो है नहीं, तथा करा सकता नहीं। क्योंकि जड़ का कुछ करा नहीं सकता। मात्र होता है, उसे अनुमोदता है, वह उसका अज्ञान है। क्या कहा? आहा!

यह आत्मा... यहाँ कहते हैं कि अपने स्वरूप में है। वह पर को देखता ही नहीं। देखता नहीं वह तो ठीक, यहाँ तो एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय, जहाँ-जहाँ आत्मा है, वहाँ-वहाँ वह-वह परमाणु मन, वचन और काया के परमाणु उसके काल में, उसके क्षेत्र में उसकी पर्याय से हो, परन्तु आत्मा उन्हें स्पर्श नहीं करता। आहाहा! आत्मा तो अरूपी चीज़ है। अरूपी आत्मा है। वह रूपी एक रजकण से लेकर लोकालोक के परमाणु, स्कन्धों को—उन्हें कभी छूता, स्पर्श नहीं करता। आहाहा! मात्र करता हो तो इतना कि वह उनका कर नहीं सकता कुछ, तथा करा नहीं सकता, मात्र करता हो, उसे अपने अभिमान से अनुमोदन देकर चार गति में भटकता है। क्या कहा, समझ में आया? आहाहा!

पूरी दुनिया के पुद्गल एकेन्द्रिय के शरीर से लेकर पंचेन्द्रिय के शरीर और बड़े स्कन्ध

पूरे, उन्हें कभी चैतन्य अरूपी भगवान उन्हें कभी स्पर्शता ही नहीं। क्योंकि स्वयं स्पर्शरहित चीज़ है। वह स्पर्शे कहाँ से? आहाहा! वह जहाँ रहा, वहाँ स्वयं परमाणु जड़ से तो भिन्न है ही। उसके साथ तो कुछ है नहीं। परन्तु उस जड़ का कर सकता तो नहीं। वह अरूपी ज्ञानघन और (जड़) वह रूपी, उसे करे क्या? उसे करा नहीं सकता कि भाई! तू इसका-जड़ का कर। वह माने भले कि मैं कराता हूँ, परन्तु करा नहीं सकता। मात्र होता हो, उसे अज्ञानभाव से अनुमोदन देता है कि यह तुमने अच्छा किया, यह तुमने यह किया, तुमने यह किया और तुमने यह किया। आहाहा! मण में आठ पन्सेरी की भूल। आठ पन्सेरी समझ में आया? मण में मण की भूल (अर्थात् कि) पूरी-पूरी भूल। आहाहा!

अरूपी प्रभु रूपी जगत की किसी चीज़ को या अरूपी धर्मास्तिकाय आदि, उन्हें कभी छूता नहीं, छुआ नहीं। आहाहा! उसका कभी एक तिनका तोड़ा नहीं, छोड़ा नहीं। स्पर्शा नहीं, वहाँ (छोड़ने की बात कहाँ रही)? आहाहा! इसलिए पूरी दुनिया के पुद्गल, जहाँ-जहाँ बसा वहाँ वह पुद्गल, उसकी-उसकी पर्याय से परिणमन कर पुद्गल खड़े हैं, उन्हें आत्मा ने स्पर्श नहीं किया तो कर्ता तो है नहीं, इसी तरह करा सकता नहीं। क्योंकि उसके अधिकार की बात नहीं है। जड़ की पर्याय जड़ से परिणमित होती है, उसे वह करा सकता नहीं है। आहाहा! परन्तु करा सकता हूँ और करता है, उसका अनुमोदन कर सकता हूँ, यह मान्यता उसका भ्रम है। आहाहा! गजब बात। क्योंकि प्रभु आत्मा तो अरूपी है और वह भी ज्ञान और दर्शन और आनन्द का धारक है। अब यदि उस त्रिकाली की दृष्टि से देखें, तब तो उसकी पर्याय में परपदार्थ का स्पर्श तो नहीं परन्तु उसकी पर्याय में पर का करना, कराना, अनुमोदन करने का जो विकल्प है, वह उसकी पर्याय में अज्ञान से है। वस्तु के स्वरूप से वह कुछ है नहीं। आहाहा!

आत्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थ को चाहे जिस क्षेत्र में हो, वह परमाणु अपनी पर्याय से, अपनी पर्याय से वहाँ परिणम रहा है। उसे यह आत्मा ऐसा माने कि यह मुझसे होता है। वह भ्रमणा कर सकता है। आहाहा! तथा भ्रमणा करावे कि यह तुम करो... यह करो... ऐसे भ्रमणा करा सकता है अर्थात् वह भ्रमणा करे तो करा सकता है, ऐसा कहा जाता है। बाकी पर को भ्रमणा करा भी नहीं सकता। भ्रमणा। परमाणु का तो कर नहीं सकता परन्तु दूसरे की भ्रमणा वह नहीं कर सकता। आहाहा!

एक बात रह गयी। इसने स्वयं अपनी जाति को जाना नहीं कि मैं एक आत्मा ज्ञानस्वरूप हूँ और जाननेवाला-देखनेवाला हूँ। ऐसी चीज़ तो अपनी जाना नहीं, इसलिए जिसे जानने की ओर झुकाव है, उसमें वह रुककर मानता है कि मैं यह करता हूँ, यह कराता हूँ, इस कर्ता को

अनुमोदन करता हूँ। दुकान अच्छी चलती हो, नौकर बराबर काम करते हों तो प्रसन्न होता है कि बहुत अच्छा काम करते हैं। आहाहा! ऐसी बात। ऐई! शान्तिभाई! ऐसा है।

आत्मा तो चैतन्यस्वरूप अरूपी है। वह अपने को छोड़कर पर—रूपी या अरूपी पदार्थ को कभी स्पर्श नहीं करता। आहाहा! तब यह भ्रम क्या? पूरे दिन अपने को भूलकर यह किया... यह करूँ... यह करूँ... यह किया... व्यापार किया, धन्धा किया, पैसे मिले, उसे पैसे दिये-लिये... आहाहा! पूरे लोक में जितने परमाणुओं का परिणमन होता है, उनका परिणमन स्वतन्त्र पुद्गल का है। जीव वहाँ खड़ा रहकर उसे देखनेवाला है। वह देखनेवाला है, ऐसा न मानकर मैं उन्हें कर सकता हूँ—ऐसी मान्यता के कारण परिभ्रमण कर रहा है। आहाहा! समझ में आया? घीयाजी! बहुत कठिन बात, प्रभु!

यहाँ तो ऐसा विचार आया कि... अरूपी आत्मा तो अत्यन्त भिन्न है न! वह अन्दर के कर्म के रूपी को भी स्पर्श नहीं करता। शरीर को स्पर्श नहीं करता और जहाँ जाए वहाँ, जो-जो शरीर मिले, उसे कभी स्पर्श नहीं करता और उसे रख नहीं सकता, उसे सुधार नहीं सकता, उसे बिगाड़ नहीं सकता। आहाहा! मात्र अभिमान में अपना ज्ञान और दर्शन ऐसा जानना-देखना स्वरूप है। वह भी पर को जानना-देखना, जगत की जड़ की-पर की अवस्था उस काल में होने पर, उसे जानना-देखना, वह भी व्यवहार है। आहाहा! करना तो मिथ्यात्व है, परन्तु उसे जानना, अपने में वह नहीं है, उसे जानना (कहना), इसका नाम व्यवहार और अपने में है, उसे जानना (कहना), इसका नाम निश्चय, इसका नाम सत्य और अपने में नहीं है, इसे जानना, उसका नाम उपचार। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं। **यह, शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा से परदर्शन का (पर को देखने का) खण्डन है।** क्या कहते हैं? आत्मा दर्शनस्वरूप है। वह पर को देखता ही नहीं। आहाहा! निश्चयनय से पर को देखता नहीं। आहाहा! यहाँ तो अभी पर का करना, मैं पर का कर दूँ, सवेरे उठे, दुकान पर जाए, नौकरों से काम लेना, दबाव करना, अपनी होशियार की छाप डालना (कि) जिससे इसे देखकर बिना कहे काम करे। आहाहा! यह सब भ्रम है। आहाहा! भगवान अरूपी चैतन्य, वह पर को कहीं स्पर्श नहीं करता, करता नहीं, कराता नहीं, करता को अनुमोदन नहीं करता। मात्र व्यवहार कहें तो वह पर को जानता-देखता है, इतनी मर्यादा है। व्यवहार कहें तो इतनी मर्यादा है। वह भी यहाँ इनकार किया है। आहाहा! वह भी यहाँ निश्चय से निषेध किया है कि पर को जानना-देखना भी झूठा है। आहाहा! ऐसी बात है।

चैतन्यतत्त्व अरूपी ज्ञान-दर्शन-आनन्द से भरपूर भगवान, इस अरूपी ने अरूपीपने...

यह कहा न? देखो न **शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा से परदर्शन का (पर को देखने का) खण्डन है। यद्यपि व्यवहार से एक समय में तीन काल सम्बन्धी पुद्गलादि द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानने में समर्थ सकल-विमल केवलज्ञानमयत्वादि विविध महिमाओं का धारण करनेवाला है,...** तीन काल-तीन लोक... एक समय की संयोगी चीज़ को कर सकने को समर्थ नहीं है परन्तु तीन काल-तीन लोक को जानने-देखने में समर्थ है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **तथापि वह भगवान,...** केवलज्ञान द्वारा पर को जानने-देखने को समर्थ हैं, व्यवहार से। तो भी **केवलदर्शनरूप तृतीय लोचनवाला होने पर भी,...** आहाहा! केवलदर्शन अन्दर खिला, जो उसका मूल स्वभाव है, वह स्वभाव जहाँ पूर्ण प्रगट हुआ, वह स्व के आश्रय से (हुआ), पर का आश्रय जरा भी नहीं है। पर को तो स्पर्श भी नहीं करता, वहाँ आश्रय-फाश्रय कहाँ? कि संहनन मजबूत था, इसलिए केवल(ज्ञान) हुआ। आहाहा! उपदेश मिला, इसलिए केवलज्ञान हुआ, अच्छा संग मिला, इसलिए केवलज्ञान हुआ, यह वस्तु इसमें लागू नहीं पड़ती। वस्तु स्वतन्त्र है। पर के साथ कुछ '**नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः**' यह श्लोक आ गया है। (समयसार कलश) २००। '**नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः**' स्व और पर को किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! भ्रमणा करके मान रहा है कि मुझे और उसे इतना सम्बन्ध है। मेरा उसके साथ इतना सम्बन्ध है। उसका पुत्र विवाह करे, तब मुझे अमुक तो देना पड़े, मेरा पुत्र विवाह करे तो यह देना पड़े। यह सब भ्रमणा है। आहाहा! परोसा देना पड़े, यह करना पड़े। क्या करता है? प्रभु! तू ज्ञान और दर्शन है न! वह चीज़ हो, उसे जाने-देखे ऐसा कहना वह व्यवहार है, तो उस चीज़ को कुछ करे, करावे और अनुमोदे, प्रभु! यह वस्तु के स्वरूप में नहीं है। आहाहा! लोगों से भारी उल्टा।

आत्मा अरूपी अत्यन्त भिन्न तत्त्व अन्दर है और यह अत्यन्त भिन्न शरीर, वाणी, मन, रजकण, जिन्हें कुछ खबर भी नहीं कि हम जड़ हैं या नहीं और जिन्हें खबर है, वह उसे स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा! वह जड़ चीज़ है, उसे खबर नहीं की हम जड़ हैं। तथा साथ में जाननेवाला है, उसे उसकी खबर नहीं की यह जाननेवाला है। जड़ को खबर कहाँ है! आहाहा! जड़ को जड़ की खबर नहीं, जड़ को चैतन्य की खबर नहीं। अब रहा चैतन्य। उस चैतन्य को चैतन्य की खबर है। परन्तु कहते हैं कि व्यवहार से ऐसा कहते हैं कि पर को देखता है, उसका भी यहाँ हम खण्डन करते हैं। आहाहा! बहुत कठिन बात है। दुनिया के साथ मिलान खाये ऐसा नहीं है। आहाहा!

यह कहते हैं कि केवलज्ञान से लोकालोक को जाने, ऐसा महिमावन्त है। **तथापि वह**

भगवान, केवलदर्शनरूप तृतीय लोचनवाला होने पर भी,... उसे केवलदर्शन होने पर भी, केवलज्ञान से जाने और केवलदर्शन अन्दर होने पर भी **परम निरपेक्षपने के कारण...** आहाहा! पर को देखने की कोई अपेक्षा ही नहीं है। वह तो दर्शन और ज्ञान में ही है। आहाहा! भगवान स्वयं तो दर्शन और ज्ञानस्वरूप में ही है। पर को देखने और जानने वह नहीं जाता। आहाहा! पर का करना और कराना, अनुमोदन करना, वह तो उसमें है ही नहीं परन्तु पर को देखने और जानने जाता नहीं। आहाहा! क्योंकि जानने-देखने की जो अवस्था है, वह तो अरूपी है और यह चीज़ जो सब है, वह तो रूपी है। अरूपी-अरूपी धर्मास्तिकाय है, वह अलग बात है। यह पहले कहा। केवलज्ञान में सर्व द्रव्य-गुण-पर्याय जाने परन्तु उसके साथ दर्शन है, वह भी उसे देखे, ऐसा नहीं। उसका खण्डन करते हैं, निश्चयनय। आहाहा! स्पर्श नहीं करता, करता नहीं, कराता नहीं, कर्ता को अनुमोदता नहीं। मात्र होता है उसमें, उसे मैं देखता हूँ। होता है, उसे मैं देखता हूँ, इस व्यवहार का भी यहाँ निषेध किया है। अरे! बहुत सूक्ष्म बात, भाई! आहाहा!

श्रोता : तन्मय नहीं होता, यह बराबर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर को स्पर्श नहीं करता, फिर कहाँ बात रही। वह तो अरूपी, यह चीज़ रूपी। चाहे जिस स्थान में हो, रूपी को स्पर्श भी नहीं करता, स्पर्श भी नहीं किया और तीन काल-तीन लोक में स्पर्श ही नहीं करेगा। आहाहा!

ऐसा जो भगवान अरूपी है, उसे कहते हैं कि ज्ञान से ऐसा कहते हैं कि ज्ञान से तीन काल-तीन लोक को जाने, ऐसा कहें। ऐसा माहात्म्य आया न? **केवलज्ञानमयत्वादि विविध महिमाओं का धारण करनेवाला है,...** ऐसे विविध गुण का धारक आत्मा है। **तथापि वह भगवान, केवलदर्शनरूप तृतीय लोचनवाला होने पर भी,...** आहाहा! आँख तो है। केवलज्ञान लोचन / आँख है। केवलदर्शन अन्दर तीसरा लोचन है। तीन काल-तीन लोक को देखने की शक्ति है। ऐसी शक्ति होने पर भी... आहाहा! है? **परम निरपेक्षपने के कारण...** पर को देखना, उसकी अपेक्षा छोड़ दो, निरपेक्षरूप से लो तो दर्शन, दर्शन में ही रहा है। आहाहा! दर्शन पर को देखने में जाता है, ऐसा है नहीं। देखने में जाता है, ऐसा तो है नहीं परन्तु देखता है, पर को देखता है (—ऐसा नहीं है), वह तो अपनी अवस्था को देखता है। उस अवस्था को देखता है, उस पर को देखता है—ऐसा कहना, वह व्यवहार है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म!

अब यहाँ तो दया पालो, भक्ति करो, व्रत करो। प्रतिमा, मन्दिर बनाओ। होता है, ऐसा शुभभाव होवे, तब वह क्रिया सामने होने की होती है, होने की हो तो होती है, हों! यह शुभभाव किया, इसलिए वहाँ होती है, ऐसा नहीं है। यहाँ तो कहते हैं पर को शुभभाव से करे, वह तो

है नहीं... आहाहा! मन्दिर और शास्त्र शुभभाव से करे, वह तो है ही नहीं। क्योंकि वह पुद्गल पर जड़ है। जड़ को व्यवहार से कहे, ऐसा तो नहीं है। परन्तु केवलज्ञान के साथ रहे हुए केवलदर्शन को देखे, वह भी व्यवहार है, वह निश्चय नहीं। आहाहा! कहाँ पहुँचना? लोगों को नीचे से अभी आगे आया नहीं। दोनों है? गोगीभाई है, दोनों व्यक्ति थे। दो भाई कहाँ से इकट्ठे हो गये। कहो, समझ में आया? आहाहा! ओहोहो!

यहाँ तक लिया कि **केवलज्ञानमयत्वादि विविध महिमाओं का धारण करनेवाला है,...** है न? धारण करनेवाला। कौन? आत्मा। आहाहा! केवलज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य, अनन्त सत्ता, अनन्त प्रभुता ऐसे अनन्त गुण का धारक आत्मा वह दर्शन से पर को देखे, ऐसा कहना वह भी निश्चयनय से नहीं है, सत्यदृष्टि में ऐसा नहीं है, वह तो उपचार का कथन है। क्योंकि इसमें जाता नहीं और जो चीज़ है, वह अपने में आती नहीं, उसे जानना-देखना कहना, वह व्यवहार है। आहाहा! ऐसा उपदेश! सूक्ष्म बात है, बापू! तेरा तत्त्व ही अलग है। तत्त्व है या नहीं? यह कहा न यहाँ? पहले कहा न?

यद्यपि व्यवहार से एक समय में तीन काल सम्बन्धी पुद्गलादि द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानने में समर्थ... यह भी व्यवहार। आहाहा! पर को जानने में समर्थ, यह भी व्यवहार ज्ञान। ऐसा **सकल-विमल केवलज्ञानमयत्वादि...** केवलज्ञान आदि अनन्त गुण का धारक प्रभु। आहाहा! **तथापि वह भगवान,...** ऐसी महिमा को धारण करनेवाला है। ज्ञान में पर को जाननेवाला कहा। समझ में आया? आहाहा! कहा या नहीं? **सकल-विमल केवलज्ञानमयत्वादि विविध महिमाओं का धारण करनेवाला है,...** जानने में समर्थ। इसमें आया न? जानने में समर्थ। आहाहा! तो भी... अपने ज्ञानगुण से पर को स्पर्श भी नहीं करता परन्तु व्यवहारनय से पर को जानता है। व्यवहारनय से पर को जानता है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म पड़े। मार्ग ऐसा है, बापू! देह चली जाएगी और आत्मा की सत्ता तो रहेगी। वह कहाँ जाएगा? किस जगह अवतरित होगा, किस जगह उपजेगा? आहाहा!

अनन्त-अनन्त बार अभिमान कर-करके मैंने यह किया... मुझे आता था। दुकान का आता था, वह मैं करता हूँ, मेरी होशियार से यह दुकान अच्छी चलती है। आहाहा! अरे! एक परमाणु पलटाने की शक्ति भगवान आत्मा में नहीं है। आहाहा! ऐई! मनसुख! यह आणन्दजी तो वहाँ दुकान में बहुत करता था। बाहर से ऐसे लावे और ऐसे करे, ऐसे करे। तीन-तीन पुटी बात उसे याद थी। एक तो जिस भाव से माल आवे, उसमें कितना खपा और कितना नहीं खपा, वह ख्याल में था और उस माल का भाव अभी क्या है, वह उसके ख्याल में था। आहाहा! यह

तो तेरे जन्म पहले की (संवत्) १९७४ के (वर्ष की) बात है। आहाहा! अरे! स्वयं भूला, अपनी जाति क्या है, उस ओर तो लक्ष्य किया नहीं। अपनी जाति चैतन्य जाति है। वह व्यवहार से पर को जाननेवाला भले कहा। ऐसा कहा न। आहाहा!

तो भी... आहाहा! **परम निरपेक्षपने के कारण निःशेषरूप से (सर्वथा) अन्तर्मुख होने से...** दर्शन तो अन्तर्मुख है। आहाहा! वह दर्शनगुण अन्तर्मुख है। वह **केवल स्वरूपप्रत्यक्षमात्र व्यापार में लीन...** केवल स्वरूपप्रत्यक्षमात्र, अपने स्वरूपप्रत्यक्षमात्र में दर्शन लीन है। **लीन ऐसे निरंजन...** ऐसे निरंजन **निज सहजदर्शन द्वारा...** ऐसे निज सहज दर्शन द्वारा **सच्चिदानन्दमय आत्मा को...** आहाहा! बहुत संक्षिप्त भाषा परन्तु कितना भरा है! किसी का करे नहीं, यह तो आया। परन्तु केवलज्ञानमय आदि अनन्त सम्पदाओं से भरपूर है, इसलिए उसे व्यवहार से पर को जानता है, ऐसा कहते हैं। तथा यह दर्शन है, वह आत्मा व्यवहार से पर को देखता है, ऐसा कहा जाता है। निश्चय से तो देखता नहीं। आहाहा! अभी तो पर का करना छोड़ना सुहाता नहीं। आहाहा! पर का करना, हम यह करते हैं, तुझे वह स्पर्शता नहीं, हमें यह आता है। आहाहा! अभिमान ने मार डाला है। जीव को मार डाला है। मार डाला अर्थात् समझे? कलश-टीका में आता है। मार डाला। मरणतुल्य कर डाला। जिसका स्वरूप जानना-देखना, उसे पर का करना-कराने में मार डाला। तू यह जानना-देखना नहीं और तुझे यह करना और कराना सौंपते हैं। वह जीव का ज्ञाता-दृष्टापने को मार डाला। आहाहा! यह भ्रान्ति त्रिलोकनाथ तीर्थंकर की वाणी से मिटेगी, ऐसा लिखा है। समझ में आया? कलश-टीका में। आहाहा!

ग्यारह अंग पढ़ गया, नौ पूर्व पढ़ गया, क्रिया में भी छह-छह महीने के अपवास... आहाहा! बालब्रह्मचारी (रहा), जिन्दगी में विषय (सेवन किया) नहीं। परन्तु प्रभु स्वयं अन्दर कौन है? आहाहा! उसकी सत्ता का कार्य क्या है? वह निश्चय से तो उसकी सत्ता का कार्य अन्तर में लीन रहना है। स्वरूप उस स्वरूप में लीन रहे, वह उसका कार्य है। आहाहा! उसे पर को देखना कहना, वह भी व्यवहार है। पर को जानना कहना, वह व्यवहार है। यह तो पहले जानने का कहा। जाननेवाला होने पर भी, दर्शन को पर को देखने का नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! ऐसी साधारण बात है। परन्तु अन्दर बड़ी बात है, भाई! आहाहा! पूरी दुनिया के तत्त्व से तेरा तत्त्व अत्यन्त भिन्न है। कुछ सम्बन्ध नहीं होता। **नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः**। दूसरे जीव के साथ और दूसरे परमाणु के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। अकेला स्वयं भगवान है। द्रव्य-गुण तो ध्रुव है परन्तु अपनी उल्टी-सुल्टी पर्याय में संसार रहा।

यहाँ कहते हैं कि केवलज्ञान द्वारा जिसके साथ दर्शन का सम्बन्ध है, ऐसे केवलज्ञानमयपने

को धारण करनेवाला व्यवहार से पर को जानता है तथा वह व्यवहार से दर्शन पर को देखता है, उसका तो यहाँ निषेध किया। आहाहा! है न? **सच्चिदानन्दमय आत्मा को निश्चय से देखता है (परन्तु लोकालोक को नहीं)...** आहाहा! अपने को देखता है, पर को नहीं। आहाहा! **ऐसा जो कोई भी शुद्ध अन्तःतत्त्व का वेदन करनेवाला...** ऐसा जो कोई शुद्ध अन्तःतत्त्व में लीन वेदन करनेवाला... आहाहा! **(जाननेवाला, अनुभव करनेवाला) परम जिनयोगीश्वर...** परम जिन वीतरागी मुनि, सन्त आदि **शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा से कहता है,...** कि पर को देखता नहीं, ऐसा कहता है। **शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा से कहता है, उसे वास्तव में दूषण नहीं है।** आहाहा! कितनी लम्बी बातें। समझ में आया? पूरी दुनिया में तेरा तत्त्व वह अत्यन्त भिन्न रहा है। कभी किसी को स्पर्श नहीं किया है, कभी स्पर्श नहीं किया है, स्पर्श नहीं करता और स्पर्श नहीं करेगा। आहाहा! मात्र केवलज्ञान द्वारा व्यवहार से जाननेयोग्य जानता है। तथा दर्शन भी देखता है, ऐसा नहीं। निश्चय से तो वह देखता नहीं, ऐसा कहना है। आहाहा! पर को कोई देखने की अपेक्षा नहीं। ऐसा आया न? निरपेक्ष नहीं आया? पहले निरपेक्ष आया। **निरपेक्षपने के कारण निःशेषरूप से (सर्वथा)...** निःशेष अर्थात् सर्वथा। सर्वथा निरपेक्षपने। पर की कोई अपेक्षा ही नहीं। आहाहा! सूक्ष्म पड़े। रात्रि को प्रश्न करना। आहाहा! ऐसी बात है, प्रभु! ओहो! यह तत्त्व अन्दर केवलज्ञान आदि अनन्त गुण का धारक होने पर भी और वह केवलज्ञानादि पर को जाननेवाला... है न?

तीन काल सम्बन्धी पुद्गलादि द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानने में समर्थ... होने पर भी। आहाहा! कितनी बात करते हैं! अपना ज्ञान तीन काल-तीन लोक को जाने, ऐसे स्वभावमय होने पर भी। आहाहा! उसके साथ दर्शनरूप जो तृतीय लोचन। देखना वह तीसरा लोचन, आहाहा! वह उससे पर को देखे, यह बात व्यवहार से है, निश्चय से नहीं। आहाहा! बहुत कठिन काम। वस्तु है न? तत्त्व है न? तत्त्व है तो उसमें सत्त्व है या नहीं? तत्त्व का सत्त्व है या नहीं? तत्त्व सत् है, तो सत् का सत्त्व है या नहीं? वह सत्त्व पर को देखता है, ऐसा है नहीं। आहाहा! अपना सत्त्व दर्शन-ज्ञान है। यह व्यवहार से कहने में आता है कि केवलज्ञान पर को जानता है। परन्तु उसके साथ तृतीय लोचनदर्शन पर को देखता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! वह तो अपने निजस्वरूप में... ऐसा कहा न? आहाहा!

ऐसा जो कोई भी शुद्ध अन्तःतत्त्व का वेदन करनेवाला... आहाहा! जिसे आत्मा शुद्धस्वरूप परम आनन्द को वेदन करनेवाला... आहाहा! **(अनुभव करनेवाला) परम जिनयोगीश्वर...** परम जिन योगी मुनि। उत्कृष्ट बात ली है न! **शुद्धनिश्चयनय की...** शुद्धनिश्चयनय के कथन से, विवक्षा। शुद्धनय के कथन द्वारा **उसे वास्तव में दूषण नहीं है।**

पर को (नहीं) देखे, वह शुद्धनिश्चयनय से दूषण नहीं है। आहाहा! यह प्रश्न किया था न किसी ने? कि पर को जानना, वह मिथ्यात्व है न? शान्तिभाई कहे, रात्रि में। जानना, वह मिथ्यात्व नहीं; जानना, वह व्यवहार है। मूल यह मार्ग ही पूरा बदल गया है। पूरा भटकने का मार्ग... आहाहा! परम सत्य कोई भी संयोग में तीन काल-तीन लोक के संयोगों में आया तो भी उन संयोगों को स्पर्श नहीं किया। आहाहा! संयोगों को स्पर्श नहीं किया।

निश्चय से केवलज्ञान अपने को जानता है। व्यवहार से पर को जानता है तो दर्शन को ही पर को जानना (देखना), ऐसा कहना, उसे पर की कोई अपेक्षा बिना अपने को देखता है, ऐसा लेना। आहाहा! इसमें क्या करना और क्या... सामायिक करना या यह जानकारी करना? यह सब कहीं पड़ा रहा। आहाहा!

[अब, इस १६६वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:] आहाहा! जहाँ-जहाँ प्रभु तू है, वहाँ-वहाँ तुझे परद्रव्य के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। सर्वार्थसिद्धि में है, मुक्तिशिला में हो... आहाहा! सातवें नरक में हो या निगोद में हो। आहाहा! परन्तु प्रभु आत्मा वह परमाणु को बिल्कुल स्पर्श नहीं किया, बिल्कुल छुआ नहीं करता। आहाहा! वह तो अपनी सत्ता अपने में रखकर अपने में रहा है, पर की सत्ता को स्पर्श भी नहीं किया। अपनी सत्ता है, वह पर की सत्ता को स्पर्श ही नहीं करती। आहाहा! ऐसा सुनना कठिन पड़े।

श्रोता : ऐसा ही सुनना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! बात सत्य। यह तो युवकों को देखकर कहते हैं। युवकों को इतना सुनना कठिन। आहाहा!

परम सत्य। भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव का निश्चय का परम कथन, परम सत्य। क्या कहते हैं? कि पर को देखे तो पर में लीन होता है, ऐसा नहीं है। वह तो अपने में लीन है। आहाहा! अपने में लीन है तो निश्चय से अपने को देखता है और जानता है। आया है न? यह अन्दर आया है न? शुद्ध अन्तःतत्त्व को वेदन करनेवाला। आहाहा! पर को जाननेवाला-देखनेवाला नहीं। आहाहा! अपने को वेदन करनेवाला, जाननेवाला। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! यह तेरे घर की है, नाथ! आहाहा!

अनन्त-अनन्त गुण का धनी, रंक होकर फिरे, वह किसी के कारण नहीं, कर्म के कारण से नहीं। आहाहा! स्वयं की भूल (हुई है)। 'अपने को आप भूलकर हैरान हो गया।' अपनी चीज़ बेहद ज्ञान-दर्शन-आनन्द... आहाहा! जिसका उठान अर्थात् पानी में उफान आता

है न ? उफान। परन्तु वह उफान पोला है। क्या कहा ? उस उफान का होता है न ? वह तो पोला होता है। ऐसा बढ़ा, इसलिए पानी का वजन बढ़ गया, ऐसा नहीं है। यह तो ज्ञान-दर्शन बढ़े, वह पोला नहीं, मजबूत है। आहाहा! पर को जानने-देखने से विशेष बढ़ा, तथा वह वजनी दीवार हो गया। आहाहा!

ऐसा जो भगवान आत्मा पर को देखने की निरपेक्षरूप से यहाँ तो ना करते है। पर की अपेक्षा भी यहाँ नहीं लेना। आहाहा! यहाँ पर की दया पालो तो धर्म होगा, पर की सेवा करो तो धर्म होगा... आहाहा! भगवान की भक्ति करो तो मुक्ति होगी, (ऐसा नहीं है)। होता है, व्यवहार होता है, व्यवहार नहीं होता—ऐसा नहीं है। परन्तु उसकी मर्यादा शुभभाव पुण्य जितनी मर्यादा है, बन्धन जितनी मर्यादा है; उससे जरा भी आत्मा को संवर-निर्जरा या शुद्धता का अंश प्रगट हो, ऐसा नहीं है। रहस्यपूर्ण चिट्ठी में तो आया न, शुभभाव में शुद्धता का अंश है। चिट्ठी में है। मोक्षमार्गप्रकाशक में पीछे (परिशिष्ट में) तील चिट्ठी है। एक चिट्ठी में ऐसा आया है। समझ में आया ? क्या कहा ?

श्रोता : शुभ में शुद्ध का अंश।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें शुभ में शुद्ध का अंश कहा। उसे पकड़ते हैं। वह तो किस अपेक्षा से कहा ? कि एक गुण बढ़ने पर दूसरा गुण उसके कारण बढ़ता है, ऐसा नहीं है। क्या कहा ? कि आत्मा में अनन्त गुण हैं। उसमें एक ज्ञान का गुण बढ़े तो साथ में चारित्र का गुण भी बढ़े, ऐसा नहीं है। यह सिद्ध करने के लिये उस शुभभाव में, जरा शुद्धता का अंश है। परन्तु काम कब करेगा ? ग्रन्थिभेद करे तब। राग की एकता तोड़कर आत्मा का अनुभव आनन्द का स्वाद ले, आत्मा के आनन्द का स्वाद ले, तब जो शुद्धता का अंश था, वह तब काम करेगा। आहाहा! बहुत दृष्टान्त देते हैं। देखो! शुभ में शुद्ध का अंश है। परन्तु किसे ? ग्रन्थिभेद करे उसे। वैसे तो अनादिकाल का शुभ में शुद्ध का अंश है और अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक गया तो भी शुभ में शुद्ध का अंश था तो भी कुछ हुआ नहीं। आहाहा! वाँचन भी इतना नहीं होता। पूरे दिन पाप का पोटला। व्यापार... व्यापार... व्यापार... धन्धा... धन्धा...। आहाहा! १६६ गाथा बहुत सरस ली है। आहाहा!

अब श्लोक। २८२ न।

पश्यत्यात्मा सहज-परमात्मान-मेकं विशुद्धं,
स्वान्तःशुद्ध्यावसथमहिमाधारमत्यन्तधीरम् ।
स्वात्मन्युच्चै-रविचलतया सर्वदान्तर्निमग्नं,
तस्मिन्नैव प्रकृति-महति व्यावहार-प्रपञ्चः ।।२८२।।

आहाहा! **(निश्चय से)...** नीचे है। **यहाँ निश्चय-व्यवहार सम्बन्धी ऐसा समझना कि—जिसमें स्व की ही अपेक्षा हो, वह निश्चयकथन है....** नीचे। **और जिसमें पर की अपेक्षा आये, वह व्यवहारकथन है; इसलिए केवली भगवान लोकालोक को—पर को जानते-देखते हैं—ऐसा कहना, वह व्यवहारकथन है और केवली भगवान स्वात्मा को जानते-देखते हैं—ऐसा कहना, वह निश्चयकथन है। यहाँ व्यवहारकथन वाच्यार्थ ऐसा नहीं समझना कि जिस प्रकार छद्मस्थ जीव लोकालोक को जानता-देखता ही नहीं है, उसी प्रकार केवली भगवान लोकालोक को जानते-देखते ही नहीं हैं।** व्यवहार से कहा है, इसलिए जानते-देखते नहीं, ऐसा नहीं मानना। आहाहा! केवलीभगवान लोकालोक को जानते हैं, ऐसा व्यवहार से कहा। छद्मस्थ बिल्कुल नहीं जानते, ऐसे नहीं जानते-ऐसा नहीं कहना है। मात्र पर की अपेक्षा रखकर व्यवहार कहा है। जानते तो सब हैं। तीन काल-तीन लोक एक समय में जानते हैं। आहाहा!

वास्तव में तो अनन्त गुण जो आत्मा में हैं, उनमें एक ज्ञानगुण की एक ही पर्याय, एक ही पर्याय जगत में है, बस। क्योंकि वह पर्याय द्रव्य को जानती है, गुण को जानती है, अनन्त पर्यायों को जानती है, लोकालोक को जानती है। उस ज्ञान की एक पर्याय में पूरा लोकालोक आ गया। आहाहा! समझ में आया? एक बार कहा था। (संवत्) १९८५ के वर्ष में। वढ़वाण में। बढ़वाण में नाराणभाई की दीक्षा थी। बाहर वह जति का ढेला नहीं? बाहर ढेला में। उस दिन की बात है। वीरजीभाई साथ में थे। कहा, देखो भाई! वास्तव में तो एक आत्मा की एक पर्याय—एक ज्ञान की एक पर्याय लोकालोक को जाने, अपने द्रव्य को जाने, गुण को जाने, अपनी अनन्त पर्याय को जाने, अपने को जाने। एक पर्याय में इतना सामर्थ्य है। आहाहा!

भगवान अन्दर है। परिपूर्ण परमात्मशक्ति पड़ी है। परमेश्वर है। उसकी शक्ति की बात क्या करना? आहाहा! उसके अनन्त गुण, उसकी अनन्त पर्याय, उसमें एक ही ज्ञान की पर्याय... आहाहा! अपने को जानने में पर का जानना आ गया। वह पर्याय अपने को जाने, उसमें लोकालोक आ गया। उसकी पर्याय का सामर्थ्य है। वह लोकालोक है तो लोकालोक को जानती है, ऐसा भी नहीं है। इतनी अपेक्षा नहीं, निरपेक्ष है। आहाहा! एक समय की पर्याय पर की अपेक्षा बिना लोकालोक और अपने अनन्त गुण और अनन्त पर्याय को एक समय की पर्याय जानती है। शान्तिभाई! यह सब कभी सुना नहीं।

श्रोता : पर्याय में कितनी शक्ति है!

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय में इतनी शक्ति है। हीरा-माणिक में समय बिताया हो, उसमें

यह खबर कहाँ पड़े ? ऐसी उसमें शक्ति है। आहाहा! एक पर्याय, हों! ऐसी अनन्त पर्यायें। प्रत्येक पर्याय में अनन्त ताकत। इस ज्ञानपर्याय में जरा ख्याल किया जा सकता है। ज्ञान द्रव्य को जाने, गुण को जाने, लोकालोक को जाने। आहाहा! ऐसी एक समय की पर्याय का अस्तित्व, वह भी पर है, उसे जाने यह अपेक्षा भी नहीं। निरपेक्षरूप से एक समय की पर्याय स्व-पर को जाननेरूप एकरूप है। स्व-पर को जाननेरूप एकरूप है, स्व-पर को जाननेवाली दो रूप नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। सुनना कठिन पड़े। वीतराग सर्वज्ञदेव परमात्मा त्रिलोकनाथ की बात बहुत सूक्ष्म, बापू! यह साधारण लोगों ने जैनपना ऊपर से मनवा दिया। जैन कोई अलौकिक व्यक्ति है, वह कोई सम्प्रदाय पक्ष नहीं है, वह तो वस्तु का स्वभाव, वस्तु का स्वभाव है। आहाहा! यहाँ यह कहा कि केवलज्ञान की पर्याय व्यवहार से लोकालोक को जाने तो दर्शन भी पर को देखे, ऐसा नहीं कहना। निश्चय से दर्शन भी अपने को ही देखता है, पर को नहीं। आहाहा! निश्चय से यहाँ आया न! **यहाँ व्यवहारकथन वाच्यार्थ ऐसा नहीं समझना कि जिस प्रकार छद्मस्थ जीव लोकालोक को जानता-देखता ही नहीं है, उसी प्रकार केवली भगवान लोकालोक को जानते-देखते ही नहीं हैं। छद्मस्थ जीव के साथ तुलना की अपेक्षा से तो केवली भगवान लोकालोक को जानते-देखते हैं, वह बराबर सत्य है—यथार्थ है, क्योंकि वे त्रिकाल सम्बन्धी सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायों को यथास्थित बराबर परिपूर्णरूप से वास्तव में जानते-देखते हैं। 'केवली भगवान लोकालोक को जानते-देखते हैं' ऐसा कहते हुए पर की अपेक्षा आती है, इतना ही सूचित करने लिए, तथा केवली भगवान जिस प्रकार स्व को तद्रूप होकर....** स्व को तद्रूप होकर, ज्ञान, ज्ञान में लीन होकर **निजसुख के संवेदन सहित...** अपने अतीन्द्रिय आनन्द के वेदनसहित **जानते-देखते हैं, उसी प्रकार लोकालोक को (पर को) तद्रूप होकर परसुखदुःखादि के संवेदन सहित नहीं जानते-देखते,...** नारकी को देखे तो नारकी का दुःख का वेदन भगवान को होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! जानने-देखने का स्वभाव तो अपना अपने से है। आहाहा! वह पर के कारण नहीं है।

परसुखदुःखादि के संवेदन सहित नहीं जानते-देखते, परन्तु पर से बिलकुल भिन्न रहकर, पर के सुखदुःखादि का संवेदन किये बिना जानते-देखते हैं, इतना ही सूचित करने के लिए उसे व्यवहार कहा है। बाकी निश्चय से तो अपने को आनन्दसहित वेदन करते हैं। ज्ञान आनन्दादि सर्व। जितनी ताकत लोकालोक की है, उतनी ताकत का ज्ञान अपने में है, उसे वेदन करते हैं। पर को वेदते नहीं परन्तु स्व को वेदते हैं, ऐसा यहाँ समझना चाहिए। विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

१३

श्री नियमसार, गाथा - ९३, श्लोक - १२३, प्रवचन - ९५
दिनांक - ०३-१२-१९७९

नियमसार, गाथार्थ है न ? समयसार की गाथा।

[गाथार्थ :] प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि—इन आठ प्रकार का विषकुम्भ है। क्या कहते हैं ? **किये हुए दोषों का निराकरण करना।** दोष हुए हों, उनका निराकरण (करना), वह शुभभाव है और शुभभाव, वह जहर का घड़ा है। कठिन बात है। व्यवहारकारण कहा न यह ? कथनमात्र है, कहनेमात्र है। वस्तु-राग है। व्यवहार प्रतिक्रमण, वह तो राग है। कथनमात्र व्यवहार कहने में आता है। वास्तविक कारण, मोक्ष का वास्तविक कारण तो त्रिकाल कारणपरमात्मा वस्तु जो कारणद्रव्य त्रिकाल, वह कारण और उसमें से होनेवाली निर्मल पर्याय, वह मोक्ष का कारण है और यह व्यवहार तो कथनमात्र, जाननेयोग्य ऐसा भाव आता है; इसलिए यह जाननेमात्र, कहनेमात्र है। **प्रतिक्रमण=किये हुए दोषों का निराकरण करना।** शुभभाव है, वह जहर है, जहर का घड़ा है। अर..र..! पूरी दुनिया पाप में पड़ी है, उसे इस पुण्य को जहर कहना!

श्रोता : ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनादि.. अनादि से भूला है। भटकते-भटकते अनादि से चौरासी के अवतार में अनन्त-अनन्त भव किये, परन्तु इसने व्यवहार का पक्ष नहीं छोड़ा। व्यवहार है, वह भी कारण है। यहाँ कथनमात्र कारण कहा; वास्तविक कारण नहीं। आहाहा! वास्तविक कारण तो त्रिकाली आत्मा कारणपरमात्मा, वह वास्तविक कारण मोक्ष का और उसके कारण से हुई मोक्ष के मार्ग की दशा, वह मोक्षमार्ग की निर्मल वीतरागी दशा, वह मोक्ष का कारण है। वह वास्तविक कारण है। आहाहा!

द्रव्य कारण। शक्ति में तो ऐसा लिया है न ? द्रव्य जो वस्तु है, उसकी शक्ति कारण है। जीवत्वशक्ति, वह जीवद्रव्य का कारण है। यह व्यवहार कहीं जीवद्रव्य का कारण नहीं है। आहाहा! क्या कहा ? सैंतालीस शक्ति का जहाँ वर्णन किया, वहाँ जीवत्वशक्ति जीवद्रव्य का

कारण है – ऐसा कहा और वे शक्तियाँ तथा द्रव्य, परद्रव्य के लिए कारण नहीं है—ऐसा कहा। परद्रव्य के लिए कारण नहीं है। अकारणकार्यशक्ति आयी न? आहाहा! परद्रव्य के लिए कारण नहीं, स्वद्रव्य के लिए कारण शक्तियाँ हैं। जीवत्वशक्ति, चिति, दृशि वह सब कारण है और मोक्ष का कारण, उस कारणपरमात्मा का आश्रय लेकर जो वीतरागी पर्याय प्रगट होती है, वह पर्याय मोक्ष का कारण है। ऐसा लम्बा-लम्बा याद रखे। पाप के धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। शान्तिभाई! पूरे दिन पाप का धन्धा। यह किया... यह किया... यह किया... अब उसमें ऐसी बात, वीतराग की बात कान में सुनना मुश्किल पड़े। वह समझे कब और उसके भव का अन्त कब आवे? आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रतिक्रमण जो व्यवहार है, उसे हम जहर का घड़ा कहते हैं। जहर है। आहाहा! व्यवहार को कथनमात्र कारण कहते हैं। वास्तविक कारण है नहीं। फिर दूसरा। **प्रतिसरण= सम्यक्त्वादि गुणों में प्रेरणा।** समकित आदि की प्रेरणा करना, वह भी विकल्प है, वह भी जहर है। विकल्प उठता है, समकित की प्रेरणा की वृत्ति उठे, वह विकल्प है, वह भी जहर है। आहाहा! **परिहार=मिथ्यात्व रागादि दोषों का निवारण।** मिथ्याश्रद्धा आदि का त्याग, उसमें भी शुभभाव है। शुभभाव है, वह भी जहर का घड़ा है, विषकुम्भ है। कठिन काम, बापू! दुनिया को मिलना मुश्किल। पूरी दुनिया व्यवहार में पड़ी है। गले डूब जहर में डूब गयी है। आहाहा! उसे ऐसी बातें (कहना)। त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव परमात्मा का यह फरमान है। गुलाबचन्दभाई!

धारणा=पंच नमस्कारादि... पाँच नमस्कार धारण करना, वह शुभभाव है, जहर है। आहाहा! जगत को कठिन पड़ता है। अभी पाप के कारण निवृत्त नहीं होता, उसमें फिर शुभभाव आवे। एक घड़ी आवे, एक घण्टे पूजा, भक्ति करने आवे, देव-दर्शन करने आवे, उसमें एक शुभभाव आवे, तो यह कहते हैं कि वह जहर है; वह धर्म नहीं। उस शुभभाव से भिन्न अन्दर आत्मा का आनन्द का अनुभव करे, उसका नाम धर्म है। आहाहा! ऐसी बात है। दुनिया को जँचना कठिन पड़े। बाहर की हूफ में, बाहर की प्रवृत्ति की हूफ में, उसमें फिर पाँच-पच्चीस लाख पैसे (रुपये) हुए हों, पाँच-पच्चीस लाख पैसे (रुपये) हुए हों, करोड़-दो करोड़ हो गये तो आँख फिर जायें। आहाहा! यह कहा न परसों? बीस लाख की एक मोटर। बीस लाख की एक मोटर। इसलिए उसे ऐसा मानो... आहाहा! मानो हम क्या बादशाह!

श्रोता : ऐसी मोटर में बैठकर लड़का विवाह करने जाए तो कितना सुख हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में, अकेला पाप है। यह बीस लाख की मोटर, मुम्बई स्टेशन

पर छोड़ने आयी थी। कितने पैसे की है, कहा यह ? – कि बीस लाख की। परदेश में से लाये हैं। पचास लाख की एक मोटर है। एक मोटर पचास लाख की। यह धूल इकट्ठी करके मर जानेवाला है बेचारा। आहाहा! यहाँ तो (कहते हैं), शुभभाव,... वह सब पाप है परन्तु शुभभाव यहाँ करे... आहाहा! है ?

पंच नमस्कारादि मन्त्र,... जपे। **प्रतिमा...** को वन्दन करे। **आदि बाह्य द्रव्यों के आलम्बन द्वारा चित्त को स्थिर करना।** सब शुभभाव जहर है। कठिन बात, प्रभु! क्या हो ? बेचारे साधारण लोगों को तो सुनने को मिला नहीं। आहाहा! **निवृत्ति=बाह्य विषयकषायादि इच्छा में वर्तते हुए चित्त को मोड़ना।** विषय-कषाय में जाते हुए चित्त को वापस मोड़ना, वह भी एक शुभभाव है, वह भी राग और जहर है। शुभभाव है न ? आहाहा! वह धर्म नहीं है। धर्म तो शुभ और अशुभभाव से भिन्न पड़कर चैतन्य का दर्शन करे, चैतन्य की दृष्टि, ज्ञान निर्मल करे, उसका नाम धर्म है। जैनधर्म वीतराग परमेश्वर का जिनेश्वर का कथन यह है। इसे कितने ही बेचारों ने तो सुना भी नहीं होगा। यह किस प्रकार का धर्म होगा ? आहाहा!

निन्दा=आत्मसाक्षी से दोषों का प्रगट करना। आत्मसाक्षी से दोषों का प्रगट करना, वह भी शुभभाव है। वह व्यवहारकारण निमित्त कथनमात्र व्यवहार है, वह धर्म नहीं है। जहर है। आहाहा! सुना जाए नहीं, जगत को कठिन पड़े, क्या हो ? संसार में धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। पूरे दिन स्त्री, पुत्र और इज्जत-कीर्ति का आग्रह, पैसा खर्च किया हो और यह किया, लिया और दिया और यह किया... ओहोहो! वहाँ तो मानो हम कहाँ चढ़ गये बड़े। उसमें करोड़, दो करोड़, पाँच करोड़ हो तो हो गया। यह कहा न, दो लड़के नहीं ? अपने पूनमचन्द और न्यालचन्द। आज लड़के का विवाह है न ? पाँच करोड़ रुपये। बीस लाख की मोटर लाया है, उसमें बैठकर विवाह करने जाएगा। आज का विवाह है न ? दो भाई के पास। एक के पास पाँच करोड़, दूसरे भाई के पास पाँच करोड़। एक को एक लड़की ही है, लड़का नहीं। दर्शन करने आये थे। परन्तु सब हूफ... हूफ... पैसे की ऐसी हूफ मानो... आहाहा! पैसा अर्थात् क्या ? धूल। मिट्टी की धूल है। उसकी हूफ में...

यहाँ तो कहते हैं कि आत्मसाक्षी से; पाप लगे हों, उनकी निन्दा करना, वह भी शुभभाव है और **गुरुसाक्षी से दोषों का प्रगट करना,** शुभभाव है और **दोष हो जाने पर प्रायश्चित्त...** लेना, वह भी शुभभाव है। आहाहा! यह व्यवहार है, वह जहर है। वीतराग परमात्मा, वीतराग देव त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव महाविदेह में सीमन्धरस्वामी भगवान विराजते हैं, वहाँ से यह बात आयी है। त्रिलोकनाथ परमात्मा ऐसा कहते थे, वह बात कुन्दकुन्दाचार्यदेव (ने) आकर

यहाँ रखी है। आहाहा! यशपालजी! ऐसी कठिन बात पड़े। क्या हो? बस, उड़ जाए व्यवहार, तब व्यवहार नहीं? खोटा? व्यवहार खोटा क्या, लाख बार खोटा। ऐसा व्यवहार अनन्त बार किया है। वह व्यवहार अभी कहाँ तेरे पास है? ऐसा व्यवहार तो अनन्त बार किया है कि चमड़ी उतारकर नमक छिड़के तो क्रोध न करे और नग्न मुनि होकर दिगम्बर अनन्त बार हुआ, परन्तु सम्यग्दर्शन आत्मज्ञान नहीं। यह क्रियाकाण्ड करके उसमें धर्म माना। आहाहा! ये आठ बोल कहे। **आठ प्रकार का विषकुम्भ है।** है न?

अब अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं।

यत्र प्रतिक्रमण-मेव विषं प्रणीतं,
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः,
किन्नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः।।

श्लोकार्थ (अरे, भाई!) **जहाँ प्रतिक्रमण को ही विष कहा है,...** आहाहा! जहाँ प्रतिक्रमण के शुभभाव को जहर कहा, **वहाँ अप्रतिक्रमण अमृत कहाँ से होगा?** वहाँ तेरे व्यापार और धन्धे के परिणाम-अकेला पाप हो, वह अमृत कहाँ से होगा? वह तो अकेला महा जहर है। आहाहा! प्रतिक्रमण के परिणाम को जहर कहा तो तेरा व्यापार-धन्धा, स्त्री, पुत्र को प्रसन्न रखना, पाँच-पच्चीस लाख कमाये हो, वहाँ ओहोहो! मानो क्या किया और हम क्या आगे बढ़ गये! उसमें प्रसन्न हो, वह तो अकेला जहर है। जहर का प्याला पीता है। आहाहा! ऐसा काम है।

जहाँ प्रतिक्रमण को ही विष कहा है,... जहाँ, प्रतिक्रमण शुभ व्यवहार जो है, उसे जहर कहा, **वहाँ अप्रतिक्रमण...** संसार के पाप के परिणाम **अमृत कहाँ से होगा?** संसार के कमाने के, विषयभोग के, धन्धे के, पैसे प्राप्त करना, ब्याज उगाहना, पूरे दिन धन्धा करना, यह दिया, यह लिया, यह किया, यह किया। मानों पागल, मानो देख लो पागल। शान्तिभाई! उसमें मुम्बई और कलकत्ता। ये दो देखे हैं न? तीनों में देखा है। दिल्ली, मुम्बई और कलकत्ता। आहाहा! मानो पागल देख लो, पागल जैसे। आहाहा!

बहुत वर्ष पहले पालेज में हमारी दुकान थी न, तो माल लेने गये थे। कैसा? 'कोलाबा' कोलाबा देखने गये थे। इसे भी बहुत वर्ष हुए लगभग ७२ वर्ष हुए। ७२ वर्ष पहले की बात है। एक मारवाड़ी ऐसे... लिया.. दिया.. लिया... दिया... । ऐसे करता था। यह तो ७२ वर्ष पहले

की बात है। दुकान का माल लेने गये थे। पालेज में दुकान है न ? भरूच और बड़ोदरा के बीच पालेज है। अभी दुकान चलती है, बड़ी दुकान है। चालीस लाख रुपये हैं। चार लाख की आमदनी है। तब माल लेने गये थे। मानो पागल लगे। कहा, यह क्या करता है ? मारवाड़ी। लिया.. दिया.. लिया... दिया... किया करे। वह क्या कहलाता है ? (क्या) कहा ? कोलाबा। कोलाबा, फोन आवे न ? लन्दन से फोन आवे, इसलिए फिर सिर घूम जाए। आहाहा ! यह क्या है ? प्रभु ! जहाँ जिसे भगवान ने प्रतिक्रमण करने के परिणाम को जहर कहा, वहाँ तेरे ऐसे अप्रतिक्रमण के पाप हैं, वह तो जहर, जहर और जहर है। आहाहा ! दुनिया महिमा करे, पागल। पागल की महिमा करे, पागल को कहे कि अहो ! इसके पास तो पचास लाख हुए, इसके पास करोड़ हुए, इसके पास दो करोड़ हुए।

यहाँ कहते हैं **अमृत कहाँ से होगा ? (अर्थात् नहीं हो सकता।) तो फिर मनुष्य नीचे-नीचे गिरते हुए...** हम तो पुण्य को जहर कहकर ऊँचा चढ़ाते हैं। शुभ को पुण्य कहकर, जहर कहकर ऊँचे अन्तर आत्मा में जा, ऐसा कहते हैं, धर्म वहाँ है। अन्दर आत्मा में जा, वहाँ धर्म है—ऐसा हम कहते हैं, वहाँ तू ऐसे नीचे-नीचे क्यों उतर जाता है ? शुभ छोड़कर फिर वहाँ अशुभ में कहाँ चला जाता है ? आहाहा ! ऐसा कहाँ है ?

प्रमादी क्यों होते हैं ? अप्रमादी होते हुए ऊँचे-ऊँचे क्यों नहीं चढ़ते ? आहाहा ! हमने प्रतिक्रमण आदि के शुभभाव को जहर कहा, इससे उन्हें छोड़कर तू संसार के अशुभभाव में जाए, वह तो नीचे-नीचे अधो में उतरा। शुभभाव को छोड़कर अन्दर शुद्ध आत्मा में जा, तो वहाँ शान्ति है। ज्ञानानन्द, सहजानन्द प्रभु अन्दर वीतरागदेव ने देखा, जिनेश्वरदेव—जिन्होंने आत्मा देखा, वह अन्तर अमृत का सागर है। अमृत का समुद्र भगवान है। उसके सन्मुख तुझे देखना आया नहीं। उसके सन्मुख देखना आया नहीं, परन्तु तूने सुना नहीं। सुना, इतना सब बाहर का जहर का सुना है। आहाहा !

कहते हैं कि हम ऐसी ऊँची बात कहते हैं। प्रतिक्रमण आदि को जहर कहा, इसलिए उन्हें छोड़कर अशुभ में कहाँ जाता है ? उन्हें छोड़कर अन्दर में जा न ! शुद्ध आत्मा में जा न ! आहाहा ! चैतन्य भगवान अन्दर विराजता है। परमात्मस्वरूप ही आत्मा है। परमात्मस्वरूप न हो तो परमात्मा होगा कहाँ से ? अरिहन्त हुए, वे कहाँ से हुए ? वे कहीं बाहर से आते हैं ? वह अन्दर में स्वरूप भरा है, उसमें से आते हैं। इसलिए कहते हैं कि जहाँ है, वहाँ जा न ! हमने राग को जहर कहा, इसलिए नीचे उतरकर राग में—अशुभराग में जाता है, यह कहीं ठीक कहलायेगा ? आहाहा ! कठिन बात है।

और (इसी ९२वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं):—

वह समयसार का श्लोक था।

आत्मध्याना–दपर–मखिलं घोरसन्सारमूलं,
ध्यानध्येयप्रमुखसुतपः कल्पनामात्ररम्यम् ।
बुद्ध्वा धीमान् सहज–परमानन्द–पीयूषपूरे,
निर्मज्जन्तं सहज–परमात्मान–मेकं प्रपेदे ।।१२३।।

आहाहा! यह तो शान्ति से सुने तब हो। वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। लोगों ने तो बाहर से जरा एक घण्टे पूजा की, भक्ति की, दान किया, कहीं पाँच-पच्चीस हजार दान दिया (और मान लिया कि) हो गया धर्म। मान करके बैठे। अरे! तेरे करोड़ दे न! वहाँ कहाँ धर्म था? वह शुभभाव होवे तो पुण्य होगा। यह पुण्य है, वह जहर है। आहाहा! भभूतमल ने आठ लाख खर्च किये। बैंगलोर। आठ लाख का मन्दिर बनाया। वह श्वेताम्बर है, बनाया दिगम्बर मन्दिर। चार लाख स्थानकवासी मारवाड़ी ने दिये। जुगराजजी। है न? महावीर मार्केट, महावीर मार्केट है न? अभी गुजर गये हैं। लड़का आया था। यहाँ सब आते थे। वे स्थानकवासी थे, उनके पास एक करोड़ रुपये हैं, उनके पास दो करोड़ रुपये हैं। दो करोड़वाले ने आठ लाख दिये, एक करोड़वाले ने चार लाख दिये और बारह लाख का मन्दिर बनाया। अभी हम गये थे, तब तीन लाख बढ़ाये। पन्द्रह लाख का बनाया। बैंगलोर। आहाहा! परन्तु भाई! यह सब तेरे पन्द्रह लाख, कहे कि चाहे जो कहे, वह धर्म नहीं है, शुभभाव है, पुण्य है। स्पष्ट बात है। एक रकम से आठ लाख दिये। दो करोड़ की पूँजी है। स्टील का धन्धा है।

श्रोता : कमाये कितने?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह फिर कमाये चालीस लाख। हमारे में (कार्यक्रम में) रुक गये न। हम वहाँ थे, तब मन्दिर की बड़ी धूमधाम की, उसमें रुके, तब दो करोड़ का स्टील पड़ा हुआ था, उसमें आठ लाख खर्च किये, चालीस लाख आये। स्टील में भाव बढ़ गये, तो चालीस लाख आये। यह तो पूर्व के पुण्य के कारण आते हैं। उसका कुछ नहीं।

श्रोता : आपके चरण हों, वहाँ रुपये.... रुपये हो जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बातें, सब बातें। पूर्व के पुण्य के बिना कुछ नहीं आता। पुण्य से आता है परन्तु आता है, वह पाप है। परिग्रह, वह पाप है। करोड़ और दो करोड़ रुपये हैं, वे स्वयं पाप हैं। क्योंकि भगवान ने परिग्रह को पाप कहा है। अभ्यन्तर परिग्रह और बाह्य

परिग्रह को पाप कहा है। आवे पुण्य से, परन्तु परिग्रह स्वयं पाप है और उसका करनेवाला पापी है। उसे लोग पुण्यशाली कहते हैं। दुनिया पागल है। आहाहा! वह तो आया नहीं? अभी भभूतमल आया था न? यहाँ सवा लाख दिये न। यहाँ मकान बनाया है, उसमें सवा लाख दिये। अभी सवा लाख दूसरे दिये। ऐसे पैसे देता है। उदार व्यक्ति है परन्तु शुभभाव है, कहा, भाई! उसमें से कुछ धर्म हो जाए और कल्याण हो जाए और जन्म-मरण मिट जाए... तेरे आठ लाख और दस लाख धूल में, इस बात में कोई दम नहीं है। आहाहा!

श्रोता : पैसा देना या नहीं देना?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु दे कौन सकता है? इसे भाव होता है। सूक्ष्म बात है, भाई! पैसा तो जड़ है, अजीव-मिट्टी-धूल है। वह तो पुद्गल है। वह पुद्गल जाना-आना, वह तो उसके कारण से आता-जाता है। आत्मा ऐसा मानता है कि मैं देता हूँ, वह तो जड़ का स्वामी होता है। राग की मन्दता का भाव करे, पैसा जाना हो तो जाए। आहाहा! बात-बात में अन्तर पड़ता है। दुनिया के साथ कहीं मिलान खाये, ऐसा नहीं है। आहाहा! प्रयोग करने में भी पैसा मेरा है, ऐसा माने तो मिथ्यात्व है, क्योंकि वह तो जड़ है, पैसा मिट्टी-धूल है। आहाहा! आत्मा चैतन्य अरूपी अन्दर भिन्न है। यह तो शरीर मिट्टी-धूल है। यह कहाँ (आत्मा) था। यह तो मिट्टी है। यह मेरा है, ऐसा माने वह मिथ्यात्व है। आहाहा! कठिन काम है।

यहाँ कहते हैं **आत्मध्यान के अतिरिक्त...** है.. ? आहाहा! आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, चैतन्यस्वरूप है। आहाहा! जैसे नारियल में गोला भिन्न है; वैसे इस शरीर में और राग से आत्मा अन्दर अत्यन्त भिन्न है। आहाहा! ऐसे आत्मा का ध्यान, इसके अतिरिक्त **अन्य सब घोर संसार का मूल है,...** आहाहा!

श्रोता : आचार्य बहुत कठोर हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठोर है वह है। आचार्य को जगत की कहाँ पड़ी है। जगत माने, न माने, वह उसके घर में रहा। अनादि काल से जगत स्वच्छन्दता से चलता है। इसने-जगत ने सत्य माना कब है? एक तो संसार से निवृत्त नहीं होता। पूरे दिन धन्धा पाप, निवृत्त होवे तो छह-सात घण्टे नींद में और छह-सात घण्टे स्त्री-पुत्र को सम्हालना, प्रसन्न करना, एक घण्टे कदाचित् सुनने को मिले तो ऐसा सुने—पूजा करो, भक्ति करो तो धर्म होगा। यह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का पोषण है। आहाहा! बहुत कठिन काम, बापू! यहाँ कहते हैं **आत्मध्यान के अतिरिक्त...** है? आत्मा ज्ञानस्वरूप प्रभु है, उसका ध्येय बनाकर ध्यान (होता है)... आहाहा!

उसके **अतिरिक्त अन्य सब...** यह शुभ और अशुभभाव दोनों **घोर संसार का मूल है,...** आहाहा! इसमें है या नहीं?

श्रोता : मुनिराज तो ऐसा ही कहे न।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु जैसा हो, वैसा कहे न? केवली परमात्मा ने कहा, वह मुनि कहते हैं। त्रिलोकनाथ परमात्मा सीमन्धर भगवान महाविदेह में विराजमान हैं। उनके मुख में से निकला है, उसे यह कहते हैं। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं कि **आत्मध्यान के अतिरिक्त अन्य...** अर र र! कठिन बात। आत्मा ज्ञानानन्द सहजात्मस्वरूप, वह राग के दया, दान के विकल्प से, राग से भी अन्दर भिन्न है, ऐसे आत्मा का ध्यान, उस आत्मा का ज्ञान, उसके अतिरिक्त जितना शुभ और अशुभभाव करे, वह **घोर संसार का मूल है,...** आहाहा! शुभ-अशुभ दोनों को घोर संसार का मूल कहा। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव हो या अशुभ हो, दोनों घोर संसार है। आहाहा! है? आज कठोर बात आयी। बात तो यह है 'एक होय तीन काल में परमारथ का पंथ।' दुनिया को मिले, न मिले, इससे कहीं दूसरा बदल जाए ऐसा है? आहाहा!

आत्मध्यान के अतिरिक्त... आत्मा ज्ञानानन्द सहजात्मस्वरूप अन्दर ज्ञानस्वरूप आत्मा, आनन्दस्वरूप आत्मा है। उसका ध्यान, उसे ध्येय बनाकर ध्यान। इसके **अतिरिक्त...** जितने शुभ-अशुभभाव **सब घोर संसार का मूल है,...** चार गति भटकने की मिले, (ऐसा है)। आहाहा! ऐसी बात है। है? इसमें है या नहीं? **आत्मध्यान के अतिरिक्त अन्य...** एक ओर आत्मध्यान तथा एक ओर दूसरा सब। आहाहा! शास्त्र श्रवण, शास्त्र कथन, वाँचन, यह सब शुभभाव है। यह शुभभाव और संसार का पापभाव, दुकान और घर का भाव अकेला पाप। ये दोनों **घोर संसार का मूल है,...** आहाहा!

कहाँ जाएगा यह? चौरासी लाख योनि में कहाँ अवतरित होगा? आहाहा! आत्मा तो अनादि-अनन्त है, नित्य है। शरीर छूट जाएगा। शरीर, वह तो थोड़े काल रहनेवाला है। पचास-साठ निकल गये, उसे कुछ ५०-६० (वर्ष) रहनेवाला नहीं है। थोड़ा समय है, यह छूटकर जाएगा कहीं। धर्म है नहीं, पुण्य की खबर नहीं। पुण्य किसे कहना और कैसे हो, इसका समय निकालता नहीं। एक घण्टे का समय निकाले तो भक्ति करे, एक घण्टे पूजा करे तो हो गया, जाओ, धर्म हो गया। यह किसी ने पूछा था। इन भाई को... लोग... न्यालचन्द के पास चार करोड़ रुपये हैं। लड़का नहीं है। चार करोड़-पाँच करोड़ रुपये हैं। किसी ने कहा।

ऐसा सुना। कोई कहता था। किसी ने कहा कि कुछ करो। करते हैं न! भक्ति करते हैं, पूजा करते हैं। सामने मूर्ति-फोटो रखकर एक घण्टे भक्ति और पूजा करे, यह किया वह हमने किया। आहाहा! वहाँ कहा था, किसी ने पूछा था। किसी ने पूछा और फिर कहा कि हम धर्म करते हैं। भक्ति करते हैं, पूजा करते हैं। यह धर्म, लो। सवेरे फोटो रखे, प्रतिमा तो कहाँ थी वहाँ उसे। फोटो रखे और पूजा करे, भक्ति करे, एक घण्टे गाये। रिकार्डिंग अब उतारे। रिकार्डिंग ले जाएँगे परन्तु उसमें वस्तु क्या है, इसकी समझ करना, इसका निर्णय करना, उसके लिए समय निकालना। पूरे दिन पाप के लिए समय निकालता है। आहाहा! गजब कठिन काम। वापस कोई लड़का नहीं। एक ही लड़की विवाह कर दिया। चार करोड़-पाँच करोड़ रुपये होंगे। बड़े बाग-बगीचे... बाग... बाग। वहाँ अभी मुम्बई आये थे। आहाहा! किसी ने पूछा तो ऐसा जवाब दिया। भगवान का फोटो रखते हैं न। फोटो रखते हैं, उसकी पूजा करते हैं और गाते हैं। गायन-वायन गाते हैं, एक घण्टा व्यतीत करते हैं। लो, हो गया धर्म। कहाँ, बापू! वह तो शुभभाव है, जहर है, घोर संसार का मूल है।

ध्यान-ध्येयादिक सुतप (अर्थात् ध्यान, ध्येय आदि के विकल्पवाला शुभ तप)... आहाहा! शुभ तप। यह ध्यान करता हूँ, ध्येय और यह करता हूँ, ऐसा जो विकल्प है, वह शुभतप **कल्पनामात्र रम्य है...** अर र र! अन्दर ध्यान में भी कल्पनामात्र कल्पनाएँ करे कि यह आत्मा यह है, ऐसा है। आत्मा ध्यान करनेयोग्य है और मैं ध्यान करता हूँ। यह कल्पनामात्र, यह शुभ तप कहलाता है। शुभ तप ध्यान में (होता है) वह भी **कल्पनामात्र रम्य है...** आहाहा! कहाँ जाना इसमें? बाबा हो जाए तो हो। बाबा ही है। कौन, कब वस्तु तेरी है कहाँ? शरीर तेरा नहीं। वह तो मिट्टी-धूल है। यह तो श्मशान की राख होगी। यह तो श्मशान की राख है। तेरा तत्त्व अन्दर आत्मा अत्यन्त भिन्न चीज़ है। उसे लेना और देना, आत्मा तो शरीर को स्पर्श ही नहीं करता। शरीर आत्मा को अन्दर स्पर्श ही नहीं करता। अरे रे! किसे खबर पड़े? इसमें ऐसे ध्यान आदि के विकल्प कहते हैं। ध्यान के विकल्प भी वह सुतप भी एक... आहाहा! **कल्पनामात्र रम्य है...** कल्पनामात्र अच्छा कहलाये कि ध्यान में कल्पना की या ऐसा किया, ऐसा ध्यान किया, ऐसा ध्यान और ऐसा आत्मा। ऐसी कल्पनायें की थी। आहाहा! गजब बात है।

क्रियाकाण्ड को तो निकाल दिया परन्तु अब ध्यान में कल्पना में कल्पना लगायी कि ऐसा ध्यान... ऐसा ध्यान... ऐसा ध्यान... यह ध्यान... ऐसी कल्पना में रुका, वह कल्पनामात्र तप है। आहाहा! आचार्य कहते हैं कि मैंने मेरे लिए यह बनाया है। कुन्दकुन्द आचार्य दिगम्बर मुनि (कहते हैं कि) मेरे लिए यह बनाया है। तुम्हें समझना हो तो समझो, कहते हैं। आहाहा!

उन्हें समाज की पड़ी नहीं कि समाज मानेगा या नहीं ? समाज उसके घर में रहा। वस्तु यह है। मानना होवे वह माने। आहाहा!

ध्यान के अतिरिक्त अन्य सब घोर संसार का मूल है,... यह एक ओर रखा। अब इस ध्यान में आया। ध्यान और ध्येय और ऐसा सुतप। ध्यान यह और ध्येय यह—ऐसा जो विकल्प। ध्यान की पर्याय और ध्येय, वह द्रव्य का—ऐसा जो विकल्प वह सुतप। आहाहा! वह **(विकल्पवाला शुभ तप भी) कल्पनामात्र रम्य है;...** आहाहा! गजब बात है न ? उन्हें दुनिया की कहाँ पड़ी है। आहाहा! आत्मा में ध्यान के अतिरिक्त... अभी आत्मा कौन, इसकी भी खबर नहीं होती। अन्दर आत्मा क्या चीज़ है ? आत्मा तो पुण्य, पाप, दया, दान के रागरहित भिन्न अन्दर तत्त्व है। वह तो शरीर से अत्यन्त भिन्न तत्त्व है। अब उसका ध्यानादि कहते हैं, उसके अतिरिक्त सब घोर संसार है और ध्यान में भी ध्यान की कल्पना में रुका कि यह ध्येय है और यह ध्यान है और ध्यान करनेयोग्य है। ध्यान में न जाकर ध्यान की कल्पना में रुका... आहाहा! वह **कल्पनामात्र रम्य है;...** कल्पनामात्र ठीक कहने में आता है। आहाहा! ठेठ ले गये। आहाहा! कठिन काम है, बापू!

वीतराग जिनेश्वरदेव का मार्ग, प्रभु! बहुत सूक्ष्म है। अभी तो सब गड़बड़ चली है। बाहर से सब मनवाकर जिन्दगी चली जाती है। प्ररूपणा भी ऐसी ही करते हैं। यह करो, यह करो, व्रत करो, तप करो, भक्ति करो, पूजा करो, जाओ (हो गया) धर्म। आहाहा! यहाँ तो ध्यान और ध्येय में भी रुका कल्पना में (तो) अन्दर ध्यान जमा नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! आत्मा ज्ञानानन्द सहजात्मस्वरूप है, उसमें एकाग्र नहीं हो सका और उसकी कल्पना में रुका। आहाहा! वह सुतप भी कल्पना रम्य है। कल्पनामात्र अच्छा कहने में आता है। हैं ?

ऐसा जानकर... ऐसा जानकर... आहाहा! **धीमान (बुद्धिमान पुरुष)...** बुद्धिमान उसे कहते हैं... आहाहा! जो आत्मा में अन्दर झुके, उसे बुद्धिमान कहते हैं। आहाहा! बाकी सब कुबुद्धि है। संसार की चतुराई और व्यापार की कुशलता और वकालात का धन्धा, डॉक्टर का बड़ा-बड़ा धन्धा। महीने में पाँच-पाँच, दस-दस हजार कमावे। बेचारे दुःखी हैं। आहाहा! **ऐसा जानकर धीमान (बुद्धिमान पुरुष) सहज परमानन्दरूपी पीयूष के पूर में डूबते हुए...** आहाहा! स्वाभाविक परमानन्दरूपी पीयूष का अमृत। स्वाभाविक परमानन्दरूपी अमृत आत्मा। अन्दर सहज परमानन्दरूपी अमृत भरा है। आत्मा में अतीन्द्रिय अमृत भरा है। आहाहा! वह अनन्त शक्तियों का सागर है, ऐसा जो भगवान आत्मा, वह **सहज परमानन्दरूपी पीयूष...** अर्थात् अमृत। उसके **पूर में डूबते हुए...** अन्दर एकाग्र हुआ। आहाहा! आनन्द की धारा बहती है।

आत्मा आनन्दस्वरूप है – अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप में डूबते हुए, अन्दर जाते हुए... आहाहा! **(-निमग्न होते हुए)...** डूबते का अर्थ किया।

सहज परमानन्दरूपी पीयूष... अमृत के **पूर में डूबते हुए (-निमग्न होते हुए) ऐसे एक सहज परमात्मा का एक का आश्रय करते हैं।** ऐसे सहज परमात्मा का **एक का...** भाषा देखो! ध्यान और ध्येय की कल्पना भी नहीं। शुभभाव तो नहीं... आहाहा! अशुभभाव तो नहीं परन्तु ध्यान और ध्येय की कल्पना भी नहीं। आहाहा! सहज परमात्मा का **एक का...** एक का **आश्रय करते हैं।** वस्तु सहजात्मस्वरूप परमात्मा, निजानन्द प्रभु का–एक का आश्रय करे, उसे धर्म होता है। आहाहा! एक का आश्रय करते हैं। भेद–पर्याय का भी नहीं। गुण–गुणी भेद का नहीं। शुभराग, अशुभराग की तो बात ही क्या करना? आहाहा! ध्यान–ध्येय की कल्पना भी नहीं। एक अमृत से भरपूर भगवान आत्मा अन्दर, उसमें डुबकी मारे अर्थात् एकाग्र होते हैं। आहाहा! वह एक ही आश्रय करने के योग्य है। बात तो बहुत अच्छी आयी है। टोच है, टोच। आहाहा!

एक परमात्मा स्वयं। परमात्मा दूसरे नहीं। ऐसा कहा न? अपने को जानकर। **धीमान (बुद्धिमान पुरुष) सहज परमानन्दरूपी पीयूष के पूर में डूबते हुए (-निमग्न होते हुए) ऐसे एक सहज परमात्मा एक का...** स्वयं एक आत्मा, हों! परमात्मा अर्थात् भगवान वीतराग सर्वज्ञ नहीं। वीतराग सर्वज्ञ पर लक्ष्य जाने से राग होगा। आहाहा! एक सहजात्म परमानन्दस्वरूप आत्मा, उसमें एक का आश्रय, एक का आश्रय। गुण–गुणीभेद भी नहीं। ओहोहो! कहाँ से कहाँ निकाल डाला। शुभाशुभभाव घोर संसार; ध्यान–ध्येय की कल्पनामात्र रम्य, सुतप रम्य... आहाहा! उसे छोड़कर अकेला अन्दर **सहज परमानन्दरूपी पीयूष के पूर में डूबते हुए (-निमग्न होते हुए) ऐसे एक सहज परमात्मा का एक का आश्रय करते हैं।** उन्हें धर्म होकर मुक्ति का कारण होता है। उन्हें धर्म होता है। आहाहा! ऐसा कठिन है। कहाँ तक निकाल डाला। शुभभाव तो निकाल डाला। जहर। ध्यान, ध्येय और ध्याता की कल्पना रम्य, वह नहीं, उसे छोड़ दे। आहाहा!

अकेला सहज परमात्मा अमृत से भरपूर **एक का आश्रय करे।** गुण–गुणी भेद का भी नहीं, पर्याय का भी नहीं। एक गुणी का आश्रय करे, उसका नाम सम्यग्दर्शन–ज्ञान और धर्म है। ऐसा धर्म वीतराग का है। आहाहा! है या नहीं? यह यहाँ का सूत्र है? यह कुछ सोनगढ़ का नहीं है। भगवान का कहा हुआ, मुनिराज ने बनाया हुआ है। आहाहा!

एक स्वद्रव्य, जिसमें अकेला अमृत और आनन्द भरा है। एक आया था। जिसका

आनन्द एक लक्षण है, ऐसा आया था। आनन्द एक लक्षण है। अतीन्द्रिय आनन्द एक जिसका लक्षण है। ऐसे आत्मा को अनुभव करे, उसका नाम धर्म है। वीतरागमार्ग में उसे धर्म कहते हैं। आहाहा! बात बहुत आगे गयी। यहाँ तो अभी यह व्यवहार करो तो होगा और यह व्यवहार करो तो होगा और यह करो तो होगा। व्यवहार करना चाहिए, करना चाहिए। भक्ति करने से होगा, परमात्मा की पूजा करने से होगा। आहाहा! साधु को आहार-पानी देने से होगा। इन सब शुभभावों को तो यहाँ घोर संसार का मूल कहा है। ध्यान में अन्दर आया तो कल्पना में खड़ा रहा तो भी कहते हैं कि यह नहीं। आहाहा! अकेला परमानन्दस्वरूप आत्मा है, एक का आश्रय करे, उसे धर्म होता है। यह ९२ गाथा (पूरी) हुई।

९३ गाथा।

झाणणिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं।
तम्हा दु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमणं।।९३।।

रे साधु करता ध्यान में सब दोष का परिहार है।
अतएव ही सर्वातिचार प्रतिक्रमण यह ध्यान है॥९३॥

यह ध्यान समस्त पाप को मिटाने का कारण है। पुण्य और पाप दोनों। आहाहा! ध्यान में भी वापस किसका ध्यान? आत्मा का। वापस वह आत्मा ऐसा है, आत्मा ऐसा है, ऐसी कल्पना करके वहाँ खड़ा रखे, वह ध्यान नहीं। आहाहा! अभी यह चला है। आत्मा के ध्यान की बातें (चली है) परन्तु वह ध्यान नहीं है। आहाहा!

रे साधु करता ध्यान में सब दोष का परिहार है।
अतएव ही सर्वातिचार प्रतिक्रमण यह ध्यान है॥९३॥

ओहोहो! मुनिराज कहते हैं, मैंने तो मेरे लिए यह बनाया है। मेरी भावना के लिए (बनाया है)। आहाहा! दुनिया सुने, समझे और ले तो लो। बाकी मैंने तो मेरी भावना के लिए बनाया है। सत्य तो ऐसा है। सत्य जैसा वीतरागमार्ग में कहा, ऐसा सत्य यह है। इसके अतिरिक्त वीतरागमार्ग के नाम से, पुण्य के नाम से धर्म और व्रत करो, तप करो, अपवास करो, भक्ति करो, पूजा करो, यह धर्म मनवावे, वह जैनमार्ग नहीं है, वह जैनधर्म नहीं है। यह मोक्षपाहुड़ की ८३ गाथा में आ गया न? पूजा आदि जैनधर्म नहीं। पूजा, व्रत, वैयावृत्य आदि सब शुभभाव है। वह कोई जैनधर्म नहीं है। अष्टपाहुड़ में आ गया है।

ध्यान अकेला, आत्मा उससे रहित... आहाहा! उसका नाम यहाँ धर्मध्यान कहने में आता है। वह इस गाथा में विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

१४

श्री समयसार कलश टीका, कलश - १९५, प्रवचन - २१७
दिनांक - २८-०१-१९७८

कलश टीका कलश १९५ है।

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः।
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बन्धः प्रकृतिभिः
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः।।३-१९५।।

क्या कहते हैं? **'अयं जीवः अकर्ता इति स्वरसतः स्थितः'** यह जीव विद्यमान भगवान, द्रव्यस्वभाव, द्रव्य... द्रव्य, शुद्ध द्रव्यस्वभाव, जो कर्म-नोकर्म और भावकर्म—पुण्य-पाप के भाव से रहित **'अयं जीवः' विद्यमान है जो चैतन्यद्रव्य...** ध्रुव टिकता तत्त्व त्रिकाली ऐसा जो द्रव्यस्वभाव। **वह ज्ञानावरणादि का अथवा रागादि-अशुद्ध-परिणाम का कर्ता नहीं है...** वस्तु में ऐसी कोई शक्ति नहीं, वस्तु में ऐसा कोई स्वभाव नहीं कि राग को करे और राग को भोगे, वस्तु में ऐसा कोई सत्त्व का सत्त्वपना नहीं है।

सत् ऐसा जो भगवान आत्मा, जिसका सत्त्वपना अर्थात् गुणपना—भावपना, उसका ऐसा कोई भाव नहीं कि दया, दान, व्रत के विकल्प का कर्ता हो और भोक्ता हो, स्वभाव में ऐसी कोई शक्ति—गुण नहीं है। आहाहा! समझ में आया? **'स्वरसतः स्थितः'** ऐसा चैतन्य द्रव्य अकर्ता-कर्ता नहीं, ऐसा सहज **'स्वरसतः स्थितः'** अपने स्वभाव से स्वरस से जो स्थित है। अपने आनन्दादि, ज्ञानस्वभाव से ऐसा स्थित है कि जो राग, व्यवहाररत्नत्रय का राग, उसका कर्ता-भोक्ता हो, ऐसा कोई स्वभाव नहीं है। सूक्ष्म बात है। आहाहा! पर का कर्ता-भोक्ता तो है ही नहीं।

श्रोता : पूरी दुनिया पर का काम करती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई नहीं करता। कौन करता है? सुमनभाई करते हैं यह सब? रामजीभाई ने वकालात में यह सब किया था? स्पष्ट कराते हैं। भाषा हुई थी, वह तो जड़ है।

सुमनभाई क्या करे ? राग करे। पर का कर सकते हैं ?

यहाँ तो राग के कर्तापने का कोई गुण नहीं है, ऐसा सिद्ध करना है। पर्याय में राग खड़ा होता है, वह अज्ञान के कारण से है। आहाहा! समझ में आया ? भगवान वस्तु जो ध्रुव विद्यमान टिकता तत्त्व, ज्ञायकभाव... बहिन की भाषा में जागता जीव, ज्ञायकभाव खड़ा है न! वह कोई चीज़ राग को करे या भोगे, वह कोई स्वभाव में, स्वभाववान में है नहीं, ऐसा है नहीं। आहाहा! समझ में आया ? संसार का कोई भी विकल्प, यहाँ तो देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का विकल्प (आवे), उसका भी कर्ता और भोक्ता द्रव्यस्वभाव नहीं है। वस्तु में कोई ऐसी शक्ति नहीं है, कोई गुण नहीं है। आहाहा!

सत् ऐसा जो स्वरूप, उसका भाव; सत्, वह भाववान, उसका भाव। अनन्त भाव है, अनन्त-अनन्त भाव है परन्तु उन भाव में कोई भाव, गुण—शक्ति ऐसी नहीं है कि राग को करे। आहाहा! समझ में आया ? ऐसा **सहज... 'स्वरसतः स्थितः'** वह तो अपने स्वभाव के रस से वह स्थित है। वह कोई राग को करे, ऐसी वस्तु में स्थिति ही नहीं है। आहाहा! अशुभ से बचने को शुभ आता है, ऐसा कहना वह तो सम्यग्दृष्टि के लिये है। जिसे द्रव्य का स्वभाव, राग का कर्ता नहीं, ऐसा स्वभाव अनुभव में आया हो... आहाहा! समझ में आया ? ऐसी दृष्टि जिसे अन्तर में अन्तर्मुख (होकर हुई हो), द्रव्य जैसा स्थित है, वैसा अनुभव में आया हो, उसे अशुभ से बचने को राग आता है, परन्तु उस राग का कर्ता नहीं है। आहाहा! क्योंकि वस्तु में अनन्त... अनन्त... अनन्त... बेशुमार शक्तियाँ (भरी हैं) परन्तु बेशुमार में कोई एक शक्ति ऐसी नहीं है कि जो विकार को करे। आहाहा! अब यहाँ तो (अज्ञानी) कहता है कि अशुभ से बचने को व्यवहार करते हैं तो वह शुभव्यवहार है और उस शुभ से शुद्ध होगा। फेरफार है, प्रभु! वस्तु की स्थिति ऐसी नहीं है।

यहाँ यह कहा है न ? **'स्वरसतः स्थितः'** इस स्व के आनन्द और ज्ञानादि स्वभाव से स्थित है, ध्रुव है। उसमें—ध्रुव में ऐसी कोई शक्ति, स्वभाव, राग करने की शक्ति है ही नहीं। आहाहा! इस संसार के उदयभाव को खड़ी करने जैसी कोई शक्ति आत्मा में नहीं है। आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञायकभाव है। उसमें तो अनन्त शक्तियाँ पड़ी हैं। शक्ति शब्द से गुण; गुण शब्द से भाव; भाव शब्द से सत् का सत्पना, सत् का माल। आहाहा! इस अनन्त गुण के माल में ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि राग को करे। आहाहा! समझ में आया ? मार्ग ऐसा है, भाई! आहाहा! वस्तु स्थिति ऐसी है।

कोई भी एक शक्ति राग को करे, ऐसी होवे तो शक्ति का तो कभी नाश नहीं होता तो राग का भी कभी नाश नहीं होगा। समझ में आया ? शक्ति जो गुण है, ऐसा कोई गुण राग करने का हो, परन्तु होवे कहाँ से ? वस्तु है आत्मा, उसमें वस्तुत्वपना, बसे हुए, रहे हुए वस्तु में बसे हुए, रहे हुए गुण अमाप हैं, बेशुमार हैं। ऐसा होने पर भी किसी शक्ति की ऐसी शक्ति नहीं है कि संसार का भाव (करे)। राग है, वह संसार है। आहाहा! चाहे तो शुभराग हो। यह तो कहा न ? जगपन्थ है। मुनि को भी राग आता है तो वह जगपन्थ है। आहाहा! परन्तु उसे करे, ऐसी कोई शक्ति नहीं है। ज्ञानी को कमजोरी से उत्पन्न होता है। अज्ञानी को स्वरूप के अज्ञान से विकार का कर्तापना उत्पन्न होता है। आहाहा! समझ में आया ?

ज्ञानी को कमजोरी से (होता है), पर्याय में योग्यता ऐसी है तो उत्पन्न होता है। गुण-द्रव्य में तो कोई ऐसी (शक्ति) नहीं है। आहाहा! विषय में सुखबुद्धि, उस सुखबुद्धि का विकार कोई जीव करे ऐसा कोई आत्मा में गुण नहीं है। आहाहा! पैसे में सुख है, स्त्री में सुख है, इज्जत में सुख है—ऐसा जो सुख नाम का विकार... आहाहा! भगवान तो अतीन्द्रिय आनन्द के सुख से स्थित है न! ऐसे सुख के विकल्प का वह कर्ता किस प्रकार हो ? आहाहा! हसमुखभाई! सूक्ष्म बातें है, बापू! कहाँ टाईल्स का धन्धा और कहाँ यह व्यापार ? आहाहा! अरे! अपना निजस्वभाव स्वयं स्वरूप, स्वयं स्वरूप जो शाश्वत्, असली, असली स्वभाव, उसमें कोई असली स्वभाव में कोई ऐसा असली भाव नहीं... आहाहा! कि वह शुभराग को उत्पन्न करे अथवा रचे, ऐसा कोई गुण असली स्वरूप में नहीं है। आहाहा! स्वभाव के अभान में पर्याय में अज्ञान से विकार होता है और विकार का कर्ता हो तो यह तो अनादि का संसार है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है। आया है तुम्हारे पठन में ? कहीं आया नहीं। आहाहा! है ?

श्रोता : उसमें तो फँसने का आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं फँसता है न! आहाहा!

जहाँ ज्ञाता-दृष्टा के स्वभाव से अनन्त-अनन्त अविनाभावी गुण से भरपूर भगवान है यह, उस भगवान की दृष्टि हुई, निजस्वभाव की प्रतीति अनुभव में हुई, वह राग का कर्ता होता ही नहीं। निर्बलता से राग आता है परन्तु उसका वह ज्ञाता-दृष्टा रहता है। आहाहा! धर्मी को व्यवहाररत्नत्रय का राग आता है। परन्तु आता है, उसका वह कर्ता नहीं, तथा उसका वह भोक्ता, वेदन का कर्ता है, ऐसा परमार्थदृष्टि से नहीं है। यहाँ दृष्टि और दृष्टि का विषय जो है, यह बात चलती है न ? पर्याय में कर्ता-भोक्ता है, यह बात ज्ञान जानता है। यह बात तो सैंतालीस नय में आयी है। आहाहा!

'स्वरसतः स्थितः' यह तो स्व रस से ही स्थित है। आहाहा! इसका अर्थ क्या किया? **स्वभाव से अनादिनिधन ऐसा ही है।** राग का कर्ता नहीं, ऐसा स्वभाव अनादि का ऐसा ही है। आहाहा! समझ में आया? भाषा थोड़ी परन्तु भाव तो है, वह है। आहाहा! इसमें वाद-विवाद करने से कुछ पार नहीं पड़ता। मोक्षमार्गप्रकाशक में लिया है। अशुभ से बचने को शुभ आवे तो उसे तो व्यवहार कहो। वह तत्त्वज्ञानसहित होवे तो अशुभ से बचने को व्यवहार आता है, उसे व्यवहार कहते हैं। परन्तु तत्त्वज्ञान, जहाँ तत्त्व ही ऐसा है कि राग का कर्ता नहीं, ऐसा स्वभाव है—ऐसी दृष्टि ही जहाँ नहीं, वहाँ अशुभ से बचने को शुभ (आता है, ऐसा कहाँ है)? अभी मिथ्यात्व से बचा नहीं, वहाँ अशुभ से बचने का कहाँ आया? आहाहा! समझ में आया?

ऐसा सहज स्वभाव। **'स्वरसतः'** है न? रस अर्थात् स्वभाव। **अनादिनिधन... 'स्थितः'** का अर्थ यह किया। अनादि-अनन्त ऐसा ही है। **'स्थितः'** आहाहा! अनादि-अनन्त स्वरस से स्थित। पर का कर्ता-भोक्ता नहीं, ऐसे स्वभाव से भरा है। आहाहा! समझ में आया? **कैसा है?** वह **'स्थितः'** कहा था न? **'स्वरसतः स्थितः' कैसा है? 'विशुद्धः'** है। **द्रव्य की अपेक्षा द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से भिन्न है।** आहाहा! उसे विशुद्ध कहते हैं। शुभभाव को भी विशुद्ध कहते हैं, शुद्धभाव को भी विशुद्ध कहते हैं, त्रिकाली को भी विशुद्ध कहते हैं। विशुद्ध जिस जगह लागू पड़े, तत्प्रमाण करना। विशुद्ध शब्द शुभभाव में भी आता है, विशुद्ध शब्द शुद्धभाव में भी आता है और विशुद्ध शब्द त्रिकाली में भी आता है। आहाहा! यहाँ त्रिकाली की बात है। विशुद्ध। समझ में आया? आहाहा!

यह भगवान आत्मा त्रिकाल विशुद्ध है। जड़कर्म, नोकर्म—मन, वाणी, देह और भावकर्म—दया, दान, पुण्य-पाप के भाव से अनादि-अनन्त भिन्न है। ऐसा विशुद्ध है। आहाहा! विशुद्ध है। विशेष-खास शुद्ध है यह। आहाहा! यह सम्यग्दर्शन का विषय है। आहाहा! समझ में आया? **'भूदत्थमस्सिदो'** कहा न? भूतार्थ का आश्रय लेना, ऐसा कहो, ज्ञायकभाव कहो, बहिन की गुजराती सादी भाषा में जागता (जीव) कहो और वह ध्रुव है, उसे खड़ा कहो। उसमें एक शब्द आया है कहीं? श्रीमद् के वचन में कहीं है। खड़ा है। ऊर्ध्व तो दूसरा है। खड़ा है, ऐसा शब्द कहीं है। ये दो पुस्तकें हैं न कुछ? यह ज्ञानामृत और सन्त वाणी। कहीं एक शब्द आया था। अनादि खड़ा है न! अनादि है। आहाहा!

श्रोता : अनादि का खड़ा है तो थकता नहीं होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : खड़ा है, वह चलता नहीं—ऐसा कहते हैं। चले तो थके और चले,

वह तो शुद्धपरिणमन में चले तो थके नहीं। विशुद्ध / शुभ, अशुभभाव में चले तो थक जाए। थकान... दुःख... दुःख। आहाहा!

यहाँ यह कहा। **द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से भिन्न है।** उसे यहाँ विशुद्ध कहा गया है। उसे यहाँ स्वरस में स्थित कहा गया है। स्वरस से उसमें स्थित है। त्रिकाली अपना स्वभाव जो शुद्ध है, उसमें वह स्थित है, उसे यहाँ विशुद्ध कहने में आता है। आहाहा! यहाँ तो अभी देह की क्रिया में भी आत्मा का निमित्तपना है नहीं और निमित्त है, इसलिए देह की क्रिया होती है, इसकी अभी लोगों को हाँ करना मुश्किल पड़ती है। अपने आप देह चले? भाषा अपने आप बोली जाए? आहाहा! यहाँ तो स्वभाव की दृष्टिवाला जो द्रव्य-विशुद्ध, वह तो राग का भी कर्ता नहीं। यह तो राग अध्धर से कमजोरी के कारण हो, उसका ज्ञाता-दृष्टा है। आहाहा!

श्रोता : यह तो ज्ञानी की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तो भी कहा न? तब उसे प्रतीति में आया न? द्रव्यकर्म-भावकर्म-(नोकर्म) से रहित भगवान ऐसा है। यहाँ तो ऐसा कहते हैं, यहाँ तो दूसरा सिद्ध करना है कि वह ऐसा अनादि से ही है। वह राग करे, ऐसा उसमें कोई गुण नहीं है, ऐसा सिद्ध करना है। परन्तु इसका भान किसे हो? आहाहा! कि यह वस्तु अनादि की अतीन्द्रिय अनन्त आनन्द और गुण का पिण्ड अनादि स्थित है, ऐसा स्वसन्मुख (होकर) स्व का आश्रय करे, उसे यह वस्तु है—ऐसा प्रतीति में आवे और प्रतीति में आयी, इसलिए उसे राग का कर्तापना नहीं रहता। व्यवहाररत्नत्रय का कर्ता वह धर्मी नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। बहुत सूक्ष्म।

और कैसा है वह **'स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः' प्रकाशरूप ऐसे चेतनागुण के द्वारा...** आहाहा! उसमें चेतनागुण है। जिस कारण से वह तो प्रकाश लोकालोक को जानता है और देखता है, ऐसा स्वभाव है। ध्रुव में ऐसा स्वभाव है। समझ में आया? आहाहा! **प्रकाशरूप ऐसे चेतनागुण के द्वारा प्रतिबिम्बित हैं...** क्या कहते हैं? शक्ति तो है परन्तु उसका परिणमन जब होता है तो लोकालोक जिसमें प्रतिबिम्बित रहे, ऐसा परिणति-पर्याय का स्वभाव है। आहाहा! लोकालोक में किसी चीज़ का कर्ता तो है नहीं, परन्तु उसकी जो शक्ति में जो अकर्तापना है, ऐसा परिणति में भान हुआ तो वह लोकालोक को जाननेवाला रहा। लोकालोक उसमें प्रतिबिम्बित (होता है)—जानता है, बस! आहाहा! लोकालोक में तो सब आ गया न? अलोक को एक ओर रखो। लोक शब्द में शरीर, वाणी, मन, धन्धा-व्यापार... यह सब आत्मा में प्रतिबिम्बित (होते हैं)। अपनी परिणति में इस दृष्टि का भान हुआ।

लोकालोक प्रतिबिम्बित होता है—जानने में आता है। आहाहा! परन्तु किसी का कर्ता (नहीं है)। स्फुरित प्रगट दशा हुई, तो भी किसी का कर्ता-भोक्ता नहीं है। आहाहा! ऐसा लोगों को कठिन पड़ता है। निश्चय और व्यवहार। आहाहा! बापू! उसके परिणाम, व्यवहार के परिणाम तो रागरूप है न, प्रभु! आहाहा! और उस राग को करना, ऐसा द्रव्य में कोई गुण-शक्ति तो नहीं है। आहाहा!

इसलिए उस वस्तु की दृष्टि होने पर अन्दर परिणमन होने पर भी लोकालोक का प्रतिबिम्ब (पड़े), उसमें ज्ञात हो, ऐसा उसका स्वभाव है। त्रिकाल स्वभाव तो लोकालोक को जानने का ध्रुव है, परन्तु पर्याय में स्फुरित-प्रगट होने पर... आहाहा! जो वस्तु है, राग और विकार का अकर्ता, उसका गुण है। ऐसी जहाँ उसकी परिणति हुई... आहाहा! भले मति और श्रुतज्ञान हो, तथापि वह लोकालोक को जाने, ऐसी उसकी परिणति है। आहाहा! गजब!

एक ओर चक्रवर्ती के राज में रहे और देखे; रहे और देखे, वह वहाँ है नहीं। वह तो उसकी जानने की परिणति में है। आहाहा! वह तो उसके सम्बन्धी का ज्ञान अपना अपने से हुआ है, उसके जानने में वह है। उससे ज्ञान हुआ है, यह नहीं। यह तो पर्याय में अपनी सामर्थ्य ऐसी थी कि जिससे स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य स्वत: अपने से हुआ है। उसमें यह ज्ञात होता है—ऐसा कहना, वह व्यवहार है। आहाहा! समझ में आया? केवली लोकालोक को जाने—ऐसा कहना वह भी असद्भूतव्यवहार है। आहाहा! उस सम्बन्धी का अपना ज्ञान अपने से हुआ है, उसे भी यहाँ व्यवहार कहने में आता है। आहाहा! त्रिकाल को—द्रव्य को निश्चय कहें तो परिणति को व्यवहार कहने में आता है। आहाहा! उस शुद्धपरिणति को, हों! आहाहा! उसमें लोकालोक प्रतिबिम्बित होता है, ऐसा कहते हैं। है न? आहाहा!

'चिज्ज्योतिर्भि:' चेतनागुण के द्वारा... 'छुरित' प्रतिबिम्बित हैं... 'भुवना-भोगभवन:' 'भुवनाभोगभवन:' भुवन अर्थात् लोक, उसका आभोग अर्थात् जानना, उसका भवन अर्थात् होना। **'भुवनाभोगभवन:'** आहाहा! बाद में इसकी व्याख्या की है। नहीं तो शब्द इतना है। भुवन अर्थात् लोकालोक, उसका आभोग अर्थात् जानना, उसका भवन। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! आज आये नहीं, हिम्मतभाई!

अनन्त द्रव्य अपनी अतीत अनागत वर्तमान समस्त पर्यायसहित जिसमें,... आहाहा! अनन्त द्रव्य जो हैं, अनन्त-अनन्त द्रव्य अब लिये। अनन्त गुण उनमें हैं, उसमें कोई गुण व्यक्त, अव्यक्त... अब तो उसकी पर्याय में अनन्त द्रव्य **अपनी अतीत अनागत...** अपने द्रव्य

की भूतकाल की पर्याय, वर्तमान पर्याय और भविष्य की पर्याय। आहाहा! **समस्त पर्यायसहित जिसमें, ऐसा है।** समस्त पर्याय प्रतिबिम्बित होती है, ऐसा। ज्ञान की पर्याय में समस्त द्रव्य, गुण, पर्याय अथवा एक-एक द्रव्य की भूत-भविष्य और वर्तमान पर्याय ऐसी अनन्त (पर्यायें) ज्ञान की पर्याय में जानने में आती है। प्रतिबिम्बित शब्द तो (इसके लिये है कि) वह बिम्ब है तो यह प्रतिबिम्ब है, ऐसा। बाकी वह चीज़ कहीं यहाँ नहीं आती। आहाहा! समझ में आया? नीम दिखती है तो कहीं हरा रंग यहाँ अन्दर आता है? हरे रंग सम्बन्धी का अपना ज्ञान, उसमें वह प्रतिबिम्ब है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। यह तो धीर का काम है। 'घर, घर' (अर्थ) किया है इसमें से। संस्कृत टीका में है कहीं। लोक का विस्तार होना। लोक का विस्तार जानना, ऐसा। संस्कृत में एक 'घर' शब्द है।

'तथापि किल इह अस्य प्रकृतिभिः यत् असौ बन्धः स्यात्' आहाहा! स्वरूप तो ऐसा है, कहते हैं। अरेरे! ऐसी चीज़ में यह बन्ध होता है, वह क्या है? राग का सम्बन्ध होता है और कर्म का बन्ध होता है, ऐसा इस चीज़ में क्या हुआ? इस चीज़ में तो राग के कर्तापने का भी कोई गुण नहीं, वहाँ यह राग और कर्म के सम्बन्ध का बन्ध, सम्बन्ध का बन्ध, सम्बन्धरूपी बन्ध कैसे हुआ? आहाहा! समझ में आया?

'तथापि किल इह अस्य प्रकृतिभिः यत् असौ बन्धः स्यात्' शुद्ध है जीव द्रव्य... 'तथापि' है न? 'तथापि' है न? तथापि अर्थात् शुद्ध द्रव्य और गुण शुद्ध होने पर भी, ऐसा। **'तथापि'** ऐसा होने पर भी। आहाहा! **शुद्ध है जीव द्रव्य तो भी निश्चय से... 'किल'** अर्थात् निश्चय। यह **संसार अवस्था में जीव को...** संसार दशा में, आहाहा! **जीव को ज्ञानावरणादि कर्मरूप... 'यत् असौ बन्धः स्यात्' जो कुछ बन्ध होता है 'सः खलु अज्ञानस्य कः अपि महिमा स्फुरति'** आहाहा! उसमें भी **'स्फुरति'** था, **'स्फुरत'**। यह कोई अज्ञान की महिमा स्फुरित होती है, कहते हैं। आहाहा! वस्तु में कोई रागादि का कर्तापना नहीं है। प्रभु आत्मा द्रव्यस्वभाव के साथ राग और कर्म का सम्बन्धरूपी बन्ध नहीं है, तथापि सम्बन्धरूपी बन्ध (होता है), वह अज्ञान की कोई गहन महिमा है। आहाहा! वस्तु के स्वरूप का अज्ञान, उसकी कोई गहन महिमा है। आहाहा! अज्ञान के कारण से राग और कर्म का सम्बन्ध होता है। आहाहा! लोगों को ऐसा बहुत सूक्ष्म पड़ता है। वस्तुस्थिति ही ऐसी है। भगवान ने कहा, इसलिए कोई ऐसा ही कथन किया है, ऐसा नहीं। है, वैसा वाणी में आया है। ऐसी वस्तु है। आहाहा!

यहाँ भी प्रकृति का बन्ध होता है, वह **'सः खलु अज्ञानस्य कः अपि महिमा स्फुरति'** आहाहा! **जो बन्ध होता है, वह निश्चय से...** है? **मिथ्यात्वरूप विभावपरिणमनशक्ति का कोई ऐसा ही...** अज्ञान का अर्थ किया, अज्ञान का अर्थ किया। उसमें पहले में भी ऐसा कहा। पहले में आया था न? वहाँ भी ऐसा कहा। **'कर्ता अज्ञानात् एव'** वहाँ भी ऐसा कहा, **कर्मजनित भाव में आत्मबुद्धि ऐसा है जो मिथ्यात्व...** भाव। वहाँ भी 'अज्ञान' शब्द पड़ा है, वहाँ भी मिथ्यात्वभाव लिया है। १९४ (श्लोक)। १९५ में अज्ञान का अर्थ मिथ्यात्व लिया। आहाहा! सत्य वस्तु जैसी है, वैसी दृष्टि नहीं और उससे विपरीत दृष्टि है, मिथ्यात्वभाव, सत्यस्वरूप से विपरीत दृष्टि असत्य है, उस असत्य मिथ्यात्व की कोई गहन महिमा है। वस्तु में कोई बन्ध का कारण नहीं, शक्ति नहीं, गुण नहीं, तथापि बन्ध होता है, राग का सम्बन्ध (होता है), यह कोई अज्ञान की, मिथ्यात्व की गहन महिमा है। आहाहा! समझ में आया?

भगवान तो आनन्द और ज्ञानस्वरूपी शुद्ध चैतन्यघन है। उसमें यह दुःख का सम्बन्ध कहाँ से आया? कहते हैं। आहाहा! दुःख कहो, राग कहो, उदयभाव कहो। समझ में आया? कर्म प्रकृति तो निमित्त से कथन है। वास्तव में तो अपना स्वरूप शुद्ध चैतन्य होने पर भी द्रव्य, गुण में राग का कर्तापना नहीं होने पर भी कोई अज्ञान-मिथ्यात्व के कारण से, स्वरूप जैसा है, उससे विपरीत दृष्टि से गहन महिमा है कि मिथ्यात्व के कारण संसार उत्पन्न होता है।

राग की उत्पत्ति का कारण मिथ्यात्व है। आहाहा! समझ में आया? ज्ञानी को (राग) होता है, वह मिथ्यात्व नहीं। पश्चात् वह तो पर्याय में निर्बलता से हुआ, उसका ज्ञान ज्ञातादृष्टा है। यहाँ तो मिथ्यात्व से (राग) उत्पन्न हुआ, उसका वह कर्ता-भोक्ता होता है। समझ में आया? दोनों में इतना अन्तर है। आहाहा! ऐसी बात है। साधारण दया पालो और व्रत पालो और अपवास करो... आहाहा! यह कहते हैं कि अपवास करो और विकल्प करो (और) राग (करो)—यह कोई अज्ञान की गहन महिमा है कि राग का कर्ता होता है। वस्तु का स्वरूप ऐसा होने पर भी उसमें कोई विकल्प—गुण-गुणी के भेद का विकल्प (उठे), व्यवहाररत्नत्रय का राग, उसे रचना, ऐसा कोई गुण ही नहीं है। तो कैसे होता है? यह प्रकृति का बन्ध होता है न? ऐसा कहा है न? है न?

'प्रकृतिभिः' ऐसा कहा है न? पश्चात् ज्ञानावरणी कर्म लिया है परन्तु प्रकृति का विरुद्ध भाव जो विकार है, वह जो प्रकृति है; वह स्वभाव नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

ज्ञानावरणीय कर्म तो जड़ है, वह तो उसके कारण से बँधता है। उसकी पर्याय में, परमाणु में कर्म होने की पर्याय से होता है। यह प्रकृति का जो स्वभाव है, उससे विरुद्ध प्रकृति। आहाहा! विरुद्ध भाव— पुण्य और पाप आदि, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि, इस राग की उत्पत्ति होती है, वह कोई मिथ्यात्व की गहन शक्ति है। आहाहा! जिसमें है नहीं, द्रव्य में है नहीं, गुण में है नहीं और उसके गुण का परिणमन होता है, उसमें भी नहीं है। आहाहा! यह कोई मिथ्यात्व का भाव, झूठी दृष्टि, परम सत्य प्रभु द्रव्य-गुण से पूर्ण, पूर्ण भरपूर की दृष्टि से विरुद्ध असत्य दृष्टि, मिथ्यादृष्टि... आहाहा! इस असत्य दृष्टि की कोई गहन महिमा है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

इस **मिथ्यात्वरूप विभावपरिणमनशक्ति का कोई ऐसा ही स्वभाव है।** वापस इसमें ऐसा नहीं लेना कि विभाव नाम का गुण है, इसलिए ऐसा होता है। विभावगुण है, वह है। वह तो विशेषरूप से विभाव (कहा है)। विकार करे, इसलिए विभाव शक्ति है, ऐसी बात नहीं है। आहाहा! यहाँ तो **मिथ्यात्वरूप विभावपरिणमनशक्ति...** ऐसा लिया है। देखा? राग मेरा है और राग का कर्ता हूँ, ऐसी असत्यदृष्टि, विभावपरिणमन शक्ति का कोई ऐसा ही स्वभाव है। आहाहा!

कैसा है? 'गहनः' असाध्य है। आहाहा! असाध्य है, असाध्य। एकदम साध्य हो सके, ऐसा नहीं है—ऐसा कहते हैं। यह भाव ही असाध्य है। उसमें आत्मा असाध्य हो जाता है। आहाहा! मिथ्यात्व के कारण से राग का सम्बन्ध जो उत्पन्न करता है, (उसमें) आत्मा असाध्य हो जाता है। दृष्टि में आत्मा साध्य नहीं रहता। आहाहा! यहाँ तो असाध्य का अर्थ कि उसका नाश करना गहन बात है, ऐसा कहते हैं। असाध्य है। आहाहा! समझ में आया?

भावार्थ इस प्रकार है–जीव द्रव्य संसार अवस्था में विभावरूप मिथ्यात्व,.. देखा? **राग–द्वेष–मोह परिणामरूप परिणमा है,...** आहाहा! अरेरे! वस्तु और वस्तु के अनन्त गुण, तथापि ऐसी वस्तु में यह मोह, राग, द्वेषरूपी परिणमन कहाँ से हुआ, यह गहन बात है, कहते हैं। आहाहा! वस्तु के स्वभाव का अज्ञानपना पर्याय में, वस्तु के स्वभाव का मिथ्यात्वपना मान्यता में, गहन बात है। आहाहा! जो द्रव्य-गुण में विकार करना, ऐसा नहीं और विकार हुआ तो वह असत्य श्रद्धा की गहन महिमा है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! **परिणामरूप परिणमा है,...** पर्याय में वापस परिणमा है। वस्तु और वस्तु के गुण शुद्ध और स्फुट विशुद्ध होने पर भी पर्याय में मिथ्याश्रद्धा के कारण से, पर्याय जितना मैं हूँ, यह राग, वह मैं-ऐसी मिथ्याश्रद्धा के कारण असाध्य ऐसा विकार उत्पन्न होता है। आहाहा! **परिणमा है,...**

इस कारण जैसा परिणमा है,... अब ऐसा कहते हैं। जैसा परिणमन हुआ, **वैसे भावों का कर्ता होता है;...** जैसा परिणमन हुआ, उसका कर्ता होता है। मिथ्याश्रद्धा से मोह-राग-द्वेषरूपी पर्याय में परिणमन हुआ तो जैसा परिणमा, उसका कर्ता होता है। आहाहा! अशुद्धरूप परिणमा तो अशुद्धपने का कर्ता अज्ञानी होता है। आहाहा! भारी सूक्ष्म बातें, भाई! अभी सम्यग्दर्शन क्या है और कैसे (उत्पन्न हो) उसकी खबर नहीं होती)। आहाहा! उसे बाहर चारित्र और यह सब आ जाए... भाई! कठिन काम है, बापू! और यह तो तेरी दया की बात है, भाई! हैं? आहाहा!

कहते हैं, प्रभु! तू तो ऐसा है न! तथापि उसकी जिसे श्रद्धा विपरीत है अर्थात् कि इतना -इतने द्रव्यवाला गुण है, ऐसी जिसे श्रद्धा नहीं है। जिसे श्रद्धा राग की और वर्तमान पर्याय पर जिसकी रुचि जम गयी है, ऐसे मिथ्यात्व के गहन भाव के कारण उसका परिणमन विकाररूप होता है और जो परिणमता है, वह उसका कर्ता होता है। भाषा तो सादी है। भाव तो है, वैसा है। आहाहा! यह पठन कभी पढ़ा नहीं। हैं? बाहर के पठन में सब समय गँवाया। आहाहा!

जैसा परिणमा है, वैसे भावों का कर्ता होता है; अशुद्ध भावों का कर्ता होता है। ऐसा। **अशुद्ध भावों के मिटने पर जीव का स्वभाव अकर्ता है।** आहाहा! वह तो राग का अकर्ता स्वभाव है। आहाहा! राग होता है, परन्तु अकर्ता स्वभाव है। होता है, उसका ज्ञाता-दृष्टा रहता है। अकर्तापना सिद्ध किया, कर्तापना सिद्ध किया, वस्तु सिद्ध की। कर्ता, परिणमन में अशुद्ध परिणमन है तो अशुद्ध कर्ता हुआ। जब वह मिटता है, तब कर्तापना मिट जाता है। अकर्तापने का परिणमन होता है, उसका नाम धर्म है और कर्तापन की बुद्धि से परिणमे, उसका नाम अधर्म है। विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

१५

श्री परमात्मप्रकाश, अधिकार-२, गाथा-१८-१९, प्रवचन - ८५
दिनांक - २५-१२-१९६५

१८वीं गाथा, परमात्मप्रकाश, दूसरे भाग की। **आगे चार दोहों से छह द्रव्यों के क्रम से हरेक के लक्षण कहते हैं :-**

मुत्तिविहूणउ णाणमउ परमाणंद-सहाउ।
णियमिं जोइय अप्पु मुणि णिच्चु णिरंजणु भाउ।।१८।।

हे योगी,... प्रभाकर भट्ट शिष्य को योगीन्द्रदेव कहते हैं कि **निश्चय करके तू आत्मा को ऐसा जान। कैसा है आत्मा? मूर्ति से रहित है,...** आत्मा में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श मूर्त नहीं है। **ज्ञानमयी है,...** यह भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वरूप चैतन्यमूर्ति है और **परमानन्द स्वभाववाला है,...** परमानन्द और ज्ञान मुख्य दो लेना है न, दो ही वस्तु पूरी ज्ञान और आनन्दमूर्ति आत्मा है। **नित्य है,...** कायम रहनेवाला है। **निरंजन है, ऐसा जीवपदार्थ है।** लो!

भावार्थ :- यह आत्मा अमूर्तिक शुद्धात्मा से भिन्न जो स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवाली मूर्ति उससे रहित है,... यह आत्मा अमूर्तिक शुद्धात्मा, ऐसा लेना। यह आत्मा अमूर्तिक शुद्धात्मा, उनसे भिन्न। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवाली मूर्ति से आत्मा भिन्न—पृथक् है। शरीर, कर्म आदि रंग, गन्ध, रस, स्पर्शवाले पदार्थ हैं। आत्मा अमूर्तिक इनसे अत्यन्त भिन्न पदार्थ है। **लोक-अलोक का प्रकाश करनेवाले केवलज्ञानकर पूर्ण है,...** अरूपी मूर्त से रहित होने पर भी उसका स्वभाव लोक-अलोक का प्रकाश करनेवाला। मूर्त और अमूर्त सब पदार्थों को प्रकाश करनेवाला उसका स्वभाव है। **केवलज्ञानकर पूर्ण है,...** भगवान आत्मा केवलज्ञान से पूर्ण है, अभी हों! अभी। समझ में आया?

यह आत्मा वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, जड़ जो शरीर, वाणी, कर्म से अत्यन्त भिन्न है। स्वयं पर से भिन्न परन्तु अपने ज्ञान के स्वभाव से परिपूर्ण है। भगवान आत्मा ज्ञानस्वभाव और आनन्दस्वभाव से परिपूर्ण भरपूर तत्त्व है। समझ में आया? इसमें रंग, गन्ध, रस, स्पर्श जड़ जो

मिट्टी के, शरीर के, वाणी के, कर्म के ये रंग, गन्ध, रस, स्पर्श, जड़, इसमें—आत्मा में नहीं। वह तो अरूपी आत्मा है।

श्रोता : कब नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : तीनों काल नहीं। कब नहीं क्या, अभी भी नहीं, तीनों काल नहीं। वे तो भिन्न जड़, मिट्टी, धूल है। कैसे होगा ? जैचन्दभाई ! समझ में आया ?

भगवान आत्मा यह मूर्त जो वाणी शरीर, कर्म, जड़ से अत्यन्त भिन्न अभी है। भिन्न है तो है अरूपी। है अरूपी तो उसमें कोई स्वभाव है ? कि उसमें ज्ञान तीन काल तीन लोक और लोकालोक को जाने, ऐसा ज्ञान भरा हुआ है। वह तो लोकालोक का जाननेवाला ही आत्मा है। समझ में आया ? लोकालोक का रचनेवाला नहीं, लोकालोक को बदलनेवाला नहीं, लोकालोक का रक्षक नहीं, लोकालोक को टालनेवाला नहीं। क्या कहा ? भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी आत्मा है। वह ज्ञान भगवान आत्मा जितने परपदार्थ लोक-अलोक, तीन काल, तीन लोक के पदार्थ उनका यह आत्मा प्रकाशक है। कोई उसकी चीज़ में वह चीज़ नहीं तथा उस चीज़ का जाननेवाला है परन्तु उस चीज़ का कुछ भी बदलनेवाला, रक्षक, भक्षक, व्यय करनेवाला, परवस्तु को बदलनेवाला यह आत्मा नहीं है। समझ में आया ?

जाननेवाला है, जगत को और आत्मा को ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है। और लो ! आया भाई ! वह रात्रि में कहा था। कहाँ का कहाँ आया। कहो, समझ में आया ? आत्मा जाननेवाला है और उसे तथा दूसरे अनन्त पदार्थ—अनन्त आत्माएँ, मिट्टी, धूल, शरीरादि, पैसा, लक्ष्मी, धूल आदि, ये सब ज्ञान में ज्ञेय—ज्ञात होनेयोग्य हैं और वे पदार्थ जानने में ज्ञात हों, ऐसा उनका स्वभाव है। आत्मा जाननेवाला है और जो चीज़ें जड़ आदि सब ज्ञात होनेयोग्य है। बस, इतना सम्बन्ध है, बाकी उन्हें कोई सम्बन्ध नहीं है। समझ में आया ? रतिभाई ! अब इस लोहे के व्यापार का सम्बन्ध है या नहीं करना ? पैसे रखने का है या नहीं ? पैसे दूसरे को देने का स्वभाव है या नहीं ? ऐई !

यही कहते हैं कि तू तेरा स्वरूप सर्वज्ञ ज्ञानस्वरूप है, भाई ! और जगत के सभी शरीर, वाणी, कर्म, पैसा, धूल, मकान, यह सब यह लोक और अलोक यहाँ तो सब ले लिये। ये सब तेरे ज्ञान में ज्ञेय—ज्ञात होने योग्य है, तू एक जाननेवाला है। इसके अतिरिक्त परपदार्थ के साथ तेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। समझ में आया ? खबर नहीं इसे कौन हूँ मैं ? क्या करता हूँ ? क्या होता है पर में ? क्या सम्बन्ध है मुझे और उसे ? देखो ! रात में तो यों ही आया था ऊपर से, हों ! इसमें तो यहाँ वापस यह आया ? समझ में आया ?

आत्मा लोकालोक का प्रकाश करनेवाला, **जो कि केवलज्ञान सब पदार्थों को एक समय में प्रत्यक्ष जानता है,...** यह भी आत्मा एक समय में सबको जानने का ही उसका स्वभाव है। समझ में आया? आहाहा! भगवान आत्मा, उसे यहाँ आचार्य महाराज अथवा सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव, जिन्हें एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में तीन काल-तीन लोक प्रत्यक्ष ज्ञान में ज्ञात हुए। ऐसे भगवान तीर्थंकरदेव के श्रीमुख से दिव्यध्वनि में ऐसा आया, भाई! तू कौन है? तू कौन है? कि तू तो लोकालोक को जाननेवाला-देखनेवाला आनन्दमूर्ति है। समझ में आया? लोकालोक में क्या चीज़ बाकी रह गयी? अनन्त परमाणु दाल, भात, रोटी, सब्जी यह पैसा, धूल, शरीर, मिट्टी, मकान, यह सब पदार्थ तेरे ज्ञान में ज्ञात हों और तू जाने, ऐसा ही उनका सम्बन्ध है। उन परपदार्थ को तू करे, (ऐसा नहीं)। परपदार्थ कर्ता और तेरा कुछ काम हो, ऐसा उसमें सम्बन्ध नहीं है। तथा आत्मा कर्ता और इस शरीर आदि के काम-कार्य हो, ऐसा परपदार्थ के साथ तुझे कुछ सम्बन्ध नहीं है। बराबर होगा? यह दवा-बवा की...

श्रोता : यह प्रत्यक्ष ही है...

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या प्रत्यक्ष है?

श्रोता : देह के काम कर सकता है...

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा नहीं है। कर नहीं सकता - ऐसा भी नहीं है। वे होते हैं जगत के भाव, उन्हें जाननेवाला ही है, मात्र इतना। पहले कर सकता था और अभी नहीं कर सकता, ऐसी शल्य डालकर बात नहीं है। समझ में आया? पहले धमाल की थी, वह करते थे, यह बात मूढ़ मानता है, कहते हैं। यहाँ तो ऐसा कहते हैं। शरीर ठीक था, तब करते और ऐसे हिलते और ऐसे मुम्बई जाते और विलायत जाते और... यह बात मिथ्या है, ऐसा भगवान कहते हैं। प्रवीणभाई! क्या कहा? यह तो ऐसा कहते हैं कि पहले हम ऐसे गये थे विलायत में और होली में और अमरिका में और मोटरों में भु... भु... करके। हराम बात है, ऐसा कहते हैं। परपदार्थ के द्रव्य, गुण और पर्याय के साथ तेरा जानने का स्वभाव-सम्बन्ध है और वह ज्ञात होता है, इतनी बात है। इसके अतिरिक्त अज्ञानी मूढ़ ऐसा माने कि मुझे और परद्रव्य को कर्ता-कर्म सम्बन्ध है, मैं करनेवाला और उसके कार्य हों अथवा वह करनेवाला और मुझे कुछ काम हो, ऐसा आत्मा का और पर का स्वभाव सम्बन्ध है नहीं। ऐसा भगवान त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ तीर्थंकरदेव केवलज्ञान में से पुकारते हैं। समझ में आया?

यह इसके लिये तो बात चलती है। समझ में आया? ऐसे पाँच-पच्चीस लाख की पूँजी को देखो... यह सवेरे में ही कहते थे कि पचास लाख रुपये हैं तो यहाँ नहीं कुछ कर सकते। मणिभाई ऐसा सवेरे कहते थे। सवेरे आया न, हों! धूल में क्या पचास लाख करता था, और करोड़ करता था। वह तो आत्मा जाननेवाला और वे ज्ञेय हैं। ज्ञात होनेयोग्य को जाने। समझ में आया? सवेरे आये थे, तब कहा था। लो! इन मणिभाई के पास पचास लाख है। चार भाईयों के पास। परन्तु धूल, शरीर कुछ कर नहीं सकता। धूल भी किसके पैसे? पचास लाख किसके और पाँच करोड़ किसके और पाई किसकी और शरीर किसका? वह तो मिट्टी, जड़, परपदार्थ है। यह आत्मा जाननेवाला और वे ज्ञात हों, इतना ही सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त मेरे माने, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि मानता है। आहाहा! गजब बात, भाई!

...मिलते हैं न, देखो न! मोहनभाई! क्या होगा यह? हाय... हाय...! यहाँ तो एक बात ऐसी कहते हैं कि आत्मा लोकालोक को जाननेवाला सर्व पदार्थों को एक समय में प्रत्यक्ष जाने, ऐसा ही उसका स्वरूप ही है। समझ में आया? ... वापस वह कर्म करण शब्द पड़ा है न? अर्थात् **आगे-पीछे नहीं जानता,...** आत्मा का ज्ञान जो पूरे जगत के अनन्त परमाणु, अनन्त आत्माएँ, असंख्य कालाणु, धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन—पदार्थ हैं। इस वस्तु को एक समय में सब है ऐसा जाने, वह ज्ञात हो और यह जाने, बस। इसके अतिरिक्त में भोक्ता और वे चीज़ें मुझे भोग्य है, यह मूढ़ मानता है। ऐसा है नहीं। क्या कहा? यह दाल, भात, रोटी, स्त्री, कुटुम्ब, ऐसा मुझे भोगनेयोग्य है और मैं भोगता हूँ—मूढ़ है। भोगनेयोग्य परपदार्थ कैसा तुझमें? ऐ... रतिभाई! क्या होगा यह? यह सब तुम्हें पैसेवालों को बहुत कहे कि बहुत... ओहोहो! ऐसा कहते हैं। यह करोड़पति ऐसा है मोहनलाल घीया, लोग ऐसा कहते हैं। यह सब ऐसा है, धूल है और यह बातें लोग करते हैं। समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं कि ज्ञान का पति तू है। वे चीज़ें जो हैं अनन्त जगत में, एक शरीर के रजकण से लेकर, वाणी के रजकण से लेकर अनन्त, उन सबका आत्मा जाननेवाला, वे ज्ञात हों। बस, इसके अतिरिक्त दूसरा सम्बन्ध माने (तो वह) मूढ़ मिथ्यादृष्टि आत्मा की हिंसा करता है। समझ में आया? मूर्ख भी नहीं, महापाप बाँधे। समझ में आया? मूढ़ता से पाप के बड़े चिकने पिण्ड बाँधे। कौन करे? कहते हैं न समझण कर, तू समझण कर, मैं तो ज्ञान हूँ। जगत जाननेयोग्य पदार्थ है। कल इसने कहा था। कहा था न भरत... और कहा था। ज्ञान हूँ, ऐसा ध्यान रखना। समझ में आया? शाम को कहा, शाम को आये थे न। समझ में आया?

भगवान आत्मा ज्ञान की मूर्ति! किस प्रकार से बात करते हैं, देखो न! यहाँ तो अभी

आत्मा की साधारण बात करते हैं, हों! आत्मा कैसा ऐसा। उसके अन्दर में यह डाला। परमात्मस्वरूप है न यह ? आत्मा परमस्वरूप, उसका ज्ञानस्वरूप है। भगवान जिसकी आँखें ज्ञान हैं। सब चीज़ें अनन्त, वे उसके ज्ञान में ज्ञात होनेयोग्य है, यह जाननेवाला है। बाकी इसके अतिरिक्त इससे अधिक दूसरे प्रकार से अन्दर खतौनी करे, वह असत्यबुद्धि, पापबुद्धि और मिथ्याबुद्धि से करता है। कहो, जमुभाई! क्या करना ? यह गाँव, खेत और जमीन... ओहोहो! दस-दस भाई हों, और बारह-बारह भाई... 'बारह भाया' आता है न ? कितने भाई और कितने काका और कितने मामा और धूल... कहते हैं कि भगवान! यह सब बात तू कहता है कि वे मेरे। वह सब बात झूठी है। तुझे और पर को ज्ञायक और ज्ञेय सम्बन्ध के अतिरिक्त कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! जुगराजजी! आहाहा!

वस्तु का सत् ही ऐसा है कि तू ज्ञानस्वरूपी भगवान आगे-पीछे नहीं जानकर, एक क्षण में पूरी दुनिया लोकालोक जिस प्रकार से है, उसे जानने का स्वभाव है। आगे-पीछे नहीं कि उसका ऐसा होगा, इसका ऐसा होगा और उसका ऐसा होगा, तब ज्ञात होगा। एक समय में पूरी दुनिया ऐसी की ऐसी है, ऐसा जानने का ज्ञान का स्वभाव है। वहाँ आगे-पीछे नहीं, वहाँ व्यवस्थित काम चलता है और आत्मा आगे-पीछे नहीं कर सकता। समझ में आया ? भारी बात, भाई! यह जो स्थिति इसकी दशा टलती हो, उस अवस्था को बदल डाले, लाओ बदल दूँ, ऐसी चलती है, इसलिए ऐसी कर दूँ, ऐसे चले तो ऐसे बदल दूँ। वह अवस्था जो उसके काल में हुआ करे, उसे बदल सकता नहीं। उसे होती है, उसको जान सकता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? गजब बात, भाई! इसका नाम जीव, इसका नाम आत्मा। जो भगवान ज्ञानसूर्य चैतन्यस्वरूप है। उसके लोकालोक... यहाँ तो पूरा ले लिया, देखो न! ... आहाहा!

सब पदार्थों को एक समय में प्रत्यक्ष जानता है, आगे-पीछे नहीं जानता,.. आगे-पीछे कैसा फिर ? आगे-पीछे क्या होगा ? **वीतरागभाव परमानन्दरूप एक अतीन्द्रिय सुखस्वरूप अमृत के रस के स्वाद से समरसी भाव को परिणत हुआ है,...** ऐसा ही उसका स्वभाव है, कहते हैं। क्या कहते हैं ? अब आनन्द लेता है। वीतरागभाव—राग बिना विकल्प बिना, परमानन्दरूप आत्मा परम अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति है। अतीन्द्रिय आनन्द रसस्वरूप भगवान ज्ञान के साथ, अकेला ज्ञान नहीं, उसके साथ अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर एक अतीन्द्रिय सुखस्वरूप, एक अतीन्द्रिय सुख का सागर भगवान है। आहाहा!

अमृत के रस के स्वाद से... भगवान अतीन्द्रिय अमृत के, अमृत अतीन्द्रिय रस के

स्वाद से समरसी भाव को वीतरागभाव से आनन्दरूप परिणमे, ऐसा ही उसका स्वरूप है। **परिणत हुआ है, ऐसा हे योगी;...** देखो! **शुद्ध निश्चय से अपनी आत्मा को ऐसा समझ,...** देखो! आहाहा! समझ में आया? नजर नहीं करता। उस एक मछली का दृष्टान्त शास्त्र में नहीं लिया? एक मनुष्य था, वह (कहे), मुझे मोक्षमार्ग बताओ, मोक्षमार्ग बताओ, आत्मा बताओ, आत्मा। आत्मा कहाँ है? आत्मा का ज्ञान जल कहा है?

एक मनुष्य मिला वह कहे, भाई! मेरे पास नहीं है, जा मछली के पास जा समुद्र में, वह बतायेगी। (वहाँ जाकर मछली को पूछता है) भाई! मेरा ज्ञान कहाँ है? मेरा ज्ञान कहाँ है? मेरा ज्ञान कहाँ है? मछली के पास जा। मछली के पास जा (जाकर कहता है), मुझे ज्ञान बताओ। तुम बड़े पुरुष लगते हो, मुझे किसी ने बताया, पूछा तो कहा, मछली के पास जा। मछली कहती है, ऐसा! बहुत अच्छी बात। तुम तो बड़े पुरुष लगते हो, मेरे पास आये तो। वह मछली कहती है। मुझे एक थोड़ा पानी लाकर दो न, मछली कहती है। पानी क्या? यह भरा। नहीं देखती तू? मछली को कहता है। (तब मछली कहती है), तू नहीं देखता कि तू इस ज्ञान से भरा है? समझ में आया?

मछली कहती है कि तू मुझे शिक्षा देने आया है कि यह पानी रहा, परन्तु तू तुझमें खोजने आया यह ज्ञानजल, ज्ञान कहाँ होगा? मेरा ज्ञान कहाँ होगा? ज्ञान से भरपूर तेरा समुद्र स्वयं ही है। भीखाभाई! 'पानी में मीन प्यासी रे... मुझ देखत आवे हाँसी।' भजन आता है भजन। समझ में आया? 'सुन सुन आवत हाँसी, पानी में मीन प्यासी।' पानी में मीन प्यासी। भान नहीं होता। ऐसे मुँह करके बैठे ऐसे बादल के सामने, ऊँचा मुख करके। पानी उसमें है...

इसी प्रकार आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसके सामने देखता नहीं और ऐसे बाह्य में देखा करता है। इन्द्रियों और मन को और जड़ को। भरपूर समुद्र अन्दर में स्वयं है। समझ में आया? क्यों नहीं देखता? यह पर के सन्मुख देखता है, इसलिए नहीं देखता। स्वयं कौन चीज़ है, उसके सन्मुख कभी देखा है, विचार किया है? ऐसे का ऐसा मूढ़रूप से इन इन्द्रियों की ओर का लक्ष्य और यह किया और यह छोड़ा और यह दिया और यह जाना और यह जाना। परन्तु जाननेवाला कौन है, उसने एक समय में भी अनन्त काल में जानने का प्रयत्न नहीं किया। समझ में आया?

हे योगी!... यहाँ तो... समझ में आया? **समरसीभाव परिणतस्वरूप तत्त्वार्थ..** यहाँ तो परिणतिस्वरूप है। ऐई! यह तो परिणतस्वरूप का स्वरूप ही ऐसा है। पर्यायरूप से

परिणमे परम आनन्दरूप (परिणमे), ऐसा ही उसका स्वभाव है। रागरूप होना या विकाररूप होना या पर का कर्ता-भोक्ता (होना), उसके स्वरूप में है ही नहीं। आहाहा! उसमें वहाँ डाला है। पर के साथ जो लोकालोक को जाने, साथ में रागादि जाने और वीतरागरूप से परिणमे। वीतराग की पर्यायरूप से, आनन्दरूप से परिणमे, ऐसा ही आत्मा का स्वभाव है। समझ में आया? लोकालोक के साथ ज्ञेय सम्बन्ध है और रागरूप होना भी उसका स्वभाव नहीं है, विकाररूप होना उसका स्वभाव नहीं है, ऐसा कहा। लोकालोक के साथ ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध है और विकाररूप होना या पुण्य-पापरूप होना, उसका स्वभाव नहीं है। उसका स्वभाव पर को जानना और वीतराग आनन्दरूप होना, ऐसा भगवान आत्मा का स्वभाव है। कहो, समझ में आया? इसमें। ओहोहो!

श्रोता : कैसे करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसकी दृष्टि कर, ऐसा कहते हैं। ऐसा आत्मा है, ऐसा मान अन्दर में। यह माना है कि मैं यह शरीर हूँ और राग हूँ और धूल हूँ और पुण्य-पाप हूँ और अल्पज्ञ एक समय की पर्याय जितना हूँ, यह सब मिथ्याभ्रम अज्ञान है, ऐसा कहते हैं। गजब बात, भाई! वहाँ का वहाँ डाल दिया। समझ में आया? '**जीव सचेतणु दऊ**' इस चेतन में आनन्द डाल दिया। समझ में आया? 'जीव सचेतणु दऊ' एक शब्द में से व्याख्या निकाली १७ है न १८, १८। '**मुत्ति-विहूणउ णाणमउ परमाणंदसहाउ**' लो! इसमें से यह निकाला।

भगवान आत्मा वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शरहित ज्ञानमय और परम आनन्दमय स्वभाव है। बस! इतनी बात है। ओहोहो! यह भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द का स्वभाव, इसे अन्तर जानकर, देखकर वीतराग पर्यायरूप से परिणमना, बस! वह तेरा स्वभाव है। तब उसने आत्मा को माना कहने में आता है। मैं आत्मा पर के साथ ज्ञेय-जानने का सम्बन्ध और रागादिरूप नहीं होने का और वीतरागरूप होने का सम्बन्ध है। उस रूप से आत्मा को जाने, माने, तब उसने आत्मा को माना कहने में आता है। आत्मा है, ऐसा इस प्रकार से माने, तब माना कहने में आता है - ऐसा यहाँ कहा। छह द्रव्य में सिद्ध करते हैं आत्मा। समझ में आया? आहाहा!

'**णिच्चु णिरंजणु भाउ**' वाह! कहते हैं कि आत्मा इसे कहना। छह द्रव्य में आत्मा का यह लक्षण कहा न? यह वर्णन करते हैं न? भगवान आत्मा, यह आत्मा उसने माना, जाना कहलाता है कि यह आत्मा जगत के ज्ञेय को जाननेवाला तत्त्व है और उस वीतराग की पर्यायरूप से, आनन्दरूप से परिणमनेवाला आत्मा है। ऐसा आत्मा माने, उसने आत्मा माना,

आत्मा का आस्तिक हुआ, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया?

श्रोता : ...आत्मा को मानता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ मानता है यह? किसने माना आत्मा को? आत्मा तो ऐसा है, ऐसा मानता है कब? क्या मानता है? आत्मा अर्थात् कौन परन्तु? आत्मा माना। आत्मा अर्थात् कौन? आत्मा अर्थात् ज्ञानस्वरूप, आत्मा अर्थात् आनन्दस्वरूप। उस आनन्दस्वरूप और ज्ञानस्वरूप वीतराग की आनन्दपने की पर्याय से परिणमे, ऐसा आत्मा। वह पर को करे और पर से ले और दे, ऐसा आत्मा नहीं है; इसलिए ऐसा आत्मा न माने, तब तक उसने आत्मा माना नहीं। ऐ... भीखाभाई! नाम ले तो। निम्बोली को नीलमणि मान ले तो। नीलमणि है देखो! यह नीलमणि है, यह देखो नीलमणि है। नहीं? आत्मा कहे और वह आत्मा पर के काम करे, ऐसा माने अथवा पर के कार्य से आत्मा को लाभ होगा, ऐसा माने। समझ में आया? यह आत्मा पैसावाला हूँ, ऐसा माने, यह पुण्य-पाप के रागवाला हूँ, ऐसा माने, उसने आत्मा माना नहीं। अल्पज्ञ पर्याय जितना माने, उसने आत्मा माना नहीं। इस दुःखरूप परिणमनेवाला आत्मा, उसने आत्मा माना नहीं। आहाहा! कहो, समझ में आया? छह काय के जीव हैं न? उस जीव को जाननेवाला जीव। अनन्त जीव को आत्मा जाननेवाला और वे ज्ञात होनेयोग्य! इसके अतिरिक्त कोई सम्बन्ध नहीं है। उसे रखूँ या टालूँ, ऐसा सम्बन्ध पर के साथ है ही नहीं। पर अनन्त पदार्थ... यह तो उसमें आ गया। ज्ञायक में वे अनन्त जीव ज्ञेयरूप से जाननेयोग्य है। समझ में आया? परन्तु उनका रक्षण करूँ, भक्षण करूँ, तोडूँ-फोडूँ—ऐसा सम्बन्ध तुझे और परजीव के साथ है नहीं। कहो, इस परिवार का और माता-पिता का और देश का रक्षण करना, ऐसा ज्ञान को और शरीर को सम्बन्ध है जगत को? नहीं। भारी बात भाई! जमुभाई! यह तो दरबार—आत्म दरबार की बात है। आहाहा! कहाँ गये दरबार? गये? गये? ठीक! समझ में आया? आहाहा!

आत्मा माना उसे कहते हैं कि जो पर में सुख न माने। परचीज़ें ज्ञान में ज्ञेय है, उसमें पर में सुख मानना कहाँ रहा? ऐ... मलूकचन्दभाई! यह तो जरा सा विस्तार होता है। आत्मा ज्ञान और वे ज्ञेय, वह ऐसा जाने परन्तु आत्मा, पर में सुख माननेवाला, उसमें सुख है, ऐसा माने, ऐसा है नहीं, ऐसा है नहीं, वस्तु में ऐसा है नहीं। है नहीं और मानता है तो इसने आत्मा को माना नहीं। शरीर, स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, लक्ष्मी, इज्जत में सुख है, उसमें मजा है—ऐसा माननेवाले ने आत्मा है, ऐसा माना नहीं। आहाहा! ऐ.. प्रेमचन्दभाई! सुना नहीं होगा कभी वहाँ। उसमें वहाँ कहाँ था। आहाहा! ....आहाहा!

आत्मा सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ वीतराग परमेश्वर फरमाते हैं, आत्मा उसने माना कहलाये कि जो परपदार्थ के किसी रजकण की दशा में या किसी जीव की पर्याय में मेरा सुख है वहाँ—ऐसा माने तो वह आत्मा मानता नहीं है। क्योंकि आत्मा को और परपदार्थ को ज्ञायक और ज्ञेय का सम्बन्ध है। वह सुख देनेवाले और यह सुख लेनेवाले, ऐसा कोई स्वभाव में उसमें पर में भी नहीं। वे ज्ञात होनेयोग्य और जाननेवाला, इसके अतिरिक्त दूसरा पर में भी नहीं और इसमें भी नहीं। समझ में आया? क्या होगा? बँगला, बँगले में सुख होगा या नहीं थोड़ा-बहुत?

यह समझता है, यह कहा न? पर में हम सुख माने और पर को करें और यह सब आत्मा। ऐसा मानता है यह मूढ़ जीव अनादि से। समझ में आया? इसीलिए तो **'मुत्ति-विहूणउ'** पहला शब्द रखा है, उससे रहित परन्तु मूर्त को और इसको ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है। आहाहा! वाह रे वाह! शरीर, वाणी, मन, हड्डियाँ, माँस, चमड़ी, पैसा, धूल, दाल, भात, मौसम्बी, ये सब मूर्त पदार्थ हैं। इनसे रहित भगवान है। वे ज्ञेय और ज्ञान, इतना सम्बन्ध है परन्तु उसमें सुख है और उसमें सुख माने, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है और उसमें आत्मा का सुख नहीं है, तथापि उसमें मानता है।

श्रोता : प्रत्यक्ष दिखता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ दिखता है? धूल। क्या प्रत्यक्ष दिखता है? मणीभाई इनकार करते हैं, देखो! क्या दिखता है? धूल में भी नहीं। यह सब रुपये ऐसे के ऐसे पड़े हैं तो शरीर ऐसा-ऐसा हो गया, लो!

श्रोता : शरीर हुआ और आत्मा कहाँ हुआ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो होता है। उसका हो, उसके घर हुआ। शरीर ऐसा हुआ, उसमें कहाँ दुःख था। शरीर की जो अवस्था अनुकूल थी, परन्तु ज्ञान का ज्ञेय है, प्रतिकूल भी ज्ञान का ज्ञेय है। प्रतिकूल, वह दुःखदायक और अनुकूल, वह सुखदायक—ऐसा उसमें नहीं है। इस आत्मा में ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा! वह तो ज्ञेय है। यहाँ कहा न? एक ज्ञेय में समाहित कर दिया। एक ही बात समाहित कर दी। आहाहा! कथन तो कथन! परमात्मप्रकाश है न! तेरा प्रकाश तो जानना, उसका प्रकाश ज्ञेय होना, तुझमें ज्ञात होना। इसके अतिरिक्त तीसरी बात बीच में (वह विपरीतता है)। जमुभाई! बराबर होगा यह? ...आहाहा!

कहते हैं, भगवान आत्मा... ओहोहो! वह तो ऐसा द्रव्य है, वह वस्तु ऐसी है। छह द्रव्य

में जीवद्रव्य ऐसा, यह तो अभी बताते हैं।....ऐसा ही है न परन्तु। भगवान आत्मा लोकालोक को जानने का स्वभाव और परमानन्द वीतराग की परिणति से परिणमना, परिणमना, परिणत होना बस! यह द्रव्य का स्वभाव, यह द्रव्य का स्वभाव।

श्रोता : शरीर की मदद से होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर की मदद से नहीं, राग की मदद से नहीं। शरीर की तो कहाँ (बात करना)। राग विकल्प, दया, दान का उठे, उससे आत्मा की वीतरागी परिणति होती है, ऐसा उसका स्वभाव ही नहीं है। ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

कितनी संक्षिप्त में बात ली है! पर के निमित्तों से कहीं यहाँ ज्ञान-आनन्द का परिणमन हो, ऐसा तो नहीं। क्योंकि वह तो ज्ञेय है और यह ज्ञान है। परन्तु अन्दर व्यवहाररत्नत्रय के, दया, दान, भक्ति, पूजा के विकल्प उठें, उनसे आत्मा वीतरागरूप परिणमे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। अपने से स्वयं ज्ञान और वीतराग की परिणति से परिणमे, ऐसा उसका स्वभाव है। कहो, समझ में आया इसमें? ओहोहो! अमृत घोंटा है अकेला! एक ही शब्द में, एक ही गाथा के एक ही भाग में पूरा अमृत का समुद्र उछलता है!! भगवान! तू तो अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान की मूर्ति प्रभु है न! और वह भी तेरा परिणमना तो पूर्ण ज्ञानरूप से, पूर्ण ज्ञानरूप से और पूर्ण वीतरागी आनन्दरूप से... लिया है। आहाहा! समझ में आया? वाह!

पीछे नहीं जानता, वीतरागभाव परमानन्दरूप एक... एक शब्द रह गया था। **अतीन्द्रिय सुखस्वरूप अमृत के रस के स्वाद से समरसी..** एक स्वरूप, एकरूप परिणमना, ऐसा। **परिणत हुआ है, ऐसा हे योगी! शुद्ध निश्चय से अपनी आत्मा को ऐसा समझ,...** यह शुद्ध निश्चय का वास्तविक स्वरूप, उस ऐसा आत्मा को जान। इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार से जाने तो तूने आत्मा को माना नहीं। आहाहा! यह किसके लिये कहा जाता है यह? समझनेवाले को समझने के लिये कहा जाता है या नहीं? वाह! अरे! एक ही गाथा से, एक ही आँख से सब फैसला हो जाता है, लो! आहाहा!

भगवान परमात्मा के तेज के नूर से भरपूर भगवान तू स्वयं है, भाई! परमस्वरूप, परमस्वरूप प्रभु। यह ज्ञान और आनन्द। ऐसे पूर्णानन्द भगवान... पर को जानना, यह तीन काल में इतना परन्तु इसके अतिरिक्त साथ में वीतरागरूप से आनन्दरूप से परिणमना, परिणत होना- ऐसा ही जीवद्रव्य का स्वभाव है। ऐसा मानना, उसने जीवद्रव्य को माना कहलाता है। दूसरे प्रकार से माने उसने जीवद्रव्य को माना नहीं है। मैं एक कमानेवाला और होशियार हुआ,

इसलिए पैसे प्राप्त किये। मूढ़ है, कहते हैं। तूने आत्मा को माना नहीं। ऐ... जमुभाई! ....सिर घूम गया होता है न बहुत तो। मानो कि दो-पाँच-दस लाख पैदा हो वहाँ तो आँखें ओढ़े जाए। धूल में भी... यह तो अज्ञानपने की उधम करता है व्यर्थ की।

भगवान आत्मा सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमेश्वर ने फरमाया कि भगवान जीवद्रव्य तुझे किसे कहें ? तेरा द्रव्यपना-वस्तुपना किसे कहें ? आत्मा किसे कहें ? आत्मा ज्ञानस्वभाव से पर को जाने, आनन्द और वीतरागरूप परिणमे, पूर्णरूप परिणमे, हों! समरसी वीतरागरूप परिणमना, उसे आत्मद्रव्य कहा जाता है। आहाहा! वाह रे... वाह! वीतराग की कथन की पद्धति। ओहोहो! चारों ओर किसी भी प्रकार से बात उठाओ, एक ही वस्तु पूर्वापर विरोधरहित सिद्ध होती है। आहाहा! समझ में आया ? देवानुप्रिया! देवानुप्रिया समझते हो ? देव को प्रिय, मनुष्य देह देव को वल्लभ (प्रिय) है।

ऐसा हे योगी! यह शिष्य को कहते हैं, हों! समझ में आया ? **शुद्ध निश्चय से अपनी आत्मा को ऐसा समझ, शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से बिना टांकी का घड्या हुआ सुघटघाट...** यह वस्तुरूप से देखो तो अघड़ित ऐसा का ऐसा सुघट घाट है। असंख्य प्रदेशी भगवान अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु ऐसा का ऐसा है। वह **ज्ञायक एक स्वभाव नित्य है।** यहाँ एक रह गया। ज्ञायक एक स्वभाव नित्य है, ज्ञायक एक स्वभाव नित्य है। समझ में आया ? **तथा मिथ्यात्व रागादिरूप अंजन से रहित निरंजन है।** नास्ति की। मिथ्यात्व और रागादि दोनों। भ्रमणा और रागादि विकल्प पुण्य, दया, दान आदि से रहित है, ऐसा भगवान अभी द्रव्यस्वरूप है। आहाहा! अरे! इसने आत्मा कैसा है, यह कभी सुना नहीं है। आत्मा, आत्मा की आस्था और आस्था... परन्तु सुना नहीं इसने। इसे कहना आत्मा, बाकी आत्मा नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : जैन है, यह तो सच्चा...

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में जैन अर्थात् क्या हो गया ? जैन वाड़ा में जन्मे, (इसलिए जैन) हो गये ? थैली में (डाला) चिरायता और ऊपर लिखा मिश्री (तो) चिरायता मीठा हो जाता होगा ? क्या होगा ? मलूकचन्दभाई! ऐसे ऊपर लिखा जैन और अन्दर में भान का कुछ ठिकाना नहीं होता! जैन तो उसे कहते हैं कि ऐसा आत्मा माने, उसे जैन कहते हैं। यह तो वस्तु का स्वरूप है। जैन कोई वाड़ा है ?

यह समझे तो भाग्यशाली कहलाये। अकेले (जैन में) जन्मे उसमें क्या है ? व्यवहार से कहलाता है। सुनने का अच्छा मिले, इतनी अपेक्षा से कहलाता है। परन्तु यह समझे बिना...

आहाहा! मिथ्यात्व, यह नास्ति से बात ली। समझ में आया? **'णियमि जोइण' 'आत्मानं मन्यस्व नित्यं निरंजनं भावम्'** इसके सामने डाला अंजनरहित। निरंजन शब्द प्रयोग किया है न? मिथ्यात्व और रागादि अंजन से रहित निरंजन है। भ्रमणा और राग-द्वेषरहित तत्त्व है। उसे आत्मा कहते हैं। भ्रमणा और राग-द्वेष तो अचेतन पर्याय जड़ की पर्याय है, विकारी पर्याय है, वह कहीं आत्मा का स्वभाव नहीं है। **ऐसी आत्मा को तू भली-भाँति जान,...** आहाहा! हे आत्मा! ऐसे आत्मा को तू भलीभाँति जान। उसे भगवान ने आत्मा कहा है। इस प्रकार से तू जाने तो आत्मा जाना, माना कहलाये। आहाहा!

यहाँ तो जरा इज्जत जहाँ हो वहाँ कहे, हम सुखी हैं। पाँच-पचास लाख हो तो हमारे बादशाही है। ऐसा है, बादशाही है। मूढ़ वह भी कितना हो गया है पागल का कहीं प्रमाण होगा? जैसा पूरा-पूरा पर का जाननेवाला है, उसके बदले थोड़ी सी चीज़ में... यह मेरी। कितना पागल! ऐई! गजब बात, भाई! जीवराजजी! आहाहा! भगवान! यह तो तीन लोक के नाथ तेरे द्रव्यस्वभाव को बतलाते हैं। भाई! तू ऐसा है न! और ऐसे को तू दूसरे प्रकार से माने, वह कहीं आत्मा माना कहलाये, भाई? ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

ऐसी आत्मा को तू भली-भाँति जान, जो सब पदार्थों में उत्कृष्ट है। सबमें तेरा उत्कृष्टपना जगत में है। क्योंकि इन सब ज्ञेय को तू सबका जाननेवाला है। समझ में आया? **इन गुणों से मण्डित शुद्ध आत्मा ही उपादेय है,..** लो! ऐसे गुणों से सहित भगवान आत्मा, वही अन्तर उपादेय अर्थात् श्रद्धा में अंगीकार करनेयोग्य है। समझ में आया? ऐसा भगवान आत्मा कहा, वैसा ही आत्मा जीवों को श्रद्धा में आदर करनेयोग्य है। बाकी दूसरी कोई चीज़ आदर करनेयोग्य है नहीं। कहो, समझ में आया? **और सब तजनेयोग्य हैं।** ज्ञेयरूप से आदर करनेयोग्य नहीं, ज्ञेयरूप से जाननेयोग्य है। आदर करनेयोग्य नहीं कि यह हमारा... यह हमारा... यह हमारा, पुण्य-पाप हमारे, दया-दान हमारा, विकल्प हमारा... पैसा हमारा।

श्रोता : भगवान तो हमारे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान भी इस आत्मा के नहीं। भगवान भगवान के घर के—ज्ञेय के। इस आत्मा में-ज्ञान में ज्ञेयरूप से भगवान है। आहाहा! सर्वज्ञ परमात्मा कहते हैं, आत्मा के द्रव्य के ज्ञायक में हम भी तुझे ज्ञेयरूप से हैं। आहाहा! समझ में आया? लो, एक गाथा हुई। पचास मिनिट हुए। कहो, समझ में आया इसमें? यह कहाँ का कहाँ से निकल गया! कहाँ का कहाँ कहो। आहाहा!

रात्रि में कहा था कि आत्मा और पर को तो... २०० (गाथा प्रवचनसार) में कहा, बाद में याद आया। २०० गाथा में है न! शुरु करने के बाद याद आया। ज्ञायक और ज्ञेय के अतिरिक्त कुछ है नहीं। इस लाईन की खबर नहीं थी, हों! यह तो अभी निकली... यह तो यह निकला। आहाहा!

उसमें परमात्मा स्थित है पूरा। भाई! वह स्वयं ज्ञान और आनन्दरूप परिणमे और परिपूर्ण परिणत हुआ, परिणमे तो ही उसे जीवद्रव्य कहा जाता है, कहते हैं। समझ में आया? उस राग से परिणमित वह कहीं जीवद्रव्य का पूरा स्वरूप नहीं है। वह तो अपूर्ण है, वह कहीं जीव की पूर्णता की प्रतीति नहीं है उसमें। आहाहा! समझ में आया? **'एगम जाणई सव्वे जाणइ'** ऐसा आत्मा जाने, उसने पूरी दुनिया तीन काल, तीन लोक को जान लिया। छोटाभाई! आहाहा! लो! एक की बात की।

पुद्गल, धर्म, अधर्म की बात करते हैं—तीन द्रव्य की। यह आत्मद्रव्य की बात की। पुद्गल और धर्म, (अधर्म), काल की बाद में कहेंगे। समझ में आया? आकाश की बाद में कहेंगे।

पुग्गलु छव्विहु मुत्तु वढ इयर अमुत्तु वियाणि।
धम्माधम्म वि गयठियहँ कारणु पभणहिँ णाणि।।१९।।

गुरु शिष्य को कहते हैं कि **हे वत्स, तू पुद्गलद्रव्य छह प्रकार तथा मूर्तिक है,...** हे शिष्य! पुद्गल की छह प्रकार की जाति है, उसे पुद्गलरूप से जान। तेरे रूप से नहीं। ज्ञेय में ऐसे पुद्गल छह प्रकार के हैं, उन्हें ज्ञेय में पुद्गल मूर्तरूप से जान। समझ में आया? यह मूर्तिक है और **अन्य सब द्रव्य अमूर्त हैं,...** पुद्गल में, रजकण में प्रत्येक में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श है। इसके अतिरिक्त पाँच पदार्थ अमूर्त हैं। भगवान के ज्ञान में छह पदार्थ केवलज्ञान में ज्ञात हुए, उनमें एक पुद्गल ही वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शवाला है। इसके अतिरिक्त जीव, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल—ये पाँच अमूर्त हैं, यह मूर्त है। **ऐसा जान,...** ऐसा तू जान, तेरा जानने का स्वभाव है तो जान, ऐसा कहते हैं।

धर्म और अधर्म इन दोनों द्रव्यों को गति-स्थिति का सहायक कारण केवली श्रुतकेवली कहते हैं। कहो। धर्मास्ति, अधर्मास्ति दो अरूपी पदार्थ जगत में चौदह राजुलोक में है। वे गति-स्थिति में सहकारी कारण हैं। पाठ में सहकारी शब्द लेंगे। सहकारी कारण। जड़ (पुद्गल) और चैतन्य स्वयं स्वत:गति और स्थिरता स्वरूप परिणमते हों तब उन्हें धर्मास्ति गति में निमित्त

सहकारी है। साथ में, हों! आगे-पीछे नहीं। जीव और जड़ ऐसे गतिरूप गति में परिणमते हैं, उस काल में एक धर्मास्ति सहकारी निमित्त है। स्थितिरूप परिणमे, तब अधर्मास्ति सहकारी साथ में निमित्त है, आगे-पीछे नहीं। समझ में आया? ऐसा भगवान श्रुतकेवली कहते हैं। वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी सन्त ऐसा कहते हैं।

पुद्गल द्रव्य के छह भेद दूसरी जगह भी 'पुढवी जलं' इत्यादि गाथा से कहते हैं। उसका अर्थ यह है कि बादरबादर १, बादर २, बादरसूक्ष्म ३, सूक्ष्मबादर ४, सूक्ष्म ५, सूक्ष्मसूक्ष्म ६ – यह छह भेद पुद्गल के हैं। उनमें से पत्थर, काठ, तृण आदि पृथ्वी बादरबादर हैं,... यहाँ क्या कहते हैं? ये चीज़ें पुद्गलरूप से छह प्रकार है, उसके कारण से हुई हैं। तुझे तो तेरे ज्ञान में ज्ञेय है। समझ में आया? यह पत्थर, लकड़ी, तिनका, पृथ्वी, कहीं तूने नहीं बनाये। ऐसे इकट्ठे किये और... इन छह प्रकार के पुद्गलों का जो परिणमन उनका स्वभाव है, उस प्रकार से छह प्रकार से हुए हैं, वे तेरे ज्ञान में तो ज्ञेय हैं। समझे?

श्रोता : परन्तु तोड़े तो सही न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह लड्डू बना सके और लड्डू तोड़ सके, ऐसा तुझमें नहीं है। वह बना है और टूटता है, ऐसा उसका स्वभाव है, उसे जाननेवाला है। आहाहा! समझ में आया? पत्थर, लकड़ी, तिनका, पृथ्वी वे बादर-बादर हैं। वे बादर-बादर उनके परमाणु के परिणमन से पुद्गल मूर्तरूप से बादर-बादर परिणमे हैं। उन्हें कोई परिणमानेवाला दूसरा नहीं या तूने उन्हें परिणमाया नहीं। वे तुझसे परिणमित नहीं हुए हैं, वे उनसे परिणमित हुए हैं। उन्हें तू जाननेवाला है।

टुकड़े होकर नहीं जुड़ते,... वे टुकड़े से इकट्ठे नहीं होते, ऐसा उनका ज्ञेय का— बादरबादर पुद्गल का स्वभाव है। वह उसके कारण से है। टुकड़े हों और टुकड़े होकर इकट्ठे न हों, वह उनका स्वभाव है। टुकड़े होकर न... टुकड़ा होना, उनका स्वभाव है, इकट्ठा न होना उनका स्वभाव है। वह टुकड़े तू नहीं कर सकता और इकट्ठे तू कर (सकता नहीं)। इकट्ठे तो न हों परन्तु इकट्ठे टुकड़े तू कर सके, ऐसा तेरा स्वभाव नहीं है। लकड़ी का टुकड़ा तू कर सके, ऐसा तेरा स्वभाव नहीं है। तथा तुझसे टुकड़े हों, ऐसा उनका स्वभाव नहीं हैं।

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब बातें व्यवहार की। बादरबादर के टुकड़े हों, वह उसके परिणमन का उस बादरबादर का स्वभाव है। इकट्ठा न होना, वापस टुकड़ा होकर चिपक जाए

वापस वह ? ऐसा उसका स्वभाव है, ऐसा ज्ञान ज्ञेय को जाने। ज्ञान बादरबादर पुद्गल के ज्ञेय को जाने। उसे बनावे नहीं, इकट्ठा करे नहीं, तोड़े नहीं। आहाहा! समझ में आया ?

टुकड़े होकर नहीं जुड़ते,... दूसरा जोड़ नहीं सकता परन्तु उसका स्वभाव ही ऐसा है, यह कहते हैं। बड़े पत्थर के, लकड़ी के दो टुकड़े हो गये। समझ में आया ? फिर कहीं जुड़ते नहीं हैं। **जल, घी, तेल आदि बादर हैं, जो टूटकर मिल जाते हैं,...** ऐसे पानी अलग हो और मिल जाए। वह उसका बादर का ऐसा स्वभाव है। वह तुझे तो ज्ञेयरूप से जानने का स्वभाव है। मैंने पानी को ऐसा करके मिला दिया। मूढ़ है, कहते हैं। मैंने छाछ डालकर दूध को मिला दिया और दही किया। हराम है तूने किया हो तो। तत्प्रमाण होना, वह उसका-बादर का स्वभाव है। समझ में आया ? मिल जाए इकट्ठे होकर, पृथक् होकर मिल जाए, इकट्ठे होकर दही के... यह क्या कहलाता है ? समझ में आया ? .... पारा, पारा, पारा। यह उसका स्वभाव है। तेरे कारण से नहीं। ऐसे थाली में रखा और ऐसे पड़ा हो और फिर ऐसे-ऐसे करे, इसलिए इकट्ठा हुआ, इसलिए तूने ऐसा किया इसका कारण वहाँ इकट्ठा हुआ—ऐसा नहीं है। वह उसका स्वभाव, उस प्रकार से ही पृथक् होकर इकट्ठा होने का है। उसे बादर पुद्गल कहा जाता है। यह पुद्गल की जाति की पर्याय का ऐसा उसका स्वभाव है। वह तेरे लिये तो ज्ञेय है—जाननेयोग्य है। तू माने कि इसका ऐसा कर दूँ और ऐसा कर दूँ, यह हराम बात तीन काल में होवे तो।

यही कहते हैं, पुद्गल का ऐसा स्वभाव है, वह उसके कारण से होता है। वह तेरे लिये ज्ञेय है, उसके बदले मैं कर दूँ, (ऐसा माने) तो उसका स्वभाव ऐसा नहीं है। वह तो उसके कारण से ऐसा स्वभाव है। आहाहा! गजब बात, भाई! समझ में आया ? लो! यह दो कहे। यह जाननेयोग्य है, ऐसा कहा। यह ज्ञेय का स्वभाव है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

१६ श्री समयसार कलश टीका, कलश-२३५-२३६, प्रवचन - २३२
दिनांक - २७-११-१९६५

कलश टीका। यहाँ तक आया, देखो! यह आत्मा ज्ञानानन्द इसका शुद्धस्वरूप है, ऐसा भान होने पर इसके स्वरूप में परद्रव्य को ग्रहण करना या पर को छोड़ना इसके स्वरूप में नहीं है अथवा यह आत्मा अपना जो स्वभाव शुद्ध ज्ञानानन्द है, उसे कभी नहीं छोड़ता और रागादि को तथा शरीरादि को कभी ग्रहण नहीं करता, ऐसा उसका स्वभाव है। समझ में आया? यह चैतन्य का पुंज प्रभु वस्तु निर्मल पर्यायसहित, रागादि से पृथक् हुआ और अपने शुद्धस्वभाव से अपृथक् अभेद हुआ, वह आत्मा पर को ग्रहण नहीं करता, स्व को नहीं छोड़ता और अपने अतिरिक्त पर को छोड़ता भी नहीं। ग्रहण नहीं करता, इसलिए छोड़ता नहीं। समझ में आया?

कैसा है ज्ञान? अर्थात् आत्मा शुद्धपरिणमन हुआ, उसकी बात है, हों! अभी। **'पृथक् वस्तुतां विभ्रत' सकल परद्रव्य से भिन्न सत्तारूप है।** भगवान आत्मा ज्ञान—दर्शनस्वभाव से भरपूर पदार्थ, वह राग-द्वेष और पर से तो अत्यन्त भिन्न है। समझ में आया? कर्म और शरीर से भिन्न तथा पुण्य-पाप के राग से भी पृथक्, उसे आत्मा कहते हैं न! वह आत्मा अपनी शुद्धपरिणतिवाला भले हो, परन्तु वह तो अपन निर्मल परिणति की अवस्था है, परन्तु विकार और संयोगवाला वह आत्मा नहीं है, उसे आत्मा नहीं कहते। ऐसा आत्मा... आत्मा करे परन्तु कहते हैं, इसमें धर्म क्या आया? यह आत्मा वस्तु है, वह शरीर, वाणी, मन से पृथक् है—ऐसा अन्तर में भान होना और पुण्य-पाप के राग से रहित ऐसी स्थिरता होना, इसका नाम ही धर्म है, धर्म कोई दूसरी चीज़ नहीं है। समझ में आया?

कहते हैं, **'पृथक् वस्तुतां विभ्रत' सकल परद्रव्य से भिन्न...** भगवान आत्मा की सत्ता है। रजकण से लेकर राग के अंश से भी वह भगवान चैतन्य भिन्न है। ऐसा उसका द्रव्य-गुण और पर्याय का परिणमन (हो), उसे आत्मा कहने में आता है। समझ में आया? उसने आत्मा जाना, उसने सब जाना। ऐसा आत्मा जाना, उसने जगत के विकार आदि, शरीर आदि क्या है, वह भी जाना और जगत के दूसरे पदार्थ भिन्न हैं, उनका भी ज्ञान हो गया।

मेरे स्वरूप में यह है और परवस्तु उसमें नहीं—ऐसा भान होने पर पूरा परिपूर्ण प्रभु चैतन्य परमात्मा का स्वभाव, वही मैं हूँ—ऐसी निर्मल दशा की श्रद्धा-ज्ञान की परिणति द्वारा परिणमा, इसलिए पर से भिन्न और अपने से अभिन्न हो गया। यह इसका नाम आत्मकल्याण और मोक्षमार्ग कहा जाता है।

और कैसा है? 'अन्येभ्यः व्यतिरिक्तम्' कर्म के उदय से हैं जितने भाव, उनसे भिन्न है। लो! पहले परद्रव्य से भिन्न कहा, अब आत्मा-वस्तु में कर्म के संग से पुण्य और पाप, दया और दान के विकल्प-आस्रव उठे, उससे भी भिन्न है। स्वयं भी भिन्न है तो भास क्यों दिखाई नहीं देता? परन्तु माने पर में, ऐसा किस प्रकार दिखाई दे इसे? छोटाभाई! शरीर मैं, वाण मैं, इसमें कुछ होवे तो मुझे कुछ होता है। अब, ऐसी इसकी भ्रम की मान्यता (हो वहाँ) आत्मा उससे भिन्न कैसे इसे जँचे? तथा पुण्य और पाप के भाव होने पर उनमें आकुलता है, वह इसे भासित नहीं होती। वह दुःखरूप दशा है, शुभाशुभराग वह दुःखरूप (दशा है), आनन्दस्वरूप भगवान से विरुद्ध भाव है, ऐसा भासित न हो, तब तक आत्मा किस प्रकार भासित हो? समझ में आया? इसलिए यहाँ कहा, परद्रव्य से भिन्न, उसे परद्रव्यवाला मानना, उसको परद्रव्य से भिन्न जान किस प्रकार सकेगा? कर्म के उदय से भिन्न, उसे आकुलतावाला मानना, उसको आकुलतारहित आत्मा भासित कैसे होगा? बराबर है?

भिन्न सत्तारूप है। **सकल कर्म के उदय से हैं जितने भाव, उनसे भिन्न है।** देखो! दो बातें लीं। वस्तु भगवान आत्मा क्यों भासित नहीं होती? कि इसके अतिरिक्त कर्म, शरीर आदि जड़ पदार्थ, उसमें-उसमें कुछ ठीक न हो, वहाँ मुझे ठीक नहीं है; इसलिए इसका अर्थ कि इस शरीर को ही अपना मानता है। अब उसे जहाँ माने कि यह एक पूरा पदार्थ जड़ से भिन्न है, उसे कैसे भासे अन्दर? समझ में आया? परद्रव्य की सुविधा-असुविधा में अपना हीनपना-अधिकपना जहाँ कल्पित करे, उसे परद्रव्य से भिन्न माने किस प्रकार? नहीं समझ में आया? भीखाभाई! क्या कहा?

आत्मा के अतिरिक्त शरीर, कर्म, वाणी, यह पैसा, लक्ष्मी की अनुकूलता से मुझे ठीक और प्रतिकूलता से-इसकी प्रतिकूलता से मुझे ठीक नहीं। अब, ऐसा माननेवाले को उससे भिन्न भासे किस प्रकार? पर के कारण अनिष्टपना या इष्टपना जीव में है ही नहीं। कोई वस्तु इष्ट-अनिष्ट है नहीं। जगत की चीज़ है। शरीर, वाणी वह तो जाननेयोग्य है। उसमें यह होवे तो ठीक और ऐसा न होवे तो ठीक नहीं, ऐसा वस्तु में तो है नहीं। समझ में आया? फिर शरीर निरोग

होवे तो ठीक, इसका अर्थ क्या? मोहनभाई! क्या कहना इसका अर्थ? परन्तु सम्बन्ध क्या है कि निरोग होवे तो ठीक? वह तो जड़ है और सरोग होवे तो ठीक नहीं। वह तो जड़ है। जड़ में रोग की दशा (होवे) उसमें जीव को अठीक, ऐसा आया कहाँ से?

श्रोता : बेभान अवस्था....

पूज्य गुरुदेवश्री : भान नहीं होता। अब भान नहीं होता, तब आत्मा है—ऐसा भासित कहाँ से हो? जहाँ बेभान पड़ा है ऐसा... ऐसा... ऐसा... आहाहा! पूरा बड़ा पोटला शरीर, वाणी आदि संयोग किंचित् अनुकूलता वह ठीक और प्रतिकूल (अठीक), ऐसा जहाँ शोधने जाए, वहाँ उसका अर्थ ही पर में अपना अस्तित्व मानता है। भिन्न हूँ, वह तो उसे खबर नहीं। कहो, समझ में आया?

यहाँ **सकल कर्म के उदय से हैं जितने भाव, उनसे भिन्न है।** दूसरा बोल लिया न? फिर हुए अन्दर विकल्प शुभ और अशुभभाव। उन शुभ-अशुभभाव में शुभ, वह ठीक और अशुभ, वह ठीक नहीं—इसमें जो पड़ा हो, उसे आत्मा इनसे रहित कैसे भासित हो? समझ में आया? भगवान आत्मा तो कर्म के निमित्त के, संग के विकल्पों से भी भिन्न है। अब उस विकल्प में जहाँ अटका कि यह... यह... यह ठीक, यह ठीक नहीं और यह ठीक, यह ठीक नहीं और यह ठीक। विकल्प में अटका। उनसे तो भिन्न है। अब जहाँ अटका, उनसे भिन्न इसे कैसे भासित हो? समझ में आया? वह इसे करे तो हो, सुनने से नहीं। यह सुनने से नहीं और राग से भी नहीं और विकल्प से भी नहीं।

यह वहाँ (विकल्प में) घुसने से नहीं होता। वहाँ ज्ञान की पर्याय परिणमती है। कहो, समझ में आया इसमें? आहाहा! वह परलक्ष्यी ज्ञान, उसे भी जब तक अपना माने, तब तक पृथक् पड़ने का प्रयास नहीं करेगा। आहाहा! समझ में आया? यह तो फिर दो बोल में समाहित किया। और वापस तीसरा आया। समझ में आया इसमें?

इसके ज्ञान का अस्तित्व तो स्व को जानने की पर्यायरूप परिणमे, वह इसका अस्तित्व है। उसके बदले इसका अस्तित्व इस संयोग से या इस विकल्प से और या उसके परलक्ष्यी उघाड़ के भाव से कुछ मुझे आत्मा ज्ञात हुआ, ऐसा हुआ, यह बात ही मिथ्या है। आहाहा! समझ में आया? क्योंकि वह परलक्ष्यी ज्ञान का उघाड़, वह वास्तविक आत्मा की पर्याय ही नहीं है। आहाहा! समझ में आया? उसकी यदि यथार्थ (पर्याय) होवे तो फिर घटे कैसे? नाश कैसे हो? फिर निगोद में चला जाता है, इसका अर्थ क्या? छोटाभाई! आहा! उसका कण

अन्दर जगे, यह स्वरूप चिदानन्द प्रभु, उसकी अन्तर की दृष्टि, अन्तर का ज्ञान और उसकी स्वरूपाचरण की दशा (हो), वह आत्मा। वह आत्मा हुआ, वह आत्मा ऐसा का ऐसा रहनेवाला है। समझ में आया? यहाँ गिरने-पड़ने की बात नहीं है।

इसलिए कहते हैं कि कर्म के उदय से जितने भाव, करे भले स्वयं, परन्तु वे विकल्प हैं, वे मूल तत्त्व चैतन्य की गुण, द्रव्य, पर्याय है ही नहीं वे। समझ में आया? आहाहा! **और कैसा है? 'आत्मनियतं' अपने स्वरूप से अमिट (अटल) है।** देखो! कैसा है भगवान? अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र के पर्याय से प्रगट हुआ अमिट है—वह मिटे, ऐसा नहीं है। अन्य सब तो मिट जाए ऐसा है। समझ में आया इसमें? चैतन्य ज्ञायकस्वरूप हूँ, ऐसा जहाँ परलक्ष्य को छोड़कर स्वलक्ष्य से श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति हुए (तो) कहते हैं कि जैसे द्रव्य अमिट है, (वैसे) अब वह पर्याय अमिट हो गयी। वह पर्याय मिटती नहीं, मिटती नहीं। आहाहा! समझ में आया?

'आत्मनियतं' 'नियतं' कहा, देखा? **अपने स्वरूप से अमिट (अटल) है।** शरीर, कर्म, राग से भिन्न जो भगवान; ऐसा भिन्न जाना, तब पर्याय में परिणमन हुआ या नहीं? पर्याय में श्रद्धा, ज्ञान आदि परिणमे (कि) यह आत्मा, यह आत्मा। ऐसे शरीरादि हूँ, वाणी हूँ—ऐसा जो परिणमता वह मिथ्यात्वरूपी परिणमन था। यह आत्मा ज्ञायक चैतन्य ध्रुव है, ऐसी दृष्टि, ज्ञान होने पर उसका परिणमन दर्शन, ज्ञान, चारित्र का होना। द्रव्य और पर्याय अभेद हो गये, अमिट हैं, वह पर्याय अब मिटेगी नहीं। वह आत्मा होकर जागृत हुआ। आहाहा! समझ में आया?

कैसी है ज्ञान की महिमा? यह प्रगट हुआ। ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा तो द्रव्य-गुण से तो अभिन्न है परन्तु उसका भान पर से भिन्न जहाँ किया, **'मध्याद्यन्तविभागमुक्त-सहजस्फारप्रभासुरः' वर्तमान पहला, आगामी ऐसे विभाग से अर्थात् भेद से रहित...** शुद्ध ज्ञानघन चैतन्य प्रभु! वस्तु... वस्तु... वस्तु... महा। समझ में आया? जैसे वज्र को मिटाने से मिटता नहीं, तथापि वह अनित्य वस्तु है। यह भगवान आत्मा... कहते हैं कि शाश्वत् चैतन्य जहाँ अन्तर्दृष्टि में पर से पृथक् जाना, उसे आदि क्या? मध्य क्या? और अन्त क्या? जो है, वह है वह। समझ में आया? आहाहा!

चक्रवर्ती चक्र साधते हैं न? पश्चात् वहाँ पर्वत पर लिखते हैं। कौन सा पर्वत? हैं? वह पर्वत है वेचाक के उस ओर? छह खण्ड साधते हैं। नाम लिखते हैं। इतने चक्रवर्ती हो गये तो

नाम लिखने की जगह रही नहीं। वज्र के मणिरत्न से लिखे हुए, हों! मणिरत्न की एक हजार देव सेवा करते हैं। एक मणिरत्न एक हो, उसकी हजार देव सेवा करे। वह चक्रवर्ती जब छह खण्ड साधकर जो सोलह हजार देव और ऐसा लिखे। मैं इसका पुत्र और मैंने छह खण्ड साधे हैं। मैं चक्रवर्ती महाराजा। मैंने मेरी भुजा से छह खण्ड में रहे हुए, देव, देवियाँ, मनुष्य सबको साधा है। यह सब मेरे सेवक हैं, मैं उनका स्वामी हूँ। यह जहाँ बाद के चक्रवर्ती हों, वे पहले को मिटाते हैं। कहाँ इतने कहाँ लिखे जाएँ.... ? ....आहाहा! यह मिटता नहीं, ऐसी चीज़ है। समझ में आया? अपना ज्ञानानन्दस्वरूप वज्रमय चैतन्य प्रभु की अन्तर में राग और विकल्प से भिन्न, अपने स्वभाव से अभिन्न का भान हुआ, कहते हैं कि आदि-मध्य-अन्त में जो है, वह है वह तो। समझ में आया?

(भेद से) **रहित स्वभावरूप अनन्त ज्ञानशक्ति से साक्षात् प्रकाशमान है।** यहाँ अन्तिम बात फिर की न? केवलज्ञान आदि **स्वभावरूप... 'स्फारप्रभा'** प्रगट हो गयी है प्रभा जिसकी, शक्ति जिसकी। केवलज्ञानमय ज्योति प्रगट हो गयी है। असंख्य प्रदेश में अनन्त सूर्य उग गये। अनन्त ज्ञानशक्ति अनन्त। परन्तु वह वस्तु अनन्त महापदार्थ जिसके पदार्थ की (महिमा) वाणी से पूरी न पड़े, विकल्प से पूरा न पड़े, ऐसी वह जाति है। उसकी महिमा अन्तर्मुख में आने पर कहते हैं कि वह क्रम-क्रम से जहाँ केवल (ज्ञान) प्राप्त हुआ (तो) सर्व से रहित हो गया। समाप्त! अनन्त ज्ञानशक्ति **'स्फार'** है न? **'स्फारप्रभा'**। **'स्फारप्रभा'** का क्या किया है? **'स्फार'** का अर्थ अनन्त? **'स्फार'** अर्थात् अनन्त, ऐसा। बेहद स्वभाव ऐसा केवलज्ञान आदि पर्याय प्रगट हुई।

'भासुरः' साक्षात् प्रकाशमान है। और कैसा है? 'शुद्धज्ञानघनः' चेतना का समूह है। वह चेतना का समूह भगवान पर्याय से परिणमकर अकेला चेतना... चेतना... चेतना... चेतना का समूह। राग का सम्बन्ध विकार और फिकार कुछ रहा नहीं। ऐसे भान से वह परमात्मा प्रगट हुआ, वह ऐसा का ऐसा अनन्त काल रहेगा। उसे फिर से वापस गिरना नहीं है। यहाँ भिखारी कल्पित किया और रंक कल्पित किया, रंक। एक जरा सी बीड़ी ठीक से पीने में आवे, वहाँ कौन जाने अन्दर क्या हो जाता होगा? महिलाओं को एक कण्डे का पिण्ड ठीक से मिला हो और एक भैंस निकली हो और एक क्या कहलाता है? टोकरा भराये ऐसा, पूरा टोकरा भराये ऐसा पोहटा (मिले तो) ओहोहो! (हो जाता है)। क्या है परन्तु यह सब? और पकाना-बकाना ठीक हुआ और यह कपड़े-बपड़े और लड़के को ऐसे मलमल के ऐसे और ऐसे। परन्तु क्या है? यह सब वेश जड़ के। उनकी महिमा और इस चैतन्य प्रभु की महिमा नहीं।

उसने अब अन्दर से वीतरागपने का वेश धारण किया। मोक्ष भी, पर्याय भी वेश है। हों! पर्याय है न? आहाहा! भगवान ज्ञानरूपी द्रव्य-गुण, उसका परिणमन देकर ज्ञान का वेश सादि-अनन्त भासुरमान प्रगट हुआ। ऐसे आत्मा को आत्मारूप से कहने में आवे और उसे केवलज्ञानरूप से प्रकाशवान हुआ आत्मा पूर्णता को प्राप्त हुआ। कहो, समझ में आया?

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्
तथात्तमादेयमशेषतस्तत्।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः
पूर्णस्य संधारणमात्मनीह।।४४-२३६।।

४४, बहुत संक्षिप्त श्लोक में संक्षिप्त सार, बहुत संक्षिप्त है न। यह है भी संक्षिप्त, बहुत थोड़ा; थोड़ा अर्थात् थोड़े काल में प्राप्त हो ऐसा, ऐसा। समझ में आया? थोड़े अक्षर में समझ में आये ऐसा, थोड़े भाव से समझ में आये ऐसा बड़ा।

'यत् आत्मनः इह आत्मनि सन्धारणम्' जो अपने जीव का... ज्ञानानन्द भगवान! समझ में आया? **अपने स्वरूप में 'सन्धारणम्' स्थिर होना है...** देखो! अनादि से जो विकल्प और दया, दान, पुण्य-पाप की अस्थिरता में, राग में स्थिर था, उसे भगवान ज्ञानानन्दस्वरूप चिदानन्द ज्योति में स्थिर किया। उस आत्मा ने आत्मा का **'सन्धारणम्'** किया। **'सन्धारणम्'** क्या आता है बाहर में? **'सन्धारणम्'** लोक में प्रयुक्त होता है न प्रश्न ऐसा? समझ में आया? स्थिर होना। **'सन्धारणम्'** ... या पूरा शब्द है? **सम् 'सन्धारणम्'** सम्यक् प्रकार से, ऐसा। सम्यक् प्रकार से। क्या कहा?

भगवान आत्मा... यह अन्तिम श्लोक है न? इसलिए इसका रूप प्रगटरूप से पूर्ण, उसकी विशेष व्याख्या की है। शक्तिरूप तो वस्तु पूर्ण ही है परन्तु उसका अन्तर पर से पृथक् होकर भान हुआ, भान अर्थात् वह स्वयं अपने को **'सन्धारणम्'** स्वयं अपने आप ऐसे बराबर स्थिररूप से धार रखा। समझ में आया? **अपने जीव का अपने स्वरूप में स्थिर होना है...'तत्' एतावन्मात्र...** बस! कहते हैं, वह सब **'उन्मोच्यम् उन्मुक्तम्' जितना हेयरूप से छोड़ना था सो छूटा।** है? भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दघन के स्वभाव में स्थिर होने से स्वयं अपने स्वरूप में—स्वरूप में, स्वभाव में, ध्रुवता में स्थिर होने से कहते हैं कि जो कुछ छोड़नेयोग्य था, वह छूट गया। रागादि, विकल्प आदि छोड़नेयोग्य वस्तु छूट गयी। समझ में आया?

'उन्मोच्यम् उन्मुक्तम्' ऐसा। **'उन्मोच्यम् उन्मुक्तम्'** अर्थात् छूटनेयोग्य छूट गया, ऐसा कहते हैं। दो शब्द हैं न? छूटनेयोग्य छूट गया, रहनेयोग्य रह गया। समझ में आया इसमें? भगवान ज्ञानमूर्ति प्रभु! उसका अन्तर में एकाकार होने से आत्मा ने आत्मा को **'सन्धारणम्'** अन्दर में स्थिर किया। स्वरूप में, स्वरूप में स्थिर किया। यह चारित्र की व्याख्या सहित की सब व्याख्या है न यहाँ? बड़ी बातें। इस जगत की मिठास में कहीं पड़ा अब, उसे सूझ, सूझ नहीं पड़ती अन्दर। है, इतना का इतना अनादि का ऐसा का ऐसा है। सातवें नरक में गया या निगोद में रहा, वह ऐसा भगवान परिपूर्ण अनन्त गुण की खान, खान, वह खजाना ऐसा का ऐसा है। उस अन्तर्मुख की दृष्टि और ज्ञान में स्वयं अपने को स्थिर किया, स्वयं अपने को धारण किया, स्वयं अपने में स्थिर हुआ, बस! हो गया, कहते हैं। यह छूटनेयोग्य छूट गया।

'उन्मोच्यम्' अर्थात् जो छूटनेयोग्य था रागादि, विकल्पादि **'उन्मुक्तम्'** छूट गया। **'अशेषतः' कुछ छोड़ने के लिये बाकी नहीं रहा।** समझ में आया? अपने शुद्धस्वरूप में स्थिर होने से स्वयं अपने में स्वयं ठहरने से, छूटनेयोग्य विकल्प छूट गये, अल्पज्ञपना छूट गया। अब, अशेष कुछ भी छोड़ने को बाकी रहा नहीं। आहाहा! समझ में आया?

'तथा तत् आदेयम् अशेषतः आत्तम्' लो! **'तथा तत् आदेयम् अशेषतः आत्तम्'** समझ में आया? आत्म। क्या कहा? देखो! दोनों आमने-सामने कहे। वस्तु भगवान पूर्णानन्द का प्रभु, उसके अन्तर में दृष्टि ज्ञान करके स्थिर हुआ, कहते हैं कि स्वयं अपने में स्थिर हुआ, स्वयं अपने में स्थिर हुआ। जो कुछ छूटने का था, वह छूट गया और जो रहने का था, वह रह गया। **जो कुछ ग्रहण करने के लिये था, सो समस्त ग्रहण किया।** क्या? अपना पवित्र शुद्धस्वरूप जो ज्ञान और दृष्टि में ग्रहण किया; पूर्ण ग्रहण किया, वह ग्रहण किया। ग्रहण करनेयोग्य, वह ग्रहण किया और छोड़नेयोग्य, वह छूट गया। समझ में आया? भारी संक्षिप्त बातें।

यह परवस्तु छोड़ना और ग्रहण करना कब होगा आत्मा में? उसकी तो यहाँ बात ही नहीं है। समझ में आया? अन्दर में विकल्प आदि और अल्पज्ञता जो थी, (वह छूट गयी)। पूर्ण प्रभु का अन्तर आश्रय करके दृष्टि, ज्ञान और स्थिरता हुई, इसलिए आत्मा आत्मा में रहा। छूटने का जो छूट गया, ग्रहण करने का वह पूरा ग्रहण हो गया। पूर्ण भगवान आत्मा था, वह दृष्टि-ज्ञान में स्थिरता में ग्रहण योग्य वह ग्रहण हो गया। समझ में आया? बहुत संक्षिप्त भाषा और भाव की बड़ी महिमा।

उसी प्रकार... उसी प्रकार से अर्थात्? जो छूटने का था, वह छूटा ऐसा **जो कुछ ग्रहण**

करने के लिये था सो समस्त ग्रहण किया। अब, कुछ ग्रहण करने का बाकी रहा नहीं और छोड़ने का कुछ बाकी रहा नहीं। यह आत्मा का अनुभव स्थिर होने पर अब कहते हैं कि जो कुछ आया, वह आया और गया, वह गया, समाप्त। समझ में आया इसमें? जहाँ परमात्मा की भेंट हुई, एक समय का भगवान पूर्णानन्द प्रभु, उसकी दृष्टि, ज्ञान और स्थिरता में भेंट हुई, वह हुई सो हुई कहते हैं। ग्रहण करने का था वह पूरा ग्रहण हो गया और छोड़ने का था, वह सब छूट गया। अब ग्रहण-त्याग कुछ रहा नहीं। समझ में आया? आहाहा! बाहर की बात नहीं, हों! मात्र विकल्प आदि, अल्पज्ञपना आदि छूट गया और पूर्णानन्द का जो नाथ है, वह ग्रहण योग्य पूर्ण ग्रहण हो गया, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। बाहर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। बाहर का ग्रहण-त्याग स्वरूप में है ही नहीं। उपादान, त्याग-उपादानशून्यत्वशक्ति। समझ में आया? **समस्त ग्रहण किया।**

भावार्थ इस प्रकार है कि शुद्ध स्वरूप का अनुभव सर्व कार्यसिद्धि। देखो! देखो! देखो! यहाँ आया वापस। क्या कहा? इस **शुद्ध स्वरूप का अनुभव सर्व कार्यसिद्धि।** बराबर रचा है न! चिदानन्द भगवान पूर्णानन्द का प्रभु वह जहाँ अनुभव में—अन्तर में अनुभव में आया, (वहाँ) सर्व कार्य सिद्धि (हो गयी)। समझ में आया? वह कृतकृत्य हो गया, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। भीखाभाई! यह देखो! ... डालकर वापस यहाँ डाला। देखो! यह वस्तु ही है, हों! ऐसा ही कहा है यहाँ। कहने का यही आशय है यहाँ। ऐसा परमानन्द का नाथ अनन्त गुण चैतन्यरत्नाकर एक-एक गुण की अनन्त सामर्थ्य शक्तिवाला पूरा तत्त्व, जहाँ ऐसा सम्यग्दर्शन के अनुभव में बैठा, बैठा कि यह आत्मा निर्विकल्प आनन्द प्रभु है। ऐसा शुद्धस्वरूप का अनुभव हुआ। पूरा। सर्व कार्यसिद्धि (हो गयी)। यह सर्व कार्यसिद्धि मुक्त हो गया, मुक्त—ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

पूर्ण है, वह तो मुक्त है पर्याय में, यह तो यह जहाँ शुद्धस्वरूप का अनुभव (हुआ)। विकल्प आदि का ज्ञान रह गया, ज्ञान का ग्रहण हो गया और विकल्प आदि के त्याग का त्याग ज्ञान में रह गया। समझ में आया इसमें? आहाहा! **शुद्ध स्वरूप का अनुभव सर्व कार्यसिद्धि।** भगवान आत्मा परमानन्द का नाथ शुद्धस्वरूप, उसे अनुसरण कर अन्तर में अनुभव दशा हुई (तो) सर्व कार्य सिद्धि (हुई)। समझ में आया? अब कार्य कुछ करने का बाकी नहीं रहा, ऐसा कहते हैं। भगवान मिलने के बाद क्या काम बाकी होगा उसे?

श्रोता : बहुत अधिक काम करने होते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब सिद्ध हो गये। आत्मा के करने के, बाहर के कहाँ करने के धूल के (करने के) थे। व्यर्थ का मूढ़ होकर मानता है। यह किया और यह किया और यह किया। अब हम वृद्ध हो गये। बहुत काम किये। बापू! किसके धूल के किये? मूढ़ता के किये। वे मूढ़ता के किये, सब कार्य बाकी रह गये। यहाँ तो यह भान के काम किये (तो) सब कार्य सिद्ध हो गये। समझ में आया? जड़ को कौन करता था? यह किये और यह किये और मोटर में गये और अमुक में गये और धूल में गये और कहीं गया नहीं। तीन काल में कहीं, अपने पर्याय को छोड़कर कहीं गया नहीं। मूढ़ता में था। उसमें सब काम, कुछ किये नहीं इसने। करने के थे, वे किये नहीं और नहीं करने के माने और मूढ़ता की है, ऐसा यह कहते हैं। यह जो करने का था किया, हो गया, जाओ!

भगवान सच्चिदानन्द प्रभु का अनुभव। वस्तु का, गुण का, गुण का, वस्तु का, वस्तु महान प्रभु का अनुभव (हुआ, वहाँ) हो गया। सब छूट गया, छूटने का छूटा और ग्रहण करने का ग्रहण हो गया, यह सर्व कार्यसिद्धि इसमें हुई। समझ में आया? यह करने का यह है। क्या होगा यह सब? तुम तो वहाँ बहुत काम करते हो। संस्थाएँ निभाना चाहिए, ऐसा कहते हैं। देखो! कलकत्ता में भी करते थे, यहाँ करते और वापस पोरबन्दर में। तीन जगह करते हैं, लो!

.... वापस वहाँ ऐसा कहते हैं, देखो! वापस कर्म भी उस प्रकार का वहाँ हो और खिर जाए। कर्म भी वहाँ खिर जाए। ऐसे रोग हो, ऐसे रोग की दवा करे तो असाता भी खिरी। उसके कारण असाता खिरती होगी? भारी गप्प लगायी है न! असातावेदनीय का उदय हो और यदि रोग में दवा-बवा लावे... क्या टुकड़े हो गये हैं कर्ज के? कर्ज दे दिया गया। वह माँगता था पाँच हजार, ले जा। वैसे ही आयुष्य के परमाणु की स्थिति पूरी हो गयी, उसका नाम टूटा कहलाता है, बाकी आगे-पीछे हो—(ऐसा है नहीं)। आहाहा! परन्तु भारी। अभी औषध से देह की अवस्था पलटानी है और देह की अवस्था पलटने से असातावेदनीय के रजकण खिरा डालने हैं। ऐसा मिथ्यात्वरूप से, विभावरूप से परिणमन का कार्य उसका था, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। कैसे होगा? देवशीभाई! तुम तो बहुत कमरे बनाकर तोड़ते हो और फोड़ते हो और बहुत करते हो या नहीं? ऐसा करते होंगे या नहीं? यहाँ एक ओर बड़ा ऊँचा किया है। लम्बा होवे तो और वापस टूटा। कहा, कुछ हुआ और वापस। हमारे तो जंगल जाना होता है न वहाँ, इसलिए प्रतिदिन दिखता है। यह तो उसके काल में टूटने का ही था, हों! उसमें किसी ने तोड़ा-फोड़ा नहीं। उसके परमाणु का काल कार्य का ऐसा ही ऊँचा होने का था और गिरने के काल में उसी प्रकार की वही दशा होनी थी। कोई देवजीभाई के कारण से हो, मगनभाई के

कारण से हो, हराम बात पर में होवे तो, कहते हैं। देवजीभाई!

यहाँ तो इतना कहा, देखो! क्या कहा? **'संहृत'** की व्याख्या क्या की? **'संहृतसर्वशक्तेः' विभावरूप परिणमे थे...** वह स्वयं स्वभावरूप अनन्त शक्तिरूप परिणम गया। **अनन्त गुण जिसके, ऐसा है।** अनन्त-अनन्त गुण का विपरीत परिणमन उसमें जितना, कितना ही था, सब गुण का तो कहाँ है? समझ में आया? आत्मद्रव्य में अनन्त गुण है, उन अनन्त गुणों के कितने ही (गुण का) विकाररूप परिणमन था। पर के अभिमान के कार्य का भाव, विभावरूप भाव। विकल्प पुण्य-पाप के भावरूप परिणमन जो था, वह विभावरूप परिणमन था, वह गया। वह स्वभावरूप हो गया। विभावरूप गया और पर्याय में स्वभावरूप हो गया। समझ में आया? भारी बातें यह।

'सर्वशक्तेः' अनन्त गुण जिसके,... अर्थात् क्या कहा? जितने गुण हैं, वे सब स्वभावरूप परिणम गये, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। भाई! विभावरूप तो अमुक परिणमे थे। समझ में आया? भगवान अनन्त गुण सम्पन्न प्रभु, उसमें विकाररूप तो अमुक गुण ही थे, कहीं सब गुण विकाररूप नहीं थे। परन्तु जो विकाररूप अभिमान में अज्ञानरूप से, राग-द्वेषरूप से विभाव, विकार था, वह भगवान आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु हूँ, ऐसी दृष्टि और अनुभव करने से जितने गुण हैं, उतने सब स्वभावरूप परिणम गये। समझ में आया?

तब सम्यग्दर्शन को ऐसा कहा न? 'सर्वगुणांश वह समकित' उसमें हेतु है न? द्रव्य है या नहीं वस्तु? द्रव्य है या नहीं वस्तु? तो द्रव्य है, उसका परिणमन होने से; द्रव्य है, उसके अनन्त गुण जो हैं, उनके सम्यक्रूप से परिणमन होने पर अनन्त गुणों का परिणमन सम्यक् हो गया है। समझ में आया? पूरी चीज़ है या नहीं? उसमें संख्या से अनन्त गुण पड़े हैं। ऐसे द्रव्य की प्रतीति और अनुभव होने पर अनन्त गुण का पिण्ड स्वयं जो है, वे सब गुण सम्यक्रूप से, शुद्धरूप से परिणमे। समझ में आया? आहाहा! ऐसा जो द्रव्य का, वस्तु का अनन्त-गुणस्वरूप था प्रभु आत्मा का, (उसका) अन्तर अनुभव होने पर, अन्तर के ज्ञान और आनन्द में उसकी दृष्टि में स्थिर होने पर अनन्त गुण, कितने ही विभावरूप थे, भले समुच्चय बात ली है, परन्तु वे वहीं के वहीं उसी जगह अनन्त गुण स्वभावरूप परिणम गये। समझ में आया?

और कैसा है? 'पूर्णस्य' जैसा था वैसा प्रगट हुआ। ऐसा कहते हैं। पूर्ण अर्थात् था न पूर्ण? पूर्ण था, वैसा दशा में पूर्ण हुआ, वह अन्दर पूर्ण हो गया। आहाहा! क्या कहते हैं? इसमें कहीं अता-पता सूझता नहीं। लोगों को भगवान आत्मा का अभ्यास ही घट गया है। जो

हिन्दुस्तान की मूल विद्या है। आर्य विद्या—अध्यात्म विद्या। जो अध्यात्म विद्या मूल विद्या, मूल शिक्षा। भगवान आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, अनन्त-अनन्त गुणराशि एक आत्मा, वह स्वयं भूला और विकारी कार्य में परिणमित हुआ था, बस! इतनी दशा थी, दूसरा कुछ नहीं था। उस स्वभाव के अन्तर स्वरूप की भेंट होने पर विभाव परिणमन था, वह स्वभावरूप हो गया। अर्थात् परिणमन में स्वभाव आ गया। समझ में आया?

अनन्त गुण जिसके, ऐसा है। 'पूर्णस्य' जैसा था वैसा प्रगट हुआ। जैसी वस्तु थी, भगवान वस्तु द्रव्य, द्रव्य तत्त्व अनन्त गुण रत्नाकर, वह अनन्त गुण रत्नाकर, आत्मा अनन्त गुण रत्नाकर जैसा था, वैसा पर्याय में अनन्त गुणरूप पूर्ण परिणम गया। कहो, समझ में आया? आहाहा! इस सम्यग्दर्शन में वह पूर्ण, उस जाति की पर्याय पूरी, पूरी हुई। भले पर्याय हीन है परन्तु अनन्त गुण का परिणमन पूरा हुआ है, इस प्रकार से तो पूर्ण ही है। पर्याय अधूरी (है), पूरी होकर रहेगी। समझ में आया? **जैसा था वैसा प्रगट हुआ।** वह विकल्परूप नहीं था, पुण्य-पाप के विभावरूप नहीं था। अकेला स्वभाव का पिण्ड था। ऐसा भगवान आत्मा का अनुभव करने से, उसके सन्मुख देखकर स्थिर होने से जैसा स्वभाव है, वैसी पर्याय में पूर्णता हो जाए, इसका नाम धर्म और इसका नाम मोक्ष का मार्ग और इसका नाम मोक्ष। लो! समझ में आया?

अनुभव रत्न चिन्तामणि, अनुभव है रसकूप,
अनुभव मारग मोक्ष का, अनुभव मोक्षस्वरूप॥

समझ में आया? आहाहा! ४४ श्लोक हुए। सब छोटे-छोटे हैं, हों! यह सब बहुत छोटे। पश्चात् स्याद्वाद (अधिकार के) बड़े आयेंगे। यह थोड़ा, थोड़ा है या नहीं?

व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं ज्ञानमवस्थितम्।
कथमाहारकं तत्स्याद्येन देहोऽस्य शंक्यते।।४५-२३७।।

अन्तिम गाथाएँ हैं न यह? ४०६ का गया। विभाव हो तथापि ग्रहण नहीं कर सकता। उसमें इसमें था, नीचे आ गया। समझ में आया?

श्लोकार्थः-'एवं' इस प्रकार (पूर्वोक्त रीति से) 'ज्ञानं परद्रव्यात् व्यतिरिक्तं अवस्थितं' भगवान आत्मा ज्ञानानन्दमूर्ति, वह **ज्ञान परद्रव्य से पृथक् अवस्थित (निश्चल रहा हुआ) है;...** भिन्न पड़ा हुआ ज्ञान पुण्य-पाप के विकल्प के विभाव से, शरीर से, कर्म से भिन्न पड़ा हुआ ज्ञान अकेला ज्ञान स्वयं परद्रव्य से भिन्न सिद्ध हुआ। ज्ञान, ज्ञान में स्थित हुआ। समझ में आया? ज्ञान अर्थात् आत्मा, हों! वहाँ ज्ञान अर्थात् आत्मा।

'ज्ञानं परद्रव्यात् व्यतिरिक्तं अवस्थितं' ज्ञान अर्थात् भगवान आत्मा। राग, शरीर, कर्म आदि से भिन्न करके— भेदज्ञान करके, पर से भेदज्ञान करके भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु वह पुण्य-पाप के विकल्प, शरीर, कर्म, अस्ति से भिन्न हूँ। ऐसा अन्दर में स्वरूप में पर से भिन्न करके ज्ञान, ज्ञान में अवस्थितपने को प्राप्त हुआ, इसका नाम आत्मा और इसका नाम धर्म और मोक्ष कहा जाता है। आहाहा! भारी व्याख्या, भाई! समझ में आया? **पूर्वोक्त रीति से...** ऐसा कहा है न? ऐसा। **'एवं'** लगा है न? उसके साथ लगाया। **'एवं' 'परद्रव्यादेवं'** ऐसा है न? बीच में, दूसरे शब्द में।

इस प्रकार से भगवान आत्मा **'परद्रव्यात् व्यतिरिक्तं अवस्थितं'** वस्तु, वस्तु भगवान शाश्वत् अनन्त चैतन्य ज्योति ऐसा आत्मा शरीर, वाणी, मन से भिन्न पड़कर, जो उसमें नहीं था, उसमें से निकलकर तथा पुण्य-पाप के भाव भी विकारी हैं, उनसे पृथक् पड़कर स्वयं वस्तु, वस्तु में स्थिर हुआ, उसे आत्मा की मुक्ति और आत्मा का धर्म कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया?

(-निश्चल रहा हुआ) है;... 'तत्' वह (ज्ञान)... 'आहारकं' आहारक (अर्थात् कर्म-नोकर्मरूप आहार करनेवाला)... 'कथं स्यात्' ओहो! क्या कहते हैं? भगवान! तू चैतन्यमूर्ति प्रभु! निराहारी, रागरहित चीज़ है। ऐसी चीज़ को आहार करना या न करना, यह वस्तु में है कहाँ? आहार तो जड़ है, मिट्टी धूल है। ऐई! डॉक्टर! क्या होगा यह? मौसम्बी और आहार और दाल-भात तथा सब्जी, रोटी और रोटी... कहते हैं कि वह तो मिट्टी, जड़ धूल है। भगवान आत्मा को आहार कैसा? आहाहा! गजब बात, भाई! तब कहे, आहार करता है न यह? आहार कौन करता है? वह तो जड़ की अवस्था है। अज्ञानी को विकल्प होने पर ऐसा मानता है कि मैं आहार करता हूँ। आहार तो रजकणों की, मिट्टी की दशा है। मिट्टी के ग्रास, धूल के ग्रास, दाल, भात, रोटी, सब्जी, मौसम्बी पानी, लड्डू दाल, वह मिट्टी है और उसका परिणमना पुद्गल है। पूरण और गलन ऐसी दशा उसके स्वभाव से होती है। मूढ़ वहाँ विकल्प करके ऐसा मानता है कि मैं आहार करता हूँ। आहार तो मिट्टी, जड़ है और भगवान आत्मा तो अरूपी है। वह अरूपी, रूपी को खाता होगा? घुस गया है अन्दर में? क्या है? जैचन्दभाई! आहाहा!

श्रोता : लड्डू खाये...

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु कौन खाये? लड्डू अर्थात् क्या? और आत्मा अर्थात् क्या?

इसका कभी विचार किया है ? आत्मा अर्थात् क्या और लड्डू अर्थात् क्या ? भगवान आत्मा अरूपी ज्ञानघन, जिसमें रंग, गन्ध, रस, स्पर्श का अभाव है। जिसमें राग और विकल्प विकारी पर्याय का अभाव। सिद्ध को नहीं, यों ही अज्ञानी को भी आहार नहीं। परन्तु यहाँ तो कहना है कि ज्ञानस्वरूप का भान होने पर उसे आहार का विकल्प भी उसके नहीं, ऐसा कहना है। आहाहा!

श्रोता : परन्तु आहार तो खाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : खाता है। होली करता है, खाता क्या है ?

श्रोता : स्पष्टीकरण तो करना चाहिए न।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न यह ? उस समय मूढ़ होकर मैं एक अरूपी आनन्दकन्द ज्ञानानन्द हूँ, उसे भूलकर जड़ की क्रिया होती है, उसे मैं करता हूँ, ऐसा मूढ़ मानता है।

श्रोता : आपके सब तर्क बराबर हैं परन्तु कल खाना या नहीं खाना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन खाये और कौन न खाये ? आहाहा! समझ में आया ? यह तो, बापू! दूसरा प्रकार है।

चैतन्य भगवान आत्मा रंग, गन्ध, रस, स्पर्शरहित चीज़ है। आत्मा में रंग, गन्ध, रस, स्पर्श है नहीं। वह तो अरूपी, परन्तु वस्तु है या नहीं ? अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड आत्मा है। उस आत्मा को आहार कैसा ? ऐसा यहाँ सिद्ध करते हैं। आहार तो क्या, परन्तु आहार का विकल्प भी उसे नहीं है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। समझ में आया ? आहाहा! शुद्ध को और यह विकल्प कैसा ? और आहार कैसा ? इस अज्ञानी ने अनादि से चैतन्य की जाति आनन्दकन्द ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसे यह आहार की क्रिया मुझसे होती है और मैं करता हूँ, वह मूढ़ भ्रम में, मिथ्याभ्रम में मान बैठा है। आहाहा!

श्रोता : आनन्द आता होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या धूल में आनन्द आता होगा वहाँ ? भैंस के घी में आता होगा आनन्द ? भाई! कोई कहता था, बात करता था, हों! कोई कहता था। गाँव में सेठिया व्यक्ति। भैंस आवे और बढ़िया कुड़िया जैसा घी आवे। उसे छोड़कर यहाँ नहीं आते, ऐसा कहता था। अब और यहाँ पड़े हैं। कोई कहता था, हों! चाहे जैसे। कोई कहता हो, वह हमने सुना। हम कहाँ देखने गये हैं तुम्हारे घर में ? घी तो होता है। यों भी पोरबन्दर का घी बहुत महिमावाला

है। धूल में घी तो मिट्टी, यह मिट्टी है, मिट्टी-धूल और वह घी यहाँ मुँह में डालो, यह तुरन्त ही उसकी लार होती है। लार होने के बाद पेट में नीचे उतरती है। नहीं तो देखना किसी दिन मुख में देखना होवे तो। समझ में आया? यह मावा का जामुन होता है, परन्तु वह यहाँ पड़े तब कहीं पूरा गिरेगा? थूक छुए, लार हो, श्वान की जूठन, हों! ऐसे मुँह में देखे तो खबर पड़े कि यह क्या उतारता हूँ नीचे? परन्तु मूढ़ को भ्रमणा का प्रेम है न! यह ऐसी कोमल चीज़ मैं खाता हूँ, ऐसा मानता है। अन्दर उतरे, तब तो श्वान की जूठन है। समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! तू तो चैतन्य है न! तुझे आहार के रजकणों की क्रिया, वह तुझे कहा से आयी? यह तो ठीक, परन्तु आहार का विकल्प भी तेरे अन्दर कहाँ है? अनाहारक आनन्दकन्द में वह कहाँ से आया? कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? **'आहारकं' कर्म-नोकर्म...** देखा न! आठ कर्म का और नौ कर्म का, इन दोनों का कहते हैं, हों! देखो! भगवान आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप का जहाँ राग से, पर से भिन्न का भान भगवान आत्मा है, ऐसा भान (हुआ, वहाँ) अब कर्म का ग्रहण करना, ऐसा विकल्प भी कहाँ और कर्म ग्रहण करे, ऐसा स्वभाव भी कहाँ रहा? और आहार ग्रहण करने का विकल्प नहीं तो आहार का ग्रहण करना तो उसके स्वरूप में है ही नहीं। आहाहा!

अरे! धर्मात्मा को तो चैतन्य के आनन्द के अनुभव का आहार होता है, ऐसा कहते हैं। उसे फिर यह आहार की खुराक (कैसी)? वह खाता नहीं, वह देखता है कि यह खाता है। आहाहा! अमृतभोजी! वह पर को जानता है, वह स्वयं खाता नहीं। इस अज्ञानी को भ्रमणा छुड़ाने के लिये बात की है न! (अज्ञानी) आहार की क्रिया मैं करता हूँ, ऐसा मानता है। बापू! तू तो अरूपी है न भाई! अखण्डानन्द प्रभु, उसे अज्ञानरूप से राग हो, परन्तु वस्तु में आहार खाना और छोड़ना, यह वस्तु में कहाँ है? वह तो जड़ की क्रिया है। ऐसा जिसे अन्तर में भान होता है, उसे आहार का विकल्प होने पर भी वह अनाहारी है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह इसका नाम आत्मा की दृष्टि, ज्ञान और शान्ति कही जाती है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

१७

श्री समयसार, श्लोक -१, प्रवचन - २
दिनांक - २९-०७-१९६६

इष्टदेव को नमस्कार करते हैं। इसमें आया कि **'नमः समयसाराय भावाय चित्स्वभावाय'** समयसार अर्थात् आत्मा वस्तु, वह द्रव्यकर्म, अर्थात् कर्म के रजकण; भावकर्म अर्थात् विकारी भाव—परिणाम और नोकर्म—शरीर, वाणी इत्यादि। जो स्वरूप में नहीं है। ऐसे परमात्मा हुए, उन्हें इष्टदेवरूप से मांगलिक में नमस्कार करते हैं और ऐसा ही स्वरूप अभी इस आत्मा का भी है। समझ में आया? द्रव्यकर्म जड़, भावकर्म, नोकर्मरहित और **'भावाय'** शुद्ध सत्तास्वरूप आत्मा है। शुद्ध सत्तास्वरूप आत्मा, परमात्मा का आत्मा भी शुद्ध सत्तास्वरूप है। यह आत्मा भी शुद्ध सत्तास्वरूप है। **'चित्स्वभावाय'** उसका स्वभाव सर्वस्व सर्वज्ञ परमेश्वर का सर्वस्व ज्ञान—दर्शन स्वभाव है। इस आत्मा का भी सर्वस्व जानन-देखन स्वभाव त्रिकाल है।

'स्वानुभूत्या चकासते' यह आत्मा अपनी अन्तर की अनुभव क्रिया से ही प्रसिद्ध और प्रगट हुए हैं। परमात्मा जो हुए, वे आत्मा भाव-उसका स्वभावभाव, उसकी एकाग्रता द्वारा **'स्वानुभूत्या'** अन्तर में आत्मा का अनुभव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र (प्रगट हुए), उसमें ज्ञान प्रधान से यहाँ बात है। **'स्वानुभूत्या'** ज्ञान की अनुभूति से अन्तर की एकाग्रता द्वारा वह प्रगट हो सकता है। इस प्रकार अनन्त परमात्मा प्रगट हुए हैं। और यह आत्मा भी **'स्वानुभूत्या'** — अन्तर के ज्ञान, श्रद्धा, स्थिरता की क्रिया द्वारा ही आत्मा प्रसिद्ध-प्रगट होता है। समझ में आया? यह क्रिया कही। **'स्वानुभूत्या'** पर्याय कही। पर्याय, पर्याय तत्त्व नव तत्त्व में तो आना चाहिए न? जीव स्वयं **'भावाय'** ज्ञान दर्शन स्वभाव वह तो द्रव्य में गया, वह तो द्रव्य में समावेश हुआ। **'स्वानुभूत्या चकासते'** यह पर्याय आयी। यह वीतरागी निर्दोष ज्ञान की क्रिया, उसे यहाँ संवर -निर्जरा शुद्धता की पर्याय द्वारा आत्मा प्रगट होता है। उस शुद्धता को संवर और निर्जरा कहते हैं। समझ में आया? यहाँ तो जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष—चार में समाहित कर देते हैं।

कितने ही ऐसा कहते हैं कि जानते ज्ञान को उत्पन्न होता ज्ञान कैसे जानता है? आत्मा का ज्ञान सर्वज्ञ का, जैसे सर्वज्ञपर्याय उत्पन्न हुई अथवा **'स्वानुभूत्या'** अन्तर की क्रिया आत्मा के ज्ञान और दर्शन द्वारा उत्पन्न होती है, वह उत्पन्न हुआ उत्पन्न को कैसे जाने? समझ में आया?

कहा कि ज्ञानस्वरूप भगवान अपने में एकाग्र होता है, वह उत्पन्न होता हुआ अपने को जाने, ऐसा ही उसका स्वभाव है। यह तो कहा, देखो न! **इस विशेषण से, आत्मा को तथा ज्ञान को सर्वथा परोक्ष ही माननेवाले जैमिनीय-भट्ट-प्रभाकर के भेदवाले मीमांसकों के मत का खण्डन हो गया; तथा ज्ञान अन्य ज्ञान से जाना जा सकता है, स्वयं अपने को नहीं जानता-ऐसा माननेवाले नैयायिकों का भी प्रतिषेध हो गया।** प्रवचनसार में आगे भी आता है।

श्रोता : यह तो नैयायिक की बात है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : नैयायिक की कहाँ? कोई भी माने। यह तो बात की है। प्रवचनसार में आगे आ गया है। मनुष्य कहीं कन्धे, सिर पर चढ़े? यहाँ कन्धे, कन्धे कहलाता है न? क्या कहलाता है वह? है न वह? इसी प्रकार ज्ञान उत्पन्न होता हुआ ज्ञान को जाने? प्रवचनसार में आया है। कहते हैं, हाँ; उत्पन्न होता हुआ जाने। समय-समय में नया उत्पन्न हो और वह उत्पन्न होते ही उसे ही जानता हुआ उत्पन्न होता है। समझ में आया? किसमें है यह? श्लोक में है?

श्रोता : पण्डित हेमराजजी का है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, परन्तु है न अन्दर? पाठ में भी है न? उत्पन्न हुआ वह स्वयं से होता है न? हेमराजजी ने तो स्पष्टीकरण किया। समझ में आया? स्वयं अपने से उत्पन्न होता है, ऐसा है। परन्तु उत्पन्न होते हुए जानता हुआ उत्पन्न होता है। यह विशेष है। उसकी दशा ज्ञान ज्ञान को उत्पन्न करे और वह ज्ञान उसे न जाने, ऐसा नहीं है। समझ में आया? ज्ञान की पर्याय में भी प्रमेयत्वगुण व्याप्त है। प्रमेयत्वगुण जो है, वह द्रव्य में, गुण में, और पर्याय तीनों में व्याप्त है, अतः ज्ञान की पर्याय उत्पन्न हुई, उसमें प्रमेयत्वगुण व्याप्त है। वह पर्याय जाने और प्रमेय हो, ऐसा उस पर्याय का धर्म है।

श्रोता : डबल जाने इतनी है?

पूज्य गुरुदेवश्री : इतनी। है न अन्दर? इस ओर है, इस ओर के भाग में। समझ में आया? भाई! इसकी—चैतन्य की लीला... लोगों ने ईश्वर की लीला (कल्पित कर ली है), वह नहीं। यह तो चैतन्य भगवान अपनी लीला करता है। ऐसे समय-समय में अपने में ज्ञान की एकाग्रता से ज्ञान उत्पन्न होता है, तब (कोई) कहे कि यह उत्पन्न हुआ, उसे नहीं जानता, दूसरा उसे जानता है और दूसरा उत्पन्न होते को तीसरा जानता है। यह कुछ मेल रहा नहीं। ऐसा नहीं होता।

भगवान आत्मा द्रव्यस्वभाव शक्तिवान, शक्तिस्वभाव, गुणवान-गुणस्वरूप, उसकी जो पर्याय अन्तर में प्रगट हुई, उस-उस पर्याय को ज्ञान जानता हुआ (उत्पन्न होता है)। दूसरे गुणों की पर्याय भले हो, वह अपने को नहीं जानती। समझ में आया? परन्तु अपना अस्तित्व उस समय ज्ञान में ज्ञात होता है। दूसरे गुण की पर्याय का अस्तित्व ज्ञान में ज्ञात होता है और ज्ञान का अस्तित्व ज्ञान में ज्ञात होता है। उत्पन्न होता हुआ अस्तित्व ज्ञान, ज्ञान को जानता है, प्रमाण करता है और प्रमेय होता है। आहाहा! समझ में आया? है कहीं, दृष्टान्त दिया है। वह यहाँ स्पष्टीकरण किया है। कहो, समझ में आया इसमें? भगवान आत्मा...! देखो! ऐसा आत्मा है, उसे ऐसे श्रद्धा में (आना चाहिए)।

श्रोता : 'ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन' पहला अधिकार।

पूज्य गुरुदेवश्री : ३६ गाथा, ऐसा न। **कोई पर्याय स्वयं अपने में से उत्पन्न नहीं हो सकती...** यह। 'यहाँ पर कोई प्रश्न करे कि आत्मा अपने को जानता है, यह बात असम्भव है। जैसे कि नट कला में अत्यन्त चतुर, नट आप अपने कन्धे पर नहीं चल सकता।' आहाहा!

श्रोता : चाहे जैसा सीखा हो, तो भी स्वयं अपने कन्धे पर नहीं चल सकता।

पूज्य गुरुदेवश्री : हो सकता है? लेटकर जाए और नाच सके, ऐसा एक तर्क किया। नहीं, यह यहाँ लागू नहीं पड़ता। यहाँ तो ज्ञान, ज्ञान में स्वयं अपने को प्रगट करता हुआ (जान रहा है)। वस्तु ऐसी है। ज्ञान, ज्ञान में प्रमाण गुण स्वयं है—प्रमाण होना और ज्ञानगुण में वापस प्रमेय गुण है न? प्रत्येक गुण में वह व्याप्त है। इसलिए ज्ञान स्वयं प्रगट होता हुआ अपने को जानता हुआ प्रगट होता है। नहीं था और हुआ तो भी होते समय जानता हुआ प्रगट होता है। भाई! ऐसा स्वभाव है। समझ में आया? अलौकिक वस्तु ही ऐसी है। वह स्वयं चैतन्य अपनी पर्याय प्रगट करे और उसे न जाने तो उसमें प्रमेयत्व कहाँ आया? प्रमेयत्व विभुरूप से सर्व गुण में व्याप्त है। विभु नाम का एक गुण है न? भाई! सर्व गुण में व्याप्त है। सैंतालीस शक्ति में सब वर्णन आ गया है। ऐसा व्याप्त है। अतः ज्ञान, दर्शन, आनन्द, स्वानुभूति... भगवान आत्मा इष्ट है दृष्टि में; परमात्मा इष्ट है पररूप से इस आत्मा को। व्यवहाररूप से वर्णन किया है। ऐसे सर्वज्ञ परमेश्वर, उनकी जो क्रिया, सर्वज्ञ होने की स्वानुभूत्या की क्रिया, वह क्रिया उत्पन्न होने तक उत्पन्न होती को जानते हुए उत्पन्न होती है। ज्ञान में ऐसी ताकत है। समझ में आया? वह पहले समय में प्रमाण प्रमेय न करे तो वह प्रमाण दूसरे समय में करे, इसका अर्थ क्या?

श्रोता : दूसरे समय में तो दूसरी दशा हो गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो दूसरी दशा हो गयी। यह तो वस्तु का स्वरूप ऐसा है। समझ में आया?

श्रोता : दूसरा जाने, उसे खबर न पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे खबर न पड़े तो अन्धा ज्ञान है? यही कहते हैं। समझ में आया?

ज्ञान अन्य ज्ञान से जाना जा सकता है, स्वयं अपने को नहीं जानता।—झूठी बात है। भाई! ज्ञान का स्वभाव... यहाँ तो स्वानुभूत्या के समय की बात की है, हों! पूर्ण समय की तो बाद में कहेंगे। भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप अनन्त गुण का धाम है। उन अनन्त गुणों में एक विभु नाम का गुण है और उसमें एक प्रमेयत्व नाम का गुण है। ऐसे व्यापक सब गुण में है। इसलिए जब भगवान आत्मा अपनी अन्तर की अनुभूति की क्रिया—श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति प्रगट करे, उस समय उस ज्ञान को ज्ञान जाने और उन श्रद्धा आदि गुणों को भी वह ज्ञान जाने। उत्पन्न हुए को वह जानता हुआ ज्ञान उत्पन्न हो, ऐसा उसका स्वभाव है। समझ में आया? सूक्ष्म बात है, बापू! यह तो चैतन्य बादशाह की बात है, भाई! वह स्वयं ही ऐसा है, अभी। समझ में आया? लो, यहाँ तक आया था।

केवलज्ञान को सिद्ध करते हैं। आत्मा में सर्वज्ञस्वभाव है, वह त्रिकाल है। वह सर्वज्ञस्वभाव सब तीन काल-तीन लोक के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को जानने की ताकत रखता है। परन्तु स्वानुभूत्या से अन्तर की क्रिया द्वारा जब केवलज्ञान प्रगट हुआ, साधक स्वभाव द्वारा साध्य द्रव्य को लक्ष्य में लेने से उसकी जो सिद्धदशा प्रगट हुई, वह कैसी है? मोक्षतत्त्व डाला। आत्मा, आत्मा का स्वभाव अर्थात् भाव—स्वभाव, संवर, निर्जरा और मोक्ष अस्तिरूप से चार तत्त्व को सिद्ध किया। आचार्य की शैली कोई अलौकिक है। यह तो आचार्य, मुनि सन्त हैं। महा अन्तर के चारित्र से रमणता करते, आनन्द में रमते मुनि हैं। वे रमते-रमते यह विकल्प आया है और यह शास्त्र रच गये हैं। बापू! यह कहीं कोई कल्पना की बात है कि ऐसा होगा और वैसा होगा, ऐसा नहीं है। ऐसा है।

श्रोता : भगवान की महिमा के लिये बताया है?

पूज्य गुरुदेवश्री : महिमा (नहीं), वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। समझ में आया? आहाहा! आता है न? बाद के कलश में, नहीं? समयसार में बाद के कलशों में (आता है), अद्भुताद्भुतम्। आत्मा अद्भुत है, एक जगह ऐसा कहा (कहा) और (कहा) अद्भुता अद्भुतम्। बाद के कलश, समयसार के बाद के कलश में आता है। वस्तु ही माहात्म्यवाली

ऐसी चीज़ है। अद्भुताद्भुतम्, आता है न बाद में? देखो! मिथ्यादृष्टि को तो पहले तो लगे कि ऐसा यह सम्भव होगा? ऐसा होगा। ऐसा लिखा है न अन्दर? कलश २७३, उसमें अद्भुतं और २७४ में अद्भुता अद्भुतम्। २७३-२७४ (कलश)।

कषायकलिरेकतः स्खलति शान्तिरस्त्येकतो
भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः।
जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः
स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुताद्भुतः।।२७४।।

यह वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। परमेश्वर ही ऐसा है—स्वयं ही ऐसा है। समझ में आया? दूसरे को तो ऐसा लगे कि ऐसा होगा? देखो! इसमें है न? (कलश २७३, भावार्थ) **अज्ञानियों के ज्ञान में आश्चर्य उत्पन्न करता है कि यह तो असम्भव सी बात है! यद्यपि ज्ञानियों को वस्तुस्वभाव में आश्चर्य नहीं होता, फिर भी उन्हें कभी नहीं हुआ ऐसा अभूतपूर्व-अद्भुत परमानन्द होता है,...** लो, २७३ का अर्थ किया। अर्थ करनेवाले ने बहुत सरस अर्थ किया है। समझ में आया?

अब क्या सिद्ध करते हैं? एक श्लोक में तो बहुत सिद्ध किया। वस्तु, वस्तु का स्वभाव, उसकी धार्मिक क्रिया और उसके फलरूप सर्वज्ञपद। समझ में आया? **'सर्वभावान्तरच्छिदे'** (कलश टीका में) इसके दो अर्थ किये हैं। यहाँ अपने सर्वज्ञ का एक ही अर्थ है। स्वयं अपने से **'सर्वभावान्तरच्छिदे'** सर्वभाव अन्तर। अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्य जो सर्वभाव हैं, **अपने से अन्य सर्व जीवाजीव,...** अनन्त जीवों को और अनन्त अजीव। **चराचर पदार्थों...** कोई गतिमान और स्थिर हो, उन सब पदार्थों को **सर्व क्षेत्र-काल सम्बन्धी,...** भगवान आत्मा **'सर्वभावान्तरच्छिदे'** अपना आत्मा तो जानने की बात की। परन्तु इसके अतिरिक्त दूसरे अन्य अनन्त आत्मायें और अनन्त परमाणु—चराचर, यह बात की। पहले तो गति, स्थिर और गति ऐसा लिया। कितने ही गतिवान हैं और कितने ही स्थिर हैं, एक, जीव-अजीव दो, ऐसे को **सर्व क्षेत्र-काल सम्बन्धी,...** ऐसे पदार्थ को सर्व क्षेत्र और सर्व काल सम्बन्ध। सर्व विशेषणों सहित, सर्व गुणोंसहित। ऐसी सब शक्तियाँ जितनी अनन्तानन्त एक-एक में है, उन सहित। एक ही समय में। विशेषण में गुण और पर्याय दोनों अन्दर आ गये। एक ही समय में... भाई! ज्ञान किसे कहते हैं? आहाहा! एक समय में ज्ञान अक्रम से न पहुँचे तो दिव्यज्ञान किसे कहना?

पहुँचता ही है न! वस्तु का स्वभाव है, भाई! यह वस्तुस्थिति है। यह भगवान आत्मा अपना इष्टस्वरूप परमानन्द। प्रवचनसार शास्त्र में इतना लिया है। इष्ट आत्मा अनन्त गुण का धनी। अनिष्ट कौन? कि विकारभाव। बस। प्रवचनसार के पहले अधिकार में इष्ट प्रभु आत्मा। अनन्त गुण का पिण्ड। अनिष्ट विकार। इष्ट प्रभु की अन्दर एकाकार स्तुति अथवा क्रिया करते हुए अनिष्टपना टल जाए। एक का इष्टपना प्रगट हो जाए। उस प्रगट हुए इष्टदेव को यहाँ मांगलिक किया है। समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं **सर्व विशेषणों के साथ, एक ही समय में जाननेवाला है।** भगवान **'सर्वभावान्तरच्छिदे'** यह आत्मा, इसके अतिरिक्त के सर्व भावान्तर। अन्तर अर्थात् अन्य। इसके अतिरिक्त अन्य सब। उनके द्रव्य, क्षेत्र, उसका काल-समय और उसके भाव और तीन काल। सबको एक ही समय में जाननेवाला है। भाई! ज्ञान का स्वरूप एक समय में न जाने तो वह ज्ञान पूरा किसका? और जिसका स्वभाव है, उसे जानने में दो समय चाहिए ही नहीं। और दो समय नहीं चाहिए और एक में पूरा न जाने तो उसे स्वभाव ही नहीं कहा जाता। वस्तु ऐसी है। ऐसी है। भगवान! वह तो सब जाने। एक समय में वह क्या न जाने? चार बोल हैं न? द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव, चार हैं। प्रवचनसार में चार बोल हैं न! समझ में आया? सर्व को, सर्वदा, सर्व से, पूर्ण सब एक समय में भगवान जानते हैं।

श्रोता : कितना ही जाने और कितना ही न जाने तो अनेकान्त...

पूज्य गुरुदेवश्री : जानते हैं और बिल्कुल न जानना उसमें होता ही नहीं, यह अजानपना होता ही नहीं, तो इसका नाम अनेकान्त है। पूर्ण को जाने और अजानपना बिल्कुल नहीं। ...देखो न! आगे १५ गाथा में शब्द नहीं लिया? ...शास्त्र कुछ नहीं जानता। भगवान कुछ जाने बिना नहीं रहता। दोनों बातें गुलांट खाकर कही है। समझ में आया? वे शास्त्र... वह तो जड़। अरर! ... शास्त्र बिल्कुल नहीं जानते, ऐसा कहा है।

श्रोता : पुद्गल क्या जाने?

पूज्य गुरुदेवश्री : पुद्गल की पर्याय क्या जाने? यह तो शास्त्र पुद्गल की पर्याय है। वीतराग की वाणी पुद्गल की पर्याय है। वह किंचित् नहीं जानती। किंचित् नहीं जाने, इसका अर्थ कि उसमें बिल्कुल अजानपने का स्वभाव जड़ में है। जबकि भगवान में बिल्कुल जानने का स्वभाव पूरा है। उसमें कुछ कम नहीं है और इसमें (जड़ में) जरा भी कुछ जानना है, ऐसा भाव नहीं है। समझ में आया? अरे! ऐसा आत्मा है, उसे अभी श्रद्धा में तो ले। श्रद्धा करे तो बाद

में अनुभव हो सके। श्रद्धा का फल फिर अनुभव है और अनुभव का फल फिर स्थिरता करके केवलज्ञान है। समझ में आया? यह वस्तु ऐसी है, भाई!

कहते हैं, **एक ही समय में जाननेवाला है। इस विशेषण से,...** देखो! सर्व क्षेत्र, काल। सर्व क्षेत्र अर्थात् यह सब। अनन्त क्षेत्र। इसका एक तर्क। अनन्त को अनन्त जाने, इसलिए अनन्त को... ऐसा करके और कहीं तर्क किया है।

श्रोता : अनन्त को जाना तो फिर अन्त आ गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहीं अन्त आया नहीं। किसका अन्त आवे?

श्रोता : यह तो श्रुतज्ञानी, इसलिए अनन्त है, भगवान के लिये तो सान्त है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इस हाथ की मुट्ठी में एक प्याज आया। प्याज को क्या कहते हैं? प्याज। अब इसमें कितने जीव हैं। अनन्तानन्त। अनन्तानन्त जीव सिद्ध से अनन्तानन्त। ऐसे क्षेत्र से ऐसे आ गये परन्तु संख्या कहाँ है? समझ में आया? अनन्तानन्त जीव। और एक-एक जीव में आकाश के प्रदेश (की अपेक्षा) अनन्तानन्त गुण। ऐसे इतने क्षेत्र में आये और ज्ञान में नहीं आये? ज्ञान में भी आ गये हैं कि यह इतने हैं। यहाँ ज्ञान में आते हैं। समझ में आया या नहीं? यह आलू लो, प्याज लो, लहसुन लो। एक कली इतनी लो तो ऐसे क्षेत्र में ऐसे आ जाए। परन्तु वह तो क्षेत्र में आया, किन्तु उसका भाव? अनन्त जीव और अनन्त जीव के एक-एक के अनन्त-अनन्त गुण हैं। ऐसे क्षेत्र में ख्याल आ गया और इसमें इतना है परन्तु ज्ञान ख्याल में ले लेता है। इसमें प्रमेयपना है और इसमें प्रमाणपना और प्रमेयपना दोनों हैं। आत्मा प्रमाण और प्रमेय दोनों है। इसके अतिरिक्त दूसरे द्रव्यों में अकेला प्रमेयपना है, प्रमाण नहीं अचेतन को। समझ में आया? और वह प्रमेय, प्रमेयरूप से न ज्ञात हो तो वह प्रमेय नहीं और प्रमाण, प्रमाणरूप से ज्ञान न जाने तो वह प्रमाण नहीं। आहाहा! भाई! यह तो वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। भगवान एक समय में तीन काल की विशेष दशासहित, सामान्य और विशेष, जिस समय में जहाँ जिस प्रकार से निमित्त और अवस्था—नैमित्तिक की जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिस योग से होनेवाली है, वह भगवान के ज्ञान में एक समय में पहले से आ गयी है। पहले से आ गयी है।

श्रोता : पहले से अर्थात् पहले नहीं थी?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं थी। केवलज्ञान पहले नहीं था। केवलज्ञान पहले नहीं था। केवलज्ञान के पहले समय में सब आ गया। पूरा चोसला। तीन काल, तीन लोक की व्यवस्थित

अवस्था द्रव्य-गुण-पर्याय और ज्ञान में एक समय की पर्याय में पहले समय में ही आ गया। फिर दूसरे समय में तो गुलांट खाये। परिणमन उसका स्वभाव है। पश्चात् तो वहाँ पर्याय जो वर्तमान थी, वह भूत होती जाती है और भविष्य की भी ऐसी होती जाती है। इतना यहाँ परिणमन स्वयं के कारण से होता है। इतनी बात है। वस्तु तो पूरी चोसला ऐसे आ गया। भाई! ऐसा ही मोक्षतत्त्व है। सिद्ध तत्त्व ऐसा है। वह मोक्षतत्त्व ऐसा सात तत्त्व के श्रद्धान में मोक्षतत्त्व ऐसा है।

सात तत्त्व की श्रद्धा आती है न? तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं। उसमें मोक्षतत्त्व ऐसा है। ऐसे-ऐसे मोक्षतत्त्व के अनन्त तत्त्व को गर्भ में रखनेवाला आत्मतत्त्व है। अनन्तानन्त मोक्षपर्याय को रखनेवाला। भूतकाल की पर्याय तो बहुत थोड़ी है। केवलज्ञान की पर्याय तो इससे अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्तगुनी। वह तो अन्त आया, उसका तो अन्त आनेवाला नहीं है। इतनी अधिक अनन्तगुनी पर्याय जिसके ध्रुवपने में, ऐसा इष्ट प्रभु आत्मा है। समझ में आया? सज़्यग्दृष्टि को आत्मा इष्ट है, व्यवहार से सर्वज्ञ परमेश्वर इष्ट हैं। कहो, समझ में आया?

कहते हैं **एक ही समय में जाननेवाला है। इस विशेषण से, सर्वज्ञ का अभाव माननेवाले मीमांसक आदि का...** मीमांसक आदि की तो बात की है।

श्रोता : जैन में भी मीमांसक...?

पूज्य गुरुदेवश्री : जैन में भी जितने सर्वज्ञ को न माने, उसका निराकरण किया है।

श्रोता : निराकरण किया अर्थात् क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : निराकरण अर्थात् खण्डन हुआ कि सर्वज्ञ है, ऐसा तू समझता... सर्वज्ञ की एक समय की पर्याय। भाई! अनन्त काल में होगी, और अन्त नहीं, वह द्रव्य की पर्याय। अन्त कब? किसी परमाणु या जीव की पर्याय का अन्त कब? ऐसा का ऐसा है। उसने सब ज्ञान एक समय में जान लिया है। जाना इसलिए वहाँ अन्त हो गया है, (ऐसा नहीं है)।

श्रोता : तो परिणमनरहित हो जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : तो पर्याय ऐसी की ऐसी है... है... है। द्रव्य जैसे है... है... द्रव्यरहित पर्याय होगी? और पर्याय न हो और फिर द्रव्य रहे? ऐसे द्रव्य है... है... है... और पर्याय है... है... है... ऐसा है कि उसमें फिर नहीं कब हो? जो है, उसमें नहीं हो, ऐसा ज्ञान केवलज्ञान एक समय में आ गया है। आहाहा! ऐसी सब सूक्ष्म बात है, बापू! ऐसा आत्मा स्वीकार करना, वह तो निर्विकल्प प्रतीति से स्वीकार होती है। उसे शंका नहीं रहती, सन्देह नहीं रहता और निःशंक

आत्मा ज्ञायकस्वभाव एक समय में जगत के तल की थाह ले, ऐसा यह आत्मा है। समझ में आया?

नहीं कहते थे? हम जब लड़कों के साथ पहले उस कुएँ में खेलते थे न? ऐसे गिरे। ऐसे गड्ढे में गिरे। सीधा पानी। वे लड़के बेचारे खड़े हों, तब इसकी चतुराई बताना होवे न तो नीचे से वह रेत ले आवे। रेत समझे न? कुएँ के नीचे। कुएँ को क्या कहते हैं? कुआँ। उसमें पानी होता है और फिर उसमें ऐसे गिरे तो गहरा नहीं जाया जाता। इसलिए ऐसे... उसे खड़ा कोशिया हमारे यहाँ कहते थे। लड़कों को कहते। उस समय की बात है। सज़्बल जैसे पड़े न? खोदने की सज़्बल होती है न? ऐसे गिरे। अन्दर जाकर नीचे से रेत ले आवे। ऐसे की नीचे कुआँ का तल ले आया। लड़कों को खबर होगी या नहीं? धीरुभाई!

यह तो पुराने हैं या नहीं? ये कहाँ नये हैं? यह तो बालपन की बात है। यह तो इन लोगों को खबर नहीं होती। वहाँ पालेज में कहाँ ऐसा कुआँ था और कौन गिरे वहाँ? वहाँ साठ-साठ हाथ का गहरा कुआँ। बहुत गहरा कुआँ। साठ-साठ हाथ का। हमारी दुकान के साथ था। यह वहाँ नीचे कौन गिरे? यह तो पहले की बात है।

इसी प्रकार यह तलरहित ज्ञान की पर्याय तीन काल, तीन लोक के तल की भाँति रेत लेकर कहे कि मैं नीचे पहुँच गया हूँ, वैसे भगवान का ज्ञान सबके तल में पहुँच गया है। समझ में आया? आहाहा! अरे! ऐसी इसकी एक समय की दशा। ऐसी अनन्त दशा का धारक एक गुण, ऐसे अनन्त गुण का धारक भगवान आत्मा, उसकी प्रतीति हो और परमेश्वर न हो, ऐसा नहीं होता। समझ में आया? परन्तु यह बात इसे भरोसे में अन्तर निर्विकल्प में आना चाहिए। समझ में आया?

भगवान अमृतचन्द्राचार्य ने इस श्लोक में तो गजब बात रखी है! गुप्त कोई बात निकल गयी। नमः समयसारायः, ऐसे मैं तो यहाँ अन्दर लेता हूँ, हों! भगवान को नमस्कार करते हैं। मेरा आत्मा ऐसा, उसे मैं नमन करता हूँ। राग और विकार में मेरा आदर नहीं है। है। है, भाव है द्रव्य, स्वभाव है ज्ञानदर्शन। अनुभूति क्रिया से मेरा सर्वज्ञपना मुझे प्रगट हुआ। समझ में आया?

जीव, उसका भाव-स्वभाव। स्वभावभाव... ऐसा लिया है न अपने? पहली गाथा का आता है न? **'वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवम'** **'धुवम'** का अर्थ ऐसा आता है। **'धुवम'** अर्थात् **'स्वभावभावभूततया'** संस्कृत में ऐसा है न? संस्कृत में है। स्व-भावभूत स्वभावभावरूप, स्वभावभावरूप। पर्याय को स्वभावभावरूप ली है। पण्डितजी! सिद्ध की पर्याय को। **'वंदित्तु**

सव्वसिद्धे ध्रुवम' ध्रुव अर्थात् कि वह पर्याय **'स्वभावभावभूततया'**—स्वभावभावरूप है। पर्याय हों! गुण तो त्रिकाल है। जैसा स्वभावभाव है, वैसी पर्याय (हो गयी)। अमृतचन्द्राचार्य ने टीका की है। पहली गाथा में आयेगा। उनकी टीकाएँ तो हद... ! इस भरतक्षेत्र में ऐसी टीका कहीं नहीं है। यह टीका... आहाहा! केवलज्ञानी का हृदय प्रवाहित किया है।

पर्याय ध्रुव ? ध्रुव पर्याय अर्थात् क्या ? सिद्ध की पर्याय ध्रुव अर्थात् क्या ? गुण ध्रुव होता है। सुन तो सही, भाई! ध्रुवस्वरूप जो स्वभावभूत है न ? ध्रुव, उसमें से प्रगट हुई पर्याय को हम स्वभावभूत, स्वभावभावरूप कहते हैं, स्वभावभावरूप कहते हैं। वह स्वभावभावरूप ही पर्याय केवलज्ञान की स्वभावभावरूप है। समझ में आया ? ऐसी अनन्त पर्याय स्वभावभावभूत है। स्वभावभावरूप है, स्वभावभावरूप है। **'स्वभावभावभूततया'**—स्वभावभावरूप है। अपने पहले साधारण अर्थ किया। स्वभाव से उत्पन्न होती है, ऐसा किया था... स्वभाव से उत्पन्न होती है, ऐसा अर्थ इसमें किया था, भाई! फिर मैंने पाठ के साथ... स्वभावभावभूतक्रिया शब्द है। देखो! अपने किया है। स्वभाव से उत्पन्न हुई है, ऐसा किया है, ध्रुव का अर्थ किया है। परन्तु ऐसा नहीं है। स्वभावभावभूततया—स्वभावभावरूप है। ओहोहो! क्या गुण, या द्रव्य ? (-पर्याय)।

श्रोता : पहला ही शब्द है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहला शब्द है। संस्कृत का पहला है—स्वभावभावभूत। समझ में आया ?

कहते हैं, इस आत्मा को जहाँ केवलज्ञानादि अनन्त पर्याय प्रगट हो गयी, वह स्वभावभावरूप है। स्वभावभावरूप हुई। जो उसका स्वभाव था, वैसी ही पर्याय—स्वभावभावरूप है। भले इसका काल एक समय है, उसका त्रिकाल है, परन्तु वह हो गयी तो स्वभावभावरूप। आहाहा! समझ में आया ? ऐसी स्वभावभावरूप पर्याय का क्या माप ? एक समय में सबका तल ले लिया। तीन काल, तीन लोक, अलोक। जैसे यहाँ काल का अन्त नहीं, वैसे क्षेत्र का अन्त नहीं। वैसे एक-एक द्रव्य के अनन्तानन्त गुण का अन्त कहाँ है ? कहीं अन्त नहीं तो इससे अनन्तगुणे तो गुण हो गये। सबका तल ले लिया है। केवलज्ञान ने सबका पेट अपनी पर्याय को जानते हुए ज्ञात हो गया है, उन्हें जानते हुए, ऐसा नहीं।

ऐसा भगवान **'सर्वभावान्तरच्छिदे'** अपने अतिरिक्त के अनन्त... वे कहते हैं न कि वह अपने को-अपने को जाने। पर को जाने वह व्यवहार है। ऐसा कहते हैं न कितने ही ? पर को

जाने, वह व्यवहार है, इसलिए अभूतार्थ है। अरे! भगवान! तुझे क्या कहना है? यहाँ तो **'सर्वभावान्तरच्छिदे'** तो उसका स्वरूप है, ऐसा कहा। पश्चात् सर्व भाव लिये। अपने अतिरिक्त अन्य अनन्त। उन्हें जानना, वह तो इसका निश्चयस्वरूप है। उसे (पर को) जानता है, ऐसा कहना वह व्यवहार है, उन्हें जानता है ऐसा। बाकी अपना... सब स्वरूप जानता है, वह स्वभावभावभूत होकर जानता है। अपनी पर्याय प्रमेयरूप से और अपनी पर्याय प्रमाणरूप से। समझ में आया? आहाहा!

ऐसा भगवान आत्मा, भाई! यह बात उस वस्तु की स्थिति ऐसी है। परमेश्वर ने कुछ की नहीं है। परमेश्वर ने तो ऐसा स्वरूप है, वैसा जाना और अपना था, वैसा प्रगट किया। उसे बतलाया। भाई! आत्मा तो ऐसा है न, भाई! उस आत्मा को ऐसा न माने, तब तक तेरी प्रतीति सच्ची नहीं है। प्रतीति सच्ची नहीं तो रमणता जहाँ करनी है, उसकी तो प्रतीति सच्ची नहीं, जिसमें रमणता करनी—चारित्र, वह जिसमें रमणता करनी है, उसकी तो प्रतीति सच्ची नहीं है। अब रमणता आयेगी कहाँ से?

श्रोता : परन्तु करनी कहाँ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु करनी कहाँ? इतना बड़ा भगवान आत्मा। उसके एक समय में... आहाहा! **'सर्वभावान्तरच्छिदे'** ओहोहो! अमृतचन्द्राचार्य ९०० वर्ष पहले भरतक्षेत्र में चलते सिद्ध जैसे! यह कहीं शरीर उनका नहीं था, राग उनका नहीं था। वे आत्मा थे। उस आत्मा का आत्मा था। समझ में आया? उन्हें वाणी का कहनेवाले रूप से पहिचान कराना, यह तो निमित्त की बातें हैं। समझ में आया?

आत्मा एक समय में हमारी अनुभूति की क्रिया द्वारा हम सर्वज्ञ होंगे और ऐसे सर्वज्ञ स्वानुभूतिक्रिया से अनन्त हुए हैं। उन्हें हम नमस्कार करते हैं। समझ में आया? हमारा झुकाव, नमन वहाँ है। हम दूसरे को नमन नहीं करते, ऐसा कहते हैं। उन अन्यमति में आता है न? तुलसी का आता है। श्रीकृष्ण ने तुलसी को दर्शन दिये। महाराज! सिर नहीं नमता। तब? धनुष-बाण लो हाथ। धनुष-बाण और रामचन्द्रजी का रूप लो तो सिर नमेगा, बाकी नमन नहीं करूँगा। ऐसी एक (बात आती है)।

उसी प्रकार यहाँ कहते हैं, एक समय में तीन काल, तीन लोक को जानने की पर्यायवाला आत्मा, ऐसा जो मानकर स्थिर हो, उसमें हमारा सिर नमेगा, अन्यत्र नमेगा नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह आता है। श्लोक आते हैं। श्लोक आता है? धनुष-बाण लो

हाथ। ऐई! शशीभाई! सुना है या नहीं तुमने? तुम तो वैष्णव हो, तुमने तो सब सुना होगा न! हम तो ऊपर से अध्धर से सुना हो। ऐसे राम के अतिरिक्त हम दूसरे को नमन नहीं करेंगे।

इसी प्रकार यहाँ कहते हैं, हमारा आत्मा और दूसरे का आत्मा, जिसने स्वानुभूति की क्रिया द्वारा, जिसने इस क्रिया द्वारा ऐसी पर्याय प्रगट की, वह व्यवहार से हमारे इष्ट देव हैं, निश्चय से हमारा आत्मा इतना आत्मा है, वह इष्ट देव है। समझ में आया?

ऐसा करके **इस प्रकार के विशेषणों (गुणों) से शुद्ध आत्मा को ही इष्टदेव सिद्ध करके (उसे) नमस्कार किया है।** लो! शुद्ध आत्मा को इष्ट देव सिद्ध करके। एक टीका में जरा थोड़ा अर्थ दूसरा है। यह परम अध्यात्म। **'सर्वभावान्तरच्छिदे'** अर्थात् कि अपने स्वभाव से अन्य विकारी भाव थे, उन्हें पृथक् कर डाला। इतना जरा अन्तर... ऐसा अर्थ किया है। यह हो सकता है। उसमें बहुत प्रकार हैं। भगवान आत्मा अनन्त गुणादि शुद्ध अपना स्वभाव है। उससे अन्य भाव विकल्प, विकारादि हैं, उन्हें छेद डाला, नाश हो गया। स्वभाव की उत्पत्ति हुई, विकार का नाश किया और ध्रुव तो त्रिकाल है। ऐसा करके ऐसा भी एक अर्थ है।

शुद्ध आत्मा को ही इष्टदेव सिद्ध करके (उसे) नमस्कार किया है। ओहोहो! मांगलिक भी... परमेश्वर को उतारा है। प्रभु! आओ, हमारे पास आये बिना नहीं चलेगा। आहाहा! रामचन्द्रजी का आता है न? ऐसा आता है न? रामचन्द्रजी दो वर्ष के थे, तब आकाश में ऊपर पूर्णिमा का चन्द्र देखा। वैसे तो मोक्षगामी हैं। मोक्ष जाना है। उस चन्द्रमा को जेब में डालो। अर्थात् सिद्ध ऊपर हैं, उन्हें नीचे उतारना। थोड़ी देर रोये। दशरथ दीवानजी को कहते हैं, दीवान! पुरुषोत्तम पुरुष रामचन्द्रजी... कहे अन्नदाता! मैं राज का काम करूँ और लड़के को भी खिलाऊँ, ऐसे दोनों काम करूँ? किसलिए रोते हैं? उत्तम पुरुष हैं। ये उत्तम पुरुष हैं, बलदेव हैं। इनके पिता को खबर है न कि यह बलदेव है। बलदेव को स्वर्ग और मुक्ति के अतिरिक्त दूसरी गति नहीं होती। यह तो मुक्तिगामी जीव है। अन्तिम शरीर है। किसलिए रोते हैं। ... क्या करूँ? खोज करो। फिर ऐसे बैठे थे, पश्चात् रामचन्द्रजी के हाथ में एक दर्पण दिया। उसमें चन्द्र आया। डाला जेब में। गुंजा समझते हो? जेब में डाला। भगवान को उतारा यहाँ। उन रामचन्द्रजी का परमात्मा के साथ बालकपने में भी खेल था। भगवान! नीचे उतरो। हमारे पास आओ। हमारी जेब में यहाँ आ जाओ। समझ में आया? आता है न? सुना है या नहीं? ....है लोगों को। रोना बन्द हो गया। रोना क्यों बन्द हो गया? कि चन्द्र को जेब में डाला। यह तो गायन में भी आता है या नहीं? 'गुंजा मां मारे चन्द्रमा गुंजा मां...' ऐसा गायन आता है।

'माडी मने चन्दलिया व्हालो...' इतना तो सब ऐसा है। ...चन्द्रमा को जेब में लाओ।

परमात्मा विराजते हैं, वहाँ चन्द्र प्रकाशमय अनन्त भगवान, उन्हें मेरे ज्ञान में लाओ। यहाँ लाओ। समझ में आया? देखो! सिद्ध भगवान को तो नमस्कार करेंगे। **'वंदित्तु सव्वसिद्धे'** में। यह तो स्वयं यहाँ कहते हैं, परमात्मा प्रभु! हमारे समीप में आप विराजते हो। हम आपको इष्टदेवरूप से मानते हैं। हम दूसरे को नहीं मानते। हमारा इष्ट आत्मा है, वह अभी साधकरूप से है। आपको पूर्ण दशा प्रगटी है, इसलिए हम साधक जीव सिद्ध को नमस्कार करते हैं। इष्ट देव को नमस्कार करते हैं। लो, यह एक गाथा का मांगलिक हुआ।

यह चार अस्तिरूप से सिद्ध किया। नास्ति की बात ली ही नहीं। ऐसा जिसका स्वभाव है। क्यों?—कि ऐसा जानते हुए संवर, निर्जरा की पर्याय से आत्मा को साधते हुए आस्रव और बन्ध उसमें नहीं है, ऐसा उसमें ज्ञान आ जाता है। दूसरा सिद्धान्त कहें तो निश्चय का ज्ञान करते हुए व्यवहार का ज्ञान उसमें आ जाता है। व्यवहार का ज्ञान नया करना पड़ता नहीं है। अस्तिरूप से जहाँ आत्मा ऐसा है, उसे स्वानुभूति की क्रिया द्वारा मोक्ष हो, वह जीव, जीव का भाव संवर-निर्जरा और मोक्ष इतने चार तत्त्व लिये। उसका भान होने पर उसमें अजीव और पुण्य-पाप तथा आस्रव साधकरूप से भी नहीं है, उसका ज्ञान निश्चय का ज्ञान होने पर आ जाता है। व्यवहार का ज्ञान होने पर निश्चय का न आवे। स्व का भान होने पर पर का उसमें आ जाता है, ऐसा उसका स्व-परप्रकाशक स्वभाव है। समझ में आया?

इस श्लोक में अस्ति की ही बात की है। जीव, जीव का भाव, स्वानुभूति की क्रिया और पूर्ण मोक्ष। जीव, गुण अर्थात् जीव में आ गया। संवर-निर्जरा और मोक्ष शुद्ध तीन तत्त्व और द्रव्य... चार बातें लीं। समझ में आया? **'सर्वभावान्तरच्छिदे'** आ गया इसमें। दूसरे अन्य का यहाँ अस्ति में ज्ञान करते हैं। ज्ञान की पर्याय में अन्य सब है, उनका ज्ञान करता है, ऐसा आया, भाई! देखो! **'सर्वभावान्तरच्छिदे'** है न? यह भगवान आत्मा...

यह पर्याय लेना है, ऐसा कहते हैं। पर्याय इतनी है कि अनन्त को जाने। इसे जानते हुए वह अनन्त को जाने, ऐसा जिसका स्वभाव है। समझ में आया? यह अमृतचन्द्राचार्य ने आत्मख्याति की टीका शुरु करते हुए पहले ऐसा मंगलाचरण किया। कहो, समझ में आया इसमें? अब इसका भावार्थ पण्डित जयचन्दजी लेते हैं। कहो, इसमें समझ में आया या नहीं? ऐई! नटुभाई! छोटाभाई! यह सब नये आये हैं न! मुश्किल से किसी दिन यहाँ आवे। यह क्या? सामायिक की, प्रोषध किये।

श्रोता : सरल करके समझाते हो, इसलिए समझ जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो सादी बात है, बापू! इसमें कहीं ऐसी उलझनवाली नहीं है। संसार में उलझन का पार नहीं होता। यह उलझन गूंचवण समझे? गुच्छा। सूत में गुच्छा पड़ जाता है न। सूत के तार में उलझन पड़ जाती है तो खोलना कठिन पड़ता है। यह तो सीधा सरल मार्ग-पन्थ है। उसमें नहीं आया था? ...योगसार। सिद्ध के महल तक पहुँच जाए, ऐसी यह सरस है। आया था या नहीं? सिद्ध की पर्याय तक पहुँच जाए ऐसी आत्मा की अनुभवन की क्रिया है। वह सीधी सरसराहट पूर्णानन्द की प्राप्ति कर दे। समझ में आया? उसमें आया था। आगे-पीछे गली नहीं है। ऐसा शब्द उसमें-योगसार में आया था। दूसरी गली-बली नहीं है, सीधी गली है। लोग ऐसा कहते हैं। इस सीधी गली से चले जाओ। देखो! यह अन्तिम अमुक मकान आयेगा। उसी प्रकार भगवान आत्मा अपना पूर्ण अनन्त स्वभाव का ज्ञान करता हुआ, एकरूपता ज्ञान करता हुआ, एकरूप की श्रद्धा करता हुआ, उसमें स्थिर होता हुआ। सीधी सड़क केवलज्ञान को प्राप्त करा दे। समझ में आया? उसे दूसरी गति नहीं है, दूसरा भाव नहीं है, दूसरा भटकने का तीन काल में नहीं होता।

यहाँ मङ्गल के लिये शुद्ध आत्मा को नमस्कार किया है। भावार्थ है न? **कोई यह प्रश्न करे कि किसी इष्टदेव का नाम लेकर नमस्कार क्यों नहीं किया?** नमो महावीराणं, नमो ऋषभदेवाणम्।

उसका समाधान इस प्रकार है – वास्तव में इष्टदेव का सामान्य स्वरूप... इष्टदेव का प्रियकर करनेवाला परमात्मा, उसका स्वरूप **सर्वकर्मरहित, सर्वज्ञ, वीतराग, शुद्ध आत्मा ही है,...** तीन विशेषण दिये। सर्व कर्मरहित, सर्वज्ञ। जब सर्व कर्मरहित हुआ तो यहाँ सर्वज्ञ हुआ। नास्ति से बात है। सर्व कर्मरहित, सर्वज्ञ और सर्वज्ञ के साथ वीतराग, वह शुद्ध आत्मा ही है। वह शुद्ध आत्मा ही ऐसा होता है। परमेश्वर ही ऐसे होते हैं, सिद्ध भगवान ही ऐसे होते हैं। ऐसा ही आत्मा का स्वरूप अन्दर है, ऐसा ले लेना।

इसलिए इस अध्यात्मग्रन्थ में 'समयसार' कहने से इसमें इष्टदेव का समावेश हो गया। समयसार कहने से इष्टदेव आ गये। द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मरहित ऐसा जो समयसार, उसमें ही वह आ गया। **तथा एक ही नाम लेने में अन्यमतवादी मतपक्ष का विवाद करते हैं...** एक ही नाम लेना नहीं। अमुक लेना। **उन सबका निराकरण, समयसार के विशेषणों...** समयसार के विशेषण कहे। **से किया है।** समयसार कैसा है? जड़कर्म, भावकर्म, नोकर्मरहित है।

भाववाला है, द्रव्य है, स्वभाववाला है, स्वानुभूति की क्रिया से पूर्णता को प्राप्त करता है। ऐसा समयसार का स्वरूप, उसके विशेषण वर्णन करके कहा।

और अन्यवादीजन अपने इष्टदेव का नाम लेते हैं, उसमें इष्ट शब्द का अर्थ घटित नहीं होता,... भगवान आत्मा करे परन्तु भगवान की पूर्णता, उसकी पर्याय की वीतरागता, उसकी सर्वज्ञता और सर्व कर्म के लेपरहित थे, वे लोग कहते हैं उसमें यह सिद्ध नहीं होता। **बाधाएँ...** अर्थात् विरोध **आती हैं, और स्याद्वादी जैनों को...** अपेक्षा से परमेश्वर को कहनेवाले **तो सर्वज्ञ वीतरागी शुद्ध आत्मा ही इष्ट है।** सर्वज्ञ वीतराग। एक समय का ज्ञान पूरा और स्थिरता वीतरागी पूरी, ऐसा शुद्ध आत्मा ही जिसे इष्ट अर्थात् प्रिय है।

फिर चाहे भले ही उस... यह ऐसा लेना। यहाँ वजन है। **फिर चाहे भले ही उस...** योगसार में आया था न? ... जैसे परमात्मा हमने वर्णन किये। उसे ईश्वर कहो, शिव कहो, ब्रह्मा कहो... **उस...** ऐसे कहे उन्हें। लोग कहते हैं, उन्हें ऐसा नहीं। इसलिए उसमें आया था— ... यहाँ यह शब्द प्रयोग किया है। ऐसे परमेश्वर की जिनका आत्मा पूर्ण सर्वज्ञरूप परिणमा है, वीतरागदशा पूर्ण हो गयी, पूर्ण आनन्दादि को प्राप्त है और कर्म का लेप बिल्कुल एक रजकण का भी जिन्हें नहीं रहा है। **उस इष्टदेव को...** ऐसा। ऐसे इष्ट देव को **परमात्मा कहो,...** ऐसे इष्टदेव को परमात्मा कहो, परमस्वरूपी हुए न वे? परन्तु उन्हें। उनको परम ज्योति कहो **परमेश्वर,...** कहो। वे परमेश्वर हैं। जैन परमेश्वर नहीं मानते, ऐसा नहीं है। परन्तु ऐसे को परमेश्वर मानते हैं। समझ में आया? कोई कर्ता-हर्ता, यह वस्तु के स्वरूप में है नहीं; इसलिए दूसरा कर्ता-हर्ता परमेश्वर नहीं है, परन्तु परमेश्वर नहीं है-ऐसा नहीं है। समझ में आया?

'कर्ता ईश्वर कोई नहीं, ईश्वर शुद्ध स्वभाव...' श्रीमद् ने आत्मसिद्धि में कहा है न? 'कर्ता ईश्वर कोई नहीं, ईश्वर शुद्ध स्वभाव...' समझ में आया? शुद्धस्वभाव। पूर्ण जिनकी दशा प्रगट हुई, वह ईश्वर है। शक्तिरूप से तो सभी भगवान ईश्वर है। परन्तु प्रगटरूप से ईश्वर शुद्ध परमात्मदशा जिसे प्रगट हुई, उसे परमेश्वर कहो, **परब्रह्म,...** कहो। नये में प्रकाशित है, पुराने में रह गया। परब्रह्म, परब्रह्म—उत्कृष्ट आनन्दस्वरूप। समझ में आया? 'अनुभवी को इतना रे आनन्द में रहना रे...' ऐसा सुनते थे। दस वर्ष की उम्र में। पड़ोस में ब्राह्मण रहते थे, वे नहावे... मामा-मामा कहते थे। वे मामा होवे न हमारे। माँ के पीहर के। 'अनुभवी को इतना रे आनन्द में रहना रे, भजना परिब्रह्म को दूजा कुछ न कहना रे...' ऐसा बारम्बार बोलते थे। वे तो बेचारे समझते भी न हो। परन्तु उस दिन हमारे (मस्तिष्क में घुस गया था)। यह कुछ कहते हैं।

श्रोता : परब्रह्म...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, परब्रह्म, परब्रह्म वह स्वयं, हों! परब्रह्म कोई कर्ता-बर्ता, ऐसा नहीं।

श्रोता : वह तो सर्व व्यापक परब्रह्म है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उन्हें तो यह था नहीं। समझ में आया? वह यह ऊपर जैसा कहा, वह परब्रह्म है। इसीलिए तो यह शब्द प्रयोग किया है।

भले ही उस इष्टदेव को... यह कहो तो कोई भी शब्द से लागू करो। जीव कहो, परन्तु इसे जीव कहो। ऐसे सहित। पूर्ण स्वरूप स्वभाववान, स्वभाववाला, निर्मल पर्याय से परिणम कर प्रगट करे, ऐसा जो परमेश्वर, उसे शिव कहो। उसे शिव कहो। शिव को यह कहो, ऐसा नहीं। वे शिव हैं, उन्हें यह कहो, ऐसा नहीं; इन्हें शिव कहो। समझ में आया? इन्हें **निरंजन,...** कहो। अंजन जरा भी नहीं। पूर्णानन्द की प्राप्ति परमात्मा को हुई। उन्हें अंजन नहीं। **निष्कलंक,...** कहो। कलंक नहीं उसे। वहाँ निष्कलंक पूर्ण दशा प्रगट हुई है। **अक्षय,...** कहो। क्षय होनेवाला नहीं है। यह तो ऐसी की ऐसी दशा रहनेवाली है। **अव्यय,...** कहो। किसी अंश में नाश होनेवाला नहीं है। सम्पूर्ण तो नाश नहीं परन्तु अव्यय अर्थात् थोड़ा भी नाश होनेवाला नहीं है।

शुद्ध,... वह परमेश्वर जो ऐसा कहा,

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ।।१ ।।

ऐसे स्वरूप को शुद्ध कहो, **बुद्ध,...** कहो। उसे बुद्ध कहो। उन बुद्ध को बुद्ध कहो, ऐसा नहीं है। इन्हें बुद्ध कहो। समझ में आया? यह अपने आप बात बराबर समझ में आये, ऐसा नहीं है। छोटाभाई! वास्तव में ऐसा लगता है या नहीं? घर में पुस्तक तो रखी होगी। होगी न? शान्ताबहिन है तो ले तो गयी होंगी न! छोटाभाई है। आहाहा! यह समयसार अर्थात् परमेश्वर का वाचक। परमेश्वर वाच्य और यह वाचक, यह कहेंगे। साक्षात् परमेश्वर की दशा प्रगट हुई है, और आत्मा ऐसे स्वरूप से त्रिकाल है। उसे बतलानेवाला वह यह 'समयसार' वाचक है।

कहते हैं कि **अविनाशी,...** कहो। ऐसे स्वरूप को अविनाशी (कहो)। नाश होनेवाला नहीं। आगे ध्रुव लेते हैं। **अनुपम,...** कहो। उपमा क्या कहलाये? इसकी इसे उपमा हो। इसे

दूसरे की उपमा नहीं होती। सिद्ध को सिद्ध की उपमा। आहाहा! ऐसा अनुपम परमेश्वर है, ऐसा आत्मा भी शक्ति से, स्वरूप से ले लेना। यह पर्याय में प्रगटे। **अच्छेद्य,...** है। छिदता नहीं, टुकड़े नहीं होते। अच्छेद्य अर्थात् टुकड़े नहीं होते। **अभेद्य,...** अर्थात् चूरा नहीं होता। भुक्का समझ में आता है? ऐसे चूर्ण करते हैं न? अभेद्य है।

परमपुरुष,... है। भगवान ही परम पुरुष है। और परम पुरुष अवतरित हुए थे तथा जगत को बनाते थे, वह कोई परम पुरुष नहीं है। रामचन्द्रजी को पुरुषोत्तम पुरुष कहते हैं न? उनका आत्मा है ऐसा और पूर्णपने को प्राप्त हुए, इसलिए परम पुरुष कहलाते हैं। **निराबाध,...** जिसे कोई बाधा नहीं है। ऐसे स्वरूप को कोई बाधा नहीं है। **सिद्ध,...** कहो, **सत्यात्मा,...** कहो, सत्यात्मा। सच्चा आत्मा पर्याय से परिणम गया। जैसा उसका सत्स्वरूप था, वैसा पर्याय में परिणमा। सत्य आत्मा वह है। समझ में आया?

श्रोता : असत्य आत्मा...

पूज्य गुरुदेवश्री : असत्य आत्मा, अज्ञान, राग-द्वेष असत्य आत्मा है और निर्मल पर्याय का आत्मा एक समय की पर्याय है, एक समय की भी व्यवहार, पूरा द्रव्यसहित का ऐसा सत्य आत्मा ऐसा है।

चिदानन्द,... कहो, ज्ञानानन्द। चिदानन्दरूपी आनन्द के अमृत का पूर है। ऐसा कल नहीं आया था? चिदानन्दरूपी आनन्दामृत का पूर भगवान है। आहाहा! आनन्द का पूर आता हो न सामने, ऐसे यह पूरा आनन्द का पूर अन्दर स्थित है। तेरी नजर तो कर, नजर तो कर वहाँ? आनन्द का पूर वहाँ बहता है। आहाहा! पार रहित आनन्द है, अपार आनन्द है। ऐसा तेरा स्वभाव है। उसका प्रगट हुआ परमात्मा को पर्याय में पूर्ण हो जाता है।

सर्वज्ञ,... कहो, लो! उसे सर्वज्ञ कहो। उसे सर्वज्ञ, हों! लोग कल्पना करते हैं कि ऐसे ज्ञानी ऐसा नहीं। **वीतराग,...** कहो, **अर्हत्,...** कहो। अर्हत् शब्द है, हों! पूजनेयोग्य। पूजनेयोग्य होवे तो ऐसा आत्मा है। जिसे स्वानुभूति की क्रिया से **'सर्वभावान्तरच्छिदे'** हो गया। उसे **जिन,...** कहो, **आप्त,...** कहो। हित के लिये माननेयोग्य। **भगवान,...** कहो। उसे भगवान कहो, हों! इस नमः समयसार को। **इत्यादि हजारों नामों से कहो;...** लो! एक हजार आठ नाम तो सब आते हैं।...पुण्यवन्त कहो। उसे पुण्यवन्त कहा जाता है। पुण्य अर्थात् पवित्रवन्त, हों! वह पुण्य नहीं। आहाहा! अपने पवित्रता के सुधारस को पूर्ण पीता है। समझ में आया? प्याला है। सिद्ध भगवान आनन्द का प्याला है। समझ में आया? प्याऊ—यह पानी पीने की (होती

है न) ? क्या कहते हैं ? पानी की प्याऊ। तुमने नहीं सुना ? 'कांठे पन्थ लयो...' यह भाई बोलते थे। जेठालाल मोरारी। जेठालाल, कैसे ? हाँ। वे बहुत बोलते थे। मोरारभाई ! 'कुआं कांठे पन्थ लयो छे आ तो...' पानी के पीने का किनारे में पन्थ मिला है। पानी पी-पीकर चले जाओ।

यहाँ कहते हैं, इन भगवान को किसी भी भगवान से कहो परन्तु इनके गुणवाचक, इनके नाम को लागू पड़ना चाहिए। होवे उसे लागू पड़ना चाहिए। उसमें न हो और अध्धर से बातें करे, उसे परमेश्वर नहीं कहा जाता। **वे सब नाम कथञ्चित् सत्यार्थ हैं।** कथंचित् सर्व नाम सत्यार्थ है। अनेक अनन्त नाम हैं सही न ? **सर्वथा एकान्तवादियों को भिन्न नामों में विरोध है, स्याद्वादी को कोई विरोध नहीं है। इसलिए अर्थ को यथार्थ समझना चाहिए।** सजानन्दी आत्मा को भी कहा जाता है। वे वहाँ कहते हैं स्वामी नारायण के सहजानन्दी, अरे ! सुन न ! एक ने ऐसा ठहराया है कि 'सहजानन्दी शुद्धस्वरूपी' तो एक बाई सेठानी कहे, अपने 'सहजानन्द' कहाँ से आये ? सहजानन्द तो स्वामी नारायण के होते हैं।

श्रोता : स्वयं स्वामी नारायण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं सहज स्वरूप का स्वामी है। वह स्वामी नारायण यह आत्मा अपने स्वरूप को कहा जाता है। इसे सहजानन्द (कहते हैं)। चाहे जो इसके गुण निष्पन्न नाम से याद करो तो इष्ट देव को वह लागू पड़ता है। उसे मांगलिक रूप से कहने में आया है, लो !

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

१८

श्री समयसार, गाथा-३६, प्रवचन - ५८
दिनांक - ०४-०९-१९६१

समयसार अधिकार चलता है। इसमें जीव-अजीव अधिकार। जीव किसे कहना ? और उस जीव को जानने से आत्मा को शान्ति मिले अथवा जैसा जीव स्वभाव है, वैसा उसका अस्तित्व उसकी दृष्टि में, प्रतीति में, भान में, ज्ञान में आवे तो इसे स्वतन्त्रता की शान्ति की प्राप्ति हो। कहो, समझ में आया ? सेठी !

जीव—जीव अर्थात् आत्मा। इस देह में आत्मा कैसा और कौन और किस प्रकार से है ? कि जिसे जानने से आत्मा को अनन्त काल में आकुलता का जो वेदन, उसे अनन्त काल से चला आता है, उसे आत्मा जिस प्रकार से है, वैसा अन्तर में पर से भेदज्ञान करके आत्मा का अनुभव करे तो उसे आकुलता टलकर अनाकुलता प्रगट हो। अनाकुलता कहो या सुख प्रगट होता है। सुखी होने का रास्ता उसे हाथ आवे। कहो, बराबर होगा यह ? ये पैसेवाले सुखी नहीं होंगे ? कहते हैं न पाँच-पचास लाख, करोड़-दो करोड़ रुपये हैं। यह सब लोग बातें करते हैं। रुपये कब इसके थे ? रुपये तो जड़, मिट्टी, धूल है। वह तो पुद्गल मिट्टी अजीवतत्त्व है। उसमें कब इसकापना था। यह ऐसा माने कि वे मेरे हैं तो इसे ममत्वदृष्टि होती है और आकुलता होती है, दु:ख होता है, पराधीनता होती है और उसके कारण से चार गति में अनादि काल से भटकता है। यह देह इसकी नहीं, यह तो ठीक परन्तु यहाँ तो अभी दूसरी बात करेंगे। भगवान आत्मा इसे कहना। यह ऊपर उपोद्घात है।

'अनुभूति से परभाव का भेदज्ञान कैसे हुआ ?' यह आत्मा पर से भिन्न अस्तित्व, इसका अस्तित्व, विद्यमानपना। आत्मा का विद्यमानपना, मौजूदगी है, ऐसा इसकी अन्तर्दृष्टि में भान हुआ, उससे परभाव का भेदज्ञान किस प्रकार हुआ ? **ऐसी आशंका करके,...** शिष्य ने ऐसा पूछा, प्रभु ! यह वह क्या चीज़ है कि जिसे इस प्रकार से अनुभूति से पर में भेदज्ञान हो ?

पहले तो जो भावकभाव – मोहकर्म के उदयरूप भाव, उसके भेदज्ञान का प्रकार कहते हैं:– स्तुति में आया था] वह दूसरे प्रकार से था। भावकभाव। यह तो दो द्रव्य की एकता...

एकता... एकता का दोष टाला। यहाँ तो अस्तित्व का पूरा उसका एकरूपस्वरूप क्या है, इस प्रकार से उसे अजीव से भिन्नरूप से आत्मा की सम्पदा की ऋद्धि, उसे यहाँ वर्णन करते हैं।

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को।
तं मोह-णिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बेंति।।३६।।

कुछ मोह वा मेरा नहीं, उपयोग केवल एक मैं।
इस ज्ञान को ज्ञायक समय के, मोहनिर्ममता कहे।।३६।।

इसका **अन्वयार्थ:- जो यह जाने कि मोह मेरा कोई भी (सम्बन्धी) नहीं है,...** विकारादि की वृत्ति अन्तर में हो, मुझे और उसके कुछ सम्बन्ध नहीं है। **एक उपयोग ही मैं हूँ...** अन्तर चैतन्य ज्ञानानन्द प्रभु, जानने और देखने के उपयोगरूप, वह ही मैं आत्मा हूँ। **ऐसे जानने को सिद्धान्त के अथवा स्व पर स्वरूप के जाननेवाले...** सन्त, मुनि उसे **मोह से निर्ममत्व कहते हैं।** यह शब्दार्थ किया। नीचे जरा अन्तर है न इसलिए।

इस गाथा का दूसरा अर्थ यह भी है कि... नीचे। **किंचित्मात्र मोह मेरा नहीं है,...** मैं तो चैतन्य प्रभु ज्ञानानन्द हूँ। **मैं एक हूँ...** मैं एक हूँ। **ऐसा उपयोग ही (आतम ही) जाने,...** मैं तो एक हूँ। मोह और मुझे कुछ नाता, सम्बन्ध वलगणा कुछ नहीं है। विकार की वृत्ति हो, उसे और मुझे कुछ सम्बन्ध नहीं है। समझ में आया? शरीर, वाणी, मन की तो यहाँ बात है ही नहीं। वे तो परपदार्थ हैं। भगवान आत्मा मैं एक ज्ञान उपयोगस्वरूप आत्मा हूँ और यह मेरी चीज़ रागादि नहीं है। ऐसे आत्मा को, ऐसे उपयोग को अर्थात् आत्मा को ऐसा जो जाने, उसे **समय के जाननेवाले...** सिद्धान्त के जाननेवाले, **मोह के प्रति निर्मल (ममतारहित) (उस आत्मा को) कहते हैं।** यह शब्दार्थ किया। टीका में विस्तार आयेगा।

यह तो बात ऐसी है। चैतन्य प्रभु देह में विराजता तत्त्व, वह आनन्दस्वरूप और अनाकुल शान्तरस का उसका स्वरूप है। इस भगवान आत्मा का। उसे इसने अनन्त काल से एक क्षण भी पर से भिन्न करके जाना नहीं और यह जाने बिना तीन काल में इसे स्वतन्त्र समकित, सम्यग्ज्ञान या आत्मा के आनन्द का स्वाद इसको नहीं आवे, तब तक यह दु:खी होकर ही परिभ्रमण कर रहा है। समझ में आया?

टीका :- निश्चय से,... अर्थात् वास्तव में। **(यह मेरे अनुभव में)...** अर्थात् ज्ञान के भान में। **फलदान की सामर्थ्य से प्रगट होकर भावकरूप होनेवाले...** जो कर्म जड़ है, मिट्टी साथ में एक चीज़ है। जैसे सोना और पत्थर जैसे खान में इकट्ठे दिखाई देते हैं, परन्तु

सोना, वह सोना है और मिट्टी, वह सोना नहीं है। सोना और मिट्टी एक साथ इकट्ठा दिखाई दे। वैसे भगवान आत्मा सोना समान चैतन्य प्रभु ज्ञानानन्दमूर्ति में जड़कर्म जो पत्थर, धूल समान है, उसके फल देने का सामर्थ्य वह कर्म का पाक हुआ, पाक। पूर्व में जो विकारी भाव किये थे, उसे निमित्त पाकर और कर्म कर्मरूप से परिणमा था। उस कर्म का हुआ पाक।

फलदान की सामर्थ्य से प्रगट होकर भावकरूप होनेवाले पुद्गलद्रव्य... वह तो जड़ द्रव्य है। साथ में मिट्टी एक चीज़ है। भगवान आत्मा ज्ञानानन्दमूर्ति के साथ अन्दर का अनादि का मिट्टी-धूल आठ कर्मरूपी सूक्ष्म रज की अजीव चीज़ है। वह जब भावक अर्थात् कि कर्म के पाक में से हुआ विकार, **भावकरूप होनेवाले पुद्गलद्रव्य से रचित मोह...** परसन्मुख में जरा सावधानी भाव, वह उपयोग में ज्ञात हो परन्तु उस उपयोग में ऐसा जाने कि यह मेरी चीज़ है तो वह भ्रमणा और अज्ञान है। परन्तु उपयोग अर्थात् जानने-देखने के भाव में, जैसे दर्पण में दर्पण की स्वच्छता के कारण अग्नि की ज्वाला बाहर है, वह उसमें मानो ज्ञात होती हो, वह वास्तव में दर्पण की अवस्था है, वह ज्वाला की अवस्था नहीं। ज्वाला, ज्वाला में अग्नि की और दर्पण में अग्नि की ज्वाला अन्दर में नहीं। अन्दर में होवे तो दर्पण को हाथ लगाने से गर्म दिखाई दे (परन्तु) ऐसा तो है नहीं। यह दर्पण की अपनी स्वच्छता की वह पर्याय है। उसी प्रकार भगवान आत्मा अन्दर ज्ञानदर्पण है, चैतन्यबिम्ब दर्पण है। ज्ञान का भण्डार। उसके ज्ञान के व्यापार में वह कर्म का पाक, कर्म का पाक जो विकार, जो मोह, वह उपयोग में ज्ञात होता है, उपयोग में ज्ञात होता है।

पुद्गलद्रव्य से रचित मोह मेरा कुछ भी नहीं लगता,... अज्ञान में दोनों की एकता का अस्तित्व मानने से भाव जो द्रव्य जड़कर्म, उसके पाक से रचित विकारी भाव मोह जो उपयोग में एकरूप ज्ञात होता है, एकरूप से ज्ञात हो, उसे चैतन्य के अस्तित्व की प्रतीति और भेदज्ञान नहीं है। समझ में आया? नवनीतभाई! भारी सूक्ष्म, भाई!

अरे! इसकी इसे अनन्त काल से खबर नहीं। चैतन्य प्रभु ज्ञानमूर्ति विराजमान दर्पण समान है, उसके भान बिना वह विकार परिणाम हुए, वे मेरे अस्तित्व में हैं। उपयोग में ज्ञात होते हैं न? दर्पण में ज्ञात होने पर मानो दर्पण में अग्नि है, ऐसा जानपने में ज्ञात हुआ कि यह मोह है, वह मानो मेरे उपयोग में अन्तर आ गया है, ऐसा माननेवाला भावक मोह को अपने अस्तित्व में खतौनी करता है, उसको भेदज्ञान नहीं है और आत्मा के अस्तित्व की प्रतीति नहीं है। समझ में आया?

तब **उससे रचित मोह...** धर्मी अपने ज्ञान के उपयोग को अन्तर अस्तित्व स्वीकारता हुआ, जानने-देखने के उपयोग को, व्यापार को स्वभावसन्मुख में अभेदरूप से स्वीकारता हुआ, यह **मोह मेरा कुछ भी नहीं लगता,...** समझ में आया ? यहाँ नहीं कहते कि भाई ! यह कहीं तुम्हारे सगे-सम्बन्धी होते हैं कुछ ये ?—कहे, नहीं। हमारे कुछ नहीं लगते, इनके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार भगवान आत्मा अपने ज्ञान-दर्शन के व्यापार के काल में ऐसे अपने उपयोग को स्वभाव के अस्तित्व की ओर झुकाता हुआ; यह मोह जो परसन्मुख की लगनी की वृत्ति हुई, उसको और मुझे कुछ भी सम्बन्ध, नाता, सम्बन्ध नहीं है। बाबूभाई ! ओहोहो ! इस प्रकार जब इसे आत्मा के ज्ञान के व्यापार में अपने अस्तित्व का भान होता है, उसे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन और आत्मा, आत्मा की अस्ति उसके अन्तर में बैठी। समझ में आया ?

भगवान आत्मा वस्तु चैतन्य प्रभु चैतन्यप्रकाशी सूर्य आत्मा है। यह देह मिट्टी, धूल और अन्दर के ये कर्म, मिट्टी, जड़ और इस मिट्टी के पाक में होता मोह, उस मोह के साथ चैतन्य के भाव में एकरूप से अनादि से खतौनी करता था, मानता-जानता और रमता आता है, वह दु:खी होने के पन्थ में पड़ा है। समझ में आया ? गजब बात, भाई ! नवनीतभाई ! अब इसमें कहाँ ऐसा ? पाँच-पच्चीस लाख दे देवे और धर्म हो जाता हो, ऐसी चीज़ नहीं होती यह। शरीर में से कुछ कस निकाल डाले अपवास-बपवास करके। क्यों, धर्मचन्दजी ! परन्तु शरीर ही तेरा नहीं न ! यह तो मिट्टी-धूल है। तेरी इच्छा प्रमाण रहता नहीं। निरोग हो, रोग आवे, उल्टी हो, हाय... हाय.. घड़ीक में। अभी घड़ीक में पहले कुछ नहीं था। क्या हुआ ? कौन जाने अन्दर ऐसी खलबलाहट कुछ होती है, क्या (होता है) खबर पड़ती नहीं। क्या चीज़ है यह ? जड़ है, यह तो मिट्टी है। तेरी इच्छा प्रमाण रहती है यह ? तेरे भाव प्रमाण इसका अस्तित्व रहता है ? तो खबर नहीं पड़ती कि इसका अस्तित्व तुझसे त्रिकाल भिन्न है ?

वह तो भिन्न है (परन्तु) यहाँ तो अन्तर अस्तित्व की बात चलती है। अजीव तो भिन्न परन्तु आस्रवतत्त्व, वह भी अजीवतत्त्व और पर में जाता है। समझ में आया ? भावकर्म-भावकर्म, हों ! यह। भावक का भावकर्म, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। जड़कर्म का उदय आया, उसका यह पाक है। जैसे चावल का दाना बोरी में होता है, वह पानी में पके, तब चावल में पाक आया है। वह फिर से चावल पक्का रंधता है न ? पोंचा हो जाता है न ? वह तो उसमें कस भरा है। वह तो उसका पाक चावल में है। क्या मुँह में आ गया है ? मुँह के अस्तित्व में उसका पाक है ? वह तो चावल में है। इसी प्रकार जड़ का पाक हुआ, वह जड़ में है और ज्ञानस्वरूप

भगवान चैतन्य के अस्तित्व में उस पाक का कोई सम्बन्ध नहीं है। समझ में आया? देखो! यह सम्यग्दर्शन की व्याख्या चलती है। धर्म का पहला सोपान। आहाहा! गजब धर्म, भाई! यह।

कहते हैं कि **उससे रचित...** मेरा नहीं। मैं तो वस्तु हूँ न! द्रव्य हूँ, चैतन्य हूँ। यह कहेंगे। यह **मोह मेरा कुछ भी नहीं लगता,...** आहाहा! यहाँ तो लाणे ने लाकडे सग भी जहाँ हो वहाँ हर्ष पाता है। यह मेरी स्त्री, यह मेरे पुत्र, यह मेरा हजीरा। हजीरा अर्थात्? यह मकान। बँगला, इसका हजीरा दूसरा क्या? दो लाख, पाँच लाख का हो। यह मेरा... यह मेरा...। सगे साले का साला और उसकी यह अमुक होती है। ऐसा करके वह कुछ पढ़ा-गुना हो तो उसका हर्ष वेदन करता है। एम.ए. में पास हुआ हो। अमेरिका में पाँच वर्ष रह आया। आकर दो हजार का वेतन। तुम्हारे क्या है? क्या होता है तुझे? साले का साला और उसका लड़का होता है। जेठालालजी!

अमेरिका से... उतरे न! वहाँ से वह पाँच वर्ष पढ़कर आया वहाँ से। और ओहोहो! ऐसे रोफ करके। और एकदम दो हजार का महीने का वेतन, ढाई हजार का वेतन। परन्तु क्या है तुझे अब? सुन तो सही! वह चीज़ उसके पास, तेरी चीज़ तेरे पास। तुझे और उसे कुछ सम्बन्ध नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं, उसके प्रति का कर्म का पाक राग का हुआ। सावधानी-सावधानी यहाँ है न? मोह अर्थात् पर के प्रति (सावधानी), उस सावधानी के भाव को और चैतन्य को कुछ सम्बन्ध नहीं है। समझ में आया? उससे **रचित मोह मेरा कुछ भी...** वापस ऐसा शब्द है। **कुछ भी नहीं लगता,...** अरे! परन्तु तेरी पर्याय में होता है न? सुन न! पर्याय ही मेरी नहीं। मेरी प्रजा, मैं चैतन्य शुद्ध आनन्दकन्द हूँ। मैं द्रव्यस्वभाव मेरा अनादि-अनन्त ज्ञान और आनन्द से भरपूर, मेरी प्रजा मलिन नहीं होती। वह विकारी परसन्मुख का मोहभाव, वह मेरी प्रजा नहीं है। वह तो जड़ की प्रजा है। कहो, समझ में आया? भावकर्म, हों! मोह। भावक का भाव पाक होकर जरा ज्ञात हुआ। कहते हैं कि, वह प्रजा जड़ की है, मेरी नहीं। स्त्री, पुत्र की प्रजा तो कहीं रह गयी। धर्मचन्दजी!

यहाँ तो कहते हैं, जड़ (एक) चीज़। आत्मा चैतन्य दर्पण है। ज्ञानस्वरूपी प्रज्ञाब्रह्म आत्मा, प्रज्ञापुंज आत्मा है, प्रज्ञा का पुंज। प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान का पुंज ही वह है। इसकी उसे खबर नहीं; इसलिए उसके ज्ञान के व्यापार में वह परसन्मुख का मोह देखे, उसे एकत्व माने, वही जड़ को चैतन्य मानता है। समझ में आया? यह मोह मेरा कुछ भी... वह पर्याय में है, इतना

अनित्य तो कहे ? नहीं। कुछ भी मेरा नहीं है। क्योंकि ज्ञान का व्यापार स्वसन्मुख ढला है, स्वभाव की दृढ़ता हुई है। इसलिए उस मोह को अपने में एक समय भी मुझमें है, ऐसा वह सम्यग्दृष्टि नहीं मानता। देखो! यह धर्म। यह सम्यग्दृष्टि का। कहो, लक्ष्मीचन्दजी!

क्योंकि... अब कारण देते हैं। **टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावभाव का...** टंकोत्कीर्ण। टांकी से जैसे अडवडनाथ अन्दर में से जैसे खोदकर निकाला हो। यहाँ है न ? शत्रुंजय नहीं ? पालीताणा। अदवदनाथ, भाई! देखा है ? बड़े पत्थर का। श्वेताम्बर... है। पूरे हॉल प्रमाण एक पत्थर। खोदकर... ऐसा चैतन्य प्रभु अन्तर में देह के रजकण से पृथक् और पुण्य-पाप के विकल्प के मैल से भिन्न ऐसा का ऐसा अनादि से टंकोत्कीर्ण—अनघड़ित वस्तु। **एक ज्ञायकस्वभावभाव का...** अरे! मैं तो एक ज्ञायक, जानन, दर्शन—ऐसे स्वभावभाव का। **परमार्थ से पर के भाव द्वारा भाना अशक्य है।** अरे! मैं तो जाननेवाला-देखनेवाला भगवान आत्मा हूँ। उसका **परमार्थ से पर के भाव द्वारा...** वह विकारी मोहभाव हुआ, वह तो पर है। उस **पर के भाव द्वारा...** मेरा बनना, भाव्यरूप होना, यह अशक्य है। नीचे (फुटनोट में) है। **भाव्यरूप करना; बनाना।** समझ में आया ? भारी सूक्ष्म बात, भाई! ऐसे लोगों को अभी तो बाहर में व्यर्थ भटका करे, उसमें बाहर से आवे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा।

यहाँ तो कहते हैं कि यह व्रत और दान, भक्ति का मोह होता है, यह मुझे और उसके कुछ सम्बन्ध नहीं है, ऐसा कहते हैं। जेठालालजी! मेरे ज्ञानस्वभाव द्वारा मैं चैतन्यस्वरूप हूँ न! ज्ञायक हूँ न! सफेद कलई है, उसके द्वारा काले रूप सफेदी को होना अशक्य है। सवेरे पूछते थे न ? सेटिका... सेटिका। मूल तो श्वेतिका है। श्वेतिका है न ? कलईपना। दीवार को सफेद करे। करे किसे ? कलई कलई में और दीवार दीवार में। भगवान आत्मा जाणक-दर्शक जो उसकी पर्याय है, वह उसकी पर्याय निर्मल होती है। ऐसा न मानकर पर को माने, वह तो मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ कहते हैं कि अरे! मैं तो एक ही ज्ञायकस्वभावभाव, ज्ञायकस्वभावभाव, जाननेवाला स्वभावभाव, उसका परमार्थ से वास्तव में पर के भाव द्वारा अर्थात् मोह जड़कर्म का पाक जो आया, परसन्मुख के मोह का विकल्प (आया); यह मोह अर्थात् मिथ्यात्व की बात नहीं है। अस्थिरता का भाग। पहली बात साधारण की और पश्चात् दूसरा भाग निकालेंगे। इस पर के भाव द्वारा अर्थात् पर की पर्याय द्वारा इस कर्म के पाक से होता मोह विकार, उसकी पर्याय द्वारा ज्ञायकस्वभावभाव का होना अशक्य है। समझ में आया ? क्या कहते हैं यह ? बात अभी झिल

जाए... कभी पैर से चढ़ा नहीं। मार्ग देखा नहीं। मार्ग देखा नहीं परन्तु कैसा होता है, इसे सुनने में आया नहीं।

कहते हैं, भगवान आत्मा धर्मी जीव अपने आत्मा के ज्ञायकस्वभावभाव का मोहरूप होना अशक्य है, ऐसा मानता है। समझ में आया? आत्मा का अस्तित्व यहाँ कहना है न? आत्मा के अस्तित्व की विद्यमानता / मौजूदगी में वह तो ज्ञायकस्वभावभाववाली उसकी मौजूदगी है। ज्ञायकस्वभावभाव उसकी अस्ति है। उस ज्ञायकस्वभावभाव द्वारा, उस दर्पण द्वारा काले कोयलारूप से परिणमना जैसे अशक्य है, वैसे मेरे ज्ञायकस्वभावभाव द्वारा उस मोहरूप परिणमना, वह मेरी पर्याय में अशक्य है। समझ में आया? ओहोहो! देखो! यह जीव-अजीव अधिकार। जीव किसे कहना? और अजीव किसे कहना? इसका भान नहीं होता। किसे आत्मा और किसे अजीव कहना? एकमेक पिण्ड दिखाई दे न सब इकट्ठा। शरीर, मिट्टी, यह और यह।

यहाँ तो कहते हैं कि कर्म और अनादि आत्मा एक खान में पड़े हुए, उसके पाक काल में धर्मी ऐसा जानता है कि मैं, मेरे ज्ञान में, मेरा ज्ञान अथवा मेरा स्वभाव इस मोहरूप होना अशक्य है, अशक्य है। (आकाश में) फूल नहीं होता, (यह) जैसे अशक्य है, गधे को सींग होना अशक्य है; वैसे मेरे ज्ञानस्वभाव द्वारा मोहरूप होना अशक्य है। आहाहा! अन्तर्मुख का उपयोग ज्ञायक का स्वभाव द्वारा ऐसा होता है, ऐसा कहते हैं। यहाँ तो समझाने में क्या (कहे)? कि ज्ञायकभाव चैतन्य प्रभु जाणक-दर्शक, ऐसी चीज़ का अन्तर्मुख होकर भान हुआ, इससे इस ज्ञायकभाव द्वारा, ज्ञानभाव द्वारा, प्रकाशभाव द्वारा, चैतन्यप्रकाश के परिणाम उपयोग द्वार द्वारा, इस मोह द्वारा मुझे दोनों को एक होना अशक्य है। नवनीतभाई! समझ में आया? ऐसी अन्तर में भेदज्ञान की अनुभूति होना, उसने आत्मा जाना और उसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान कहते हैं। समझ में आया?

परमार्थ से पर के भाव द्वारा... यह तो जैसे रजकण के भाव द्वारा आत्मा को होना अशक्य है, वैसे मोहभाव द्वारा आत्मा के स्वभाव को मोह के भाव का, मोह का भाव जो परसन्मुख की सावधानी का भाव, ऐसा जो मोहभाव, उसे मेरे स्वभावभाव द्वारा करके परिणमना, वह तीन काल में अशक्य है। समझ में आया? यह अभी आत्मा किसे कहना और कैसे जाना हो तो आत्मा कहलाता है, इसकी बात चलती है। समझ में आया? अभी मैं कौन हूँ? भगवान जाने मैं कौन हूँ इस देह में। मैं कौन हूँ? कहाँ से आया? आता है न श्रीमद् में।

छोटी उम्र में सोलह वर्ष में बोलते हैं। सोलह वर्ष में! सोलह वर्ष की उम्र में। 'मैं कौन हूँ? आया कहाँ से? और मेरा रूप क्या?' क्या... क्या... ?

कहते हैं कि अरे! मैं तो चैतन्य हूँ, मैं द्रव्य चेतन परन्तु मेरा ज्ञायकस्वभाव चैतन्य। उस चैतन्य द्वारा उसकी प्रवाह की पर्याय में द्रव्य आत्मा, गुण ज्ञायक चैतन्यभाव, उसके द्वारा परिणमने की पर्याय मोहरूप हो, यह अशक्य है। उसे जाननेरूप मेरे चैतन्य का परिणमना हो, वह मेरे अस्तित्व के स्वभाव की ताकत ही है। परन्तु मोहरूप होना, वह मुझमें ताकत नहीं है। समझ में आया? उसरूप ताकत हो तो कभी टले नहीं और कभी मुक्ति हो नहीं। सिद्धपद और शान्तिपद कभी मिले नहीं।

और यहाँ स्वयमेव, विश्व को (समस्त वस्तुओं को) प्रकाशित करने में चतुर... चैतन्यशक्तिमात्र स्वभावभाव द्वारा स्वयं ही आत्मा जानता है, अब ऐसा कहते हैं। मोह द्वारा होना अशक्य है, ऐसा कहा। मोह के भाव द्वारा, विकार द्वारा मेरे आत्मा का परिणमना—होना अशक्य है, ऐसा कहा। अब कहते हैं कि क्यों? जानता है वह कौन? कि **स्वयमेव, विश्व को (समस्त वस्तुओं को) प्रकाशित करने में चतुर...** स्वयंमेव। यह मोह आया, इसलिए इसे प्रकाशित करता है, ऐसी भी पराधीनता नहीं है। समझ में आया? इस मोह की अस्तित्वता विकार की भासित हुई, इसलिए यह है; इसलिए यहाँ प्रकाशित होना हुआ, ऐसा नहीं है।

स्वयमेव, विश्व को (समस्त वस्तुओं को) प्रकाशित करने में चतुर... मैं तो सर्व को जानने में चतुर हूँ। चतुर अर्थात् होशियार हूँ। सबको जानने में चतुर हूँ। राग को, मोह को, मेरा करने में मैं चतुर नहीं। समझ में आया? और मोह को करने के लिये मेरी चतुराई नहीं। वह तो मूर्खाई है। प्राणभाई! परन्तु बहुत सूक्ष्म, हों! ख्याल में तो आ सकता है, ऐसा इसे तो आता है कि यह ज्ञानस्वरूप जाणक है, वह पर द्वारा कैसे परिणम सकता है? मोह द्वारा कैसे होगा? कैसे? **स्वयमेव, विश्व को (समस्त वस्तुओं को) प्रकाशित करने में चतुर और विकासरूप ऐसी, निरन्तर...** विकास। चैतन्य का ही विकास। ज्ञायकभावस्वरूप प्रभु की अन्तर्दृष्टि हुई, इसलिए वह **चतुर और विकासरूप ऐसी, निरन्तर...** निरन्तर अर्थात् शाश्वत्। निरन्तर शब्द का यह तो (अर्थ) किया। **निरन्तर शाश्वत् प्रतापसम्पत्तियुक्त है;...** मेरी तो शाश्वत् निरन्तर चैतन्य सम्पदा स्व-पर को प्रकाशित करने में चतुरवाली मेरी सम्पदा है। स्व-पर को एकरूप करे, ऐसी मेरी सम्पदा नहीं है। समझ में आया?

(समस्त वस्तुओं को) प्रकाशित करने में... ज्ञाता-दृष्टारूप रहने में। चाहे जितनी चीज़

हो, उन्हें एकरूप किये बिना समस्त को जानने में चतुर और विकासरूप। क्षण-क्षण में उसकी सम्पदा विकासरूप होती, **ऐसी, निरन्तर शाश्वत् प्रतापसम्पत्तियुक्त है; ऐसा चैतन्यशक्ति मात्र स्वभावभाव के द्वारा,...** ज्ञायक का सदा ही अन्दर विकास ही है। विकास संकोच है या अधूरा है, ऐसा है नहीं। निरन्तर प्रताप सम्पदा है। लो, और प्रताप सम्पदा आयी। पीछे आता है न? प्रभुता।

भगवान आत्मा अपनी प्रताप सम्पदा द्वारा **ऐसा चैतन्यशक्ति मात्र स्वभावभाव के द्वारा, भगवान आत्मा ही जानता है...** भगवान आत्मा ही जानता है। उसमें उपयोग कहा था परन्तु वह उपयोग, वह आत्मा। **कि – परमार्थ से मैं एक हूँ...** अनेक प्रकार के मोह के भाव, उनरूप होना अशक्य है परन्तु मैं तो मेरे ज्ञायकभाव की सम्पदा द्वारा एकरूप होने के लिये समर्थ हूँ। उसके रूप समर्थ नहीं और इस रूप समर्थ हूँ। ऐसे अस्ति-नास्ति की है। समझ में आया? मोहरूप होने को अशक्य हूँ परन्तु मेरी चैतन्य सम्पदा चतुर विकास से चैतन्य शक्तिस्वभाव द्वारा भगवान आत्मा अन्तर में जानता है कि परमार्थ से मैं एक हूँ। विकार की अनेकता में एकरूप जाननेवाला मैं हूँ। विकार की अनेकतारूप होनेवाला, वह मैं नहीं हूँ। आहाहा! समझ में आया? यह मूल बात सूक्ष्म पड़े न, इसलिए लोगों ने फिर बाहर से चला लिया कि करो भाई व्यवहार और करो यह दया, दान, व्रत, पूजा और भक्ति। यह करते-करते अपवास करो और धर्म होगा। सब बिना एक के शून्य हैं, रण में शोर है। उसका शोर कोई सुने, ऐसा नहीं है।

भगवान आत्मा ऐसा दुर्लभ लगता है, दुर्लभ लगे; इसलिए उल्टे रास्ते चढ़ा दिया और सबने मान लिया। क्या? नलियाजी! बाह्य से यह जहाँ देखे कि यह नग्न हुए या इसने वस्त्र छोड़ दिये, स्त्री-पुत्री छोड़कर बैठा। भारी त्यागी। भाई! सुन तो सही। वह धर्म का त्यागी है। उसने धर्म का त्याग किया है। धर्म किसे कहना, इसकी उसे खबर नहीं है। धर्मचन्दजी! धर्म का त्यागी। यह नियमसार में आता है, हों! नियमसार में।

श्रोता : यहाँ यही सुनते आये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : सुनते हैं परन्तु ये वापस घुस जाते हैं। नलियाजी! कहाँ गये तुम्हारे? वे चले गये धन्नालाल। ओहोहो!

ऐसी, निरन्तर शाश्वत् प्रतापसम्पत्तियुक्त... से मैं विराजमान हूँ। **चैतन्यशक्ति मात्र स्वभावभाव के द्वारा, भगवान आत्मा...** उस शक्ति की प्रगटता द्वारा परमार्थ से मैं एक हूँ, ऐसा जानता है। उस चैतन्य प्रकाश स्वभाव भगवान का भान होने पर अनेकरूप से मोह उत्पन्न

होने पर भी उसका एकरूप परमार्थ आत्मा ज्ञान करे, उसे आत्मा का अस्तित्व भान में आया, ऐसा कहने में आता है। कहो, समझ में आता है या नहीं राजमलजी ? बहुत सूक्ष्म बात है। ऐसी कभी कुछ भी कान में नहीं पड़ी। हाँ और हो और हरिफाई बाहर में। उससे निवृत्त नहीं होता। उसमें निवृत्त होकर आवे तो इसे दूसरी विपरीतता घुस जाती है। यह सुनने तक का भी समय नहीं मिलता। अब सुने बिना इसे विवेक भी नहीं आता।

कहते हैं, अहो! मेरी सम्पदा चतुर ऐसी है कि मेरे चैतन्य शक्तिमात्र, चैतन्य शक्तिमात्र। मोह कहाँ है मुझमें? ऐसे भाव **द्वारा, भगवान आत्मा ही जानता है...** भगवान आत्मा जानता है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान हुआ, वहाँ स्वयं कहते हैं कि भगवान आत्मा जानता है। आहाहा! **कि – परमार्थ से मैं एक हूँ इसलिए, यद्यपि...** बीच में थोड़ा न्याय देते हैं। **समस्त द्रव्यों के परस्पर साधारण अवगाह का (–एकक्षेत्रावगाह का) निवारण करना अशक्य होने से...** देखो! विशिष्टता। यह विकारी भाव है न ? यह परस्पर साधारण अवगाह प्राप्त हैं। एकपना पाया नहीं। जैसे जहाँ आत्मा रहा है, वहाँ शरीर है। है भिन्न के भिन्न। एक क्षेत्र में है। यह मिट्टी और आत्मा चैतन्य प्रभु दोनों एक जगह है, तथापि दोनों एक नहीं हैं। इसी प्रकार भावक मोहकर्म के पाक के काल में जो भाव है, वह मेरे आत्मा के एक क्षेत्र अवगाह के एक क्षेत्र में है परन्तु एक भावरूप नहीं। भावरूप नहीं, एक क्षेत्रावगाह है। एक क्षेत्रावगाह तो यह शरीर है, रजकण है, मिट्टी है, कफ है, रक्त है, माँस है।

इस प्रकार धर्मी अपने आत्मा को ज्ञायकस्वभाव द्वारा देखता, जानता हुआ उसके एक क्षेत्रावगाह में रहे हुए मोहभाव को अवगाहन को निवारण करना अशक्य बात है। वह तो उसरूप परिणमना अशक्य है। अर्थात् कि एक जगह रहना वह अशक्य नहीं है। एक जगह रहना, वह अशक्य नहीं है। समझ में आया ? मोह के पाक के विकाररूप आत्मा के स्वभाव का होना, वह अशक्य है, परन्तु एक जगह रहना अशक्य नहीं है। भले हो, उसके भाव में वह और मेरे भाव में मैं। नवनीतभाई! मोहभाव भी एक क्षेत्र में लिया। एक भाव नहीं, एक भाव नहीं। ज्ञायकस्वभाव का भाव और मोह का भाव एकक्षेत्र में हो, एक जगह हो। एक भाव नहीं है, एकरूप नहीं है, एक अस्तित्व में नहीं है। दोनों का एक अस्तित्व नहीं है। मीठालालजी! समझ में आया ? लालजीभाई! यह ऐसा सूक्ष्म है, लो! बाहर से सब समझा दे वे, हों! एकदम। यह तो वह बाह्य ऐसा लगे। दो–पचास हजार सीलिंग। लोग कहे, इसमें जितना धर्म होगा, वह सब तुम्हारे आयेगा। मीठालालजी!

श्रोता : आगामी जन्म में मिलेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : आगामी जन्म में मिलेगा। कुछ समझने का नहीं। सीधी-सीधी बात, हर्ष को वेदन करता है।

यहाँ तो कहते हैं भगवान! तेरे अस्तित्व के अन्दर तेरी विद्यमानता में, तेरी मौजूदगी में, विकार का रहना एक जगह भले हो परन्तु एक मौजूदगीरूप—अस्तित्वरूप नहीं है। यह भेदज्ञान बताते हैं। इससे तू भेदरूप है। इससे एकरूप नहीं। शिखरचन्दजी! ऐ... व्यवहार। यहाँ तो कहते हैं कि व्यवहार एकक्षेत्रावगाह है परन्तु एकभावरूप, एक अस्तित्वरूप विद्यमानरूप दोनों का एकरूप कभी नहीं होता। समझ में आया? है न? पुस्तक। भाई, लालजीभाई! यह लाईन सूझे ऐसी नहीं है। गज के अंक की सूझे, ऐसी नहीं है। यह हमारे प्राणभाई हर समय कहते हैं कि यह स्पष्ट होता है, परन्तु स्पष्ट पकड़ना तो सबको है न!

यद्यपि समस्त द्रव्यों के परस्पर साधारण अवगाह का (–एकक्षेत्रावगाह का)... एकक्षेत्र व्यापने का। एकक्षेत्र में व्यापकता का। **निवारण करना अशक्य होने से...** एक क्षेत्र में रहे, उसका निराकरण कौन करे? छह द्रव्य एक क्षेत्र में है। आत्मा भी है, वहाँ दूसरे अनन्त सूक्ष्म आत्माएँ हैं। धर्मास्ति है, अधर्मास्ति है, आकाश है, काल असंख्य अणु हैं, परमाणु तो अनन्त हैं। कर्म के, शरीर के, वाणी की ध्वनि उठती है यह आवाज। धूल की उठती है, यह कहीं आत्मा नहीं है। यह तो धूल की, जड़ की, रजकण की आवाज है। ऐसे एक क्षेत्र में रजकण / परमाणु, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल, पुद्गल और यह विकारी भाव ये सब और मैं इन्हें एक जगह रहना टालना मुश्किल है। एक जगह न रहे, यह अशक्य का है। समझ में आया?

श्रोता : अपनी पर्याय के भाव भी आ गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह विकार है न! अशुभ है। आस्रव है। भले शुभ हो परन्तु आस्रव है। दया, दान, व्रत, तप का विकल्प / वृत्ति उठती है, परन्तु वह भी एक जगह अवगाहनरूप है, एक भावरूप नहीं। वह स्वभाव नहीं, वह स्वभाव नहीं। इस चैतन्य का परिणमना, वह विकाररूप नहीं होता। विकार का परिणमना, वह चैतन्यरूप नहीं होता, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? ओहो! बहुत सूक्ष्म, भाई! इसे वह व्यवहार ऐसा गले पड़ा है न!

जिसे भगवान ने व्यवहार कहा, महाव्रत और अणुव्रत और अमुक। यह सब कहते हैं कि वह मैं हूँ, वहाँ भले हो। वह तो एकक्षेत्र में व्यापना है, परन्तु एक अस्तित्व में दो है—

व्यवहार का भाव और मेरे आत्मा का भाव एक अस्ति में है, ऐसा नहीं। एक अस्ति होना ही अशक्य है परन्तु एक जगह रहना, वह अशक्य नहीं है। हो; समझ में आया? **परस्पर...** परस्पर, हों! आत्मा ज्ञायकस्वभाववाला और विकार मलिन भाववाला, वह परस्पर ज्ञायकभाव वहाँ मलिनभाव और मलिनभाव, वहाँ ज्ञायकभाव एक क्षेत्र में व्यापनेरूप से निवारण करना अशक्य है।

इसके कारण **मेरा आत्मा और जड़,...** मेरा आत्मा और जड़। ज्ञायकभावस्वभावरूप आत्मा और मोहभावरूप जड़, मोहभावरूप जड़। **श्रीखण्ड की भाँति,...** श्रीखण्ड की भाँति। **एकमेक हो रहे हैं...** अब श्रीखण्ड का दृष्टान्त दिया। खटास और मिठास एक जगह रहती है। श्रीखण्ड दही की खटास और शक्कर की मिठास एक जगह रहे, तथापि एक भावरूप नहीं (होती)। बराबर है? नवनीतभाई! श्रीखण्ड। श्रीखण्ड एक जगह रहे। इकट्ठा पिण्ड उठाये ऐसे। दोनों रस एक रस नहीं हैं, दोनों के अलग-अलग रस हैं। खट्टा, वह मीठा नहीं है और मीठा, वह खट्टा नहीं है। उसी प्रकार आत्मा और जड़, आत्मा वह मीठा आनन्दस्वरूप है और यह विकार जड़, वह खटाशरूप है। समझ में आया?

भगवान आत्मा चैतन्य प्रभु उस विकार के भाव से भिन्न ऐसी चैतन्य की मौजूदगी में से आनन्द का अनाकुल स्वाद और पर के प्रति मोह के विकार का खट्टा स्वाद श्रीखण्ड की भाँति दोनों स्वाद अत्यन्त भिन्न हैं। समझ में आया? यह जीव-अजीव की व्याख्या चलती है। जीव-अजीव... क्या कहलाता है वह? विचार, कुछ आता है श्वेताम्बर में। जीव विचार। जीव विचार और अजीव विचार। हरिभाई बहुत कहते थे। भायाणी। जीव विचार सीख गये, अजीव विचार सीख गये। जीव विचार और अजीव विचार। अरे! जीव विचार कहना किसे? भाई! तेरा जीव... यहाँ जीव ऊपर रखा है, देखो न। तब जीव रखा था। आत्मा और जीव दोनों एक ही है। परन्तु कोई कहे कि और आत्मा दूसरा निर्लेप अलग होगा तथा जीव और मैल में आ जाता होगा, वह जीव होगा। ऐसा नहीं है। उसी और उसी को जीव कहते हैं तथा उसी और उसी को आत्मा कहते हैं। चैतन्य ज्ञानानन्द भावप्राण से जीवे, इसलिए जीव कहलाता है। उसी और उसी को 'अततिगच्छति इति आत्मा।' अपने भावप्राण, ज्ञान, दर्शन और आनन्द इन रूप परिणमे और रहे, उसे आत्मा कहा जाता है। मोहरूप परिणमे, उसे आत्मा कहने में नहीं आता। कहो, समझ में आया? आहाहा!

आस्रव जीव है या अजीव? अब बड़ा पन्थ निकालकर बैठे हैं, लो! तेरापन्थी, तेरापन्थी। उनके तुलसी हैं न बड़े आचार्य। आचार्य तुलसी। भाई! वहाँ मुम्बई में आये थे। यह

प्रश्न हुआ। यह कहा था और वे सेठिया हैं न? दीपचन्दजी सेठिया, साठ लाख। सरदारशहर। बहुत होशियार। तो उन्होंने प्रश्न किया। हजारों लोग आये थे। वहाँ सरदारशहर में तेरापन्थी के बारह सौ-तेरह सौ घर हैं। यह तीन-चार घर में एक ही घर दिगम्बर। हजारों लोगों के प्रश्न। चार दिन में उनके साथ तीन सौ प्रश्न चले। बहुत शान्त व्यक्ति। बहुत शान्ति से बोले। अन्तर पड़ता है कि आस्रव जीव है या अजीव। तो कहे, जीव। उन लोगों की मान्यता है न। जीव। दूसरा प्रश्न किया कि जीव है तो जीव तो आस्रव जीव के साथ अभेद है या भेद? सेठिया ने प्रश्न किया। क्योंकि कभी सुना नहीं हो। अब वह बड़ा तुलसी आचार्य। भेद है या अभेद? यदि आस्रव जीव है तो भेद है या अभेद? यदि अभेद कहो तो सिद्ध में नहीं और भेद कहो तो उनकी मान्यता नहीं। समझ में आया? अभेद कहे तो सिद्ध में पुण्य-पाप के मलिन परिणाम रहना चाहिए। भेद कहे तो कहे, वह तो जीव परिणाम है, वह तो जीव परिणाम है, वह तो जीव परिणाम है। जीव परिणाम को आत्मा से भिन्न कैसे कहा जाए? आत्मा की पर्याय को आत्मा से भिन्न कैसे कहा जाए? अपना लड़का हो, उसे कैसे कहे कि यह किसी का है? यह बात है। उसने माना है कि यह मेरा पुत्र है। इसी प्रकार पुण्य और पाप के विकल्प, वह चैतन्य की प्रजा है ही नहीं। वह जड़ की प्रजा है, आत्मा से भिन्न है। यह तो पर्यायदृष्टि में उसके अस्तित्व में होते हैं, इतनी बात है। परन्तु त्रिकाल स्वभाव की दृष्टि में उसके अस्तित्व में वह चीज़ ही नहीं है। उसके अस्तित्व में चीज़ होवे तो कभी आनन्द की प्राप्ति नहीं हो। समझ में आया?

मेरा आत्मा और जड़, श्रीखण्ड की भाँति, एकमेक हो रहे हैं... क्षेत्ररूप से, हों! जगह से एकमेक हो रहे हैं। **तथापि, श्रीखण्ड की भाँति, स्पष्ट अनुभव में आनेवाले स्वाद के भेद के कारण,...** श्रीखण्ड की भाँति श्रीखण्ड खानेवाले को दो स्वाद भिन्न दिखते हैं। एक मीठा स्वाद, एक खट्टा स्वाद। उसी प्रकार धर्मी जीव को भेदज्ञान होने से, अनुभूति होने से आत्मा के ज्ञानस्वभाव का स्वाद और मोह का स्वाद दोनों भिन्न भासित होते हैं। आहाहा! समझ में आया? दया, दान, परसन्मुख का भाव मोह जो हुआ, वह आकुलता का स्वाद है। व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प उठे, वह आकुलता का स्वाद है। आहाहा! चैतन्यतत्त्व के अस्तित्व में वह नहीं है। वह पर्याय में माना है, वह पर्यायबुद्धि, मिथ्याबुद्धि है। समझ में आया?

भगवान आत्मा **स्पष्ट अनुभव में आनेवाले स्वाद के भेद के कारण,...** भगवान ज्ञायकस्वभाव शान्तरस से भरपूर। उसका परिणमना, उसका शान्तरस से परिणमना होता है। अनाकुलरूप से परिणमना अवस्था का होता है। उसे आत्मा कहने में आता है। और विकार का परिणमना, वह आकुलता है। दोनों का स्वादभेद है। जिसे लोग धर्म कहते हैं। दया, दान,

व्रत, तप, भक्ति इत्यादि मोहभाव है, वह मोहभाव है। आहाहा! उसे मोह कैसे कहे? छूटे कैसे? इसके गले उतरता (नहीं)। हाँ करने में बलखो निकालना कठिन पड़ता है इसे। आहाहा! अरे! प्रभु! परन्तु एक चैतन्यबिम्ब सम्पदा ज्ञायकस्वभाव से भरपूर है। उसके अंश में फिर यह विकार का अंश कहाँ से आवे? उसके अंश में उसकी जाति का अंश आता है। द्रव्य ज्ञायकभाव, स्वभाववान। उसका गुणस्वभाव ज्ञायकभाव, पर्याय जानना-देखना और आनन्द के परिणमनरूप अस्तित्व, यह तीन होकर यहाँ आत्मा कहने में आता है। समझ में आया? बाबूभाई! ओहोहो!

देखो न, अमृतचन्द्राचार्य ने टीका की न! दिगम्बर सन्त मुनि भावलिंगी जंगल में बसते थे। सिद्ध के साथ भेंट करके बातें करते हैं! चारित्रवन्त हैं न! आहाहा! अन्दर से आनन्द का रस उछलता है। चारित्र-चारित्र तीन कषाय... अरे! किसे चारित्र कहना? किसे साधुपना कहना, खबर नहीं होती। अपने को त्याग न हो, और (इसलिए इसे ऐसा लगता है)। आहाहा! बहुत त्याग किया। धन्य-धन्य महाराज! यहाँ कहते हैं कि बापू! तुझे अभी आत्मा की खबर नहीं तो सामनेवाले का आत्मा साधुपदवाला कैसा होता है और विकार का एकत्व माननेवाला कैसा होता है, इसकी तुझे परीक्षा किस प्रकार होगी?

यहाँ तो आचार्य महाराज कहते हैं कि यह स्पष्ट अनुभव में जैसे श्रीखण्ड का स्वाद प्रत्यक्ष भिन्न भासित होता है, वैसे भगवान आत्मा, अपने निज स्वभाव का शान्तरस और मोहभाव परसन्मुख का, अस्थिरता का, राग-द्वेषादि का भाव, वह पुण्य-पाप का भाव, वह शुभवृत्ति। यह व्रत की वृत्ति, दया की वृत्ति, भक्ति की वृत्ति, पुण्य की वृत्ति—इन दोनों का स्वाद तो स्पष्ट, दो का स्वाद तो स्पष्ट अनुभव में आने पर स्वाद की भिन्नता के कारण **मैं मोह के प्रति निर्मम ही हूँ;...** क्यों?—कि इस कारण से मैं ऐसा हूँ। समझ में आया?

भगवान आत्मा चैतन्य के स्वभाव की डली। उसमें से तो रस... गुड़ का भेली होवे, उसमें से झरे गुड़ या उसमें से झरे काली जीरी का रस? यह भेली नहीं आती कोल्हापुर। कोल्हापुर न? क्या कहलाता है वह? कोल्हापुर का सफेद गुड़ मीठा। धूप लगे तो उसमें से गुड़ का रस झरे या उसमें से काली जीरी झरती होगी? इस प्रकार भगवान आत्मा आनन्द प्रभु अनाकुल रस स्वरूप आत्मा और आकुलरूप जो मोह, इन दो के स्वाद के भेद के कारण मैं उस मोह के प्रति निर्मम ही हूँ। यह खटास और मिठास दोनों एक जगह रहे होने पर भी मिठास के स्वाद के कारण खटास का स्वाद अलग है। जैसे श्रीखण्ड का भान हो, वैसे आत्मा के ज्ञान

का स्वाद और इन मोह-राग-द्वेष का स्वाद अत्यन्त भिन्न है, इसलिए मैं इस मोह के प्रति निर्मम ही हूँ। समझ में आया? ऐसा निर्ममत्व हूँ, निर्ममत्व हूँ (कहे), ऐसा नहीं। हमारे कुछ ममता नहीं। अरे! बापू! ऐसा नहीं है, भाई! अन्दर के विकार की वृत्ति का अस्तित्व, उसमें चैतन्य के अखण्ड पूर्ण स्वभाव के अस्तित्व में एकता माने, उसे पूर्ण मोह के प्रति ममता है। समझ में आया?

कहते हैं कि ऐसे स्वाद के भेद के कारण वह मोह एक जगह दिखने पर भी एक भाव से नहीं है। उसके प्रति मैं निर्मोह हूँ, निर्ममत्व ही हूँ। समझ में आया या नहीं इसमें? गाथा भारी सूक्ष्म आयी आज। और यह वापस गुजराती आया, इसलिए इसमें धीरे-धीरे चलता है। हिन्दी में बहुत संक्षिप्त होता था। समझ में आया?

क्योंकि सदा अपने एकत्व में प्राप्त होने से समय (आत्मपदार्थ अथवा प्रत्येक पदार्थ) ज्यों का त्यों ही स्थित रहता है। भगवान आत्मा सदा अपने एकत्व में प्राप्त होने से। अपने ज्ञानस्वभाव... ज्ञानस्वभाव... ज्ञानस्वभाव। मोह और दया, दान के विकल्प से भिन्न एकपने में आत्मा प्राप्त होता है। यह आत्मा एकत्व में प्राप्त होता है। यह अनेकपने को प्राप्त नहीं होता। **सदा अपने एकत्व में प्राप्त होने से...** समय अर्थात् आत्मपदार्थ। प्रत्येक पदार्थ लिया है परन्तु यहाँ अभी आत्मपदार्थ की व्याख्या चलती है। **ज्यों का त्यों ही स्थित रहता है।** विकार की, मोह की गन्ध जिसे स्पर्श नहीं करती। भगवान आत्मा पर से भिन्न भान में आत्मा के अस्तित्व में उसे आत्मा कहते हैं कि जो आत्मा मोह को स्पर्श नहीं करता। दया, दान के विकल्प के राग को स्पर्श नहीं करता। उसका स्वाद और चैतन्य के स्वाद के दोनों के भिन्न भास में वह पर से निर्ममत्व है। व्यवहार का भाग आया, उससे निर्ममत्व है। बहुत सूक्ष्म, भाई! धर्मचन्दभाई! समझ में आया? मुम्बई में ऐसा डाले तो बहुत सूक्ष्म पड़े, हों! फिर दृष्टान्त और दलील ऐसा करके डाले। पश्चात्... हो जाए वहाँ। वहाँ तो स्थूल आवे न! ऐसी अकेली लगावे अकेली यहाँ तो पींजण चैतन्य की है।

भगवान चैतन्य ज्योत प्रभु ज्ञायकस्वभाव की शक्ति का सत्त्व वह आत्मा, उसके भान में उसे आत्मा कहते हैं कि जो आत्मा विकार के भाव को छुए नहीं, प्राप्त नहीं हो और स्वयं अपने एकपने के ज्ञायकभाव को प्राप्त हो, उसे आत्मा कहने में आता है। कहो, समझ में आया? **ज्यों का त्यों ही स्थित रहता है।** ऐसा का ऐसा अर्थात् निश्चय की पर्याय में अभेद होता हुआ व्यवहार की पर्याय से एकपना नहीं पाता। समझ में आया?

दही और शक्कर मिलाने से श्रीखण्ड बनता है, उसमें दही और शक्कर एक जैसे मालूम होते हैं, तथापि प्रगटरूप खट्टे-मीठे स्वाद के भेद से भिन्न-भिन्न जाने जाते हैं;... दोनों भिन्न-भिन्न हैं। दोनों एक नहीं हैं। **इसी प्रकार द्रव्यों के लक्षण भेद से...** यह द्रव्य का लक्षणभेद हुआ। यह आस्रव परद्रव्य हो गया। **जड़-चेतन के भिन्न-भिन्न स्वाद के कारण ज्ञात होता है कि मोहकर्म के उदय का स्वाद रागादिक है...** मोहकर्म का स्वाद तो राग-द्वेष और पुण्य-पाप है; वह मेरा स्वाद नहीं है, मेरी चीज़ के अस्तित्व में वह नहीं है। **वह चैतन्य के निजस्वभाव के स्वाद से भिन्न ही है। इस प्रकार भावकभाव जो मोह का उदय उससे भेदज्ञान हुआ।** इस प्रकार, भावकभाव जो मोहभाव राग, द्वेष, दया, दान। इस मोह का जो उदय, वह मोह का पाक है। उससे भगवान आत्मा का भेदज्ञान हुआ। इसका नाम आत्मा कहने में आता है। विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

१९

श्री समयसार कलश टीका, कलश-२४८, प्रवचन - २४१
दिनांक - ०६-१२-१९६५

यह कलश टीका, स्याद्वाद अधिकार। उसमें स्याद्वाद अधिकार में दूसरा कलश है। यहाँ तक आया है, देखो! २१८ पृष्ठ में नीचे आया। **सर्वथा वस्तुरूप मानते हैं...** नीचे से चौथी लाईन। वस्तु को सर्वथा वस्तुरूप—द्रव्यरूप मानते हैं अथवा सर्वथा पर्याय (रूप) मानते हैं। **वे जीव एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं।** समझ में आया? पदार्थ हैं, वे पर के सम्बन्धरहित द्रव्य-पर्यायस्वरूप है। अपना स्वभाव द्रव्य अर्थात् कायम ध्रुवरूप रहना, पर्याय अर्थात् उसका परिणमन। यह वस्तु का द्रव्य-पर्यायरूप (स्वरूप है)। उसमें सर्वथा द्रव्यरूप माने तो एकान्त मिथ्यात्व है। सर्वथा एक अवस्थारूप ही माने तो भी एकान्त मिथ्यात्व है।

कारण कि वस्तुमात्र को माने बिना... वस्तु... वस्तुस्वरूप है। द्रव्यरूप से त्रिकाल ध्रुव है, उसे माने बिना **पर्यायमात्र के मानने पर पर्यायमात्र भी नहीं सधती है;...** समझ में आया इसमें? भीखाभाई! वस्तुमात्र को माने बिना पर्याय एक अंशमात्र की अवस्थामात्र मानने से पर्यायमात्र भी सधती नहीं। वह पर्याय सिद्ध नहीं होती। वस्तु पूरी है, उसे माने बिना अकेली पर्याय मानने जाए तो वह पर्याय सिद्ध नहीं होती। किसकी पर्याय? किसका अंश? वस्तु को सिद्ध किये बिना अंश जो पर्याय, वह साबित नहीं होती। समझ में आया? वह पर्याय किसी के कारण से नहीं, उसे स्वयं के कारण से है, **वहाँ अनेक प्रकार साधन-बाधन है,...** युक्तियाँ सिद्ध करने के लिये (भी है)। और विरोध की युक्तियाँ भी है। **अवसर पाकर कहेंगे।** इतनी बात समेट ली है।

अथवा पर्यायरूप माने बिना वस्तुमात्र मानने पर... अवस्था न माने और अकेली वस्तु ही माने (वहाँ) **वस्तुमात्र भी नहीं सधती है।** अंश के बिना अंशी त्रिकाल कौन है, यह भी सिद्ध नहीं हो सकता, साबित नहीं हो सकता। **वहाँ भी अनेक युक्तियाँ हैं। अवसर पाकर कहेंगे।** इतना यहाँ कहा।

इसी बीच कोई मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञान को पर्यायरूप मानता है,... अब यहाँ से बात

लेना है। 'ज्ञान' शब्द से आत्मा ज्ञानस्वरूप ध्रुव ज्ञान त्रिकाल। उस ज्ञान को पर्यायरूप माने, अवस्थारूप माने, **वस्तुरूप नहीं मानता है,...** वस्तु ध्रुव है। त्रिकाल ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वज्ञानरूप त्रिकाल है, उसे न माने। **ऐसा मानता हुआ ज्ञान को ज्ञेय का सहारे का मानता है,...** ज्ञान को ज्ञेय का अवलम्बन निमित्त है, इसलिए उसके सहारे का, उसके अवलम्बन का ही अकेला ज्ञान है, ऐसा मानता है। ज्ञान की पर्याय पर की अपेक्षा रखती है कि जैसा पर है वैसी यहाँ जानने की पर्याय परिणमती है। ऐसा परिणमने में पर की अपेक्षा है, इतना न मानकर, उस पर के सहारे का ही ज्ञान मानता है। वह पर्याय पर से हुई है, ऐसा मानता है।

'परेणजायते पर्याय:' एक शब्द आया था। खबर है ? कहो, समझ में आया ? जब यहाँ बहुत सिद्ध करने लगा कि पर्याय पर्याय से है; पर्याय पर से नहीं। सामने ऐसी भी दलील आयी कि 'परेणजायते पर्याय:' पण्डितों की ओर से, हों! पर से हो वह पर्याय-ऐसा हो नहीं सकता। समझ में आया ?

ऐसा मानता हुआ ज्ञान को ज्ञेय का सहारे का मानता है,... भगवान आत्मा की वर्तमान एक समय की पर्याय, जिसे ज्ञेयभेद से, ज्ञेय के भेद से, ज्ञेय के प्रकार से ज्ञान का परिणमना पर्याय में अपने में अपने से होता है। समझ में आया ? वस्तु में ऐसा नहीं है, वस्तु तो एकरूप ध्रुव है। ज्ञेय अर्थात् ज्ञात होनेयोग्य वस्तु के भेद से, प्रकार से, अनेकता से ज्ञान की पर्याय उसरूप से, ज्ञेयभेद से भेदरूप परिणमे, इतनी उसकी मर्यादा है। यहाँ तो कहते हैं कि वह ज्ञान की पर्याय पर के सहारे और ऐसा ही ज्ञान यहाँ होता है, इसलिए वह पर्याय ही उसकी है। उसमें ही मैं (पर में) चला गया हूँ, उसरूप ही मैं हूँ। समझ में आया ? अपनी पर्याय पर में अर्पित कर दी है। स्वयं तत्रूप नहीं रहा। यह यहाँ प्रश्न है न ? अतत् है, पर से अतत् है। उसके बदले मैं पर से ही तत् हूँ। पर से ही तत् हूँ, मेरी पर्याय पर से ही तत् है—ऐसा (मानता है)। कर्म है तो विकार की पर्याय होती है न ? पर से तत् है न पर्याय ? क्या विकार पर्याय कहीं अपने द्रव्य में से आती है ? विकारी पर्याय विकार है, वह कहीं द्रव्य में से आती है ? विकार कर्म के निमित्त में परिणमता है, इसलिए उसरूप पर्याय है—ऐसा माननेवाले पर्याय को वास्तविकरूप से नहीं मानते। मेरी पर्याय भिन्न है, ऐसा वह नहीं मानते। समझ में आया ?

उसके प्रति समाधान इस प्रकार है कि इस प्रकार तो एकान्तरूप ज्ञान सधता नहीं। वह ज्ञान साधा नहीं जा सकेगा, ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकेगा। **इसलिए ज्ञान अपने सहारे का है, ऐसा कहते हैं...** इस प्रकार ज्ञान अपने सहारे का, अपने अवलम्बन का, अपने आश्रय

का है, यह बात सिद्ध करते हैं। यहाँ तक तो सब बात अमुक ली है। अब श्लोक का शब्द शुरु होता है। यहाँ तक तो पूरी न्याय की बात सिद्ध की है।

अब (कहते हैं), **'पशोः ज्ञानं सीदति'** यहाँ से बात उठायी, लो! पश्चात् **'बाह्यार्थैः'** बाद में डालेंगे। **'पशोः ज्ञानं सीदति'**। **'पशोः'** पशु, संस्कृत में पशु का अर्थ किया है। **'पश्यते, बध्यते कर्मे इति पशुः'** अज्ञानी। **'पशुः पश्यते, बध्यते इति अज्ञानी'** अज्ञानी कर्म से बँधता है, क्योंकि उसकी पर्याय, भेद द्वारा, अनेक भेदों द्वारा ज्ञान, ज्ञानरूप परिणमने से, वह ज्ञान की पर्याय मानो पर में चली गयी, ऐसा माननेवाले अज्ञानी नये अज्ञान आदि कर्म से बँधते हैं, इसलिए उसे पशु कहने में आया है। समझ में आया?

'पशोः ज्ञानं सीदति' ('पशोः') एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जैसा मानता है कि ज्ञान परज्ञेय के सहारे का है... उसमें पहले से सिद्ध कर गये थे। समझ में आया? कि ज्ञान फिर **पर्यायरूप कहने पर स्वज्ञेय अथवा परज्ञेय को जानता हुआ...** पहले से आठवीं लाईन है न? ज्ञानपर्यायरूप कहने से स्वज्ञेय को जाने और परज्ञेय को जानता है। समझ में आया? ज्ञेय पूरी चीज़ स्ववस्तु और परवस्तु। उसे वर्तमान अपनी एक समय की पर्याय उस स्वज्ञेय को और परज्ञेय को जाननेरूप पर्याय एक समय की परिणमती है। समझ में आया?

(यह) स्याद्वाद अधिकार है, सूक्ष्म है। एक समय की पर्याय, स्वज्ञेय पूरा, उसको जाननेरूप परिणमे और परज्ञेय पूरा, उसको जाननेरूप एक समय की पर्याय परिणमे, (इस-प्रकार से परिणमे), तथापि वह पर्याय द्रव्यरूप नहीं होती तथा परद्रव्यरूप नहीं होती। स्वद्रव्यरूप भी नहीं होती और परद्रव्यरूप भी नहीं होती। समझ में आया? यह पहले कह गये थे। देखो! कहा है न? **पर्यायरूप कहने पर स्वज्ञेय अथवा परज्ञेय को जानता हुआ ज्ञेय की आकृति-प्रतिबिम्बरूप परिणमता है जो ज्ञान।** यह पर्याय है। द्रव्य की ज्ञानपर्याय, ज्ञान गुण त्रिकाल है, उसकी एक समय की पर्याय स्वज्ञेय पूरे रूप को जाननेरूप परिणमे, परज्ञेय पूरे को जाननेरूप परिणमे सही। उसका जैसा स्वरूप स्वज्ञेय का और पर का, ऐसे जाननेरूप पर्याय परिणमे सही। उसरूप पर्यायरूप कहने से स्वज्ञेय, परज्ञेय को जानते हुए ज्ञान परिणमे, इतना कहने में आता है। **इसलिए ज्ञान को पर्यायरूप कहने पर ज्ञान ज्ञेय के सहारे का है।** ऐसा कहने में आता है, ऐसा पहले में कहा था। यह बात तो सच्ची है।

यहाँ वापस कहते हैं, अज्ञानी **'पशोः सीदति'** पशु। ज्ञान परज्ञेय के सहारे का है, इतना इसमें रखा। समझ में आया? नहीं तो ज्ञान की एक समय की पर्याय स्वज्ञेय और परज्ञेय को

जाननेरूप परिणमे, इस अपेक्षा से, ज्ञेय का अवलम्बन है, इस अपेक्षा से पर के सहारे का है, ऐसा कहने में आता है। यह तो उचित है, कहते हैं। यह तो पर्याय का ऐसा कहना-जानना उचित है परन्तु उस पर्याय में स्वज्ञेय पूरा पड़ा रहा। पर्यायमात्र मानता है, ऐसा लेना है न यहाँ? **ज्ञान को पर्यायरूप मानता है...** तीसरी लाईन। २१९ (पृष्ठ पर)। ज्ञान को अकेला पर्यायरूप मानता है। वह पर्याय भी कैसी? कि ज्ञान परज्ञेय के सहारे का है, ऐसा मानता है। समझ में आया? स्वज्ञेय पड़ा रहा। क्योंकि स्वद्रव्य को तो मानता नहीं, पर्याय को मानता है। अब उस पर्याय में भी पर के सहारे से पर्याय को मानता है। इसलिए उसकी पर्याय भी पर में डूब गयी। समझ में आया?

ज्ञान परज्ञेय के सहारे का है, उसमें—सच्ची बात में स्वज्ञेय-परज्ञेय का ज्ञान था। समझ में आया? ज्ञान की एक समय की पर्याय, वह पर्याय कहने से वह स्वज्ञेय पूरा और परज्ञेय, उसे जाननेरूप पर्याय परिणमे, ऐसी अपेक्षा से ज्ञान की पर्याय ज्ञेय-पर सहारे की अवलम्बनवाली है, ऐसा कहा जाता है। यह बात इस प्रकार से तो उचित है, कहते हैं। परन्तु इस ज्ञान की पर्याय को मात्र परज्ञेय के सहारे में मानना और परज्ञेय है तो ज्ञान पर्याय हुई है, ऐसा मानना, वह एकान्त मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? ऐसा निवृत्त हो, वह ऐसी बातें समझे, नहीं? इसकी अपेक्षा तो पूजा, भक्ति, व्रत करे, वह कैसा? एकदम सरल। पूजा, भक्ति, दान करे, रोटियाँ कम करना और खाना... जाओ! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि वस्तु ऐसे-ऐसे नजर में उसे द्रव्य... द्रव्य... द्रव्य... द्रव्य... एकरूप और एक समय की पर्याय, वह वस्तु का स्वरूप है। द्रव्य है, वह तो निर्विकल्प अभेद एकरूप वस्तु है। पर्याय जो है एक समय की, एक समय की पर्याय, उसे पर्यायरूप से क्यों कहा?—कि वह पर्याय स्वज्ञेय और परज्ञेय का जो स्वरूप है, वैसा वह ज्ञान की पर्याय परिणमती है। परिणमती है अर्थात् उसे ज्ञेय के सहारे की (कहने में आया है)। ज्ञानपर्याय है, इस अपेक्षा से ज्ञेय हुआ न पर? इस अपेक्षा से ज्ञेय के सहारे की पर्याय कहलाती है। यह तो वस्तु की स्थिति है, परन्तु यह भगवान ज्ञान वस्तु जो त्रिकाल है, उसकी एक समय की पर्याय ही मानना, वस्तु को नहीं मानना और एक समय की पर्याय भी परज्ञेय के सहारे की है, इतना बदला। समझ में आया? वह पर्याय मात्र परज्ञेय है तो होती है। ऐसा नीचे दृष्टान्त देंगे। घट है तो घटज्ञान होता है, पट है तो पटज्ञान होता है, (ऐसा) प्रत्यक्ष है। परन्तु वह ज्ञानस्वरूप त्रिकाल है तो ज्ञानरूप से पर्याय परिणमती है, तब वह घटरूप ज्ञान हुआ, उसे घटरूप ज्ञान कहा जाता है, व्यवहार से कहा जाता है। समझ में आया? स्याद्वाद अधिकार में जैनदर्शन के अतिरिक्त

ऐसी बात कहीं नहीं होती। इसलिए यह बात सिद्ध करना चाहते हैं। समझ में आया?

ज्ञान परज्ञेय के सहारे कहा है, सो ऐसा मानने पर... इस ओर अपने चलता है वहाँ **ज्ञान अर्थात् शुद्ध जीव की सत्ता नष्ट होती है... 'सीदति'** छिदता है। क्या कहते हैं? भगवान आत्मा ज्ञान की मूर्ति चैतन्य। यहाँ 'ज्ञान' शब्द से ज्ञानप्रधान बात है। आत्मा भले लो परन्तु ज्ञानप्रधान बात है। यह ज्ञान शाश्वत् जो ध्रुव, द्रव्य अर्थात् ध्रुव, वह ध्रुव वस्तु ज्ञान और एक समय की पर्याय। वह एक समय की पर्याय, पर्यायमात्र से यदि मानना हो तो वह पर्याय इस प्रकार से मानी जाती है कि ज्ञेय स्वज्ञेय और पर के सहारे की पर्याय मानना, वह तो अपेक्षा से पर के अवलम्बनवाली पर्याय कही गयी, परन्तु अकेली ही पर्याय मानना और द्रव्य अर्थात् ध्रुवज्ञान नहीं मानना और उस पर्याय को अकेले परज्ञेय के सहारे का मानना, (उसमें जीव की सत्ता नष्ट होती है)। समझ में आया?

ज्ञान अर्थात् शुद्ध जीव की सत्ता नष्ट होती है अर्थात् अस्तित्वपना वस्तुरूपता को नहीं पाता है। एक समय की पर्याय भी सिद्ध नहीं होती और वस्तु भी सिद्ध नहीं होती। समझ में आया? क्योंकि पर के कारण पर्याय हुई। आत्मा एक वस्तु है, त्रिकाल ज्ञान ध्रुव है, उससे पर्याय हुई, ऐसी तो स्वज्ञेय की पर्याय हुई, वह तो इसने जाना नहीं। समझ में आया?

भावार्थ इस प्रकार है कि एकान्तवादी के कथनानुसार वस्तु का अभाव सधता है, वस्तुपना नहीं सधता। ज्ञानरूप वस्तु को एक समयमात्र की पर्याय साधने जाने से वह पर्याय भी सिद्ध नहीं होती क्योंकि वह पर्याय किसकी? और पर्याय कैसे परिणमी?—कि पर के सहारे की पर्याय। पर था तो हुई, घट था तो ज्ञान हुआ, पट था तो ज्ञान हुआ, यह शब्द है तो यहाँ ज्ञान होता है। समझ में आया या नहीं?

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा इनकार करते हैं यहाँ। यह अपेक्षा से ऐसा कहा जाता है परन्तु अकेले पर के सहारे का ज्ञान (मानो तो) पूरा ज्ञेय (अर्थात्) ज्ञान रह गया, पूरा ज्ञानरूपी ज्ञेय रह गया। उसकी पर्याय, यह पर्याय अकेली मानने जाने पर पूरा ज्ञेय उड़ जाता है और यह पर्याय पर सहारे की ही मानने में आवे तो यह पर्याय भी सिद्ध नहीं होती। समझ में आया? गुजराती समझ में आती है न?

वस्तुपना नहीं सधता। ज्ञान ध्रुव ही सधता नहीं और उसकी पर्याय भी आंशिक जो स्वतन्त्र है, (वह भी सधती नहीं)। है पर्याय पर के अवलम्बन की अपेक्षावाली और स्व के

अवलम्बन की अपेक्षावाली। स्व अर्थात् ज्ञेय पूरा और पर। उसके अवलम्बन से है, परन्तु उसके बदले अकेली पर्याय सिद्ध करने जाए, वहाँ स्वज्ञेय नहीं आता और परज्ञेय के सहारे की पर्याय अकेली हो गयी। इसलिए पर्याय किसकी, ऐसा कुछ सिद्ध नहीं होता। समझ में आया?

कारण कि मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मानता है। कैसा है ज्ञान? अब आया। **'बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवद्'** पशु लेकर लिया पहले। **'पशोः ज्ञानं सीदति'** यह दूसरे बोल का पहला शब्द लिया। दूसरी लाईन है न? **'पशोः ज्ञानं सीदति'** दूसरा क्या कहा जाए? (श्लोक की) दूसरी लाईन। **'पशोः ज्ञानं सीदति'** अज्ञानी का ज्ञान **'सीदति'** अर्थात् नाश पा जाता है। ऐसा पहले अर्थ किया। पर्यायमात्र मानने से, उस पर्याय को अकेले परज्ञेय के सहारे का मानने से वह वस्तु ज्ञानस्वरूप, वह **'सीदति'** अर्थात् नाश हो जाती है।

अज्ञानी का ज्ञान तत्-अतत् के कारण से तत्पना रहा नहीं। उसे अतत् है, उसके ही कारण से यह सब हुआ, ऐसा मानकर ज्ञान का नाश हो जाता है। कहो, समझ में आया इसमें? यह शब्द पड़े हैं तो यहाँ ज्ञान होता है, लो! देखो! ज्ञान तो ऐसा होता है या नहीं? ऐसा होने पर भी, इसके सहारे की अपेक्षा भले हो परन्तु वह ज्ञान की पर्याय ज्ञेय, ज्ञेय पूरा जो ज्ञान है, उसका परिणमन परिणमते स्व और पर की अपेक्षा रखकर वह परिणमती है। उसके बदले अकेले पर की अपेक्षा रखकर पर्याय परिणमती है, (ऐसा मानने से) उस एकान्त मिथ्यात्व में कोई वस्तु सिद्ध नहीं होती। समझ में आया? यह तो सब लॉजिक की बात है।

इस प्रकार **एकान्तवादी के कथनानुसार वस्तु का अभाव सधता है, वस्तुपना नहीं सधता। कारण कि मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मानता है। कैसा है ज्ञान? 'बाह्यार्थैः परिपीतं' ज्ञेय वस्तु के द्वारा सर्व प्रकार निगला गया है।** क्या कहा? एक समय की पर्याय बाह्य पदार्थ जैसा है, वैसा यहाँ परिणमती है, इसलिए मानो बाह्य अर्थ से ही यह हुआ है, ऐसा मानकर वह ज्ञान की पर्याय बाह्य अर्थ पी गयी। ज्ञान की पर्याय पररूप हो गयी। समझ में आया? यह शब्द पड़ता है तो ज्ञान हुआ, इसलिए ज्ञान की पर्याय शब्दरूप हो गयी। उसके कारण ज्ञान हुआ कहते हैं न? समझ में आया या नहीं?

जिसमें ज्ञान शक्ति पूरी ध्रुव है, उसमें से पर्याय हुई। उसमें भले इस प्रकार से हो परन्तु शक्ति ध्रुव है, उसमें से आयी है या नहीं यह? कि वह पर्याय उसके कारण से आयी है? शब्द के कारण आयी है? घट के कारण आयी है? पट के कारण आयी है? समझ में आया?

जमुभाई! और यह वापस। यहाँ पर्याय जो एक समय की है, उसे जैसे निमित्त सम्बन्धी का ज्ञान होता है, इससे ऐसा ही मानता है कि यह ज्ञान की पर्याय उसके कारण से हुई है। इसलिए ज्ञान की पर्याय द्रव्य पी गया। ज्ञान की पर्याय... आया न? **'बाह्यार्थैः' ज्ञेय वस्तु के द्वारा... 'परिपीतं' सर्व प्रकार...** 'परि' है न? परि अर्थात् सर्व प्रकार से, 'पीतम्' अर्थात् निगल गया। बाह्य पदार्थ इसकी पर्याय निगल गया। एक समय की पर्याय (निगल गया)।

मुझे तो ऐसे भगवान के दर्शन हुए, इसलिए उसके कारण यह ज्ञान की पर्याय हुई, लो! ऐसी हो पर्याय या दूसरी हो वहाँ? वहाँ इस ज्ञान की पर्याय में क्या आवे?—कि मैं भगवान को जानता हूँ। ऐसी पर्याय होती है या नहीं? उस पर्याय में उसका कारण हुआ या इसके कारण हुई या नहीं? पर्यायमात्र माननेवाला, ध्रुवपने में से द्रवती है, तब वह भले निमित्त हो, ऐसा यहाँ ज्ञान हो—ऐसा नहीं मानता, अकेला पर्यायमात्र माननेवाला उसके कारण से ज्ञान होता है, (ऐसा मानता है) इसलिए वह पर्याय पर पी गया। समझ में आया? पर्याय से खाली हो गया, इसलिए वस्तु को भी नहीं माना और उसकी पर्याय भी उसे सिद्ध नहीं होती। पहले कहा था न? पर्याय भी उसे सिद्ध नहीं होती, ऐसा कहा न? **वस्तुमात्र को माने बिना पर्यायमात्र के मानने पर पर्यायमात्र भी नहीं सधती है;...** उसे पर्याय भी सिद्ध नहीं होती। समझ में आया? किसकी पर्याय पर को जाननेरूप परिणमी? यह द्रव्य तो माना नहीं, वस्तु तो मानी नहीं और पर्याय पर जैसा है, वैसा यहाँ भेदज्ञान होता है। भेद अर्थात् जैसा प्रकार वैसा। इसलिए पर के सहारे का माननेवाला, नहीं उसे वस्तु की श्रद्धा, नहीं उसे पर्याय उसकी जो कहना चाहते हैं, उसकी उस रूप से सिद्ध नहीं होती। समझ में आया? भारी कठिन काम। आता है न यह? 'स्व-परप्रकाशक शक्ति हमारी, तातैं वचनभेद भ्रम भारी, ज्ञेयशक्ति द्विविधा प्रकाशी, स्वरूपा पररूपा भासी।'

यह (संवत्) १९८६ में यह बात हुई थी। ८६ में भावनगर एक साधु आये थे न? मुनिन्द्रसागर थे, भ्रष्ट। ८६ के (वर्ष की) बात है, ८६ के (वर्ष)। ३६ वर्ष हुए। १४ और २२=३६। तब उसमें यह रखा था उस दिन। उसे ऐसा कि मुँहपत्ती थी न? वेश उसका था न? इसलिए उसे ऐसा हो गया कि देखो! यह मूर्ति को उत्थापते हैं। मैंने तो ऐसा कहा कि भाई! ज्ञेय है, उस ज्ञेय के कारण ज्ञान नहीं है, भाई! इस स्तम्भ का दृष्टान्त वहाँ दिया था। यह तो ८६ के (वर्ष की) बात है। चैत्र महीने की। संवत १९८६। मुनिन्द्रसागर एक भ्रष्ट (साधु) नहीं थे? बहुत वर्ष हो गये।

श्रोता : वे लोग तीनों आये थे तब...

पूज्य गुरुदेवश्री : वे तीन वे आये तब। यह बाहर व्याख्यान हुआ था। वे अपने गुजरी... क्या कहलाता है ? दशाश्रीमाली का वण्डा, उसमें। वह दशाश्रीमाली की भोजनशाला। वहाँ चला था और उसमें भगवानजीभाई थे। भगवानजी वकील कच्छी। फिर उसमें कहा कि भाई! ज्ञेय 'स्व-परप्रकाशक शक्ति हमारी' इस ज्ञान की पर्याय में स्व-पर ज्ञात हो, यह तो शक्ति उसकी है, पर के कारण वह पर्याय होती है, (ऐसा नहीं है)। यह भगवान है, इसलिए पर्याय हुई; यह अरिहन्त है, इसलिए पर्याय हुई; ये शब्द हैं, इसलिए पर्याय हुई—यह तो ज्ञेय के दो प्रकार हैं, स्वज्ञेय और पर; परन्तु पर्याय तो स्वयं के कारण से हुई है, पर के कारण होती नहीं। (तो कहे) अरे! ऐसा नहीं होता। भगवानजीभाई कच्छी थे। तुम समझते नहीं कि किस अपेक्षा से बात चलती है। मूर्ति की खबर थी, उस समय खबर थी, श्रद्धा सब थी।

यहाँ तो आत्मा की ज्ञानपर्याय, निमित्त है; इसलिए यहाँ होती है, ऐसा नहीं है। वापस किसकी मूर्ति को स्थापित किया ? और कहते हैं वे तो। वह तो उसके कारण से वहाँ होता है, परन्तु पर्याय जो ज्ञान की होती है, वह तो स्वयं से होती है, तब उसका अवलम्बन निमित्त का है, ऐसा कहने में आता है। यह तो कहते हैं कि जो ज्ञान की पर्याय है, उसके कारण ही हुई है। बाह्य अर्थ ज्ञानपर्याय पी गया। बाह्यपदार्थ ही ज्ञान को पी गया, ज्ञान कुछ रहा नहीं (उसमें) उसकी ज्ञानपर्याय भी सिद्ध नहीं हुई। समझ में आया ?

ज्ञान वस्तु नहीं है, ज्ञेय से है। है न ? **ज्ञान वस्तु नहीं है,...** यह तो **ज्ञेय से है,...** ज्ञेय से ही पर्याय हुई, ऐसा। यह पर्याय जो हुई, वह ज्ञेय से ही पर्याय हुई। स्वज्ञेय तो पूरा माना नहीं। पर्यायमात्र मानना है, द्रव्य तो मानना नहीं। इसलिए पर्याय एक समय की जो है, वह ज्ञेय से ही है, ऐसा अज्ञानी मानता है। इसलिए उसकी पर्याय भी सिद्ध नहीं हो सकती। द्रव्य तो मानता नहीं, पर्याय (भी) सिद्ध नहीं होती। समझ में आया ? क्योंकि भिन्न-भिन्न पर्याय होती है और भिन्न-भिन्न निमित्त होते हैं तो यह पर्याय जितना माननेवाला, यह किसकी पर्याय ? यह तो उसे रहा नहीं, द्रव्य तो कुछ रहा नहीं और यह पर्याय पर के सहारे की मानी अर्थात् ज्ञेय से मानी। इसलिए उसकी पर्याय सिद्ध नहीं होती। समझ में आया ?

सो भी उसी क्षण उपजता है, उसी क्षण विनशता है। देखो! यह ज्ञान की पर्याय भी उसी क्षण में उत्पन्न हो, उसी क्षण में विनाश होती है **जिस प्रकार घटज्ञान घट के सद्भाव में है।** देखो! घड़ा है तो यहाँ घड़े का ज्ञान है और घड़ा नहीं होवे तो घड़े का ज्ञान रहेगा नहीं। **प्रतीति इस प्रकार होती है कि जो घट है तो घटज्ञान है। जब घट नहीं था, तब घटज्ञान नहीं था।**

ज्ञेय से मानता है न अकेला ? घट है तो घटज्ञान है, घट नहीं तो घटज्ञान नहीं। वहाँ दूसरा ज्ञान हो गया, दूसरा पट आया तो पटज्ञान हो गया।

जब घट नहीं होगा तब घटज्ञान नहीं होगा। जब घट नहीं होगा तो घटज्ञान नहीं होगा। **कोई मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानवस्तु को बिना माने, ज्ञान को पर्यायमात्र मानता हुआ ऐसा मानता है।** ऐसा मानता है, ऐसा कहते हैं। क्या कहा ? सामने घड़ा है तो घटज्ञान है, ऐसा अज्ञानी मानता है। पट है तो पट का ज्ञान है, भगवान की मूर्ति है तो मूर्ति सम्बन्धी का ज्ञान है, मूर्ति नहीं तो मूर्ति सम्बन्धी का ज्ञान नहीं, घड़ा सामने नहीं तो घड़े सम्बन्धी का ज्ञान नहीं, इसलिए पर्याय ज्ञेय के कारण से हुई मानता है। समझ में आया ? परन्तु ऐसा नहीं है। भारी सूक्ष्म, भाई !

कोई मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानवस्तु को बिना माने, ज्ञान को पर्यायमात्र मानता हुआ ऐसा मानता है। ऊपर कहा यह, समझ में आया ? घट है तो घट का ज्ञान, पट है तो पट का ज्ञान। देखो ! यह स्त्री हो तो स्त्री का ज्ञान, पुरुष हो तो पुरुष का ज्ञान (होता है)। घट होवे तब पट का ज्ञान होता है ? पर्याय पट की होती है ? इसलिए घट के कारण ज्ञान हुआ और पट के कारण ज्ञान हुआ, अज्ञानी ऐसा मानता है। आहाहा !

और ज्ञान को कैसा मानता है ? एक तो ऐसा मानता है। अब दूसरे प्रकार से (कहते हैं) **'उज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवत्' मूल से नाश हो गया है ज्ञेय के जानपनेमात्र से ज्ञान ऐसा पाया हुआ, ज्ञेय के जानपनेमात्र से ज्ञान ऐसा पाया हुआ नाममात्र,...** यह तो नाममात्र रहा। **ज्ञेय के जानपनेमात्र से...** ज्ञेय को जाननेमात्र से, ज्ञेय को जाननेमात्र से, घट को जाननेमात्र से। **'ज्ञान' ऐसा पाया हुआ नाममात्र... 'निजप्रव्यक्ति' उस कारण से... 'रिक्तीभवत्' ज्ञान ऐसे नाम से भी विनष्ट हो गया है...** वहाँ ज्ञान भी रहा नहीं। घट का ज्ञान, पट का ज्ञान, उसका ही ज्ञान अर्थात् ज्ञान, ज्ञान की जो अपनी प्रगट अवस्था है, वह रही नहीं। उसके कारण वह, घट के कारण ज्ञान, पट के कारण ज्ञान और वस्तु के कारण ज्ञान। समझ में आया ? नाममात्र भी नहीं रहा, ऐसा कहते हैं। ज्ञान से **'रिक्ति'** हो गया। **'रिक्ति'** अर्थात् ? खाली-खाली। खाली हो गया। पर के कारण ज्ञान था। घट था तो घट का ज्ञान, पट था तो पट का ज्ञान, ऐसा मानता है। इसलिए अपनी ज्ञान की पर्याय से तो खाली हो गया। उसके कारण से सब ज्ञान घुस गया। समझ में आया ? इसमें तो निमित्तवाले को भी उड़ाते लगते हैं। निमित्त है तो यहाँ ज्ञान होता है, तो उसके कारण हुआ, उसके कारण हुआ तो ज्ञान तो अपनी पर्याय से खाली हो गया। ज्ञान उसमें ही घुस गया। समझ में आया ? **'उज्झित, उज्झित'** अर्थात्

खाली हो गया, समाप्त हो गया, मूल से नाश हुआ। **'उज्झित'** छोड़ दिया। ज्ञान ने अपना भाव छोड़ दिया और ज्ञेयरूप हो गया, ऐसा नाममात्र ज्ञान रहा, वस्तु तो रही नहीं।

ऐसा मानता है मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी जीव। और ज्ञान को कैसा मानता है– 'परितः पररूपे एव विश्रान्तं' लो! अभी तो पर से–अतत् से मानता है न? है अतत्, स्वयं पर से अतत् है, तथापि पर से तत् मानता है। यह बोल यहाँ ऐसा है न? पर से अतत् है, पर से अतत् है, पर्याय भी पर से अतत् है, तथापि पर से ही मेरा ज्ञान है, पर से ही मेरी श्रद्धा है, पर से ही मेरी यह शान्ति है—ऐसा माननेवाला अपनी पर्याय को भी खो बैठता है। खाली कर डाली। समझ में आया?

मूल से लेकर ज्ञेयवस्तुरूप निमित्त में एकान्त से विश्रान्त हो गया... यह ज्ञान की पर्याय निमित्त से हुई, उससे हुई; इसलिए वहाँ विश्रान्त हो गया। वह पर में गया, निमित्त के साथ मैत्री हो गयी। प्रवचनसार में पीछे आता है न? इसलिए निमित्त की मैत्री नहीं छोड़ता, कहते हैं। ज्ञान की पर्याय पर के कारण मानी है और उसके कारण यह हुई, इसलिए पर की मैत्री नहीं छोड़ता। आता है न? भाई! प्रवचनसार अन्तिम भाग में। मैत्री, मैत्री। उसके कारण हुआ, उसके कारण हुआ। (ऐसा मानता है वह) उसमें से कैसे हटेगा? इसके कारण से है न, उससे कैसे हटेगा? समझ में आया? वहाँ अन्तिम, अन्तिम। नय के पीछे। नय का पूरा हो जाने के बाद पीछे है न? यह तो निमित्त आया न, इसके ऊपर से याद आया। ज्ञेय वस्तु निमित्त, यहाँ कहा, देखो! **ज्ञप्ति व्यक्तियों के निमित्तभूत होने से जो ज्ञेयभूत है...** समझ में आया? क्या कहा? ज्ञप्ति व्यक्ति (अर्थात्) जो जानने की पर्याय है न, उसमें निमित्तभूत है जो ज्ञेयभूत, **ऐसी बाह्य पदार्थ व्यक्तियों के प्रति उसे मैत्री प्रवर्तती है...** दोस्ती हुई। क्योंकि उसने माना कि इसके कारण से होता है... इसके कारण से होता है... इसके कारण से होता है। अब वह कैसे छोड़े दोस्ती? प्रेम कैसे छोड़े? प्रेम–मैत्री कही न? **आत्मपरिणति सदा घुमरी खाती होने से यह आत्मा समुद्र की भाँति अपने में ही क्षुब्ध होता हुआ क्रम से प्रवर्तती अनन्त ज्ञप्ति–व्यक्तियों...** अपनी जानने की अवस्था। हों! क्रम से प्रवर्तती। वे परिवर्तन पाती है, ऐसी ज्ञप्तिव्यक्ति—जो जानने की प्रगटता, अवस्था में निमित्तभूत होने से जो ज्ञेयभूत, निमित्तरूप होने से ज्ञेयभूत वस्तु **ऐसी बाह्य पदार्थ व्यक्तियाँ...** देखो! यहाँ भी बाह्यार्थ है न पहला? **'बाह्यार्थैः परिपीतम्'** ऐसी बाह्य पदार्थ व्यक्तियाँ। यह याद आ गया, यह निमित्त से याद आया।

(बाह्य पदार्थ व्यक्तियों) **के प्रति जिसे मैत्री प्रवर्तती है...** क्योंकि ज्ञान की पर्याय

उससे होती है, उससे होती है, इसलिए उनका प्रेम नहीं छोड़ता। इसमें कहाँ मूर्ति, मन्दिर कहाँ रहा? रहता है कहाँ, सुन न! तेरी पर्याय हो, तब उसका निमित्त है, इतना जानने के लिये है। कहीं उससे पर्याय होती है? वे सब निमित्त हैं। वह तो होती है, परन्तु उस समय वह पर्याय होनेवाली है, उसमें वह निमित्त है, ऐसा। वह है, इसलिए ऐसी पर्याय होती है—ऐसा कहाँ है? समझ में आया?

निमित्त होने से मैत्री (प्रवर्तती है) **इसलिए आत्मविवेक शिथिल हुआ होने से...** अर्थात् कि पर के निमित्त का प्रेम नहीं छोड़ता और आत्मा का विवेक ढीला पड़ गया, शिथिल अर्थात् विपरीत हो गया। मेरी ज्ञानपर्याय, मेरी ज्ञप्ति की व्यक्ति क्षण-क्षण में मुझसे होती है, उसमें भले निमित्त सामने हो, परन्तु उसके कारण से है, ऐसा नहीं माना तो उसके कारण यह है, (ऐसा माना)। सुनने से पहले मुझे क्यो ऐसा ज्ञान नहीं था? और यहाँ सुनने आने पर हुआ, इसलिए इसे ऐसा हो गया कि इन शब्दों के कारण ज्ञान होता है। आहाहा! समझ में आया? **अत्यन्त बहिर्मुख ऐसा वह फिर से पौद्गलिक कर्म को रचनेवाले राग-द्वेष द्वैतरूप परिणमता है।** बहिर्मुख दृष्टि हो गयी। यह अमृतचन्द्राचार्य की टीका है।

यह अमृतचन्द्राचार्य का कलश है। **ज्ञेय वस्तुरूप निमित्त में...** पररूप है न? पररूप से **एकान्त से... 'एव'** अर्थात् निश्चय से, ऐसा। **एकान्त से... 'एव'** निश्चय। ज्ञान की अवस्था की पर्याय पररूप से अर्थात् एकान्त से, निश्चय से **विश्रान्त हो गया...** पर में विश्रान्त हो गयी। ज्ञान की पर्याय ने विश्रान्ति कहाँ प्राप्त की है कि यह है तो हुआ, यह है तो हुआ। अर्थात् ज्ञान की पर्याय ही वहाँ गयी। यहाँ अपने में स्वतन्त्र रही नहीं। आहाहा! समझ में आया?

'पररूपे एव विश्रान्तं' अतत् है, उसमें ही जिसका विश्रान्तिपना हुआ। मेरी पर्याय मुझसे है, ऐसा रहा नहीं। वह पर्याय मेरी है, मेरे ज्ञेय से वह परिणमी है। उसके बदले इसकी पर्याय ने उसमें विश्राम लिया, विश्राम लिया। विश्राम। जिसके निमित्त से हुई मेरी पर्याय, इसलिए उससे हुई, इसलिए वहाँ उसने विश्राम लिया। यहाँ आत्मद्रव्य में विश्राम लेना रह गया। समझ में आया?

वह **ज्ञेय से उत्पन्न हुआ, ज्ञेय से नष्ट हो गया।** देखो! वह तो जैसे निमित्त के प्रकार ज्ञेय का भेद आया, वैसा ज्ञान हुआ। जैसा प्रकार वैसा ज्ञेय। जैसा ज्ञेय वैसा ज्ञान, ज्ञेय वैसा ज्ञान... ज्ञेय वैसा ज्ञान... ज्ञेय वैसा ज्ञान। ऐसी ज्ञान की पर्याय ज्ञेय में विश्राम को प्राप्त हुई। वह **ज्ञेय से**

उत्पन्न हुआ, ज्ञेय से नष्ट हो गया। अज्ञानी को तो ज्ञेय से ज्ञान उत्पन्न हुआ और ज्ञेय से नाश हुआ। परन्तु आत्मा के ज्ञानस्वरूप में से उत्पन्न हुआ और व्यय हुआ तो भी अपने कारण से। अपने ज्ञेय की दूसरी ज्ञान की पर्याय आने पर नष्ट हो गयी। वह ऐसे न आने से ज्ञेय से उत्पन्न और ज्ञेय से नष्ट (हुई, ऐसा मानता है)। आहाहा! बहुत भारी सूक्ष्म, भाई! समझ में आया?

भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार भीत में चित्राम जब भीत नहीं थी तब नहीं था, जब भीत है तब है, जब भीत नहीं होगी, तब नहीं होगा। दीवार नहीं थी तो चित्र नहीं था, दीवार होवे, चित्र ऐसे आया। **भीत में चित्राम जब भीत नहीं थी तब नहीं था, जब भीत है तब है, जब भीत नहीं होगी तब नहीं होगा। इससे प्रतीति ऐसी उत्पन्नद्य होती है कि चित्र सर्वस्व का कर्ता भीत है।** चित्र का सर्वस्व कर्ता दीवार है।

उसी प्रकार... यह तो दृष्टान्त दिया। **जब घट है, तब घटज्ञान है,...** ऐसा कहते हैं। घड़ा है तो यहाँ ज्ञान होता है। घट नहीं तो घटज्ञान यहाँ नहीं है अर्थात् ज्ञेय ही इस ज्ञान का कर्ता हुआ। समझ में आया? चित्राम का कर्ता ही दीवार हो गयी। चित्राम चित्राम से रहा नहीं। ऐसे ज्ञान ज्ञेय से हुआ, वह ज्ञेय ज्ञान का कर्ता हो गया। ज्ञेय कर्ता-यह पर्याय निमित्त जो भेद है, वह कर्ता, उसका यह ज्ञान हो गया; ज्ञान की ज्ञानपर्याय रही नहीं। समझ में आया? फिर लोगों को बहुत सूक्ष्म लगे।

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि वस्तुस्वरूप जो ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा है, उसका जो ज्ञान होता है पर्याय में, भले उस स्वज्ञेयरूप से वह पर्याय परिणमी और उस काल में कोई विकल्प आदि है, उसके जाननेरूप परिणमे। विकल्प परज्ञेय है, उसपने परिणमी परन्तु वह स्वयं पर्याय अपने से है, किसी विकल्प के कारण है, ऐसा नहीं है।

ज्ञानवस्तु जो त्रिकाल है, उसकी पर्यायरूप से ज्ञान परिणमा है। उस पर्याय में स्वज्ञेय और विकल्प परज्ञेय, उसका सहारा है, इससे ऐसा कहा जाता है कि पर की अपेक्षावाला ज्ञान, परन्तु इससे पर्याय कहीं पर के कारण हुई है, ऐसा नहीं है। यह कहते हैं कि वह जो ज्ञान पर्याय का विकल्प जैसा है, वैसा ही क्यों ज्ञान हुआ? राग जैसा है, वैसा ही ज्ञान क्यों हुआ? द्वेष आया, वैसा ज्ञान क्यों हुआ? इसलिए ज्ञेय के कारण से ज्ञान हुआ। समझ में आया? आहाहा!

व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प उठता है, वह भी परज्ञेय है और ज्ञान की पर्याय में वह ज्ञात हो, बराबर वैसा ही ज्ञात होता है, ऐसा ही ज्ञात होता है। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि यह पर्याय जो ज्ञान में हुई, वह व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प था, उस ज्ञेय के कारण से ज्ञान (हुआ), वह

विकल्प ऐसा नहीं था तो दूसरा विकल्प था तो वैसा ज्ञान (हुआ), तीसरा विकल्प (था तो) वैसा ज्ञान (हुआ)। इसलिए ज्ञेय का ही यह ज्ञान है, ज्ञान का ज्ञान है नहीं, (ऐसा मानता है)। समझ में आया? कहो, भगवानभाई! बहुत सूक्ष्म बातें। वहाँ ऐसा कहीं सुनने को मिलता नहीं तो इसका हल किस प्रकार करना? यहाँ तो कहते हैं कि द्रव्य तो स्वतन्त्र अकृत्रिम है परन्तु तेरी पर्याय भी स्वतन्त्र... स्वतन्त्र... स्वतन्त्र... उस काल की पर्याय स्वतन्त्र है। समझ में आया? आहाहा!

आज बड़ा लेख आया है। यह सर्वज्ञ को नहीं मानते, नियत पर्याय नहीं मानते। अनियत, तो सर्वज्ञ को मानते नहीं। क्योंकि नियत और अनियत पर्याय होती है और वह सर्वज्ञ को उसी अनुसार दिखती है, क्योंकि सर्वज्ञ का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। सर्वज्ञ का ज्ञान सम्यक् है। वापस दोनों लिया है, हों! श्रुतज्ञान भी सम्यक् है, इसलिए दोनों में समान ज्ञात होता है, ऐसा लिया है। उसमें अन्तर था, अन्तर किया। अरे.. अरे..! यह उसी और उसी में विरोध आया।

ऐसा कहते हैं कि जैसे श्रुतज्ञानी भी, सर्वज्ञ ज्ञान में भी नियत-अनियत पर्याय है, ऐसा सर्वज्ञ जानते हैं, नहीं तो सर्वज्ञ का सम्यक् ज्ञान रहता नहीं और श्रुतज्ञानी भी जैसी नियत-अनियत पर्याय होती है, तत्प्रमाण जानता है, नहीं तो सम्यक् ज्ञान नहीं रहता। सम्यक् ज्ञान है, जैसा हो वैसा जाने, तो अनियत को नहीं, ऐसा कहनेवाले सर्वज्ञ को नहीं मानते। समझ में आया? परन्तु सर्वज्ञ जानते हैं पर्याय को, पर्याय को वास्तव में तो जानते हैं। लो! उस अपनी पर्याय को,हों! उसमें जो पर्यायें तीन काल की जो पर्याय है, उसमें वह निमित्त है, अकेला उसमें निमित्तपना है। और वही पर्याय जिस-जिस समय में होनेवाली है, उसी पर्याय का वहाँ निमित्त (पना है)। निश्चय से जो पर्याय जहाँ होनेवाली है, वही पर्याय उस काल में वर्तमानरूप से निमित्त है। वह भूतकाल में सम्मिलित हो गयी तो भूतरूप से पसन्दगी हो गयी। बहुत सूक्ष्म। सर्वज्ञ का बड़ा विवाद उठा।

श्रोता : हम सर्वज्ञ को मानते हैं, वैसे तुम सर्वज्ञ को मानो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न कि तुम सर्वज्ञ को उड़ाते हो, ऐसा कहते हैं। सर्वज्ञ का स्वरूप सम्यक्ज्ञानी है वे, इसलिए नियत-अनियत पदार्थ का श्रद्धान कि सर्वज्ञ भगवान ने कहा कि नियत माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। तब सर्वज्ञ भगवान ने ही नियत-अनियत पर्याय कही और तुम जब इस प्रकार से सर्वज्ञ को नहीं मानो तो तुम सर्वज्ञ को नहीं समझते। विमलचन्दजी! क्या कहा? भगवान ने ऐसा कैसे कहा कि एक नियत माने, वह एकान्त मिथ्यादृष्टि है। बारह अंग

में तो ऐसा लिखा है। दृष्टिवाद में लिखा है, इस जगह लिखा है, अमुक जगह लिखा है कि नियत माननेवाले एकान्त मिथ्यादृष्टि है। अत: सर्वज्ञ ऐसा कहे, तथा फिर सर्वज्ञ कहें कि नियत ही होता है और अनियत नहीं होता। ऐसा कैसे कहे सर्वज्ञ? परन्तु यह तो सर्वज्ञ ने ही कहा है, भाई! तुझे खबर नहीं है। एकान्त नियत माने, उसे मिथ्यादृष्टि कहा है। वैसे तो एकान्त स्वभाव माने, उसे मिथ्यादृष्टि कहा है; एकान्त पुरुषार्थ माने, उसे मिथ्यादृष्टि कहा है। एकान्त नियत अर्थात् उस समय में (पाँच) समवाय—पुरुषार्थ, स्वभाव, काल आदि नहीं, (ऐसा माने)। भगवान ने ऐसे पाँचों एक समय में देखे हैं। भगवान ने क्या देखा है?

श्रोता : इनकार करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा अर्थ होता है। भगवान ने जिस समय में नियत है, ऐसी जीव की पर्याय देखी, उस समय में उस जीव का पुरुषार्थ वहाँ उन्मुख है, स्वभाव भी ऐसा है, काल भी वही है, भवितव्य भी वही है और सम्यक् दर्शन आदि पर्याय हो तो उस समय में कर्म का भी (उपशम या अभाव होता है)। इस प्रकार भगवान ने एक समय में उसके पाँच (समवाय) देखे हैं। उसके पाँच (समवाय) देखे हैं, उसमें अक्रम देखा है। आहाहा! इसी प्रकार ज्ञानी भी सम्यक् ज्ञान में एक समय में पाँच देखता है। सर्वज्ञ जैसे जिस प्रकार से द्रव्य की पर्याय पाँच देखते हैं, वैसे सम्यग्दर्शन भी एक समय में पाँच प्रकार की पर्याय देखता है—नियत भी है, स्वभाव जीव का है, पुरुषार्थ है, काल ही वह है और भाव भी वह है—भवितव्य, उस समय में कर्म का भी निमित्तपने का उतना अभाव है। भगवान ने जैसा देखा, वैसा यहाँ देखे, उसे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन कहा जाता है। समझ में आया?

भगवान ने आत्मा ऐसा देखा कि यह वस्तु ज्ञानमूर्ति देखी। पुण्य-पापवाला आत्मा देखा? उसे तो आस्रवतत्त्व देखा। पुण्य-पाप तो भगवान ने आस्रवतत्त्व देखा; कर्म-शरीर को अजीवतत्त्व देखा; ज्ञानमूर्ति को आत्मतत्त्व देखा। बराबर है? क्या कहा? भगवान आत्मा... सात तत्त्व है न! या नव तत्त्व, लो! नौ पदार्थ। भगवान ने ज्ञान में क्या देखा? यह वस्तु देखी। ज्ञानस्वरूप शुद्ध द्रव्य, वह आत्मा। पुण्य-पाप के विकल्प, वह आस्रव; कर्म-शरीर, वह अजीव—ऐसा भगवान ने देखा, भगवान ने ऐसा देखा है। ऐसा यह जब देखे कि कर्म वह अजीव; पुण्य-पाप वह आस्रव; मैं ज्ञायक—ऐसा जब देखे तो इस देखने में पाँचों ही समवाय आ गये, भाई! आहाहा! भगवान ने भी उस समय में ऐसा देखा था कि इसकी पर्याय रागरूप से आस्रव है, ज्ञान की पर्याय सम्यक्रूप से परिणमी है, वस्तु शुद्ध है, अजीवतत्त्व का साथ

में सम्बन्ध है। ऐसा जो भगवान ने देखा, उन्होंने देखा है कि इस सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ यह है, काल भी यह है, भाव भी यह है, कर्म का अभाव यह है। ऐसा भगवान ने भी उस जीव का देखा। सम्यग्दृष्टि को भी उसी प्रकार से ज्ञान आवे और हो, तब उसे सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। विमलचन्दजी! समझ में आया या नहीं? बात जरा (सूक्ष्म है।)

बात यह है कि सर्वज्ञ ने देखा, ऐसा कहनेवाले को यह ज्ञान देखनेवाला ऐसा है, ऐसा यहाँ कहते हैं। सर्वज्ञ अर्थात् पूरा ज्ञान और यहाँ अधूरा ज्ञान, इतना अन्तर है। परन्तु सर्वज्ञ ने देखा कि यह अजीवतत्त्व, यह पुण्य-पापतत्त्व, यह आत्मतत्त्व। अब ये तीन भिन्न हैं। अब उन्होंने जब भिन्न देखे, भिन्न देखे कि यह अजीवतत्त्व, यह आस्रवतत्त्व, यह स्वभाव। भिन्न देखे इसलिए पुरुषार्थ हो गया। पुरुषार्थ आया, स्वभाव आया, उस काल में होने का, वह काल आया, भवितव्य, वह सम्यग्दर्शन भाव होने का था, वह भाव आया, उससमय में कर्म का निमित्त भी उस प्रकार से अभाव (आया)। ये पाँचों ही समवाय एक समय में भगवान ने देखे, वैसे सम्यग्ज्ञानी ने उस समय में वैसे ही देखे हैं। सोमलचन्दजी! न्याय समझ में आता है? आहाहा! परन्तु क्या हो? ऐसी बात है जरा। समझ में आता है या नहीं? जुगराजजी!

कोई कहता है न कि सर्वज्ञ माने, वह हम मानते हैं। परन्तु वे सर्वज्ञ मानते हैं, इस प्रकार ज्ञान में आया है। समझ में आया? सर्वज्ञ के ज्ञान में तेरा आत्मा इस प्रकार से आया है। जब मिथ्याश्रद्धारूप से होता है, तब तो उसे सर्वज्ञ ने जो आत्मा देखा, जैसा आस्रव देखा कर्म, वैसा तो तू मानता नहीं। समझ में आया?

सर्वज्ञ भगवान ने देखा कि यह आत्मा ज्ञान शुद्ध चैतन्य है, पुण्य-पाप के विकल्प आस्रवतत्त्व, कर्म-शरीर अजीवतत्त्व। ऐसा देखा। अब तू यदि ऐसा जहाँ देखने जाए, वहाँ हो गया कर्म भिन्न, आस्रव भिन्न, यह ज्ञान भिन्न। इसलिए पुरुषार्थ आया, स्वभाव आया, कर्म का अभाव आया। आस्रव में अभाव आया, कर्म का अभाव आया और उस प्रकार से सम्यग्ज्ञान होने पर जो मिथ्यात्व आदि आवरण का निमित्त था, उस समय में भी इतना अभाव आया, अतः भगवान ने ऐसा वहाँ देखा, वैसा तुझे देखने में आया तब कहलाता है। समझ में आया? परन्तु क्या हो, बात ही ऐसी है कि ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है, कहते हैं।

यहाँ वह कहता है कि अकेली पर्याय पर के कारण है। पूरी वस्तु रह गयी, पूरी वस्तु रह गयी। जो ज्ञान की पर्याय, अकेला त्रिकाली द्रव्य है, उसका परिणमन वह ज्ञान है। समझ में आया? तब वह कहता है कि यह (ज्ञान) पर्याय राग और निमित्त से हुई, इससे हुई। इसलिए

पूरी वस्तु रह गयी और वह पर्याय भी सिद्ध नहीं हुई, भाई! वह पर्याय सिद्ध नहीं हुई। वस्तु तो सिद्ध नहीं हुई परन्तु ज्ञान की पर्याय साबित नहीं हुई। राग है, इसलिए ज्ञान, निमित्त है, इसलिए ज्ञान, उनके कारण (ज्ञान हुआ)। वह पर्याय, हों! वह पर्याय तो परद्रव्य पी गया। आहाहा! जो अतत्रूप से है, उसे कहते हैं कि वह पररूप से है, वह पर्याय पररूप से है। आहाहा! सर्वज्ञ की कथन पद्धति (अलौकिक है)। समझ में आया?

ज्ञान की पर्याय—अवस्था, वह द्रव्य की है। द्रव्य अर्थात् ज्ञानवस्तु कायम है, उसकी है। ऐसा जहाँ भान हुआ, वहाँ वस्तु भी दृष्टि में रही, पर्याय भी हुई, रागादि पर है, उस सम्बन्धी का भले ज्ञान हुआ, इससे उसे स्वज्ञेय, परज्ञेय के सहारे की पर्याय अपेक्षा से कही जाती है। समझ में आया? परन्तु यह ऐसा न मानकर यह ज्ञान वस्तु जो पूरी है, जो ज्ञान के पर्याय का पूरा ज्ञेय होना चाहिए, ऐसी पर्याय की ताकत है। क्या कहा? इस ज्ञान की पर्याय की ताकत है कि स्वज्ञेय को भी जाने, परज्ञेय (भी जाने), ऐसी उसकी ताकत है। ऐसी ताकत उस पर्याय को मात्र मानने पर भी ऐसी ताकत मानता नहीं। भाई! क्या कहा? समझ में आया? ज्ञान की एक समय की पर्याय इतनी ताकतवाली है। यहाँ इसलिए पहले कहा था, पहले कहा था। ऊपर कहा था। **स्वज्ञेय अथवा परज्ञेय को जानता हुआ ज्ञेय की आकृति–प्रतिबिम्बरूप परिणमता है जो ज्ञान।** समझ में आया? ऊपर बीच में है। इस भावार्थ के ऊपर, बीच में भावार्थ है, उसके ऊपर है।

पर्यायरूप कहने पर, पर्यायरूप कहने से स्वज्ञेय अथवा परज्ञेय को जानता हुआ ज्ञेय की आकृति–प्रतिबिम्बरूप परिणमता है जो ज्ञान। भगवान ज्ञान की पर्याय, महिमावन्त प्रभु आत्मा की एक समय की पर्याय वह ज्ञेय, स्वज्ञेय, परज्ञेय दोनों को परिणमाता जानता है। ऐसा पर्याय का स्वत: धर्म है। उस पर्याय को उस प्रकार से नहीं माना और उस पर्याय को पर के सहारे की मानने से पर्याय स्वयं सिद्ध हुई नहीं। वस्तु तो सिद्ध हुई नहीं, पर्याय सिद्ध नहीं हुई। समझ में आया? सूक्ष्म पड़े परन्तु सुन न, हों! बहुत उकताहट नहीं लाना। यह तो बात आते-आते सब आ जाती है। समझ में आया या नहीं इसमें?

यह तो स्याद्वाद शैली की अमृत शैली है। आहाहा! वस्तु ऐसी है कि भाई! तू ऐसा ही माने कि पर्यायमात्र वस्तु है, वस्तु स्वज्ञेय पूरा द्रव्य है, ऐसा नहीं। और वह वर्तमान पर्याय भी अकेले परज्ञेय के सहारे की मात्र है, तो वह परज्ञेय से हुई है—ऐसा मानने से तेरी पर्याय भी नहीं रहती। तेरे लक्ष्य में द्रव्य तो छूट गया परन्तु पर्याय भी सिद्ध नहीं होती। ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यह तो मार्ग ऐसा है, धीर का काम है। समझ में आया?

ओहोहो! ऐसा टीका में कितना भरा है गूढ़ भाव! उसे सिद्ध करने जाने पर भी उसे स्वज्ञेय की ताकत एक समय की पर्याय जानने की है, तो कहते हैं कि पर्याय मानी अकेली, परन्तु द्रव्य तो माना नहीं। तो वह पर्याय भी जितनी ताकतवाली है, वैसी नहीं मानी और वह पर्याय भी मात्र मानी परद्रव्य के अवलम्बनवाली। क्योंकि यहाँ तो अवलम्बन रहा नहीं, यह तो है नहीं कुछ। समझ में आया? यह **'उज्झितनिजप्रव्यक्ति'** प्रगट हुई पर्याय खाली हो गयी, कहते हैं। समझ में आया? **'रिक्ति'** हो गयी। खाली हो गयी। **'उज्झितनिजप्रव्यक्ति-रिक्तिभवत्'** ऐसा। समझ में आया? और स्वयं खाली होकर गया कहाँ? **'परितः पररूपे एव विश्रान्तं'** समझ में आया? मूल से पररूप में, **निमित्त में एकान्त से विश्रान्त हो गया-ज्ञेय से उत्पन्न हुआ, ज्ञेय से नष्ट हो गया।** आहाहा! यह इसका वापस इसका दृष्टान्त है चित्राम का। समझ में आया? समझ में आया तो अपने... मध्य में है न? विश्राम का वाक्य है। आहाहा!

प्रभु! तेरी बलिहारी है, भाई! इस चीज़ की दृष्टि और इस चीज़ की पर्याय... दृष्टि भी पर्याय है न! कहते हैं कि भाई! तूने पर्याय अकेली मानी और पूरी वस्तु नहीं मानी और पर्याय को परसहारे की मानी; घट है तो घट का ज्ञान, पट है तो पट का ज्ञान। क्योंकि ज्ञान भी वैसा होता है। इसलिए तेरा ज्ञान उसके कारण से हुआ। परन्तु यहाँ तो ज्ञानशक्तिवाला तत्त्व पूरा है, वह परिणमता है और परिणमे उसे फिर जैसा ज्ञान वैसा भले हो। समझ में आया? परन्तु परिणमनेवाला तो यह पूरा द्रव्य है। द्रव्य माना नहीं, तेरी पर्याय खाली हो गयी। परज्ञेय में समाहित हो गयी, पर्याय रही नहीं। आहाहा। समझ में आया?

जब घट नहीं होगा, तब घटज्ञान नहीं होगा। इससे ऐसी प्रतीति उत्पन्न होती है कि ज्ञान के सर्वस्व का कर्ता ज्ञेय है। देखो! आया। ज्ञान के सर्वस्व का कर्ता कौन ?वह ज्ञेय। ऐ... देवानुप्रिया! दीवार कर्ता चित्र की, ऐसा हुआ न? दीवार थी तो चित्र है, दीवार नहीं तो चित्र नहीं। इसलिए चित्र का कर्ता कौन हुआ? दीवार, दीवार। दीवार कर्ता, उसका यह कार्य हुआ। इसी प्रकार ज्ञेय है तो ज्ञान है, ज्ञेय है तो ज्ञान है, ज्ञेय घट है तो ज्ञान है, पट है तो पटज्ञान है। इसलिए वह ज्ञेय ज्ञान का कर्ता हो गया। समझ में आया? आहाहा! **इससे ऐसी प्रतीति उत्पन्न होती है कि ज्ञान के सर्वस्व का कर्ता ज्ञेय है।** देखो! सर्वस्व या... होम। तेरी पर्याय ज्ञेय के कारण तूने मानी। वह ज्ञेय ही तेरा कर्ता हो गया और ज्ञेय पी गया तेरी पर्याय को। समझ में आया? उसे यहाँ मिथ्यादृष्टि कहा है। यह विशेष बात कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

२०

बहिनश्री के वचनामृत, वचनामृत-७८-७९, प्रवचन - २५
दिनांक - ३०-०६-१९७८

वचनामृत का ७८ बोल। है ? उसमें अंक है ? पुराने में पहले नहीं थे। **स्वरूप की लीला जात्यन्तर है।** क्या कहते हैं ? बाहर की जो यह शरीर और वाणी तथा कर्म के संयोग की जो विचित्रता दिखती है, वह सब बाहर का इन्द्रजाल है। आहाहा! भगवान आत्मा पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द का सागर प्रभु, उसकी जहाँ दृष्टि हुई, उसका स्वीकार हुआ, उसका सम्यग्दर्शन हुआ, वह जैसी चीज महा-माहात्म्य (वाली) है, वैसा उसे अन्तर में भान होकर प्रतीति हुई—ऐसे जीव को... यहाँ मुनि को मुख्य कहेंगे... ऐसे को लीला-स्वरूप की लीला जात्यन्तर है। आहाहा! जगत के पुण्य-पाप की लीला और सामग्री से इस चैतन्य की लीला कोई अजब-गजब है! आहाहा! जिसे यह भगवान आत्मा चैतन्य भगवत्स्वरूप है वह, ऐसा जिसे अन्तर में भान हुआ और यही करने योग्य है। आहाहा! यह जिसे हुआ, उसकी लीला कोई अलौकिक है, कहते हैं। आहाहा! एक तो साधारण दृष्टान्त तो यह दिया था, रात्रि को दिया था परन्तु वह साधारण बात है, यह बात मुख्य मुनि की है। आहाहा!

आत्मा, राग के विकल्प से भिन्न है और अपने पूर्ण स्वभाव से वह एकत्व / अभिन्न है — ऐसा जहाँ भान हुआ, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान (हुआ) और स्वरूप का आचरण भी उसमें थोड़ा आया, उसकी लीला कोई अलौकिक है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि (की जिसे) आत्मा का भान है, वह कदाचित् युद्ध में गया... आहाहा! तो उसे उस प्रकार का अशुभराग आया, परन्तु वहाँ से छूटकर जहाँ अन्दर घर में आता है, वहाँ निर्विकल्प ध्यान आ जाता है। आहाहा! देखो, इसकी लीला! रात्रि में दूसरा दृष्टान्त दिया था परन्तु अभी यह युद्ध का दिया। क्या कहा, समझ में आया ? आहाहा!

जहाँ आनन्द का सागर, अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द का सागर प्रभु स्वयं है, उसका जहाँ भान हुआ और राग से भिन्न जिसकी शक्ति की व्यक्ति प्रगट हुई... आहाहा! उसकी लीला कोई जात्यन्तर है। जगत् की विचित्रता में क्षण में पुण्यशाली और दूसरे क्षण गरीब दिखता है; क्षण

में गरीब हो, वह दूसरे क्षण बड़ा राजा दिखता है। यह जगत की-कर्म की लीला अलग प्रकार की है। आहाहा! यह आत्मा की सम्पत्ति जिसे अन्दर बैठी, प्रभु चैतन्य अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान का सागर है, उसका जिसे अन्तर में भान हुआ, और करने योग्य किया है, वह करने का यह है। आहाहा! यह जहाँ भान हुआ, कहते हैं कि वह कदाचित् युद्ध में गया हो, राजकुमार हो... आहाहा! परन्तु वहाँ से घर में जहाँ आता है, वहाँ ध्यान में बैठ जाये तो निर्विकल्पदशा हो जाती है। बाहर से घर में आया और बाहर से अन्दर में आया। आहाहा! अब किसी समय वह युद्ध में खड़ा हो और अन्दर में जरा हुआ हो, उसमें थोड़ी देर लगती हो, उसमें अन्दर में ध्यान में चढ़ जाये, निर्विकल्प हो जाये—ऐसी जिसे अन्तर स्थिति की सम्पत्ति है... आहाहा! जिसके अन्तर में अनन्त आनन्द का समुद्र भरा है, ऐसा स्वयंभूस्वरूप भगवान आत्मा (है), उसकी लीला कोई अलौकिक है। आहाहा!

वह कदाचित् भोग में पड़ा हो — भरतेशवैभव में यह आता है न? भरतेशवैभव में। आहाहा! यह तो एक वस्तु की स्थिति है। आहाहा! भोग के विकल्प में आया और विकल्प हुआ और (भोग) हुआ, आहाहा! परन्तु अन्तर में से जहाँ निवृत्ति लेता है, दूसरे क्षण में जहाँ नीचे उतरकर ध्यान में बैठता है तो निर्विकल्पता हो जाती है। आहाहा! वह उसके कारण नहीं, वह वस्तु के माहात्म्य के कारण है। आहाहा! चैतन्य भगवान अन्दर सहजानन्द प्रभु, ऐसी जिसे अन्तर में चीज खिल निकली; राग और आत्मा की एकता में तो ताला लगाया था, उस सम्पदा को ताला लगाया था। आहाहा! सूक्ष्म बहुत, भाई! यह राग और आत्मा को जहाँ भिन्न किया... आहाहा! स्वरूप की एकत्वता और राग की विभक्तता हुई, वहाँ खजाना खुल गया। खजाने में ताला था, वह खुल गया। आहाहा! वह जीव कदाचित्... आहाहा! विषय की वासना में भी आ गया हो, तथापि दूसरे क्षण... आहाहा! उसके अन्तर की वस्तु ही ऐसी है... आहाहा! कि आनन्द का सागर जहाँ उछला, (वहाँ) वह दूसरे क्षण निर्विकल्प हो जाता है। भरतेश वैभव में आता है। भरतेश वैभव! पुस्तक नहीं? भरतेश वैभव की पुस्तक है, उसमें ऐसा आता है। आहाहा! यह वस्तु-भोग को स्थापित नहीं करते, उसकी आत्मा की अचिन्त्य शक्ति जहाँ प्रगटी... आहाहा! आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ जहाँ अन्दर में जागा और जगाया, आहाहा! वह 'जाग कर देखूँ तो जगत दिखे नहीं' आहाहा! ऐसा जो चैतन्यभगवान में दृष्टि गयी, इस सम्यग्दर्शन में भी उसकी लीला तो देखो, कहते हैं। आहाहा! और सम्यग्दृष्टि रहित प्राणी व्रत, तप, और भक्ति करे, वह सब मिथ्यात्व के बन्धन में जाता है, क्योंकि उसे धर्म मानता है और ठीक मानता है। आहाहा!

तब समकिती को आत्मा के ज्ञान की अन्तर की शक्ति की लीला अन्दर में जगी... आहाहा! वह जगत के किसी चौरासी के अवतार में या देव में भी जिसकी जाति नहीं—ऐसी जिसे जाति की अन्तर्दृष्टि हुई, आनन्द के सागर को पर्याय में उछालकर अतीन्द्रिय आनन्द आया। आहाहा! युद्ध आदि की बात की कि ऐसे भाव में आ जाये तो भी उसके समक्ष पूरा आत्मा अधीन हो गया है। आहाहा! पूर्णानन्द के नाथ को जिसने अन्दर में स्वीकार किया—ऐसी जो दृष्टि अनुभव की हुई, आहाहा! हीराभाई! ऐसी बातें हैं, बापू! दिगम्बर सन्त प्रसिद्ध करते हैं, बापू! तेरी सम्पज़ि की तुझे खबर पड़े तो वह सम्पदा ऐसी है। आहाहा! कि तेरी लीला में... आहाहा! अशुभध्यान आ जाये, कोई आर्तध्यान, रौद्रध्यान (आ जाये) परन्तु दूसरे क्षण ध्यान में बैठ जाये तो निर्विकल्प हो जाये। आहाहा!

श्रोता : मन्दिर जाने की आवश्यकता न पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान बैठा है अन्दर। अब अन्दर भगवान में देखने बैठा न, आहाहा! परम ब्रह्मस्वरूप-परम ब्रह्म आनन्दस्वरूप प्रभु को जहाँ निहारने गया... आहाहा! वहाँ विकल्प टूट कर निर्विकल्पदशा हो जाती है, बापू! यह चीज क्या है? गजब है! यहाँ तो बहिन ने मुनि का लिखा है परन्तु पहले भाव में ऐसा आया था। आहाहा! बापू! यह वस्तु, प्रभु! यह चैतन्य जो भगवान अन्दर, जिसने सर्वज्ञ स्वभावी आत्मा है—ऐसा कहा और जिसने जानकर देखा... आहाहा! वह सर्वज्ञ प्रभु आत्मा... उसका जहाँ अन्तर अनुभव हुआ.... कोई जीव तो निगोद में से सीधा निकलकर, एक-दो भव भले बीच में किये हों, और मनुष्य हुआ हो तथा मनुष्य होकर आठ वर्ष की उम्र हो, उसमें समकित पाये। आहाहा! मोक्षमार्गप्रकाशक में नहीं कहा? 'सब अवसर आ गया है।' आहाहा! उसमें आठ वर्ष की उम्र में (यह) बात सुनी, प्रभु! तू महाप्रभु है अन्दर। आहाहा! तेरा माहात्म्य अलौकिक! वाणी में पूरा नहीं पड़ता, प्रभु! ऐसा तू है। आहाहा! ऐसा इसने सुना और अन्तर में गया और समकित पाता है। समकित पाये और तुरन्त ही नव कोटि से (परिग्रह का) त्याग करके इसे मुनिपना हो... आहाहा! और उसमें स्थिर हो वहाँ अन्तर्मुहूर्त में केवल (ज्ञान) हो और केवल (ज्ञान) हो तथा अन्तर्मुहूर्त हो वहाँ देह छूटकर सिद्ध हो जाये! आहाहा! प्रभु! तेरी लीला का पार नहीं, भाई! तुझे पता नहीं। जगत की ईश्वर की लीलायें और यह सब बातें गप्प ही गप्प हैं। आहाहा! समझ में आया?

स्वरूप की लीला जात्यन्तर है। जगत की जाति से कोई अलग प्रकार है। आहाहा! इसने सुना नहीं, कभी किया नहीं। आहाहा! **मुनिराज, चैतन्य के बाग में क्रीड़ा करते-**

करते... आहाहा! जैसे बाग में फूल की सुगन्ध लेने जाये और वहाँ लवलीन-लीन हो जाये; ऐसे आत्मबाग अनन्त गुण जहाँ खिले हैं... आहाहा! सम्यग्दर्शन, ज्ञान और यहाँ तो मुनि को चारित्र हुआ है। अन्तर्निमग्न हैं, अन्तर्निमग्न बहुत आनन्द की दशा प्रगट हुई है। आहा...हा...! बापू! मुनिपना बहुत कठिन चीज है भाई! जैन परमेश्वर कहते हैं, वह मुनिपना, हों! आहा...हा...! जिन्हें वस्त्र का टुकड़ा भी नहीं होता, पात्र नहीं होता। आहा...हा...! बाह्य में नग्नपना हो, अभ्यन्तर में अकेले आनन्द के नाथ का अनुभव हो, आहा...हा...! प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द!

ऐसे मुनिराज **चैतन्य के बाग में...** यह चैतन्य का बाग जहाँ विकसित है। आहा...हा...! जहाँ सम्यग्दर्शनपूर्वक चारित्र हुआ है, उसे तो अनन्त गुण खिल निकले हैं, भले केवलज्ञान जितने खिले न हों परन्तु खिल निकले हैं। श्रद्धा, ज्ञान, आनन्द, चारित्र, शान्ति, स्वच्छता, ईश्वरता — जिसकी पर्याय में अनन्त गुण खिल गये हैं। आहा...हा...! उस खिले हुए बाग में क्रीड़ा करते हुए, राग की क्रीड़ा छोड़कर चैतन्य के स्वभाव की क्रीड़ा में आते हुए... आहा...हा...! ऐसी बातें!

कर्म के फल का नाश करते हैं। यह क्या कहा? अतीन्द्रिय आनन्द के फल को वेदते हैं, अनुभव करते हैं; इस कारण उनके कर्म के फल का नाश हो जाता है। आहा...! कर्म उदय आकर खिर जाता है। आहा...हा...!

भगवान आत्मा के स्वरूप में जिनकी लीनता जगी है... आहा...हा...! जिनके अनन्त गुण खिले हैं। बाग कहा था न? बाग में फूल, वृक्ष होते हैं न, फूल, वृक्ष! हजारों फूल, वृक्ष! फूल... फूल... फूल... ऐसे (दिखते हैं)। आहा...हा...! वैसे ही इस भगवान के बाग में अनन्त शक्ति के जो गुण थे, वे पर्याय में खिल गये-निकल (विकसित हो) गये। आहा...हा...! यहाँ तो चारित्र है न! आहा...हा...! वे मुनिराज आत्मबाग में रमते-रमते, लीला करते-करते अर्थात् कुछ दुःख नहीं - ऐसा कहते हैं। आहा...! अनन्त आनन्द की धारा में रमते-रमते **कर्म के फल का नाश करते हैं।** आहा...हा...! यह व्यवहार से कहते हैं, वरना कर्मफल उस समय उत्पन्न नहीं होता, उसे नाश करते हैं - ऐसा कहा जाता है। आहा...हा...!

बाह्य में आसक्ति थी.... पहले आसक्ति थी, तब जो रस बाहर में था, **उसे तोड़कर स्वरूप में मन्थर-स्वरूप में लीन हो गये हैं।** आहा...हा...! जहाँ आनन्दादि गुण खिले हैं, उसमें मुनिराज लीन हुए। आहा...हा...! जिन्हें महाव्रतादि विकल्प से भी भिन्न पड़कर और अतीन्द्रिय आनन्द में जहाँ लीन हैं... मन्थर कहा, मन्थर अर्थात् लीन। बाहर की आसक्ति-रस

तोड़कर और स्वरूप के रस में मन्थर-लीन हुए हैं। आहा...हा...! अर्थात् लीन हो गये हैं। आहा...हा...! वह **स्वरूप ही उनका आसन,...** है। आहा...हा...! उदासीन हैं अर्थात्? राग में जिनका आसन नहीं, राग में वे बैठे नहीं। आहा...हा...! पूर्णानन्द के नाथ में जिनका आसन है। पूर्णानन्द प्रभु अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द का सागर, उसमें जिनका आसन है, वहाँ जो बैठा है, वहाँ उसने विश्राम लिया है। आहा...हा...! मन्थर! **स्वरूप ही उनका आसन,...** है। शुद्ध आनन्दघन नाथ में जिनकी बैठक है, उसमें ही जिनकी बैठक है, आहा...हा...! उसमें जिनकी बैठक है। कोई लोग नहीं कहते? कि भाई! वे लोग बहुत एकत्रित होते हैं और वहाँ दो घड़ी बैठने जाते हैं। यहाँ कहते हैं कि वे निवृत्ति लेकर अन्दर में बैठने जाते हैं। आहा...हा...! जहाँ प्रभु की अन्तर अनन्त सम्पदा पड़ी है। प्रभु! तू पूर्ण सम्पदा का स्वामी है, नाथ! तू छोटा नहीं, आहा...! तू पामर नहीं, तू स्त्री नहीं, तू पुरुष नहीं, तू मनुष्य नहीं, तू देव नहीं, तू पर्याप्त नहीं, तू अपर्याप्त नहीं, तू राग नहीं, तू द्वेष नहीं। आहा...हा...! प्रभु! तुझमें प्रभुता का पार नहीं न, नाथ! आहा...हा...! ऐसी प्रभुता में जिसकी लीनता हुई है, उसका आसन वहाँ है। आहा...हा...! वहाँ निश्चिन्त बैठे हैं - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! भाषा जरा सादी है, भाव जरा बहुत ऊँचे हैं। समझ में आया? आहा...हा...!

अन्तर के आनन्द की क्रीड़ा में चढ़े हैं... आहा...हा...! उन्हें आसन, स्वरूप है। अरे...! जिनकी बैठक स्वरूप में है, राग में नहीं; व्यवहाररत्नत्रय-राग के विकल्प में उनकी बैठक नहीं है। आहा...हा...! समझ में आये इतना समझना, बापू! यह तो संक्षिप्त भाषा है, अन्दर भाव बहुत है। आहा...हा...! उनका आसन... श्रीमद् में एक पत्र आता है, भाई! श्रीमद् में एक पत्र आता है। हमारा बैठना, हमारा खाना-पीना सब आनन्द है। एक पत्र आता है, वरना वे तो गृहस्थाश्रम में हैं। पूरा बड़ा पत्र है, आहा...हा...! उसमें बहुत बोल हैं। आसन है, यह है, यह है, यह है। उसमें सब आत्मा में हमारा स्थान है। आहा...हा...! भले रागादि आवे, तथापि उनका आदर नहीं और आदर तो त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव का है, वहाँ हमारा आसन लगाया है। आहा...हा...! वह आसन हमारा, यह खाना वह हमारा, अनुभव उसका, भोग उसका, कर्ता उसका, भोक्ता उसका। आहा...हा...!

यहाँ तो मुनि की दशा (की बात करते हैं) परन्तु सम्यग्दृष्टि है, उसका आसन तो स्वरूप में पूर्णानन्द में आदर है। आहा...हा...! वह स्वरूप ही जिसकी निद्रा है। सोता है, इस स्वरूप में — ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! मुनिराज या समकिती... आहा...हा...! मुनिराज की तो विशेष चारित्रदशा है, अन्तर दशा क्षण और पल में छटवाँ-सातवाँ (गुणस्थान) आता है। वन

में विचरते हैं। बाघ और सिंह के बीच बैठे होते हैं। आहा...हा...! दिगम्बर मुनि-सन्त बाहर स्थित हों 'एकाकी विचरते फिर श्मशान में, एकाकी विचरते फिर श्मशान में, पर्वत में सिंह बाघ संयोग जो, अडोल आसन और'... शरीर तो अडोल हो (परन्तु) 'मन में नहीं क्षोभ हो' अन्तर आनन्द की लहर में स्थित हैं। आहा...हा...! उन्हें कोई सिंह शरीर लेने आये, उसे चाहिए हो और मेरा है नहीं, मुझे चाहिए नहीं, आहा...हा...! 'परम मित्र का मानो पाया योग जब, अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा!' आहा...हा...! जंगल में पड़कर अकेले वन में रहते हुए, बाघ और सिंह की गर्जना में बैठे शान्ति में। शरीर तो चले, डिगे नहीं परन्तु मन डिगता नहीं — ऐसी जिनकी स्वरूप के अन्दर में... आहा...हा...! निद्रा है, वे स्वरूप में सोते हैं। आहा...हा...! स्वरूप में खर्राटे लेते हैं। जैसे अन्य (मनुष्य) निद्रा में खर्राटे भरते हैं न? क्या कहलाता है? घोरते हैं (यह) हमारी गुजराती भाषा है। यह नाक (में) खर्राटे भरते हैं न! हं... हं... श्वाँस होता है न? यह सोते हैं, वहाँ श्वाँस हं... (होता है) वह निद्रा में घोरता (खर्राटे लेता) है। वैसे मुनिराज, निद्रा में आत्मा के स्वरूप में घोरते (खर्राटे लेते) हैं। आहा...हा...!

स्वरूप ही आहार है;.... यह खुराक-आहार लेते हैं, वह उनका आहार नहीं; वह तो उनका ज्ञेय-परज्ञेय है। आहा...हा...! उनका तो अतीन्द्रिय आनन्द का आहार है। आहाहा! ऋषभदेव भगवान ने दीक्षित होकर प्रतिज्ञा (लेकर) पहले छह महीने के उपवास किये, वहाँ तक तो आहार का विकल्प आया नहीं, फिर आहार का विकल्प आया, भिक्षा के लिये जाते परन्तु मिलता नहीं, उन लोगों को कुछ विधि नहीं आती, वह विकल्प तोड़कर आनन्द के भोजन में जाते, ये छह महीने दूसरे व्यतीत हो गये। लोगों को ऐसा लगा कि आहार मिला, इसलिए (दुःख मिटा) (परन्तु) उन्हें तो आनन्द का आहार था। तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव! आहा...हा...! जिन्हें अतीन्द्रिय आनन्द का ग्रास! आहा...हा...! उस अतीन्द्रिय आनन्द के ग्रास खाते थे। यह ग्रास आहार का (ग्रास) जड़ का, वह तो परवस्तु है, वह कहीं आत्मा ले नहीं सकता, खा नहीं सकता। आहा...हा...!

आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द है, अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द पड़ा है। आहा...हा...! उन्हें मुनिराज को अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन है। आहा...हा...! समझ में आया? यह बात जगत को कठिन पड़ती है। कभी सुनी न हो... बाहर की धमाल में पड़े हैं। स्वरूप उनका जो अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द — ऐसे जो भगवान आत्मा के स्वरूप का स्वभाव, उसका जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ और तदुपरान्त जिनकी चारित्र-रमणता हुई, उसे तो आनन्द का

आहार है, कहते हैं। आहा...हा...! अतीन्द्रिय आनन्द के भोजन के ग्रास-कवल लेते हैं। आहा...हा...! है?

वे स्वरूप में ही लीला,.... आहा...हा...! **वे स्वरूप में ही लीला,....** करते हैं। आहा...हा...! सम्यग्दृष्टि (होवे), उसे भी स्वरूप में लीला है, तथापि उसे अभी राग का भाव विशेष आता है, तो भी समकिती को उसका आदर नहीं है। भक्ति का, पूजा का, दान का शुभराग आवे परन्तु उस राग के भाव का आदर नहीं है। आहा...हा...! जिन्होंने आत्मज्ञान में जिसे हेय जाना है, वह है अवश्य, व्यवहारनय का विषय आता है, होता है परन्तु उसे हेयरूप से जानते हैं। आहा...हा...! सम्यग्दृष्टि — धर्म की पहली सीढ़ी... आहा...हा...! अपने आनन्दस्वरूप में लीन है; वह राग आता है, उसमें यह लीनता-एकत्वबुद्धि नहीं है। आहा...हा...! उसका नाम सम्यग्दर्शन और मुनिपना है, बापू! ये लोग मान बैठें कि हम धर्मी हैं, पूजा करते हैं और भक्ति करते हैं तथा यात्रा करते हैं, (इसलिए) हो गया धर्म... धूल में भी धर्म नहीं है; धर्म तो नहीं परन्तु पुण्यानुबन्धी पुण्य भी नहीं है। आहा..हा...! पण्डितजी! आहा...हा...!

जहाँ अन्दर राग के-दया, दान के विकल्प भी दु:खरूप लगते हैं और अन्तर के आनन्द का स्वाद जिसे अन्तर में आता है, उसे यहाँ समकिती कहते हैं और उसे मुनिपना (कहते हैं)। विशेष आनन्द की दशा आवे, उसे मुनिपना कहते हैं। आहा...हा...! वे मुनिपना **स्वरूप में ही लीला,...** करते हैं। आहा...हा...! उनकी लीनता आत्मा के स्वरूप में है; वे राग की रमणता से छूट गये हैं। आहा...! 'निजपद रमै सो राम कहिये' आहा...हा...! वह आया था, आनन्दघनजी में आता है। 'निजपद रमै सो राम' राम उसे कहते हैं; बाकी राग के पुण्यपरिणाम में रमे, वह तो हराम है। आहा...हा...! कठिन बातें हैं, बापू! वीतराग सर्वज्ञ का मार्ग बहुत अपूर्व और अपूर्व लाभदायक है। अपूर्व और अपूर्व लाभदायक है, कभी अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ मिला नहीं — ऐसा लाभदायक है। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं — **वे स्वरूप में ही लीला, स्वरूप में ही विचरण करते हैं।** समकिती ज्ञानी और मुनि, उनका आदर त्रिकाली आनन्दकन्द के नाथ में है। वहीं लीला करते हैं और विचरते हैं। राग में नहीं विचरते। आहा...हा...! यह आता है, नहीं? ४१३ गाथा (समयसार) — पर में मत विचर, आता है। आहा...हा...! समयसार की ४१३ गाथा। प्रभु! तेरा स्वरूप अन्दर आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय ईश्वरता, अतीन्द्रिय शान्ति, और अतीन्द्रिय स्वच्छता, निरोगता से भरपूर तत्त्व है।

स्व-स्थ — अपने में स्वयं है वहाँ। उसमें उसे कहते हैं कि विचरनेवाला धर्मी उसमें विचरता है। आहा...हा...! उसे राग आवे तो भी उसमें उसका आदर नहीं है, अर्थात् उसका विचरना वहाँ राग में नहीं है। आहा...हा...! व्यवहाररत्नत्रय का राग आवे, आत्मज्ञान और अनुभव हुआ होने पर भी, तथापि उसमें उसका आदर नहीं है। अन्दर आनन्द का आदर है। आहा...हा...! यह बात कब जँचे! बेचारे को सुनने को नहीं मिलती। आहा...हा...! रंक कहा है, रंक, वरांका! आहा...हा...!

चैतन्य के आनन्द आदि की लक्ष्मी, पुण्य-पाप के विकल्प से — राग से भिन्न पड़ी है, उसका जिसे भान नहीं, वे सब भिखारी, रंक... रंक... रंक हैं। भले ही वह अरबोंपति हो, बड़ा देव हो, आहा...हा...! चलता शव है। चैतन्य अन्दर कौन है? अन्दर आनन्द का नाथ प्रभु निर्विकल्प चीज है, जिसमें पुण्य और पाप के राग का अवकाश नहीं — ऐसे चीज का जहाँ भान होता है, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान (होता है); तदुपरान्त स्वरूप में रमणता (होती है)। आहा...हा...! वह तो स्वरूप में विचरण करते हैं।

सम्पूर्ण श्रामण्य प्रगट करके.... सन्त उन्हें कहते हैं कि जो आनन्द में विचरण करते हैं और उस आनन्द को सम्पूर्णरूप से श्रामण्य प्रगट करके, आहा...हा...! अन्दर सम्पूर्णरूप से वीतरागता प्रगट करके **वे लीलामात्र में श्रेणी माँडकर....** आहा...हा...! **केवलज्ञान प्रगट करते हैं।** आहा...हा...! भरत चक्रवर्ती-आत्मज्ञानी समकिती अनुभव था। वे राग का कण भी आदरणीय नहीं मानते थे। वे छह खण्ड के राज्य की आसक्ति छूटी और जहाँ ध्यान में बैठते हैं... आहा...हा...! वहाँ वस्त्र आदि परिग्रह का नवकोटि से त्याग हो जाता है। अन्तरदशा में रमते हैं, केवलज्ञान हो जाता है। आहा...! उन्हें काँच भवन में... काँच भवन समझे? चारों ओर दर्पण हों, चारों ओर अभी होते हैं न? चारों ओर मकान में दर्पण होते हैं और वे तो चक्रवर्ती (थे); देवों के द्वारा बनाया हुआ दर्पण का मकान और उसमें बैठे, उसमें अन्दर से निवृत्ति हो गयी। समकिती तो थे ही। आहा...! वहीं के वहीं अन्तर्मुहूर्त में नवकोटि से वस्त्र आदि छूट गये, नग्न दिगम्बर दशा हो गयी और अन्दर में रमणता करते हुए अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान हुआ। आहा...हा...!

प्रश्न : दीक्षा....

समाधान : वह दीक्षा ली न, कहा न! पहले अन्तर्मुहूर्त में विकल्प उत्पन्न हुआ, आत्म-अनुभव तो है, आनन्द का भान तो है, विकल्प उठा कि यह छोड़ूँ वह छूट गया, ध्यान

में बैठे। तब एकदम पहले सातवाँ गुणस्थान आया, आहा...हा... ! और स्थिर हुए, श्रेणी माँडकर केवलज्ञान हुआ। आहा...हा... ! ऐसा है।

श्रोता : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी ही उनकी ताकत है — ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! बापू! तुझे उनकी सामर्थ्य की, उनकी शूरवीरता की (खबर नहीं है)। जिसमें अकेला वीररस भरा है, वीर्य भी वीररस से भरपूर वीर्य है। आहा...हा... ! ऐसा जिसे सम्यग्दर्शन हुआ, राग से और निमित्त से भिन्न पड़कर और स्वरूप के स्वीकार में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया, उसे यहाँ समकिती कहते हैं। उस स्वाद में रमते हुए चारित्र हो जाता है, और उस स्वाद में विशेष एकाकार होने पर, स्थिर होने पर केवलज्ञान हो जाता है। आहा...हा... ! कठिन बात है, बापू! दुनिया से अलग है और दुनिया कहती है, वह सब पता है न! वह है, सब पता है। जगत कहाँ है, (कहाँ) खड़ा है ? (पता है)। आहा...हा... ! व्यवहार के बाहर में दया, दान, व्रत, भक्ति और तप, यह सब तो शुभराग है, वहाँ खड़े रहकर धर्म मानते हैं तो मिथ्यादृष्टि है, वह राग में खड़े हैं। धर्मी है, वह स्वभाव में खड़ा है। आहा...हा... ! कठिन काम!

लीलामात्र में श्रेणी माँडकर केवलज्ञान प्रगट करते हैं। ७८ (बोल पूरा) हुआ।

७९, क्या कहते हैं अब ? **शुद्धस्वरूप आत्मा में मानों विकार अन्दर प्रविष्ट हो गये हों...** ऐसा अज्ञानी को भासता है। मिथ्यादृष्टि — जिसे धर्म का पता नहीं, भले जैन वाड़ा में जन्मा हो, देव-गुरु-शास्त्र को मानता हो परन्तु वह तो सब विकल्प और राग है। आहा...हा... ! **शुद्धस्वरूप आत्मा में मानों विकार अन्दर प्रविष्ट हो गये हों - ऐसा दिखायी देता है...** क्या कहना चाहते हैं ? कि जो राग होता है, वह मानो आत्मा में, अन्दर में हो—ऐसा अज्ञानी को भासित होता है परन्तु वास्तव में तो... आहा...हा... !

परन्तु भेदज्ञान प्रगट करने पर... वह राग भले दया, दान, व्रत, भक्ति, प्रभु का स्मरण (करे), वह सब राग है-विकल्प है। आहा...हा... ! वह विकल्प मानो आत्मा में प्रविष्ट हो गया हो, एकाकार हो—ऐसा मानकर बैठा है, वह अज्ञानी है, वह मिथ्यादृष्टि है। चाहे तो साधु-दिगम्बर मुनि हुआ हो परन्तु राग से मुझे लाभ होगा—ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा... ! (विकार) अन्दर प्रविष्ट हो गया हो - ऐसा मानता है—वह राग मेरा है और राग से मुझे लाभ होगा। आहा...हा... !

परन्तु भेदज्ञान प्रगट करने पर.... क्या कहते हैं ? इस राग से भिन्न पड़कर सम्यग्दर्शन

और ज्ञान करने पर **वे ज्ञानरूपी चैतन्य-दर्पण में प्रतिबिम्बरूप हैं।** जैसे दर्पण में सामने अग्नि आदि दिखायी दे, वह प्रतिबिम्ब है; अग्नि वहाँ नहीं है; उसी प्रकार ज्ञान में आत्मा का भान, सम्यग्दर्शन होने पर उसे राग का ज्ञान होता है, उस राग में मेरा स्वरूप है—ऐसा नहीं है परन्तु जैसे दर्पण में वह चीज दिखती है, वैसे ज्ञान में राग ज्ञात होता है। सबेरे आया था। समझ में आया?

धर्मी जीव को चैतन्य के आनन्द के स्वरूप का अनुभव होने से और अतीन्द्रिय ज्ञान का ज्ञान होने से उसकी पर्याय में ज्ञान की निर्मलता ऐसी होती है कि उसे राग ज्ञात होता है, प्रतिबिम्बरूप से ज्ञात होता है; राग मेरा है — ऐसा नहीं। जैसे दर्पण में अग्नि ज्ञात हो, वह अग्नि वहाँ दर्पण में नहीं है; उसी प्रकार आत्मा में वह राग ज्ञात हो, वह राग ज्ञात नहीं होता; राग सम्बन्धी का अपना ज्ञान है, वह ज्ञात होता है। सबेरे आया था। बहुत सूक्ष्म भाई! यह तो कठिन काम। आहा...हा...! दुनिया को तो बेचारों को मिला नहीं, सुनने को मिला नहीं। वस्तु तो कहाँ है? आहा...हा...! ऐसा जगत अन्धकार में पड़ा है। आहा...हा...!

चैतन्य चन्द्र अन्दर जो भगवान शीतल जिनस्वरूप विराजमान है। जिनस्वरूप ही उसका त्रिकाली स्वरूप है। 'घट घट अन्तर जिन बसै' नहीं कहा था? 'घट घट अन्तर जिन बसै'—समयसार नाटक का शब्द है। 'घट घट अन्तर जिन बसै, घट घट अन्तर जैन, परन्तु मत मदिरा के पान सौ मतवाला समझै न।' अपने मत की शराब पी हुई है। आहा...हा...! वह जिनस्वरूपी वीतराग मैं हूँ, राग मुझमें नहीं है, यह बात अज्ञानी को जँचती नहीं है। आहा...हा...! परन्तु राग आया,.... जैसे दर्पण में स्वच्छता में प्रतिबिम्ब ज्ञात होता है, वैसे ज्ञान में राग ज्ञात होता है—यह भी कहना व्यवहार है परन्तु यहाँ तो दृष्टान्त देना है न? आहा...हा...!

ज्ञान की पर्याय में राग आया, उसका ज्ञान, स्वयं ज्ञान की पर्याय से ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव होने से, वह ज्ञान का झलक, राग की झलक यहाँ आयी—ऐसा कहा जाता है, वरना तो राग सम्बन्धी का ज्ञान स्वयं से स्वयं को प्रगट हुआ है। आहा...हा...! देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, वह भी राग है। परद्रव्य है न? आहा...हा...! कठिन काम, जगत को कठिन पड़ता है। यह राग है, वह आत्मा के स्वभाव में प्रविष्ट नहीं हुआ परन्तु ज्ञानी-धर्मी आत्मा के स्वभाव को जानता है, उसकी ज्ञान की पर्याय में उस राग की झलक अर्थात् उसका ज्ञान होता है—ऐसा अभी तो कहना है। वास्तव में तो उस समय की पर्याय स्वयं को जानती है और राग को जाने—ऐसा ही विकास और प्रगट पर्याय होती है। उसमें राग प्रविष्ट नहीं होता परन्तु राग

सम्बन्धी का ज्ञान स्वयं का स्वयं से होता है। आहा...हा... ! प्रभु... प्रभु! क्या करें ? भाई! आहा...हा... ! जगत कहाँ खड़ा है और मार्ग कहाँ है ? (इसका जगत को) पता नहीं। आहा...हा... ! तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव यह कहते हैं, वह सन्त कहते हैं, वह यह वाणी है। आहा...हा... !

जो राग का विकल्प है—देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा, पंच महाव्रत का विकल्प—राग, वह कहीं आत्मा में प्रविष्ट नहीं है। तब होता है न ? धर्मी को भी होता है न ? अन्दर प्रविष्ट नहीं है तो भी होता है न ? वह होता है, वह दर्पण में जैसे परचीज प्रतिबिम्बरूप से ज्ञात हो जाती है, वैसे ज्ञान में राग प्रतिबिम्बरूप से ज्ञात हो जाता है। आहा...हा... ! ऐसा समकिती का स्वरूप है। आहा...हा... ! ऐसा है। है ? **भेदज्ञान प्रगट करने पर वे ज्ञानरूपी चैतन्य-दर्पण....** चैतन्य-दर्पण भगवान स्व-पर प्रकाशक जाननेवाला प्रभु, उसमें वह **प्रतिबिम्बरूप है।...** राग तो राग में रहा है, परन्तु धर्मी को राग सम्बन्धी का ज्ञान प्रतिबिम्बरूप से होता है। आहा...हा... ! दर्पण में अग्नि दिखती है, वह अग्नि नहीं। इस प्रकार अग्नि हो और दर्पण में दिखायी दे, (वह) अग्नि नहीं; दर्पण की अवस्था है। वहाँ अग्नि होवे तो हाथ लगावे तो गर्म होना चाहिए। यहाँ अग्नि को हाथ (लगाओ तो) गर्म होगा। वहाँ दिखती है, वह अग्नि नहीं; दर्पण की अवस्था है। वैसे ही राग है, वह दुःख और आकुलता है, उसका यहाँ ज्ञान होने पर उसमें आकुलता नहीं। उस राग का ज्ञान हुआ, वह अनाकुल आनन्द का वहाँ ज्ञान है। आहा...हा... ! ऐसी बात है। काम बहुत (कठिन), बापू! अभी बहुत बदलाव हो गया है। बात-बात में अन्तर है, इसका उसे पता नहीं है। वीतराग सर्वज्ञदेव परमेश्वर त्रिलोकनाथ के ये कथन हैं। समझ में आया ? आहा...हा... !

ऐसे इस दर्पण में प्रतिबिम्बरूप है। आहा...हा... ! क्या कहा ? कि चैतन्यस्वरूप जो भगवान पूर्ण आनन्दस्वरूप, राग से भिन्न है। उसमें राग ज्ञात हुआ तो राग, स्वरूप में नहीं है परन्तु तब राग ज्ञात हुआ न ? (तो कहते हैं) वह तो प्रतिबिम्बरूप उसकी झलक का ज्ञान हुआ। अज्ञानी को भी कहीं आत्मा में राग नहीं है परन्तु उसे राग और आत्मा एक मानकर राग से लाभ माननेवाला, आत्मा को एक ही माननेवाला, राग और आत्मा को एक मानता है। आहा...हा... ! वह चाहे तो साधु हो तो भी मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा... ! और गृहस्थाश्रम में... आता है न, रत्नकरण्डश्रावकाचार में ? मोही अनगार भी मिथ्यादृष्टि है और गृहस्थाश्रम में समकिती भी ज्ञानी है। पण्डितजी को कण्ठस्थ है—रत्नकरण्डश्रावकाचार का श्लोक है। आहा...हा... !

आत्मा में राग से लाभ होता है – ऐसा माननेवाले राग, आत्मा में प्रवेश हो गया है—ऐसा मानते हैं। आहा...हा... ! परन्तु ऐसा है ही नहीं। उसके ज्ञान में वह ज्ञात होने योग्य होता है, परन्तु उसे (उसका) ज्ञान नहीं है। आहा...हा... ! जिसकी ज्ञान की पर्याय वर्तमान है... यह सबेरे चला था न ? यह पर्याय त्रिकाली को जानती है, इस ओर देखो तो त्रिकाली को जानती है और इस ओर देखो तो रागादि हों, उन्हें जानती है, क्योंकि वह तो जाननेवाला, जाननेवाला जानने का कार्य करता है। यह ज्ञायक प्रभु है, आहा...हा... ! अन्दर देखने पर ज्ञायकस्वरूप को पर्याय जानती है, बाहर देखने पर राग का ज्ञान हो, उसे वह जानती है।

यहाँ तो दर्पण का प्रतिबिम्ब कहा है। ज्ञान का प्रतिबिम्ब। प्रतिबिम्ब अर्थात् वह चीज यहाँ नहीं आती। जैसा वहाँ राग है, वैसा ही यहाँ ज्ञान; राग की सत्ता की अपेक्षा रखे बिना, अपनी उस समय की पर्याय, स्व-पर प्रकाशक के सामर्थ्यवाली होने से स्वयं अपनी झलक में राग को जाने—ऐसा कहना वह व्यवहार है। आहा...हा... ! बहुत कठिन काम भाई! जवाबदारी बहुत, शर्तें बहुत। आहा...हा... ! क्या हो ? भाई! अनन्त काल का भटका हुआ... आहा...हा... ! **ज्ञानरूपी चैतन्य-दर्पण में प्रतिबिम्बरूप हैं।**

ज्ञान-वैराग्य की अचिन्त्य शक्ति से पुरुषार्थ की धारा प्रगट कर। आहा...हा... ! क्या कहा ? स्वरूप, जो भगवान ज्ञायकस्वरूप है और रागरहित वैराग्यस्वरूप है। आहा...हा... ! पर से उदासस्वरूप है और स्व से पूर्ण भरा हुआ है। आहा...हा... ! ऐसे **ज्ञान-वैराग्य की अचिन्त्य शक्ति से...** ज्ञान की भी अचिन्त्य शक्ति। अचिन्त्य है, कोई कल्पना से उसका माप आवे—ऐसा नहीं है, बापू! भाई! आहा...हा... ! ज्ञान अर्थात् आत्मा के चैतन्यस्वरूप का भान और चैतन्यज्ञान है, उसका ज्ञान और इस तरफ राग का अभाव – इसका नाम वैराग्य; दोनों की अचिन्त्य शक्ति है। ज्ञान की अचिन्त्य शक्ति और वैराग्य की अचिन्त्य (शक्ति)। वैराग्य यह, हों! स्त्री-पुत्र छोड़े और वैरागी है, वह वैरागी नहीं। आहा...हा... ! आहा...हा... !

यहाँ तो अन्तर के राग से भिन्न पड़कर वैराग्यरूप वर्तता है, उसे वैराग्य कहते हैं। आहा... ! चाहे तो पुण्य का भाव हो—दया, दान, व्रत का (भाव हो), उससे भिन्नरूप से विरक्त वर्तता है। राग से विरक्त; राग से रक्त नहीं। आहा... ! राग से विरक्त, स्वरूप में लीन—ऐसी ज्ञान और वैराग्य की अचिन्त्य शक्ति अन्दर है। आहा... ! यह तो बहुत अन्तर, बातों-बातों में अन्तर लगे। बेचारे अनजान व्यक्ति को तो ऐसा लगे कि क्या है ऐसी बात ? वीतराग का मार्ग ऐसा होगा ? यहाँ तो सुनते हैं कि यात्रा करो, भक्ति करो, मन्दिर बनाओ, पूजा करो,

व्रत पालो, उपवास करो—ऐसा सुनते हैं। आहा...हा... ! यह करना-करना, वह राग है और राग का करना, वह आत्मा का मरना है। कठिन बात, बापू! यह ज्ञानस्वरूप प्रभु है, उस ज्ञानस्वरूपी का ज्ञान और ज्ञानस्वरूप तथा राग के अभाव का वैराग्य, दोनों में अचिन्त्य शक्ति है। आहा...हा... !

(समयसार) निर्जरा अधिकार में कहा है न ? ज्ञान और वैराग्य दो शक्ति समकिती को होती है। सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान में... श्रावक पाँचवें का तो कहाँ रह गया ? आहा...हा... ! यह चौथे गुणस्थान में है जहाँ, इसे भी आत्मा का ज्ञान और राग का अभाव-वैराग्य, दो शक्तियाँ इसे प्रगट हुई होती हैं। है ? निर्जरा अधिकार, समयसार! आहा...हा... ! स्वरूप के ज्ञान की शक्ति भी अचिन्त्य है, और राग के अभाव-स्वभावरूप वैराग्य की शक्ति भी अचिन्त्य है। आहा...हा... ! है ?

ज्ञान-वैराग्य की अचिन्त्य शक्ति से पुरुषार्थ की धारा प्रगट कर। आहा...हा... ! ज्ञान का पुरुषार्थ और रागरहित वैराग्य का पुरुषार्थ-ऐसा पुरुषार्थ कर। आहा...हा... ! और ऐसी पुरुषार्थ की धारा प्रगट कर। स्वभाव की ओर ढलना और राग की ओर से विरक्त (होना)—ऐसी पुरुषार्थ की धारा प्रगट कर। आहा...हा... ! उसे धर्मधारा कहा जाता है। ज्ञानधारा, कर्मधारा। राग साथ में हो, वह कर्मधारा परन्तु उसका यहाँ तो प्रतिबिम्ब पड़ता है। जानता है, वह इसमें आया। राग साथ हो, अभी वीतराग न हो; (इसलिए) उसका प्रतिबिम्ब पड़ता है, मानो, आहा...हा... ! पूर्वापर विरोधरहित वीतराग की वाणी है, कहीं विरोध नहीं आता। आहा... !

बारहवीं गाथा में ऐसा कहा, सम्यग्दर्शन आत्मा का हो, पूर्णानन्द के नाथ का अनुभव (हो), आनन्द का स्वाद (आया), उसे अभी राग बाकी है और वह जाना हुआ प्रयोजनवान है, आदर किया हुआ प्रयोजनवान नहीं। आहा...हा... ! क्योंकि राग का ज्ञान होता है; राग, ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होता। स्वरूप के ज्ञान में राग नहीं आता, परन्तु राग सम्बन्धी का जो ज्ञान है, वह होता है। वह स्वयं से होता है, आहा... ! ऐसा है। एक घण्टे में कितनी बातें इसमें.... !

श्रोता : एक ही बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा का आश्रय कर, राग का आश्रय छोड़। आहा...हा... ! पर से खस, स्व से बस, इतना बस, यह टूकूटच, आहा...हा... ! चाहे तो भगवान की भक्ति का, स्मरण का राग (हो) परन्तु राग से हट-खस, क्योंकि यह वीतरागमार्ग है। राग से हट, स्वभाव में बस,

आहा...हा... ! यह टूकूटच, इतना करे तो बस। अरे...रे... ! कैसे जँचे ? समझ में आया ? ऐसा है। इसका सब पूरा विस्तार, स्पष्टीकरण आवे न, उसका अलग प्रकार का आवे न ? समभाव की पूरी टीका है, ऐसा आता है न ? वीतरागभाव जो अन्दर प्रगट हो, वीतरागस्वरूप ही प्रभु त्रिकाल है, उसमें से वीतरागता प्रगट होती है, आहा...हा... ! वह अचिन्त्यदशा है। उसे ज्ञान की ताकत आती है, और राग के अभाव की वैराग्य की ताकत प्रगट होती है। राग की ताकत प्रगट होती है—ऐसा नहीं। आहा...हा... ! राग के अभाव की / वैराग्य की ताकत प्रगट होती है। सम्यग्दृष्टि जीव को चौथे गुणस्थान में (ऐसी शक्ति प्रगट होती है।) आहा...हा... ! जिनवर त्रिलोकनाथ परमेश्वर वीतराग कहते हैं, वह यह बात है। आहा... ! भगवान महाविदेह में यह बात कर रहे हैं। प्रभु सीमन्धर भगवान विराजमान हैं। यह बात कुन्दकुन्दाचार्यदेव वहाँ आठ दिन रहकर लेकर आाये और यह शास्त्र बनाये, उसका यह सार है। आहा...हा... !

यथार्थ दृष्टि (द्रव्य पर दृष्टि) करके... द्रव्य त्रिकाली है, उस पर दृष्टि करके **ऊपर आजा।** अन्दर जो राग में गिर गया है तो अब ऊपर आजा। इस ध्रुव को अधिक कर डाल। आहा... ! विशेष है, लो ! (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

२१

श्री परमात्मप्रकाश, गाथा-३६-३७, प्रवचन - २२
दिनांक - ३०-०६-१९७६

आगे शुद्धात्मा से भिन्न कर्म और शरीर इन दोनों कर अनादि कर बँधा हुआ यह आत्मा है, तो भी निश्चयनयकर शरीरस्वरूप नहीं है, यह कहते हैं-

कम्म-णिबद्धु वि जोइया देहि वसंतु बि जो जि।
होइ ण सयलु कया वि फुडु मुणि परमप्पउ सो जि।।३६।।

हे योगी! आत्मा को उपादेय करके जिसने सम्यग्दर्शन-ज्ञान में जाना है, उसे यहाँ योगी कहते हैं। जिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान में आत्मा उपादेय है, ऐसा जिसे परिणमा है, उसे वह आत्मा उपादेय है और राग की रुचिवाले को आत्मा हेय है, आत्मा हेय है। गुलांट खाता है। आत्मा, शरीर और कर्म से रहित है, ऐसा जिसने अन्तर में जाना है, उसे वह आत्मा उपादेय हुआ है और जिसने शरीर तथा कर्म सम्बन्धवाला है, ऐसा जिसने माना है, उसे आत्मा हेय है। समझ में आया? ऐसा है। यह तो उपादेय को ऐसा कहते हैं। यह हेय है तो यह हेय है, यह शैली इसमें है। समझ में आया?

जो यह आत्मा यद्यपि कर्मों से बँधा है, और देह में रहता भी है, परन्तु कभी देहरूप नहीं होता,... कर्मरूप और देहरूप प्रभु हुआ नहीं। आहाहा! **उसी को तू परमात्मा निश्चय से जान...** उसे तू राग से भिन्न पड़कर और स्वरूप को आदरणीय करके जान। समझ में आया? ऐसा परमात्मा वास्तव में प्रगट है (ऐसा) जान। आहाहा!

भावार्थ:-परमात्मा की भावना से विपरीत राग, द्वेष, मोह हैं,... इससे हुआ। संस्कृत टीका में अशुद्धनय है। यहाँ व्यवहारनय कहा है। टीका में अशुद्धनय कहा है। **'कर्मभिरशुद्धनयेन बद्धोऽपि'** ऐसा है। यह तो अशुद्धनय से व्यवहार है, ऐसा स्पष्ट किया। भगवान आत्मा अशुद्धनय से अर्थात् विकारी परिणाम की रुचिवाला, वह कर्म से बँधा हुआ और शरीर में है, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। समझ में आया? जिसे आत्म अशुद्धपना जो है, पुण्य और पाप तथा मिथ्याभ्रान्ति आदि, ऐसे में जो है, उसकी रुचिवाले को कर्म से बँधा

हुआ शरीर में है, ऐसा अशुद्धनय से कहा जाता है। समझ में आया? आहाहा!

और देह में तिष्ठ रहा है, तो भी निश्चयनय से शरीररूप नहीं है,... यह ज्ञायकस्वरूप—चैतन्यस्वरूप, शरीररूप हुआ नहीं। **उससे जुदा ही है,...** आहाहा! शरीर से भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूप भिन्न ही है। **किसी काल में भी यह जीव जड़ तो न हुआ,...** आहाहा! छठवीं गाथा में यहाँ तक कहा है न कि शुभाशुभभावरूप भी हुआ नहीं। (समयसार गाथा) छठवीं। क्योंकि चैतन्य ज्ञायक ज्ञानस्वभावस्वरूप प्रभु, वह पुण्य-पाप के भाव अचेतनरूप वह कैसे हो? इसने माना है कि मैं शुभ-अशुभभाव का कर्ता हूँ और वह मेरा आचरण है। ऐसा माना है। माना है, तथापि वस्तुस्वरूप जो है, वह शुभाशुभभावरूप हुआ नहीं तो फिर शरीर और कर्म के सम्बन्धरूप हो, यह है नहीं। आहाहा! **उसे हे प्रभाकरभट्ट, परमात्मा जान।** आहाहा! यह जान का अर्थ, राग और शरीर और कर्म के लक्ष्य से छूटकर, जो परमात्मस्वरूप शरीर और कर्मरूप हुआ नहीं, उसे स्वसंवेदन ज्ञान से जान। समझ में आया? ऐसी बात है। आहाहा!

निश्चयकर आत्मा ही परमात्मा है,... वास्तव में भगवान आत्मा, वही वस्तुस्वरूप से परमात्मस्वरूप परमस्वरूप परमात्मा स्वयं है। **उसे तू वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानकर चिन्तवन कर।** देखा! जान का अर्थ यह किया। यह वस्तु है, इसे जान अर्थात्? **वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानकर...** जान, अनुभव कर। आहाहा! शरीर और कर्म से रहित प्रभु है। इस आत्मा को उसके स्व—अपना वेदन, ज्ञान के वेदन द्वारा उसे जान। वह राग के पुण्य-पाप के विकल्प से वह ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा!

यह आत्मा सदैव वीतराग निर्विकल्प समाधि में लीन साधुओं को तो प्रिय है,... उपादेय का अर्थ प्रिय किया है। क्या कहा यह? ऐसा जो भगवान आत्मा सम्यग्दृष्टि को अर्थात् कि वीतराग निर्विकल्प शान्ति में लीन ऐसे सन्तों को तो वह आत्मा ऐसी दशा में उपादेय है। समझ में आया? मुख्यपने की बात ली है। मुख्यरूप से लिया है न! यहाँ तो कहना है कि कर्म और शरीररहित चीज़—वस्तु जो है, उसे उपादेयरूप से कौन जाने? कि जिसे स्व-संवेदन ज्ञान से आत्मा ज्ञात हुआ, उसे उपादेयरूप से है। उसका आदर हुआ है, उसे उपादेय है। आहाहा! अब ऐसी बातें।

मूढ़ो को नहीं। ऐसा कहा है। नहीं? पाठ में दूसरा है। **'अन्येषां हेय'** ऐसा है। आहाहा! जो पुण्य और पाप के प्रेम में पड़े हैं, उन्हें ऐसा आत्मा हेय है। भाई! टीका ऐसी है।

यह तो इन्होंने फिर साधारण भाषा मूढ़ कहकर कर डाली। आहाहा! क्या कहा? यह आत्मा जो है एक समय में प्रभु पूर्ण ज्ञान-आनन्द के स्वभाव से भरपूर वस्तु स्वयं है, उसकी सन्मुख के स्वसंवेदन ज्ञान से जो जानता है, उसे वह उपादेय है। उपादेय हुआ उसे उपादेय है—ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! हीरा के पैसे भरे, उसका हीरा है—ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐई! इसी प्रकार जिसने भगवान पूर्णानन्दस्वरूप प्रभु को जिसने स्वसन्मुख होकर, स्वसंवेदन ज्ञान से, दृष्टि से जिसने जाना, उसे वह तब उपादेय हुआ। समझ में आया? आहाहा! **'अन्येषां हेय'** आहाहा! जिसे पुण्यपरिणाम के भाव में प्रेम है, जिसे कर्म के सम्बन्ध की रुचि है, जिसे शरीर के प्रति मोह है, उस जीव को आत्मा हेय है। लो, यह बात कहाँ से आयी?

श्रोता : आत्मा की खबर नहीं, वह कहाँ से हेय करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे ख्याल नहीं, इसलिए हेय है। यही कहा कि उसे ख्याल नहीं, इसलिए हेय है। ऐई!

चैतन्यस्वरूप ज्ञायकमूर्ति प्रभु जिसे अन्तर में दृष्टि और वेदन से जानने में आया, उसे वह आत्मा उपादेय हुआ। उपादेय है, इसलिए उपादेय हुआ। आहाहा! यह तो परमात्मप्रकाश है। और जिसे **'अन्येषां हेय'** अर्थात् वीतरागी रुचि से, वेदन से जिसने आत्मा को जाना नहीं और दया, दान, व्रत, भक्ति आदि राग के भाव में प्रेम है, उसे आत्मा हेय है। आहाहा! अस्ति-नास्ति की है। हेय है कहा। ज्ञानी को राग हेय है, ऐसा न कहकर ज्ञानी को आत्मा उपादेय है। आहाहा! धर्मी ने पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, उस ओर का आश्रय लिया है, उसका आदर किया है, वीतरागी पर्याय में उसे उपादेय किया है, उसने उसका आदर किया है, उसे उपादेय है। आहाहा! परन्तु जिसे उस वीतरागी पर्याय द्वारा जिसे उपादेय हुआ नहीं, उसे तो राग के, पुण्य के भाव, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि का भाव... आहाहा! ऐसे राग के प्रेमी को आत्मा हेय है। अर्थात् कि उसे लक्ष्य में आया नहीं, उसे आदरणीय नहीं। आहाहा!

श्रोता : सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टि को अभी क्या होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे भी तब तक अभी आदर नहीं है। सन्मुख है परन्तु अभी वहाँ परिणति निर्मल हो, तब उसने आदर किया कहलाता है। ऐसी बात है, भाई! वीतरागमार्ग जगत से अलग प्रकार है। आहाहा! वे तो कहें दया पालो, व्रत करो, अपवास करो। यहाँ कहते हैं कि यह दया पाले, व्रत-तप करने के भाव वाले के प्रेम को... ऐई प्रेमचन्दजी! उसे आत्मा हेय है। आहाहा! इसने आत्मा देखा नहीं, उसे आत्मा की खबर नहीं। आहाहा! कहो, चेतनजी!

श्रोता : आंगन में आया है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह जरा भी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो वीतरागी परिणति द्वारा उसे पकड़ा है, और आदर किया है, उसे वह उपादेय कहा जाता है। परिणति में उपादेय हुआ है, उसे उपादेय कहा है—ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहाहा! बहुत संक्षिप्त बात और बहुत मर्म की बात। आहाहा!

जिसे परपदार्थ के प्रति के प्रेम में चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र का प्रेम हो, शास्त्र का प्रेम हो, उसके प्रेम में जो रुका है, उसे प्रभु हेय है, कहते हैं। आहाहा! उसने आत्मा का आदर नहीं किया, उसे छोड़नेयोग्य (माना) है। आहाहा! गजब बात है न! यह तो उस टीका में देखा न भाई! जरा तब कहा, यह तो दूसरा कहते हैं। साधारण अर्थ करते हैं। यह उपादेय है न मूढ़ों को... वस्तु ऐसी है। प्रत्येक में, हों! ३५ में भी ऐसा है, देखो! **'वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतानां स एवोपादेयः, तद्विपरीतानां हेय'** ३५ में भी यह आया है। आहाहा! टीका ऐसी आयी है। उसका अर्थ साधारण किया है। **अपने स्वरूप को नहीं जानते हैं, उनको आत्मरुचि नहीं हो सकती...** ऐसा। इतना किया। क्या कहा ? यह कहीं पुनरुक्ति लगे, ऐसा नहीं है।

पूर्ण स्वरूप भगवान आत्मा है, उसके सन्मुख होकर वीतरागी परिणति सम्यग्दर्शन आदि भाव में उसने आदर किया है, उसे वह उपादेय है। आत्मा उपादेय है, उपादेय है। अर्थात् कहीं शब्दों में, धारणा में (नहीं), ऐसा कहते हैं। आत्मा उपादेय है और राग हेय है अर्थात् क्या ? ज्ञान में धार रखा कि यह उपादेय ? ऐसा नहीं है। आहाहा! देखो! वीतरागमार्ग! आहाहा! सम्प्रदाय में तो ऐसी बातें सुनने को मिले, ऐसा नहीं है। आहाहा! पूरी बात ही (बदल गयी)। हमारे बेचारे हीराजी महाराज थे, कितनी कषाय मन्द और 'हीरा एटला हीर' ऐसा कहलाते थे, हों! परन्तु पर की दया पालना, वह अहिंसा और वह सिद्धान्त का सार है, ऐसा कहते थे। यह सिद्धान्त से एकदम विरुद्ध। पर की दया पाली नहीं जा सकती। पर की पर्याय की नहीं जा सकती और पर की दया का भाव उठता है, वह राग है। और जिसे राग का रस है, प्रेम है, उसे भगवान हेय है। आहाहा! ऐसी बात भी कहाँ से लावे, भाई! सुजानमलजी!

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें लोग धर्म मानते थे। आहाहा!

प्रत्येक में इन्होंने कहा है, हों! ३५वीं में भी ऐसा कहा है। **'एवोपादेयः, तद्विपरीतानां हेय'** आहाहा! जिसे आत्मा शुद्ध चैतन्य प्रभु उपादेयरूप से परिणति में उपादेय हुआ है...

आहाहा! सम्यग्दर्शन-ज्ञान की दशा में जिसे उपादेय हुआ है, उसे वह उपादेय है। आहाहा! इससे विपरीतवाले को जिसे राग और पुण्य-पाप में प्रेम है तथा पुण्य-पाप के फलरूप से प्राप्त संयोगी चीज़ यह देव-गुरु-शास्त्र भी संयोगी चीज़ है। आहाहा! उनकी रुचिवाले को आत्मा हेय है। आहाहा! प्रेमचन्दभाई! ऐसी बात सुनने को मिले कहाँ? बापू! क्या करें? सत्य तो यह है। आहाहा!

भक्तिभाव आवे, परन्तु वह तो अशुभ को टालनेमात्र बात है। आहाहा! गजब किया है न? टीकाकार ने भी टीका की है न!! आहाहा! भगवान परमात्मस्वरूप है न, प्रभु! निश्चय से जो पूर्ण आत्मा, वही आत्मा है। आहाहा! उसे जिसने पर्याय में, वीतरागी दशा द्वारा उपादेयरूप से परिणमा है... आहाहा! उसने वह आदर किया है, ऐसा कहा जाता है, उसे आत्मा आदरणीय है। आहाहा!

श्रोता : यह तो निश्चय की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु यह है न, दूसरी कौन सी है? आहाहा!

अरे! भगवान! देख तो सही! आहाहा! तीन लोक के नाथ की वाणी तो देखो! सन्तों की बात। दिगम्बर सन्तों की वाणी... आहाहा! एक चोट और दो टुकड़े कर डाले। वीतरागी परिणति द्वारा जिसे आत्मा का प्रेम है, उसे वह आत्मा उपादेय कहने में आया है। आहाहा! जिसकी दशा में स्वभाव से विरुद्ध भाव, स्वभाव से अन्य भाव विरुद्ध अर्थात् राग और अन्य अर्थात् परपदार्थ... आहाहा! उसका जिसे प्रेम है, उसे प्रभु हेय है। यह अर्थ तो अभी पहला होता है, हों! कभी हुआ नहीं है। उसमें—टीका में देखा तो यह तो अर्थ यहाँ किया है। अपने को ऐसा कि यह उपादेय है और यह हेय है। राग हेय है और यह उपादेय है।

श्रोता : कहाँ हेय-उपादेय और कहाँ...

पूज्य गुरुदेवश्री : अब यह हेय। राग हेय है, वह अभी यहाँ नहीं। यहाँ तो हेय है, उसे उपादेय मानता है, उसको आत्मा हेय है। आहाहा!

श्रोता : विपरीतता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : विपरीत है। आहाहा!

आत्मा स्वयं परमेश्वरस्वरूप है, अकषायस्वरूप है, वीतरागी मूर्ति प्रभु अनादि-अनन्त है, उसका जिसने स्वसन्मुख होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम द्वारा उसे उपादेय किया, उसको उपादेय है। आहाहा! क्या शैली! क्या शैली! गजब है!! और उसे राग हेय है,

ऐसा न कहकर राग और राग के फलरूप से बाह्य चीज़ें, उनके प्रति जिसे प्रेम है, उसे आत्मा हेय है। आहाहा! तेरी चीज़ तो देख, नाथ! आहाहा! एक में... अर्थात् कोई व्यवहाररत्नत्रय का राग और व्यवहाररत्नत्रय के निमित्त... आहाहा! देव-गुरु-शास्त्र प्रशस्त राग के निमित्त हैं न? पंचास्तिकाय में आता है। भाई! वे प्रशस्त राग के निमित्त हैं।

श्रोता : प्रशस्त ही इसलिए कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए उन्हें प्रशस्त कहा। राग को प्रशस्त क्यों कहा? कि सच्चे देव-गुरु-शास्त्र जिसमें निमित्त है। प्रशस्त जिसके निमित्त है। देव-गुरु-शास्त्र केवली और त्रिलोक के नाथ आदि प्रशस्त राग में निमित्त है, इसलिए राग को प्रशस्त कहा है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि उस प्रशस्त राग का जिसे प्रेम है... आहाहा! और राग के निमित्त हैं, उनका जिसे प्रेम है... आहाहा! उसे आत्मा हेय है। आहाहा! समझ में आया? थोड़ा परन्तु सत्य होना चाहिए न? लम्बा-लम्बा बड़ा करे और हो नहीं सत् का ठिकाना। आहाहा!

सारांश :- **सदैव वीतराग निर्विकल्प समाधि में लीन...** स्वरूप सन्मुख की शुद्ध परिणति में जो लीन है। आहाहा! उन सन्तों को वह उपादेय है। वह का अर्थ उपादेय। मूल पाठ उपादेय है। मूल पाठ—टीका है, वह उपादेय है। परन्तु साधारण लोगों को प्रिय, मूढ़ को अप्रिय - ऐसे मूढ़ को प्रिय नहीं, ऐसा संक्षिप्त किया। आहाहा! भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु है, उसका जिसे स्वसंवेदन से प्रेम नहीं, वह राग के प्रेम में पड़े हैं, निमित्त के प्रेम में पड़े हैं। आहाहा! गजब बात है! देखो! यह वीतराग की वाणी तो देखो! देव-गुरु-शास्त्र कहते हैं कि हम पर हैं, हमारे प्रति का प्रेम, उसकी रुचि में रुक जाएगा तो तुझे आत्मा हेय होगा। आहाहा! यह वीतरागी वाणी है। आहाहा!

ऐसा जो आत्मा। कैसा? कि **वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानकर...** अनुभव में आवे ऐसा। आहाहा! वह वीतराग, रागरहित... आहाहा! भाषा। और लोग चौथे गुणस्थान में ऐसा कहे कि रागसहित है। यह तो आत्मा ही रागरहित परिणतिवाले को ही उपादेय है। आहाहा! समझ में आया? चौथे गुणस्थान से (उपादेय है)। आहाहा! वह गुणस्थान ही वीतरागी परिणति है, सम्यग्दर्शन वीतरागी दर्शन है, वीतरागी ज्ञान है, वीतरागी स्थिरता है। भले अनन्तानुबन्धी का (राग गया) इतना हो। आहाहा! ऐसे श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता में जो लीन है, उसे वह भगवान उपादेय है। आहाहा! राग से हट गया है और वीतरागस्वरूपी भगवान की वीतराग परिणति जिसने प्रगट की है। आहाहा! समझ में आया? क्योंकि आत्मा वीतरागस्वरूप है। उसके

सन्मुख होने पर उसके आश्रय से तो वीतराग परिणति ही प्रगट होती है और वीतरागी परिणति अर्थात् अवस्था, उसमें भगवान स्वयं त्रिकाली, वह उपादेय हुआ है। इसका आश्रय हुआ, उसमें वह उपादेय हुआ। आहाहा!

जिसके दर्शन में आत्मा समीप है। आता है न? आहाहा! जिसे सम्यग्दर्शन में आत्मा समीप है, उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है! जिसके ज्ञान में आत्मा समीप है, उसे ज्ञान कहा जाता है! जिसमें-चारित्र में भगवान आत्मा समीप है, उसे चारित्र कहा जाता है! आहाहा! जिसके दर्शन-ज्ञान-चारित्र में भगवान समीप है, उसे यहाँ उपादेय कहा जाता है। समझ में आया? 'एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ।' ऐसा है। और स्वद्रव्य के आश्रय से परिणति में वह उपादेय हुआ। इसके अतिरिक्त परद्रव्य के लक्ष्य से होती परिणति, राग की चाहे तो भक्ति की हो, शुभ की हो, यात्रा की हो, शास्त्र सुनने की हो... आहाहा! देव-गुरु और शास्त्र परद्रव्य है, इनके प्रति का प्रेम है, वह राग है। आहाहा! और राग के प्रेमियों को प्रभु हेय है। आहाहा!

श्रोता : विनय है, विनय तो धर्म है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह विनय तो अपेक्षा से कहते हैं। यह अपेक्षा आती है और आती है। यह तो निर्मानता है, इतना गिनकर ऐसा कहा है। यहाँ तो बात यह है। एक और एक = दो जैसी बात है। इसमें वाद-विवाद को कोई स्थान नहीं है।

जिसके श्रद्धा-ज्ञान में भगवान समीप में वर्तता है, जिसने श्रद्धा-ज्ञान में आत्मा आदरणीय किया है। आहाहा! पर्याय भी नहीं, हों! वापस। पर्याय ने द्रव्य को उपादेय किया है। आहाहा! ऐसा आया न? भाई! आहाहा! जिसने वीतरागी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय में आत्मा का आश्रय लिया है और आत्मा समीप है, उसे आत्मा आदरणीय और उपादेय है। आहाहा! गजब काम है! ऐसा सत्य है। आहाहा! और इससे विपरीत स्वद्रव्य के सिवाय परद्रव्य का प्रेम (हो)... आहाहा! यह १६वीं गाथा में कहा न? **'परदव्वादो दुग्गइ'** मोक्षपाहुड़, १६वीं गाथा। देव, गुरु की वाणी, शास्त्र, उससे दुर्गति है। गजब बात है, बापू! अर्थात्? कि परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाएगा तो तुझे राग ही होगा, भाई! यह राग, वह चैतन्य की गति नहीं है। आहाहा! अरे रे! यह बात सुनने मिलना कठिन पड़े जगत को और ऐसा लगता है कि यह तो निश्चय है, एकान्त है। प्रभु! ऐसा आरोप न दे, नाथ! वस्तु यह है। आहाहा! वहाँ तो ऐसा ही कहा, **'परदव्वादो दुग्गइ'** देव-गुरु-शास्त्र से भी दुर्गति है। दुर्गति अर्थात् चैतन्य की गति नहीं है। राग होता है। आहाहा!

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, नहीं। आहाहा!

स्वद्रव्य की परिणति के भाव में उपादेय के अतिरिक्त जिसे राग के किसी भी कण का और राग के निमित्त देव-गुरु-शास्त्र, अशुभराग के निमित्त स्त्री-कुटुम्ब-परिवार; शुभराग के निमित्त प्रशस्त देव-गुरु-शास्त्र, वे जिसे उपादेय है अर्थात् प्रेम है... आहाहा! वे उपादेय है, उसे आत्मा हेय है। आहाहा! इस प्रकार का स्पष्टीकरण आज ही होता है, पहले में नहीं हुआ। क्योंकि उस टीका में नजर की तब (पढ़ा) अमूढ़ को प्रिय है और मूढ़ को प्रिय नहीं, परन्तु इसका मूल यह है। उस टीका में देखा न! प्रत्येक गाथा में होगा, हों! यह। आहाहा! और आगे जाने पर सर्वत्र यह लेंगे। निर्विकल्प समाधि में रहे हुए को आत्मा आदरणीय है, उपादेय है। उस काल में उसे उपादेय है, ऐसा कहते हैं। आगे कहेंगे। जो वस्तु भगवान आत्मा, उसके सन्मुख की जो दृष्टि, ज्ञान और रमणता हुई, उस काल में उसे आत्मा उपादेय है। आहाहा! ऐसा आत्मा उपादेय है और राग हेय है, ऐसी जो धारणा कर रखी है, उसे उपादेय नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! कहो, प्रेमचन्दभाई! यह ठीक बात में आये तुम। आहाहा! वीतरागी मार्ग है, भाई!

जिसे परपदार्थ का प्रेम है, अशुभराग, स्त्री, पुत्र की तो क्या बात करना? आहाहा! उसके प्रेमवाले को तो आत्मा हेय है। आहाहा! बाहर की चमक दिखाई दे, यह शरीर और यह और यह... उसमें जिसका वीर्य उल्लसित और प्रेम में वर्तता है। यह है न वह श्रद्धा, भावना? भावना, उल्लास, उत्साह... पाँच बोल हैं। आहाहा! क्या गजब शैली! दिगम्बर सन्तों की शैली तो चारों ओर से देखो तो एक सरीखी खड़ी होती है। व्यवहार से जाना हुआ प्रयोजनवान है, ऐसा कहकर आदरणीय नहीं परन्तु जानने के लिये है, ऐसा सिद्ध किया। आहाहा! राग होता है, व्यवहार होता है, वह जानने के लिये है, आदर करने के लिये नहीं, हेयरूप से जाननेयोग्य है। उसे हेयरूप से न जाने और उपादेयरूप से जाने, उसे भगवान आत्मा हेय हो जाता है। आहाहा! और आज यह आया। ऐसी स्पष्टता किसी समय नहीं आयी। आत्मा हेय है, ऐसा कभी नहीं आया, ऐई! राग हेय है और व्यवहार हेय है (ऐसा आवे)। नवलचन्दभाई! आहाहा!

श्रोता : ...में डाल दिया राग को हेय कहकर...

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यहाँ तो... आहाहा! अज्ञान के प्रेम में अज्ञानी को आत्मा हेय है। आहाहा! हेय है अर्थात् कि उसे जाना नहीं, इसलिए हेय है। आहाहा! नौवें ग्रैवेयक में मुनि होकर गया, पंच महाव्रत पालन किये और क्रियाएँ (की) परन्तु वह सब रस और प्रेम वहाँ था। उसे आत्मा हेय है।

हाँ, यह आता है। कहा न, यह उतारा है, उसमें उतारा है। रूपी पदार्थ सब लिये थे न? समयसार। उसमें उतारा है। उसमें उतारा था, अन्यमार्ग और जैनमार्ग। और यह सब वह। पर्याय में जितने सब भंग-भेद हैं, उनका जिसे उत्साह है, प्रशंसा है, वह सब मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! इसी प्रकार यहाँ भी परपदार्थ को, स्व के स्वभाव का आश्रय छोड़कर और अकेले परपदार्थ के प्रेम में-राग में उत्साह प्रशंसा है, वह सब हेय है। उसे इसने उपादेय माना है और इसीलिए भगवान आत्मा इसे हेय हो गया। आहाहा! कहो, शान्तिभाई! वहाँ कहीं मुम्बई में मिले, ऐसा नहीं है।

श्रोता : परन्तु दूसरा तो मिले?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल मिले, वहाँ धूल मिले। वहाँ क्या है? वह वहाँ कमाता है एक... क्या कहलाता है? हाँगकाँग। एक वहाँ कमाता है और एक यहाँ। सब धूल में है। रोता है। आहाहा! नुकसान के धन्धे में है। यहाँ तो शुभराग, देव-गुरु-शास्त्र के प्रति प्रेम, उसकी रुचिवाले को आत्मा हेय-नुकसान है। उसके नुकसान का धन्धा है। आहाहा! ऐसी बात...

श्रोता : करना क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह करना, कहते हैं।

श्रोता : भगवान उपादेय है और राग हेय है, ऐसा...

पूज्य गुरुदेवश्री : बस, यह उपादेय है, वह करना। हेय है, उसे करना नहीं पड़ता। और अज्ञानी को हेय है, इसलिए उसे भी करना नहीं पड़ता, हेय हो जाता है। राग के प्रेम में हेय (हो जाता है)। आहाहा! ऐसी बात कहाँ है भाई! आहाहा! ठीक, यह हिम्मतभाई! यह तुम्हारे सब आये थे। आज बात दूसरे प्रकार की निकली। आहाहा! आत्मा उपादेय है और राग हेय है। यह तो जिसे राग उपादेय है, उसे आत्मा हेय है। आहाहा! यह पाठ में है, हों!

इसलिए वीतराग निर्विकल्प समाधि के जीवों को उपादेय है। प्रिय अर्थात् उपादेय है। परन्तु राग के प्रेमियों को, अज्ञानियों को वह हेय है। मूढ़ों को नहीं उपादेय, इसका अर्थ हेय है। आहाहा! ३६ हुई। तब वहाँ लिखा है अवश्य, हों! इसमें ऐसा है परन्तु उपादेय-हेय शब्द है। ऐसा लिख रखा था। सर्वत्र है। उसमें भी लिखा है। उनके आत्मा उपादेय है, ३५ में, देहात्मबुद्धि विषयासक्त नहीं जानता। परन्तु लिखा है अन्दर। कहा, है उपादेय-हेय। उसकी ऐसा व्याख्या की है। ३५ में लिखा है और ३६ में लिखा है। उपादेय-हेय। दोनों उपादेय हों और दोनों हेय हों, ऐसा नहीं है। आहाहा! व्यवहार और निश्चय दोनों उपादेय हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! दोनों मार्ग हैं, ऐसा भी नहीं है। आहाहा!

३७ (गाथा)। **आगे निश्चयनयकर आत्मा देह और कर्मों से रहित है,...** उसमें सहित था और ऐसा बताया था। है न? **अनादि का बँधा हुआ...** सहित बताया था। अब इसमें रहित। **तो भी मूढ़ों (अज्ञानियों) को शरीर स्वरूप मालूम होता है,...** यह गाथा में अन्तर है। उसमें सहित था, उसका (स्वरूप) बताया। सहित माननेवाले को। और अब यहाँ रहित है, उसकी बात की। आहाहा! आत्मा, (शरीर) और कर्म से रहित है। **तो भी मूढ़ों (अज्ञानियों) को शरीर स्वरूप मालूम होता है,... 'सकल इति प्रतिभातीत्येवं'** शरीर ही मैं हूँ, राग मैं हूँ, ऐसा उसे भासित होता है। क्योंकि वह भगवान अन्दर स्थित है, उसके सामने देखता नहीं।

निश्चयनयकर आत्मा देह और कर्मों से रहित है, तो भी मूढ़ों (अज्ञानियों) को शरीरस्वरूप मालूम होता है, ऐसा कहते हैं:- उसमें भी यह आता है।

जो परमत्थें णिक्कलु वि कम्म-विभिण्णउ जो जि।
मूढा सयलु भणंति फुडु मुणि परमप्पउ सो जि।।३७।।

जो आत्मा निश्चयनयकर... 'निष्कलोऽपि' अर्थात् शरीररहित। कल अर्थात् शरीर। शरीररहित है। **'कर्मविभिन्नोऽपि' और कर्मों से भी जुदा है, तो भी निश्चय-व्यवहाररत्नत्रय की भावना से विमुख मूढ़...** मूढ़ की व्याख्या की। **'भेदाभेदरत्नत्रय-भावनारहिता' शरीरस्वरूप ही प्रगटपने से मानते हैं,...** शरीर की क्रिया और शरीर, वह मैं। **शरीरस्वरूप ही प्रगटपने से मानते हैं। सो हे प्रभाकरभट्ट, उसी को परमात्मा जान, अर्थात् वीतराग सदानन्द निर्विकल्पसमाधि में रहकर अनुभव कर।** जान की व्याख्या यह।

वीतराग सदानन्द... आहाहा! सत् आनन्द, निर्विकल्प समाधि, शान्ति—रागरहित शान्ति, रागरहित आनन्द, सदानन्द। आहाहा! सत् का आनन्द। **वीतराग सदानन्द निर्विकल्प-समाधि में रहकर अनुभव कर।** इसका नाम आत्मा को जान, ऐसा कहा। आहाहा! वीतरागी समभाव की परिणति से आत्मा को जान। समझ में आया? **वही परमात्मा शुद्धात्मा के वैरी मिथ्यात्व रागादिकों के दूर होने के समय...** भाषा देखो! भगवान आत्मा शुद्धात्मा जो उसके वेरी, विरोधी, मिथ्यात्व और राग-द्वेष **दूर होने के समय...** आहाहा! **ज्ञानी जीवों को उपादेय है,...** उस समय उपादेय है। आहाहा! किस समय? कि **मिथ्यात्व रागादिकों के दूर होने के समय...** यह दूर (अर्थात्) उनका नाश हुआ उस समय। आहाहा! **ज्ञानी जीवों को...** निर्मल शुद्ध परिणति में ज्ञानी को जीव उपादेय है। आहाहा! भाषा क्या शैली है?

मिथ्यात्व रागादिकों के दूर होने के समय... तब उसे आत्मा उपादेय है, ऐसा कहा। समझ में आया? आत्मा उपादेय है और राग हेय है, ऐसी धारणा की, वह नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! परन्तु भ्रमणा, मिथ्यात्व और राग का अभाव होकर... आहाहा! वस्तु स्वभाव ज्ञानी को शुद्ध परिणति में उपादेय हुआ, उस काल में उपादेय हुआ। मिथ्यात्व और राग दूर होने के काल में स्वभाव के समीप हुआ, तब आत्मा उपादेय हुआ। आहाहा! समझ में आया?

'तदभावे हेय' बस, यहाँ यही डाला है। आहाहा! अर्थात्? मिथ्यात्व और राग-द्वेष दूर होने के काल में आत्मा उपादेय है। इसके अतिरिक्त मिथ्यात्व और राग के काल में भगवान उसे हेय है। अरेरे! आहाहा! ऐसी बात सुनना मुश्किल पड़े, ऐसा है। आहाहा! भगवान! क्या कहा? जिसे भ्रमणा और राग का अभाव हुआ है, उस काल में उसे—धर्मी को आत्मा उपादेय है। और जहाँ आगे राग और मिथ्यात्वभाव है, उसे भगवान आत्मा हेय है। आहाहा! कहो, हिम्मतभाई! यह सब सुना नहीं था। यह सब पहला-पहला है। आये बराबर ठीक। आहाहा! अर्थात्? विपरीत मान्यता और राग के भाव का अभाव होने से उस अभाव के काल में धर्मी को आत्मा आदरणीय है। रागादि भाव रहे और प्रेम रहे और आत्मा आदरणीय हो, ऐसा नहीं होता। आहाहा! वाडावालों को बेचारों को ऐसा कठिन पड़े, हों!

श्रोता : ... जरा फिर से समझाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सुनता है, प्रेम से सुनता है। यह तो वस्तु है न, बापू! आहाहा! यह कहाँ किसी के घर की है। इसके अन्तर घर की है। आहाहा!

कहा न कि राग और पुण्य के भाव का प्रेम जिसे दूर हो गया है, उसे उस काल में आत्मा उपादेय है और जिसे... आहाहा! राग की रुचि है, वह मिथ्यात्व है और राग है, वह प्रेम है, अन्दर पर के प्रति, उसका जिसे राग में व्यवहाररत्नत्रय में भी जिसको प्रेम है और जिसे रुचि है, उसे आत्मा हेय है। आहाहा! देखो! यह सन्तों की वाणी! यह दिगम्बर सन्तों का मार्ग देखो! आहाहा! यही मार्ग दिगम्बर सन्त यह वाणी कहते हैं। यही जैनदर्शन है, बाकी कहीं जैनदर्शन नहीं है। आहाहा! **मिथ्यात्वरागादिक दूर नहीं हुए उनके उपादेय नहीं,...** अर्थात् कि उसे हेय है, ऐसा लेना। यहाँ सुधारा है, हों!

श्रोता : परवस्तु का ही ग्रहण करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परवस्तु का ग्रहण, उसका अर्थ (यह कि) आत्मा हेय है। राग का ग्रहण है, वहाँ आत्मा हेय है। आहाहा! विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

२२

बहिनश्री के वचनामृत, वचनामृत-१७५-१७६, प्रवचन - ६४
दिनांक - १४-०८-१९७८

वचनामृत १७५ वाँ बोल है। पौने दो सौ।

साधक जीव को अपने अनेक गुणों की पर्यायें निर्मल होती हैं,... क्या कहते हैं ? चौथे से बारहवें गुणस्थान तक साधक कहते हैं। चौथे गुणस्थान में भी साधक कहने में आता है। आहा..! साधक जीव को अपने अनन्त गुण और धर्म जो स्वभाव स्वरूप प्रभु, उसकी दृष्टि करके अनुभव हुआ हो, उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि साधक कहने में आता है। आहा..हा..! निमित्त के ऊपर से लक्ष्य छोड़कर और संकल्प-विकल्प शुभाशुभभाव जो है, उनसे भी लक्ष्य छोड़कर, एक समय की जो पर्याय है, उसका भी लक्ष्य छोड़कर.. आहा..हा..! अकेला ज्ञायकस्वरूप सद्चिदानन्द प्रभु! 'अप्पा सो परमप्पा' परमात्मस्वरूपी आत्मा है। 'घट घट अन्तर जिन बसै।' अन्तर में भगवान जिनस्वरूपी बिराजमान है। आहा..हा..!

श्रोता : शक्तिरूप से या व्यक्तिरूप से ?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वभाव कहो, शक्ति कहो, सामर्थ्य कहो, व्यक्त / प्रगट कहो। वस्तु की अपेक्षा से प्रगट है। आहा..हा..! पर्याय की अपेक्षा से उसे अव्यक्त कहा है परन्तु वस्तु की अपेक्षा से प्रभु चैतन्यज्योत... आहा..हा..! अतीन्द्रिय-अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रिय प्रभुता, अतीन्द्रिय स्वच्छता, अतीन्द्रिय कर्ता-कर्म-करणादि शक्तियाँ, वह अतीन्द्रियस्वरूप का पिण्ड भगवान आत्मा है। सूक्ष्म बात है, प्रभु! उस वस्तु की दृष्टि हो, वर्तमान पर्याय में त्रिकाली चीज़ की प्रतीति और ज्ञान हो... आहा..हा..! पर्याय में त्रिकाली का ज्ञान होता है, परन्तु त्रिकाली चीज़ पर्याय में नहीं आती। आहा..हा..! समझ में आया? पण्डितजी को पुस्तक दिया? पत्र नहीं दिया।

यहाँ पहले **साधक जीव को...** ऐसा शब्द पड़ा है। तो साधक किसे कहते हैं ? १७५ (बोल) आहा..हा..! चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक साधक कहने में आते हैं। तो चौथे गुणस्थान से अपनी चीज़ जो पूर्ण आनन्द का धाम प्रभु, पूर्ण शुद्धस्वभाव अनन्त.. अनन्त..

अनन्त.. अनन्त.. ऐसे गुण का एक पिण्ड, उसकी दृष्टि होने से, निर्विकल्प दृष्टि होने से, उस तज़्व में... तत्त्व जो चीज़ है, उसकी प्रतीति उसमें आती है। आहा..हा..! वह प्रतीति आती है, उसमें त्रिकाली चीज़ आती नहीं। आहा..हा..! समझ में आया?

यह ज्ञान की एक समय की जो पर्याय है, उसमें पूर्णानन्द के नाथ का ज्ञान होता है। परन्तु उस पर्याय में पूर्णानन्दस्वरूप प्रभु आता नहीं। आहा..हा..! ऐसी साधकदृष्टि, जब सम्यग्दर्शन हुआ... आहा..हा..! तब अपने अनन्त गुणों की पर्यायें निर्मल होती हैं। आहा..हा..! श्रीमद् राजचन्द्र ने ऐसा कहा कि 'सर्वगुणांश, वह समकित।' अपने टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी में ऐसा आया कि जितने ज्ञानादि गुण की संख्या अनन्त-अनन्त है, उसकी दृष्टि और अनुभव हुआ, अनन्त गुण जितनी संख्या में हैं, उन सबका एक अंश व्यक्त परिणमन में आ जाता है। आहा..हा..! समझ में आया? पहले उसका ज्ञान तो करो कि क्या चीज़ है? आहा..हा..! ऐसे कोई क्रियाकाण्ड से आत्मा मिल जाये—ऐसी चीज़ नहीं है। आहा..हा..!

भगवान आत्मा परमात्मस्वरूपी बिराजमान है। जिन-जिन कहते हैं न? कहा न? 'घट-घट अन्तर जिन बसै, घट-घट अन्तर जैन'। इसका अर्थ क्या? यह समयसार नाटक का शब्द है परन्तु कलश है, उसका यह भाव है। आहा..हा..! वस्तुरूप से तो आत्मा जिनस्वरूप है। अर्थात् अकषायस्वभावस्वरूप है। अकषायस्वभावभावस्वरूप कहो या जिनस्वरूप कहो। आहा..हा..! वह पूर्णानन्द प्रभु जिनस्वरूपी चीज़ है, उसकी दृष्टि करने से, उसे दृष्टि में लेने से पर्याय में अनन्त गुण की सब पर्यायें निर्मल होती हैं। आहा..हा..! क्यों? कि द्रव्यदृष्टि हुई तो द्रव्य में जितनी शक्तियाँ हैं, उनकी दृष्टि हुई तो उतनी शक्तियों का अंश, सम्यग्दर्शन के साथ अनन्त गुण का अंश व्यक्त / प्रगट वेदन में आता है। ऐसी बात है, भाई! समझ में आया? यह पुस्तक मिल गयी? पण्डितजी! यह पुस्तक मिल गयी? मिल गयी न वहाँ? काशी में मिली न? अभी नहीं पहुँची? सबको भेंट दी है। नहीं मिली? गुजराती मिली, भाई! हिन्दी पुस्तक देना। इन्हें हिन्दी देना। सबको भेंट दी है। दे दो। क्या कहते हैं? बहिन के वचनामृत हैं। आहा..हा..! अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन में से यह वाणी आयी है। बहुत सूक्ष्म बात है, भाई!

साधक जीव को अपने... निज गुण की। अपने जो अनन्त गुण हैं, उनकी **पर्यायें निर्मल होती हैं,...** आहा..हा..! खिलती हैं, विकास होता है। जैसे सूर्य के निमित्त से कमल और गुलाब के फूल का विकास होता है; वैसे ही भगवान आत्मा त्रिकाली शक्ति का पिण्ड जो गुलाब और कमल की भाँति है, उसे जब अन्तर में दृष्टि मिली तो सब गुण खिल जाते हैं। आहा..हा..! सूक्ष्म बात है, प्रभु! अनन्त काल में कभी किया नहीं।

'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।' आहा..हा..! 'पर आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो।' इसका अर्थ क्या? मुनिव्रत धार, अट्ठाईस मूलगुण, पाँच महाव्रत (पालन किये परन्तु) 'लेश सुख न पायो।' (क्योंकि) पंच महाव्रत का परिणाम तो दुःख है। आहा..हा..! समझ में आया? परन्तु सम्यग्दर्शन होने पर, त्रिकाली वस्तु की जितनी शक्तियाँ हैं, गुण कहो, शक्ति कहो, स्वभाव कहो, सत् का सत्व कहो, सत्वस्तु का सत्वपना-भाव कहो... आहा..हा..! अन्तर में निर्विकल्प दृष्टि, सम्यग्दर्शन होने पर पर्याय में जितनी संख्या में गुण है, उनकी व्यक्त निर्मल पर्यायें होती हैं। आहा..हा..! और खिलती है। आहा..हा..!

जिस प्रकार... दृष्टान्त देते हैं। **नन्दनवन में...** मेरुपर्वत में नन्दनवन है। आहा..हा..! **अनेक वृक्षों के विविध प्रकार के...** अनेक वृक्षों के और विविध प्रकार के। आहा..हा..! **पत्र-पुष्प-फलादि खिल उठते हैं,...** नन्दनवन में अनेक प्रकार के वृक्ष और अनेक प्रकार के फल-फूल। आहा..हा..! विविध प्रकार के पत्र, पुष्प और फल इत्यादि खिल उठते हैं। **उसी प्रकार साधक आत्मा को...** आहा..हा..! सम्यग्दृष्टि को, साधक जीव को। आहा..हा..! **चैतन्यरूपी नन्दनवन में...** जिसमें अनन्त गुण का कल्पवृक्ष पड़ा है। आहा..हा..! भगवान आत्मा में... आहा..हा..!

छहढाला में तो ऐसा कहा है कि त्रस (पर्याय) मिले तो वह भी चिन्तामणि समान है - ऐसा कहते हैं। छहढाला में आता है न? पण्डितजी! निगोद में से त्रसपना मिले तो (वह चिन्तामणि समान है)। आहा..हा..! यह छहढाला में आता है। यह तो प्रभु अन्दर चिन्तामणि रत्न है। आहा..हा..! मनुष्यपना मिला, वीतराग की वाणी सुनने में आयी, और सुनकर के जो ज्ञान हुआ, उसका भी लक्ष्य छोड़कर। वाणी सुनी और जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान अपने से-उपादान से हुआ परन्तु वह वाणी निमित्त है, तथापि उपादान से हुआ, वह निमित्त के लक्ष्य से हुआ है। अपने में अपने से हुआ है, उस ज्ञान का भी लक्ष्य छोड़कर। आहा..हा..! त्रिकाली भगवानस्वरूप चिदानन्द प्रभु! नन्दनवन जैसा ही अन्दर में अनन्त वृक्ष अर्थात् गुण हैं और प्रत्येक गुण के अनन्त फल हैं, आनन्द के, शान्ति के, स्वच्छता के, ईश्वरता के (फल हैं)। आहा..हा..! **चैतन्यरूपी नन्दनवन में अनेक गुणों की विविध प्रकार की पर्यायें खिल उठती हैं।** आहा..हा..! इसका नाम धर्म और इसका नाम साधक।

श्रोता : वह कला आप हमें सिखाओ न!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह क्या कहते हैं? कला तो इसे करनी है या बतानेवाले को करनी है?

भगवान! तेरी प्रभुता तो पूर्ण पड़ी है न, प्रभु! आहा..हा..! तेरी प्रभुता में पामरता का अंश नहीं तो वह प्रभुता निमित्त के आश्रय से प्रगट होती है, ऐसी पामरता उसमें है नहीं और भगवान आत्मा में ऐसा एक गुण पड़ा है। अकार्यकारण नाम की शक्ति-गुण उसमें पड़ा है। आहा..हा..! भगवान आत्मा (में) अनन्त गुण में एक गुण ऐसा है, अकार्य-कारण नाम का गुण उसमें है। आहा..हा..! वह दया, दान, व्रत, भक्ति का राग कारण हो और निर्मल कार्य हो - ऐसा वस्तु में नहीं है।

अकार्यकारण नाम का गुण प्रभु! अनन्त गुण में उसका रूप है। आहा..हा..! तो ज्ञान की पर्याय जो खिलती है, वह पर के लक्ष्य से खिलती है और ज्ञान सुना, ग्यारह अंग का ज्ञान हुआ तो इससे आत्मा का ज्ञान होता है - ऐसा है नहीं। आहा..हा..! ऐसी बात है। समझ में आया? पर्याय में जो स्वतन्त्रता अकार्यकारण.. प्रत्येक गुण में अकार्यकारण नाम का गुण पड़ा है भगवान में। तो भगवान आत्मा की जहाँ दृष्टि हुई, आश्रय लिया... आश्रय का अर्थ इतना कि पर्याय स्वसन्मुख झुकी, उतना आश्रय। आश्रय का अर्थ - कोई पर्याय, द्रव्य में घुस जाती है (-ऐसा नहीं है)। आहा..हा..!

जिस पर्याय में राग और निमित्त का तथा वर्तमान पर्याय का आश्रय था.. आहा..हा..! उस पर्याय में द्रव्य त्रिकाली भगवान का आश्रय हुआ। '**भूदत्थमस्सिदो खलु**' (समयसार) ग्यारहवीं गाथा। आहा..हा..! अर्थात् पर्याय में जब त्रिकाली ज्ञायकभाव का लक्ष्य हुआ तो आश्रय लिया - ऐसा कहने में आता है। आहा..हा..! ऐसी पर्याय में अनन्त गुण का आश्रय - आधार हुआ तो पर्याय भी अकार्यकारण नाम की पर्याय उत्पन्न हुई, जिस पर्याय में व्यवहार, कारण और निश्चय, कार्य - ऐसा वस्तु के स्वरूप में नहीं है। आहा..हा..! समझ में आया?

सम्यग्ज्ञान की पर्याय जो स्वदृष्टि के लक्ष्य से हुई, उस पर्याय में परज्ञान का क्षयोपशम (हुआ), पर को सुना, जाना, वह कारण और ज्ञान की पर्याय वह कार्य, पर्याय में ऐसा नहीं है। वह पर्याय अकार्यकारणरूप से परिणमी है। आहा..हा..!

श्रोता : आपने समझाया, तब हमें समझ में आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो निमित्त का कथन है प्रभु! आहा..हा..! यह चैतन्यरत्न भगवान.. आहा..हा..! चैतन्यरत्नाकर कहा न? चैतन्यरत्नाकर। स्वयंभूरमण समुद्र के तल में बालू-रेत नहीं है, स्वयंभूरमण समुद्र जो है असंख्य योजन का (है उसके) तल में रेत-बालू नहीं है। तल में अकेले रत्न भरे हैं। सुना है? स्वयंभूरमण समुद्र। जितने द्वीप और समुद्र हैं,

उनसे भी उसकी लम्बाई तीन योजन विशेष है। क्या कहा? इस ओर जो समुद्र और द्वीप हैं, उनकी जितनी चौड़ाई है, उनसे भी स्वयंभूरमण की चौड़ाई तीन योजन अधिक है। उस पूरे स्वयंभूरमण समुद्र में नीचे अकेले रत्न और माणिक भरे हैं। आहा..हा..! ऐसा यह भगवान स्वयंभू.. प्रवचनसार की १६ वीं गाथा में कहा। आहा..हा..!

स्वयंभू भगवान स्वयं से उत्पन्न होता है। भू - पर्याय, हों! आहा..हा..! अपने में निर्मल वीतरागी सम्यग्दर्शन की पर्याय आदि, स्वयंभू स्वयं से उत्पन्न हुई है क्योंकि उसके अन्दर अनन्त चैतन्य रत्न तल में पड़े हैं। जैसे स्वयंभू के तल में अकेले रत्न हैं, वैसे भगवान की पर्याय के पीछे तल में, पूरे ध्रुव में अनन्त रत्न ध्रुव पड़े हैं। समझ में आया? ऐसे रत्न की जहाँ दृष्टि हुई, वह दृष्टि निर्विकल्प होती है। विकल्प का दम नहीं - विकल्प का सामर्थ्य नहीं कि उससे स्वरूप की दृष्टि हो। आहा..हा..! डाह्याभाई! आहा..हा..! यह कहते हैं, देखो!

आत्मा को चैतन्यरूपी नन्दनवन... आहा..हा..! अनन्त गुणरूपी वृक्ष पड़ा है और अनेक गुणों की विविध प्रकार की पर्यायें खिल उठती हैं। आहा..हा..! सम्यग्दर्शन होने पर, सत्दर्शन होने पर। सत्दर्शन का अर्थ - त्रिकाली भगवान नन्दनवन समान अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, ऐसे सत् का दर्शन अर्थात् प्रतीति अनुभव में होने पर.. आहा..हा..! पूरे नन्दनवन में जैसे वृक्ष-पत्र-पुष्प-फल से खिल उठते हैं, वैसे पर्याय में पूरे अनन्त गुण खिल उठते हैं। आहा..हा..! अभी तो साधक-सम्यग्दर्शन की बात है। अरे! लोग कुछ का कुछ मानकर बैठे हैं। समझ में आया?

गुणों की विविध प्रकार की पर्यायें खिल उठती हैं। आहा..हा..! १७५ (बोल पूरा) हुआ। बोल १७६, यहाँ आये तब से शुरु हुआ है। सवा दो महीने ऊपर हो गये। ज्येष्ठ शुक्ल एकम को आये, तब से दोपहर को शुरु किया है। १७५ हुए। ऐसे तो ४१३ बोल हैं। ऐसे ४१३ (वचनामृत हैं)। आहा..हा..!

१७६, **मुक्तदशा परमानन्द का मन्दिर है।** आहा..हा..! सिद्धदशा, परमानन्द का मन्दिर है। **उस मन्दिर में निवास करनेवाले मुक्त आत्मा को..** उस मन्दिर में निवास करनेवाले... आहा..हा..! नि-वास करनेवाले। आहा..हा..! अनन्त गुणरूप भगवान आत्मा, उसमें अपनी दृष्टि पसारकर, उसमें निवास करनेवाले। आहा..हा..! ऐसा मार्ग है। **मुक्त आत्मा को असंख्य प्रदेशों में अनन्त आनन्द परिणमित होता है।** आहा..हा..! असंख्य प्रदेश। सर्वज्ञ के अतिरिक्त किसी मत में ऐसी बात नहीं है। समझ में आया? आत्मा - आत्मा की बात की है परन्तु सर्वज्ञ

के सिवाय असंख्य प्रदेश और असंख्य प्रदेश में अनन्त गुण – हदरहित.. किसी गुण का माप नहीं कि अनन्त में यह अन्त आया। यह तो सर्वज्ञस्वरूपी भगवान ने कहा है और सर्वज्ञस्वरूप भगवान में ऐसा है। आहा..हा..!

श्रोता : भगवान ने कहा है, इसलिए ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा है, इसलिए है – ऐसा नहीं है; है, इसलिए कहा है। शक्कर शब्द में शक्कर नहीं है परन्तु शक्कर शब्द शक्कर को बताता है कि यह शक्कर है। शक्कर में शक्कर शब्द का अभाव है और शक्कर शब्द में शक्कर पदार्थ का अभाव है। इसी प्रकार वाणी पदार्थ को बतावे तो वाणी में चैतन्य पदार्थ का अभाव है और भगवान चैतन्य पदार्थ में वाणी का अभाव है। आहा..हा..! समझ में आया?

भाई! यह तो वीतराग तीन लोक के नाथ... आहा..हा..! सीमन्धर प्रभु महाविदेहक्षेत्र में साक्षात् बिराजमान हैं। जहाँ एकावतारी इन्द्र सुनने जाते हैं। प्रभु! वह वाणी कैसी होगी? शकेन्द्र, सौधर्म का इन्द्र। बत्तीस लाख विमान, एक विमान में असंख्य-असंख्य देव। कोई विमान छोटा है परन्तु बहुत तो असंख्य देववाले हैं। बत्तीस लाख विमान। आहा..हा..! जिसमें करोड़ों इन्द्राणियाँ। वह जो इन्द्र है.. आहा..हा..! वह समकिती है, ज्ञानी है। कोई चीज़ मेरी है – ऐसा नहीं मानता। मेरी चीज़ तो मेरा आनन्द का नाथ मेरे पास है, वह मैं हूँ। आहा..हा..! ऐसा समकिती ज्ञानी, जिसे सिद्धान्त में एकावतारी-एक भवतारी कहा है। पण्डितजी! और उसकी पत्नी, एक मुख्य इन्द्राणी है, वह भी एक भवतारी है। कहना क्या है? ऐसे तीन ज्ञान के धनी— मति, श्रुत, अवधि—और समकिती हैं, एक भवतारी है। जिसे ख्याल है कि मुझे एक ही भव रहा है। आहा..हा..! समझ में आया? ऐसे इन्द्र, भगवान की सभा में सुनने आते हैं। आहा..हा..! भाई! वह बात कैसी होगी? दया पालो, व्रत करो – ऐसा तो कुम्हार भी कहता है। आहा..हा..! पर की दया तो तीन काल में पाल नहीं सकता। पर की दया का भाव आता है, वह स्व की हिंसा है। पुरुषार्थसिद्धि-उपाय में है, पण्डितजी! पुरुषार्थसिद्धि-उपाय में है कि दया का भाव है, वह राग है और स्व की हिंसा है। आहा..हा..! बापू! वीतराग का मार्ग... आहा..हा..! समझ में आया?

पर की दया तो तीन काल में पाल नहीं सकता। – एक बात। एक स्वद्रव्य जो है, वह अपने गुण-पर्याय को चुम्बन करता है। समयसार की तीसरी गाथा, परन्तु परद्रव्य को स्पर्श भी नहीं करता, तीन काल में कभी स्पर्श नहीं किया। आहा..हा..! भगवान आत्मा अपने गुण-पर्याय को चुम्बन करता है-स्पर्श करता है, परन्तु अपने गुण-पर्याय के अतिरिक्त यह आत्मा

कर्म को भी स्पर्श नहीं करता। आत्मा ने कभी शरीर को भी स्पर्श नहीं किया। बात ऐसी है, भाई! आहा..हा..! और कर्म का उदय है, वह जड़ की पर्याय है, वह तीन काल में आत्मा को स्पर्श नहीं हुई है। आहा..हा..! ऐसा मार्ग है। भगवान की सभा में इन्द्र सुनने आते हैं। आहा..हा..! वह कथा, वह दिव्यध्वनि कैसी होगी! भाई! आहा..हा..! समझ में आया?

वह यहाँ कहते हैं। आहा..हा..! **अनन्त आनन्द परिणमित होता है।** मोक्ष। अब यहाँ जरा ऐसा लेना है। **इस मोक्षरूप परमानन्दमन्दिर का द्वार साम्यभाव है।** प्रवचनसार की सातवीं गाथा में, चारित्र कहो, साम्यभाव कहो, धर्म कहो, (ऐसे) मूल पाठ में तीन बोल हैं। आहा..हा..! ध्यान रखो, हों! प्रभु परमानन्दरूपी जो मोक्षमन्दिर है, उसका द्वार क्या? कि द्वार चारित्र वीतराग धर्म, वीतरागता, साम्यभाव। साम्यभाव अर्थात् चारित्रभाव। चारित्रभाव अर्थात् धर्मभाव। धर्मभाव अर्थात् वीतरागी पर्यायभाव। आहा..हा..! यहाँ प्रवचनसार में लिया है न? भाई! वीतराग चारित्र उपादेय है। बीच में पंच महाव्रत का कण (राग) आता है परन्तु वह चारित्र नहीं, वह हेय है। आहा..हा..! प्रवचनसार में शुरुआत की गाथा में आता है।

यहाँ कहते हैं कि मोक्षरूपी मन्दिर का द्वार क्या है? अन्दर जाने का दरवाजा क्या है? तो कहते हैं 'वीतरागभाव' आहा..हा..! साम्यभाव, समताभाव, स्वरूप का जो अनुभव हुआ, वीतरागीदशा (हुई), वह धर्मभाव, वह चारित्रभाव, वह साम्यभाव है। आहा..हा..! प्रवचनसार, पहले शुरुआत में तीन बोल एक साथ लिये हैं। '**चारितं खलु धम्मो**' चारित्र, वह धर्म है, यह गाथा है और उस धर्म को मूल पाठ में साम्य कहा है। उस श्लोक में '**चारितं खलु धम्मो**' वह साम्य। आहा..हा..! क्या कहते हैं?

पूर्ण नन्दनवन आत्मा का मोक्ष, उसमें प्रवेश करने का उपाय क्या? दरवाजा क्या? आहा..हा..! साम्यभाव। कुन्दकुन्दाचार्य ने ऐसा कहा न? कि मैं साम्यभाव को अंगीकार करता हूँ। प्रवचनसार की पहली गाथाओं में है। मैं साम्यभाव को, वीतरागभाव को (अंगीकार करता हूँ)। आहा..हा..! किसलिए? मोक्ष का कारण है इसलिए। शुरुआत की गाथा में ऐसा पाठ है, टीका है। समझ में आया? आहा..हा..!

आत्मा की दशा जो पूर्णानन्दरूप मुक्तदशा, उसे प्राप्त करने का द्वार क्या? उसे प्राप्त करने का द्वार साम्यभाव है। अपने स्वरूप की सम्यग्दर्शनपूर्वक जो वीतरागता उत्पन्न होती है, चारित्र की दशा-चरना, अनन्त आनन्दगुण का पिण्ड प्रभु, उसकी वस्तु का भान हुआ, फिर उसमें चरना। अनन्त गुण में चरना, रमना, अनन्त गुण का भोजन करना। आहा..हा..! 'आनन्दामृत भोजी' चारित्र, वह आनन्द अमृत का भोजी है। वह चारित्र है, बापू! चारित्र किसे कहते हैं!

भाई ! आहा..हा.. ! उस चारित्र को यहाँ बहिन ने साम्यभाव कहा है। आहा..हा.. ! समझ में आया ? साम्यभाव कहो, स्वरूप आनन्द के नाथ में चरना, रमना, जमना (कहो)। आहा..हा.. ! और वीतरागभाव कहो, वह **परमानन्दमन्दिर का..** मोक्षरूपी परमानन्दमन्दिर। आहा..हा.. !

अभी हिन्दी दस हजार (पुस्तकें) आ गयी हैं। अभी हिन्दी नयी प्रकाशित हुई है, दस हजार आ गयी है। समझ में आया ? आहा..हा.. !

मोक्षरूप परमानन्दमन्दिर... परम अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्तिरूपी मोक्ष। आत्मा के स्वभाव की पूर्णता की प्राप्ति-लाभ, वह मोक्ष। आहा..हा.. ! वह मोक्षरूपी परमानन्दमन्दिर। वह परमानन्दरूपी मन्दिर है। आहा..हा.. ! उसके अन्दर प्रवेश करने का द्वार क्या है ? अन्दर जाने का द्वार क्या है ? अन्दर जाने का द्वार, क्या कहते हैं ? दरवाजा। साम्यभाव है। आहा..हा.. ! राग का कण भी उसमें प्रवेश कर सके, उतनी उसकी ताकत नहीं। मोक्ष के उपाय का दरवाजा एक साम्यभाव है। आहा..हा.. ! क्यों ? कि प्रभु जिनस्वरूपी, साम्यभावरूप ही आत्मा है। आत्मा है, वह जिनस्वरूपी है। 'घट-घट अन्तर जिन बसे' जिनस्वरूपी आत्मा है। साम्यस्वरूपी आत्मा त्रिकाल, वीतराग स्वरूपी आत्मा त्रिकाल है। वह साम्य और वीतरागस्वरूप का आश्रय लेकर, जो शक्ति में से व्यक्तता वीतरागता हुई.. आहा..हा.. ! वह वीतरागता, परमानन्दरूपी मोक्ष का द्वार है। कहो, धन्नालालजी !

श्रोता : बात सत्य है परन्तु उसका निमित्त क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त उसे कहते हैं कि जो पर में कुछ करे नहीं, उसे निमित्त कहते हैं। उसका तो अभी स्पष्टीकरण हो गया है। वह चर्चा हुई थी (एक विद्वान के साथ) चर्चा हुई थी। सब (पण्डित) कैलाशचन्दजी आदि बैठे थे। आत्मा की पर्याय में जो विकृत दशा होती है... पंचास्तिकाय की ६२ गाथा।

श्रोता : शिखरजी में।

पूज्य गुरुदेवश्री : शिखरजी में तुम थे ? परन्तु हमारे पण्डितजी ने एक यथार्थ बात कही, भाई ! विकृत अवस्था जो पर्याय में होती है, वह षट्कारक अपनी पर्याय के परिणमन से होती है। परकारक से निरपेक्ष (होती है)। संस्कृत टीका है। कर्म के निमित्त से निरपेक्ष। आहा..हा.. ! विकृत अवस्था भी निमित्त की अपेक्षा से रहित निरपेक्ष (होती है)। आहा..हा.. ! इस बात में पण्डितजी ने हाँ कही थी। दूसरों ने तो वर्णीजी और बंशीधरजी ने ऐसा कहा - यह तो अभेद की बात है, अभेद की बात है परन्तु अभेद का अर्थ क्या ? (परन्तु फूलचनदजी ऐसा) बोले कि

स्वामीजी ऐसा कहते हैं कि विकार निश्चय से पर की अपेक्षा बिना होता है। इतना पण्डितजी बोले थे। इक्कीस वर्ष पहले की बात है। (संवत्) २०१३ की बात। ३४ (वर्ष) हुए। जहाँ विकृत अवस्था में भी निमित्त से नहीं होती, पर की अपेक्षा नहीं तो मोक्ष के मार्ग की पर्याय पर की अपेक्षा रखती है – ऐसा है ही नहीं।

दूसरे प्रकार से कहें तो मोक्ष की पर्याय अथवा मोक्ष के मार्ग की पर्याय, वह भी उस समय के षट्कारक से परिणमित होती है। क्या कहा? जन्म-क्षण है। प्रवचनसार १०२ गाथा में है। ज्ञेय अधिकार है तो ज्ञेय की जिस समय की पर्याय उत्पन्न होनी है, वह उसका जन्मक्षण है, वह उत्पत्ति का काल है। वह उत्पत्ति का काल, मोक्ष के मार्ग की, मोक्ष की पर्याय षट्कारक से परिणमति है। निर्मल पर्याय का कर्ता पर्याय; निर्मल कर्म; निर्मल करण; निर्मल सम्प्रदान; निर्मल अपादान; निर्मल आधार। उसे द्रव्य-गुण का आधार नहीं। आहा..हा..!

श्रोता : क्या यह शास्त्र में लिखा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पण्डितजी की उपस्थिति में बात हुई थी। पंचास्तिकाय है यहाँ? ६२ -६२ (गाथा) तब बताया था, देखो!

कम्मं पि सगं कुव्वदि सेण सहावेण सम्ममप्पाणं।
जीवो वि य तारिसओ कम्मसहावेण भावेण॥६२॥

इस प्रकार जीव भी (१) भावपर्यायरूप से प्रवर्तमान आत्मद्रव्यरूप से कर्तृत्व को धारण करता हुआ... है? छह बोल लिये हैं। **ऐसा स्वयमेव षट्कारकरूप से वर्तता हुआ अन्य कारक की अपेक्षा नहीं रखता।** विकार, हों! आहा..हा..! वहाँ तो पुकार यह – कर्म से होता है, कर्म से होता है। अरे! सुन तो सही! यह बात तो (संवत्) १९७१ के साल में हमने बाहर रखी थी। ६३ वर्ष हुए।

अपनी पर्याय में विकृत अवस्था है, वह कोई कर्म से हुई है और कर्म है तो हुई है, उसका अस्तित्व है तो यहाँ अस्तित्व हुआ – ज्ञेय का स्वभाव ऐसा नहीं। तब तो पंचास्तिकाय देखा भी नहीं था। यह तो (संवत्) १९७८ में (हाथ में) आया। वह तो ७१ की बात है, संवत् १९७१। ६३ वर्ष हुए। पर्याय में विकार होता है, वह कर्म से नहीं, पर की अपेक्षा से नहीं। खलबलाहट हो गया। हमारे गुरु थे, भद्र थे, वे सुनते थे। हम कहते थे, वे सुनते थे परन्तु एक गृहस्थ सेठ थे, अभी बहुत पैसेवाला हो गया, परन्तु उस समय उसके पास दस लाख रुपये थे, ६३ वर्ष पहले। उसे यह बात खटक गयी कि यह कहाँ से निकाला? हमारे गुरु कहते नहीं,

कभी सुना भी नहीं, तो तुमने यह कहाँ से निकाला कि विकार अवस्था स्वयं से होती है, पर से नहीं होती ? कहाँ से निकाला क्या, वस्तु ऐसी है। समझ में आया ? विकृत अवस्था में... यहाँ देखो ! **ऐसा स्वयमेव षट्कारकरूप से वर्तता हुआ अन्य कारक की अपेक्षा नहीं रखता।** उस समय कहा था। आहा..हा.. ! जब विकृत अवस्था में पर की अपेक्षा नहीं.. आहा..हा.. ! तो मोक्षमार्ग की पर्याय में पर की अपेक्षा नहीं।

यहाँ जो कहना है, साम्यभाव से मोक्ष होता है, वह भी एक अपेक्षा वाक्य है। वीतरागता है, वह अन्दर पूर्ण प्राप्ति करने के लिये कारण है। वास्तव में तो मोक्ष की जो पर्याय है, वह पर्याय षट्कारकरूप से, अपने से पूर्व की पर्याय की अपेक्षा रखे बिना, द्रव्य-गुण की अपेक्षा रखे बिना (परिणमति है)। आहा..हा.. ! प्रभु ! मार्ग ऐसा है, हों ! आहा..हा.. !

यहाँ तो मात्र द्वार-उपाय बताना है कि वीतराग पर्याय है—सम्यग्दर्शनसहित की चारित्र की पर्याय, धर्मपर्याय, साम्य पर्याय, वीतराग पर्याय वह मुक्ति प्राप्त करने का द्वार है। यह भी एक अपेक्षा से कहा है। मात्र राग से होता है, पर से होता है, उसका निषेध करने को कहा है। निमित्त-निमित्त। निश्चय से तो भगवान आत्मा की मोक्षपर्याय, पूर्ण केवलज्ञान, पूर्ण दर्शन, पूर्ण आनन्द की पर्याय अपने षट्कारक से परिणति होकर उत्पन्न होती है। आहा..हा.. ! और वह पर्याय का जन्मक्षण है। ज्ञेय अधिकार में ऐसा लिया है। ज्ञेय में जीव जो ज्ञेय है, उस ज्ञेय की-मोक्ष की पर्याय जो उत्पन्न होती है.. आहा..हा.. ! वह षट्कारक के परिणमन से स्व की पर्याय से उत्पन्न होती है। पर्याय से पर्याय उत्पन्न, पर्याय कर्म, पर्याय कर्ता, पर्याय करण, पर्याय साधन। द्रव्य-गुण भी नहीं। आहा..हा.. ! भाई ! वस्तु का ऐसा स्वरूप है, ऐसी अन्दर में जब प्रतीति आती है तो निर्विकल्प दर्शन होता है। आहा..हा.. ! ....ऐसा मार्ग है, प्रभु ! क्या हो ? एकान्त लगे और एकदम कह दे, इनका एकान्त है, एकान्त है। जैन में यह एक हथियार है।

श्रोता : बात तो सत्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : एकान्त है, वह सम्यक् एकान्त है। निश्चयनय का विषय सम्यक् एकान्त है। नय है न ? प्रमाण का तो निश्चय-व्यवहार दो विषय साथ में है। निश्चयनय सम्यक् एकान्त है। सम्यक् एकान्त, स्व से परिणति होती है, वह सम्यक् एकान्त है।

श्रोता : स्वरूप को कहनेवाला है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे पता नहीं। आहा..हा.. ! भाई ! यह तो सर्वज्ञ त्रिलोक के नाथ ने कही हुई बात है, प्रभु ! आहा..हा.. ! ऐसी विद्वत्ता न हो और इतना पुण्य भी न हो, परन्तु वस्तु तो ऐसी है। समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं। **मोक्षरूप परमानन्दमन्दिर का द्वार साम्यभाव है।** इसका अर्थ कि चारित्र से मुक्ति होती है, यह सिद्ध करना है। साक्षात् मोक्ष का कारण चारित्र है। दर्शन-ज्ञान / समकित, ज्ञान है, वह परम्परा कारण है। आहा..हा..! समझ में आया? वीतरागी पर्याय चारित्र, मोक्ष प्राप्त करने का द्वार है। व्यवहार से और पर से नहीं, इतना बताने को वीतराग चारित्र कारण बताया। आहा..हा..! परन्तु प्रवचनसार १०२ गाथा में और १०१ गाथा में (कहा कि) जो मोक्ष की पर्याय उत्पन्न होती है, उसे ध्रुव की अपेक्षा नहीं, उसे व्यय की अपेक्षा नहीं - ऐसा पाठ १०१ में है। प्रवचनसार १०१ गाथा। भगवान! यह तो भगवान के घर की बात है, प्रभु! क्या कहें? आहा..हा..!

केवलज्ञान की जो पर्याय उत्पन्न होती है, वह पर्याय षट्कारक से परिणमति होती है। उसे गुण का भी कारण नहीं। कर्म का अभाव तो उसका कारण नहीं। क्यों? कि उसमें भाव नाम की एक शक्ति है। भगवान आत्मा में भाव नाम का एक गुण-शक्ति है, तो वह भाव की पर्याय वर्तमान में होती है, वह अपनी स्वतन्त्रता से होती है। और उसमें अभाव नाम का एक गुण है तो कर्म का अभाव है तो अभाव हुआ - ऐसा नहीं। अपने में अभाव शक्ति है (तो) राग का अभावरूप परिणमन होना, वह अभाव गुण का कार्य है। आहा..हा..! कठिन काम है, भाई! लोगों को, बनियों को.. उसमें लिखा है, पत्र दिया पण्डितजी को? यह न? यह पत्र पढ़ लेना। बहुत अच्छा है। इसकी दृष्टि से लिखा है। यह पढ़ लेना।

उसमें ऐसा लिखा है कि जैनधर्म में बहुत शोध की। बहुत शास्त्र खोजे हैं। कोई शोधक जीव है, जापान। ६३ वर्ष की उम्र है। मैंने तो ऐसा खोजा है कि जैनधर्म अनुभूतिरूप धर्म है। आहा..हा..! दूसरे प्रकार से कहें... इतना अधिक तो उसे कुछ पता नहीं.. आत्मा निर्वाणस्वरूप है - ऐसा उसने लिखा है। अपन कहते हैं कि मुक्तस्वरूप है। निर्वाणस्वरूप है तो पर्याय में निर्वाणता आती है। मुक्तस्वरूप है तो मुक्त पर्याय आती है। आहा..हा..! वह भी एक अपेक्षा है। बाकी तो मुक्त की पर्याय भी स्वतन्त्र निजक्षण में, उस ज्ञेय का स्वभाव है और उस समय में वही पर्याय उत्पन्न होने की योग्यता है। १०१, १०२ (गाथा) प्रवचनसार।

उत्पाद को ध्रुव की अपेक्षा नहीं है। आहा..हा..! गजब बात है तेरी, नाथ! उत्पाद को व्यय की अपेक्षा नहीं; व्यय को ध्रुव की अपेक्षा नहीं; व्यय को उत्पाद की अपेक्षा नहीं। तीनों सत् है न? सत् है न? सत् अहेतुक होता है। है, उसे हेतु क्या? आहा..हा..! थोड़ी सूक्ष्म बात आ गयी है परन्तु सुनो तो सही! आहा..हा..!

मोक्षरूप परमानन्दमन्दिर का... है यहाँ? प्रवचनसार '**चारित्त खलु धम्मो**' सातवीं

गाथा है। '**जो सो समो तत्ति णिद्दिट्ठो।**' वीतराग चारित्र है, वह साम्यभाव है। साम्यभाव है, वह धर्मभाव है; धर्मभाव है, वह चारित्रभाव है। नीचे लिखा है। साम्य है, साम्य.. समझे? साम्य, धर्म, चारित्र वह एकार्थवाचक है। मूल पाठ में '**चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो तत्ति णिद्दिट्ठो।**' चारित्र, धर्म और साम्य एक पाठ में तीन बोल हैं। सातवीं गाथा। है? '**मोहक्खोहविहीणो**' मोह और क्षोभ से विहीन-रहित। '**परिणामो अप्पणो हु समो।**' वह साम्य। जिसमें मिथ्यात्व के परिणाम का अभाव और राग-द्वेष के परिणाम का अभाव है—ऐसा वीतरागभाव, वह साम्यभाव मोक्षमन्दिर का द्वार है। समझ में आया? सूक्ष्म बात है, बापू! बहुत सूक्ष्म। यह तो थोड़ा पढ़े और हम समझ गये (ऐसा मान लेते हैं)। अरे.. भाई! यह मार्ग कोई अलौकिक है। आहा..हा..!

श्रोता : आत्मा ठीक, परन्तु क्रिया क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह क्रिया। निर्मल वीतरागी पर्याय (वह क्रिया है)। सैंतालीस शक्ति है, उसमें एक भावशक्ति है। पहली भावशक्ति भिन्न, एक दूसरी भावशक्ति है। षट्कारक से जो विकृत परिणाम होते हैं, उससे रहित इसका भावगुण है। उससे रहित परिणमना इसका भावगुण है। सैंतालीस शक्ति में है।

फिर से.. समयसार है? देखो! शक्ति है न? **कारकों के अनुसार जो क्रिया... पर्याय में राग होना, राग का कर्ता, कर्म, क्रिया पर्याय में है। उन कारकों के अनुसार क्रिया, उससे रहित भवनमात्रमयी, होनेमात्रमयी, अस्तित्वमात्रमयी, भावशक्ति।** आत्मा में भाव नाम का एक गुण ऐसा है कि विकृत परिणाम से अभावरूप परिणमना वह भाव नाम का गुण है। आहा..हा..! क्या कहा यह?

आत्मा में जैसे ज्ञान-दर्शन-आनन्द गुण है, वैसा एक भाव नाम का गुण है। उस गुण का गुण क्या? गुण का गुण क्या? कि विकाररहित परिणमना, वह गुण का गुण है। समझ में आया? दो बात है। पहली यह बात है और **(कर्ता, कर्म इत्यादि) कारकों के अनुसार परिणमित होनेरूप क्रिया शक्ति।** यह क्रिया। क्या कहते हैं। कि जो षट्कारक अन्दर गुण में हैं, वे पर्याय में षट्कारक का शुद्ध परिणमन होना; कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान (इत्यादि) क्रिया नाम की एक शक्ति आत्मा में है, गुण है। क्रिया नाम का एक गुण है। उस गुण का गुण ज़्या? कि षट्कारकरूप से परिणमन सहितपना, शुद्ध षट्कारकरूप से परिणमनसहितपना, वह क्रिया का गुण है और भाव नाम का गुण यह कि विकाररूप परिणमन है, उससे रहितरूप होना, वह भावशक्ति का गुण है। अरे रे! क्या हो? ऐसी पुकार तो अमृतचन्द्राचार्य (करते हैं)।

अरे! एक बात की भी खबर नहीं होती और मान बैठता है कि मैंने यह माना है। भाई! यह वीतराग का मार्ग अलग है, भाई! आहा..हा..!

बहिन यह आगे कहेंगी – सच्चे ज्ञान के बिना सच्चा ध्यान होता ही नहीं। पहले सच्चा ज्ञान होना चाहिए कि क्या है? सम्यक् ज्ञान नहीं परन्तु धारणा का। यथार्थ क्या है, उसका ज्ञान होना चाहिए। ज्ञान हो तो फिर अन्दर ध्यान हो सकता है परन्तु ज्ञान ही विपरीत हो, जो वस्तु का स्वरूप है, उससे ज्ञान ही विपरीत हो तो उसे कभी स्वरूप में एकाग्रता, ध्यान नहीं हो सकता। आहा..हा..! समझ में आया? ऐसा है। इन वचनों में इतना भरा है।

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो फिर आयेगा। कहा न? अभी कहा था, तुमने ख्याल नहीं रखा। अभी बहिन का (बोल) आयेगा। मैंने पहले कहा था। आहा..हा...!

साम्यभाव। गजब बात है, प्रभु! क्योंकि प्रभु जिनस्वरूप है तो पर्याय में जिनस्वरूपी वीतराग पर्याय होती है, वह वीतरागी पर्याय मोक्ष-द्वार—मोक्ष का द्वार है। आहा..हा..! व्यवहाररत्नत्रय रागादि हैं, वह कहीं मोक्ष का द्वार नहीं है; वे तो बन्ध में प्रवेश करने का द्वार है। समझ में आया? मार्ग सूक्ष्म है, भाई! आहा..हा..! यह तो अलौकिक बातें हैं। आहा..हा..! यह साम्य किसे कहते हैं, वह अब कहते हैं।

ज्ञायकभाव परिणमित होकर... भगवान जाननेवाला। जानन.. जानन.. जानन.. जानन.. जानन.. जानन.. जानन.. ऐसा ज्ञायकभाव, ध्रुवभाव, जाननभाव। पारिणामिकभाव नहीं कहकर ज्ञायक कहा, क्योंकि पारिणामिकभाव तो परमाणु में भी होता है परन्तु यह तो ज्ञायकरूपी त्रिकाल पारिणामिकभाव। आहा..हा..! समझ में आया? त्रिकाली ज्ञायकभावरूप परिणमित होकर। इस ज्ञायकभाव पर दृष्टि होने से पर्याय में ज्ञायकरूप परिणमित हुआ। वीतरागभावरूप से परिणमित हुआ। वीतरागभावरूपी ज्ञायकभाव के आश्रय से वीतरागभावरूप परिणमन पर्याय में हुआ। है?

परिणमित होकर विशेष स्थिरता होने से... स्वरूप में विशेष स्थिरता होने से **साम्यभाव प्रगट होता है।** साम्यभाव प्रगट होता है और साम्यभाव, वह मोक्ष का द्वार है। आहा..हा..! विशेष बात आयेगी...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

२३

श्री समयसार कलश टीका, कलश-२२२, प्रवचन - २१७
दिनांक - १२-११-१९६५

'सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार' 'कलश टीका', पहले से देखो! **भावार्थ इस प्रकार है कि कोई मिथ्यादृष्टि जीव...** क्या कहते हैं? जिसे आत्मा ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप है, ऐसी जिसे खबर नहीं—ऐसे अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि यह आत्मा का जो ज्ञानस्वभाव है, वह परवस्तु को जानने से आत्मा में विकार हो जाता है। परवस्तु को देखने से राग-द्वेष होते हैं, ऐसा मानता है, वह अज्ञानी वस्तु के स्वरूप को नहीं जानता। क्योंकि आत्मा तो चैतन्य ज्ञानमूर्ति आत्मा है। चैतन्य के प्रकाशस्वरूप आत्मा है, वह जाननेवाला, सब वस्तु है, उसे जाने... जाने... यह जाने और वे ज्ञात हों, यह तो आत्मा का स्वभाव है और जो ज्ञात हो, वह उनका स्वभाव है। उसमें वह जीव जानने से राग-द्वेष होता है, यह कहीं इसमें—चीज़ में नहीं है, नहीं इसमें नहीं इसमें। समझ में आया?

आत्मा सत् चित् ज्ञानस्वरूप है। आत्मा अर्थात् ज्ञान का सूर्य और उसमें ज्ञात होनेयोग्य यह चीज़ें। शरीर, वाणी, कर्म यह बाह्य (चीज़ें)। यह तो आत्मा ज्ञानस्वरूप, उसे जानने से जानने का काम करे, उसमें राग-द्वेष का, पुण्य-पाप का कारण आत्मा नहीं है। तथा जाननेयोग्य पदार्थ जानने से वह कारण हो और राग-द्वेष हों, ऐसा नहीं है। समझ में आया? सूक्ष्म बात है। अनन्त काल से चैतन्यस्वरूप आत्मा ज्ञानज्योति प्रज्ञाब्रह्म आत्मा है। वह जानने का काम करे, यह तो उसका स्वभाव है, जानना ऐसा कार्य, वह तो उसका स्वभाव है और दूसरी चीज़ें शरीर, कर्म, यह स्त्री, कुटुम्ब आदि ज्ञान में ज्ञात हों, वह तो परपदार्थ में उनका प्रमेय गुण है, इसलिए वे ज्ञान में ज्ञात होते हैं और यह ज्ञान जानता है। इसलिए कहते हैं कि यह राग-द्वेष हो जाते हैं, वे कहाँ से (होते हैं)? अज्ञानी कहता है कि वह चीज़ ज्ञात हो जाती है न, इसलिए राग-द्वेष होते हैं। यह मान्यता अज्ञान है। उसे आत्मा का स्वरूप क्या है, इसकी खबर नहीं, राग-द्वेष क्यों उत्पन्न होते हैं, इसकी खबर नहीं, परचीज़ें अकेली ज्ञात होनेयोग्य है, उसकी भी उसे खबर नहीं। आहाहा! समझ में आया? जरा सूक्ष्म अधिकार 'सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार' है।

कहते हैं कि **ऐसी आशंका करेगा कि जीवद्रव्य ज्ञायक है,...** आत्मा तो जाननेवाला

है, जाननेवाला है, जानता है। किसी भी चीज़ को जानने में जाननेवाला मुख्य न हो तो जाने किसे? जाननेवाला ज्ञान में जानता है कि यह है, यह है, यह शरीर है, कर्म है, यह वस्तु है। **समस्त ज्ञेय को जानता है,...** ये सब चीज़ें ज्ञात होनेयोग्य को जाने। **इसलिए परद्रव्य को जानते हुए...** इस ज्ञान में परवस्तु ज्ञात हो, इससे **कुछ थोड़ा-बहुत रागादि अशुद्ध परिणति का विकार होता होगा?** समझ में आया? सूर्य का प्रकाश है, वह कोयले को प्रकाशित करे, विष्टा को प्रकाशित करे, सबको प्रकाशित करे। इससे कहीं उसके प्रकाश में कुछ विष्टा की और कालिमा की मलिनता उसमें आ जाती है? इसी प्रकार भगवान आत्मा जाननेवाला प्रज्ञा—ज्ञानब्रह्म आत्मा है, सर्वज्ञस्वभावी है, वह तो सर्व को जानना, ऐसा उसका स्वभाव है। कहा न? **समस्त ज्ञेय को जानता है,...** तथापि कहते हैं कि जानते हुए उसके कारण से विकार होता है—यह अज्ञानी की मिथ्या भ्रम दशा है। समझ में आया?

थोड़ा-बहुत रागादि अशुद्ध परिणति का विकार होता होगा? थोड़ा-बहुत तो विकार होगा या नहीं? समझ में आया? **उत्तर इस प्रकार है कि परद्रव्य को जानते हुए तो एक निरंशमात्र भी नहीं है,...** चैतन्य प्रभु ज्ञान में ज्ञानभूमि में ज्ञानस्वभाव में यह चीज़ है, ऐसा जाने। जानते हुए अंशमात्र भी विकार होने का वहाँ अवकाश है ही नहीं। आहाहा! जरा सूक्ष्म बात है, हों! 'सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार' है न? इसलिए अस्थिरता के जो राग-द्वेष होते हैं, वे भी यहाँ नहीं लेना। यहाँ तो मात्र मिथ्यादृष्टिरूप से जो होता है, नहीं ज्ञानस्वरूप आत्मा की खबर, नहीं ज्ञेयस्वरूप परवस्तु की खबर। उसे जानने से मुझे विकार हो जाता है, ऐसा जो मानता है, वह तो मिथ्या अज्ञान के कारण मानता है। समझ में आया? बहुत सूक्ष्म तत्त्व है।

यह चैतन्य वस्तु क्या, इसने कभी नजर ही नहीं की है। इसने तो यह वर्तमान प्रकाश का अंश जो बाह्य है, वह बाह्य है, उसके द्वारा ऐसे देखने का सब किया, यह शरीर और यह और यह और यह... इससे उसे ऐसा लगता है कि यह जाननेवाला इस पर (को) जाने तो इसमें विकार हुए बिना नहीं रहेगा। आचार्य कहते हैं कि भाई! जानना तो तेरा स्वभाव है और ज्ञात होना, वह पर का स्वभाव है। उसमें पर को जानने से थोड़ा-बहुत भी पुण्य-पाप का भाव हो, यह वस्तु के स्वरूप में, आत्मा के जानने के कार्य में नहीं है और जनवाने के—ज्ञेय में भी यह नहीं है। समझ में आया?

अपनी विभाव परिणति करने से विकार है। यह तो स्वभाव भूलकर, मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ, उसे भूलकर विकार की पर्याय खड़ी करे, यह तो उसकी दशा की

योग्यता से विकाररूप परिणमता है। समझ में आया? जानने के स्वभाव में विकार का होना नहीं है, ज्ञात होनेयोग्य चीज़ भी विकार कराती नहीं है। मात्र उसकी वर्तमान दशा में स्वभाव जानने-देखनेवाला चैतन्य आत्मा है, उसे भूलता है; इसलिए यह इसकी दशा में राग-द्वेष और मिथ्याभाव अज्ञान उत्पन्न करता है। समझ में आया इसमें? आहाहा!

अपनी शुद्ध परिणति होने पर निर्विकार है। देखो! स्वयं स्वभाव चैतन्यमूर्ति है, जाननेवाला-आनन्दकन्द प्रभु आत्मा है। सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकरदेव केवलज्ञानी ने तो ऐसा देखा कि तू तो ज्ञान और आनन्द है। ऐसा नहीं देखा कि तू रागवाला और परवाला है। ऐसा देखा है भगवान न? इस आत्मा को भगवान केवलज्ञानी ने ऐसा देखा है कि यह तो ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप है और परवस्तु वह ज्ञेयस्वरूप है, ऐसा भगवान ने देखा। ऐसा तू तुझे न देखकर, मैं जानने-देखनेवाला और आनन्द हूँ, ऐसा न देखकर पर को देखने से, तुझे तेरी पर्याय में विकार की दशा उत्पन्न होती है, वह तो स्वरूप के अज्ञान के अभान से उत्पन्न होती है। समझ में आया?

जो तत्त्व में नहीं है, ऐसा खड़ा हो, वह तत्त्व के कारण से नहीं, पर के कारण से नहीं। आहाहा! समझ में आया? सर्वज्ञ परमेश्वर वीतराग परमात्मा ने तो यह आत्मा (ऐसा देखा है)। उनका आत्मा तो पूर्ण दशावन्त हो गया, परन्तु उन्होंने इस आत्मा को ऐसा देखा कि यह तो ज्ञान की मूर्ति, आनन्दस्वरूप, वह आत्मा है और वे उसे जानने-देखने और आनन्द के स्वभाव का परिणमन करे, ऐसा उसका स्वभाव है। वह विकाररूप परिणमे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। तब इस जानने-देखने के स्वभाव में दूसरा जानना होता है, इसलिए विकार होता है, ऐसा रहा नहीं। क्योंकि जानने-देखने का स्वभाव है। परन्तु जानने-देखने के उपरान्त परचीज़ को ज्ञेयरूप से जानने के उपरान्त यह मुझे ठीक पड़ती है और यह मुझे ठीक नहीं पड़ती, ऐसी मिथ्या भ्रान्ति करके राग-द्वेष को उत्पन्न करता है। समझ में आया? कैसे हुआ? शुकनचन्दजी! 'हाह' क्यों खाया अन्दर? हाह खाये अन्दर मानो क्या है यह? यह बात क्या है?

भाई! यह तो देह है, मिट्टी है, यह तो जड़ है, रजकण है, धूल है और अन्दर आत्मा जो कहें वह तो ज्ञान की मूर्ति, चैतन्यसूर्य है और कर्म को करें अन्दर तो कर्म तो जड़ है, अन्दर सूक्ष्म धूल है, यह (शरीर) स्थूल है। ये सब ज्ञान में अर्थात् आत्मा के स्वभाव में ज्ञात हो ऐसा इनका ज्ञात होनेयोग्य (और) यह जानने, ऐसा स्वभाव है। तदुपरान्त तीसरी चीज़ दोनों में नहीं है। आहाहा! समझ में आया? गजब बात, भाई! यह तो मूल की पूँजी से बात उठायी है।

भाई! सर्वज्ञ प्रभु तीर्थंकरदेव ऐसा फरमाते हैं कि आत्मा है। तो आत्मा है, वह तो ज्ञान, दर्शन और आनन्द के स्वभाववाला तत्त्व है। अत: जानने-देखने का काम करे और साथ में आनन्दरूप हो, यह तो उसका स्वरूप है। आहाहा! इस स्वरूप में ऐसा न रहकर दूसरी चीज़ को देखकर, यह (चीज़) तो ज्ञात होनेयोग्य है, समझ में आया? यह दृष्टान्त नहीं दिया था? पैसा लो, यह नोट ऐसे पड़े हों, लो! पाँच लाख, दस लाख, उनके ऊपर अंक लिखा हो। यह अमुक भाई के और यह अमुक भाई के। अब देखने में, जानने में आत्मा तो जानता है कि यह है, यह है, यह है; परन्तु उसमें जहाँ चिट्ठी लिखकर उसके शरीर का नाम पड़े, (इसलिए) यह पैसे मेरे—(ऐसा हो जाता है)।

श्रोता : दूसरे के नहीं हों ऐसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु किसके दूसरे के? वे तो ज्ञेय हैं। समझ में आया?

ज्ञानस्वरूप आत्मा है, वह तो जानता है। जानने के उपरान्त यह चीज़, यह लक्ष्मी मेरी (—ऐसा करता है), वह तो ज्ञेय है, यह ज्ञान है। वे ज्ञात होते हैं और यह जानता है। तदुपरान्त वे मेरे, यह कहाँ से आया? कहते हैं। यह तेरी वर्तमान मान्यता की असत्य बुद्धि में से उत्पन्न हुआ है। बराबर होगा यह? क्या करना?

पुस्तकें हो, ऐसे पच्चीस पड़ी हो, लो न! उसका नाम लिखा हो... सब पुस्तकें पड़ी हों, वह देखे। देखना-जानना यह तो ज्ञान का स्वभाव है। यह पुस्तक मेरी, यह कहाँ से आया? जाननेवाला जाने। जानने का स्वभाव है, वे ज्ञात हों ऐसा उनका स्वभाव है। वह मेरा, उसमें नहीं और इसमें भी नहीं। है?

श्रोता : नहीं तो आया कहाँ से?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसने पर्याय में भ्रमणा खड़ी की, उसमें से आया है। क्या करना अब इसमें? इस घर में दस लड़के हैं। उनमें पचास-सौ लड़के पाठशाला में पंक्तिबद्ध लाइन से खड़े हों। अब आत्मा जाने, कहते हैं। यहाँ तो जाने, वे ज्ञात हों, बस! इसके अतिरिक्त दूसरी बात है? उसमें पाँच सौ लड़कों में यह दो लड़के मेरे, यह कहाँ से आया, कहते हैं। था कब?

श्रोता : मास्टर पढ़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मास्टर भी मूढ़ है। वे तो ज्ञात होनेयोग्य चीज़ है, यह जाननेवाला है। यह जाननेवाला है, उसमें यह ज्ञात हुआ उसमें यह मेरा-उसमें कहाँ है? और इसमें कहाँ है? न्यालभाई! आहाहा! इसी प्रकार यह शरीर जो जड़ है, वह तो मिट्टी है; आत्मा चैतन्य वस्तु है,

ज्ञानस्वरूप है, भगवान सर्वज्ञ पर्याय में जैसे थे, वैसा ही यह सर्वज्ञस्वभावी सर्व को जानने के स्वभाववाला तत्त्व है। ऐसा आत्मा शरीर को जाने, जाने यह बराबर है, तदुपरान्त—जानने के उपरान्त यह मेरा, यह उसमें कहाँ है ? शरीर में है ? शरीर तो ज्ञेय है। ज्ञान में है वह मेरा ? वह तो जानने का काम करता है। जैचन्दभाई !

श्रोता : इलैक्ट्रिक करण्ट लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इलैक्ट्रिक करण्ट लगता है, यही कहते हैं कि भ्रमणा का करण्ट लगता है। यह तो भ्रमणा खड़ी करता है मूर्ख होकर, ऐसा कहते हैं।

श्रोता : इलैक्ट्रिक करण्ट भ्रमणा है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : इलैक्ट्रिक करण्ट भ्रमणा है। हाँ, ऐसा है। आहाहा ! ऐसे पक्षघात हो। क्या है ? सुन तो सही। वह तो जड़ की अवस्था हुई, वह तो अजीवतत्त्व है। वह अजीवतत्त्व है, जड़ मिट्टी की दशा हुई। ज्ञान उसे जाने। जाने, वह ज्ञात हो। दो के अतिरिक्त इसमें तीसरा कहाँ है ? जहाँ इसने माना कि यह मुझे हुआ, बस ! यह इसकी मिथ्यादृष्टि का भाव सत्यस्वभाव को चूक जाता है। मेरा स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा, उसे चूककर यह मेरा, ऐसा मिथ्यात्वभाव खड़ा करता है। यहाँ अभी यह बात है। समझ में आया ? आहाहा !

कल कहा नहीं ? गली में सौ मकान एक साथ हों। उसमें लाल रंग, हरा रंग डला हो। जहाँ अन्दर घुस, यह मेरा मकान। मकान में है मेरा ऐसा ?

श्रोता : नाम तो लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ लिखा है ? नाम भी ज्ञेय है। वह तो परमाणु की पर्याय है। नाम कहाँ, इसका नाम है वहाँ ? वह तो परमाणु की पर्याय है। 'साकरचन्द हीराचन्द' का मकान, लो ! रजकण की जड़ की पर्याय है। उसमें यह मेरा—ऐसा आया कहाँ से ? ऐसा कहते हैं। ऐई ! 'भीखालाल मगनलाल'। 'भीखालाल मगनलाल'—यह तो शब्द है, यह तो जड़ है। जड़ है या आत्मा है वहाँ ? वहाँ आत्मा है ? यहाँ आत्मा है, वह यहाँ जानने का काम करे या आत्मा वहाँ प्रवेश कर जाता है ? वह यहाँ आ जाता है ? इसने कभी मिथ्याश्रद्धा क्या है और सम्यक् स्वभाव की प्रतीति क्या है, इसकी कभी दरकार नहीं की। समझ में आया ?

सामने एक जीव मरा। ऐसी अवस्था (हुई), शरीर का वियोग हुआ। शरीर छुआ न। यह शरीर छुआ न तो हुआ। अब वह तो एक ज्ञान में जाननेयोग्य बात हुई, ज्ञान ने जाना। आत्मा चैतन्यसूर्य है। प्रकाश का बिम्ब है। जानना। यह (आँख) तो कोडा है, यह कहाँ आत्मा है ?

अन्दर जाननेवाला वह आत्मा है। जानना। जिसकी सत्ता में जानना होता है, वह आत्मा है। इस सत्ता में-आँख में (जानना) होता है? होनेवाला चैतन्य। ज्ञान होनेवाली सत्ता, उसमें यह है, ऐसा ज्ञात होता है। अब उसमें यह है, ऐसा ज्ञात होने पर इस देह का वियोग हुआ, आत्मा को देह का (वियोग हुआ), ऐसा ज्ञान ने जाना। तदुपरान्त, वह ज्ञेय होकर ज्ञात हुआ, तदुपरान्त मैंने इसे मारा—ऐसा कहाँ से आया? यहाँ ऐसा कहते हैं, लो! भाई! आहाहा! हें?

गाँव के लड़के बहुत थे और सात लड़के मेरे, ऐसा कहाँ से लाया? ऐसा यहाँ कहते हैं। कहो! सबके जगत के आत्माएँ हैं, और इस जगत के शरीर के रजकण भी जगत के अजीवतत्त्व हैं। ऐसा जाननेवाला जाने, यह बराबर है। उसे जाने, उसे जाने, सबको जाने। जानने के उपरान्त वे मेरे हैं—ऐसा उसमें होता है? वह चीज़ यहाँ आ जाती है? मुझरूप से तन्मय होती है? ज्ञान वहाँ तन्मय एकरूप होता है? तथापि मेरे हैं, ऐसा माना कहाँ से, कहते हैं। यह तो महा सर्वज्ञ (का सिद्धान्त है)।

कहते हैं कि आत्मा जाने-देखे, उसमें तो शान्ति का कार्य और ज्ञान, दर्शन का कार्य होता है। तदुपरान्त ज्ञेय है, वह ज्ञात हो, बस! इतना। उसमें दोनों के बीच तूने यह बन्धतत्त्व, आस्रवतत्त्व कहाँ से खड़ा किया? और उसे खड़ा करके उसके कारण से हुआ, उसके कारण से हुआ—ऐसा वापस कहता है। वह ज्ञात हुआ (तो) उसके कारण से हुआ। नहीं ज्ञात होता (तो नहीं होता)। आँखें बन्द करो। समझ में आया?

'बीलो मंगल' में आता है न? अन्यमति में। आँख को फोड़ डाला। आँख का क्या दोष है? उसमें यह चीज़ ज्ञात होती है। यह चीज़ ज्ञात होती है, वह तो ज्ञेय है, आत्मा जानता है। उसमें वह ज्ञात हो गयी। यहाँ दोष कहाँ लग गया? समझ में आया? आहाहा! स्त्री के शरीर के अवयव, स्त्री आदि जड़ ज्ञेय शरीर मिट्टी है। वे ज्ञान में ज्ञात हों, बस! इतनी हद है। वे ज्ञात हों, यह जाने। तदुपरान्त यह खराब है, यह ठीक है... आहाहा! आकार अच्छा है, यह सुन्दर है—ऐसा कहाँ से आया? यह अज्ञानतत्त्व ने खड़ा किया हुआ भाव है। आहाहा! कहो, बराबर है या नहीं इसमें? गुलाबचन्दभाई! यह तो निवृत्त कर डाला। कोई नहीं इसका? कहा न, तेरा तो चैतन्यस्वरूप है न! ऐसे जानने-देखनेवाला भगवान सच्चिदानन्दस्वरूप सिद्ध समान है। जैसे सिद्ध भगवान हैं, वैसा तेरा स्वभाव है। जानना-देखना ऐसा स्वरूप और उसके साथ आनन्दादि सब है। जानने-देखनेवाला, जानने-देखने के कार्य में रुके तो आनन्द भी साथ में हो। समझ में आया?

जानने-देखनेवाला, जानने-देखने के कार्य में रहे तो आनन्द भी साथ में हो। ज्ञेय, ज्ञेयरूप से ज्ञात होते हैं तो उसमें आनन्द भी अपने में साथ में होता है। यह तो जानने के कार्य की बात है। इसमें वह ज्ञात होने से यह ज्ञान रुक गया और यह ज्ञान उसके कारण से दोषवाला हुआ, ऐसी दुःखदशा मिथ्याभ्रम से उत्पन्न की हुई है। समझ में आया? आहाहा! गजब बात, भाई! आहाहा! इतनी सब बात सम्यग्दर्शन में जँच जाती होगी। हैं? सम्यक् आत्मा शुद्ध ज्ञायकमूर्ति है, ऐसा भान जहाँ सम्यक् में हुआ (कि) कोई चीज़ जानने में आवे, वह उसे नुकसान करती है, यह बात अन्दर में रहती नहीं। समझ में आया?

पूरी दुनिया पागल हो तो, घर-घर में राख हो, इसलिए कहीं चूल्हा कस्तूरी का कहलायेगा? घर-घर में राख चूल्हे में, किसी चूल्हे में कस्तूरी है? घर-घर में है, इसलिए कस्तूरी हो गयी? सब राख ही है। इसी प्रकार यह जाननेवाला, जाननेवाला जो भूला, वह सब राखवाले हैं, अज्ञानवाले हैं। समझ में आया? भगवान आत्मा जानन-देखनेवाला जिसका स्व-भाव, भाव, स्वभावभाव जानना-देखना जिसका स्वभावभाव है, इतने को ऐसा न मानकर, ऐसे भाव को इस प्रकार से न मानकर, उसे ऐसा मानना कि यह जाननेवाला जानता है, इसलिए मुझे राग-द्वेष होते हैं, वह तो आत्मा को भी माना नहीं और पर को भी माना नहीं। समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई!

कहते हैं कि **अपनी शुद्ध परिणति होने पर निर्विकार है।** देखो! यह स्वयं अपना जानने-देखनेवाला स्वभाव... स्वभाव... स्वभाव... स्वभाव... ऐसा भान करने से तो उसकी निर्मल पर्याय होती है। समझ में आया? और यह यह जानने से मुझे दुःख होता है। अरे! दुःख होता है या मैं तुझे देखता हूँ? वाह! यह कहाँ से आया? तुझे देखने से मुझे सुख होता है। किसका?—राग का। तुझे देखने से मुझे दुःख होता है। किसका? द्वेष का। यह कहाँ से आया? आहाहा! ऐई!

दिवाली के दिन हों और उस समय तो ऐसे जानने की बात तो जाननेवाला तो जानता है। यह वस्त्र, लड्डू और यह और उसमें पाँच-पच्चीस लाख योगफल हुआ हो, पच्चीस हजार, पचास हजार, लाख, दो लाख पैदा हुए हों, लो न! अंक गिनना है न! सुना कि एक लाख पैदा किये। ये शब्द कान में पड़ा, बहियों में नजर पड़ी कि यह लाख (कमाये)। यह तो जाननेवाला तो आत्मा है, ज्ञानस्वरूप है। वह ज्ञात होता है। तदुपरान्त यह लक्ष्मी मुझे पैदा हुई, ऐसा भाव तूने कहाँ से खड़ा किया? ऐसा कहते हैं। दोनों में नहीं और तीसरे में अन्तर से खड़ा किया हुआ है।

श्रोता : पुण्य का उदय होता है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : किसे पुण्य का उदय? यह तो वस्तु है, उसे जानता है। यह तो पुण्य के रजकण का निमित्त (कहलाता है बाकी तो) वास्तव में तो वे रजकण उनके ही कारण से आते हैं। पुण्य का तो निमित्त कहने में (आता है क्योंकि) उसके पास वहाँ नजदीक में कैसे दिखाई देगा? उसके पास पूर्व के रजकण थे। वे रजकण ज्ञान का ज्ञेय है। उनका फल भी ज्ञान का ज्ञेय है। आहाहा! समझ में आया? गजब बात, भाई! यह वीतराग तत्त्व सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहे हुए तत्त्व समझना, यह बहुत पुरुषार्थ माँगता है। सूक्ष्म तत्त्व है, सूक्ष्म तत्त्व है। यह कहीं स्थूल बात नहीं कि ऐसा का ऐसा पकड़कर चल निकले। आहाहा! आहाहा! समझ में आया?

द्रव्यसंग्रह में नहीं आया? अध्यात्म, आगम और तर्क—तीन से यह है। ऐसा जो यह कहा कि आत्मद्रव्य इसको जाने, ज्ञान पर को जाने। सूक्ष्म है, ऐसा कहा। ऐसे से सूक्ष्मता तो यह अन्दर में हो गयी है। यहाँ तो जरा यह कहना है। दूसरों को ऐसा कहना है कि दर्शन पर को सामान्यरूप से देखे, ज्ञान वह विशेष सबको भेद करके देखे, यह करने से एक बात कि यह दर्शन आत्मा को देखे, पर को देखे, यह उसकी अपेक्षा सूक्ष्म है। उसकी अपेक्षा यह सूक्ष्म है। समझ में आया? अध्यात्म।

चैतन्यप्रभु, तेरा अस्तित्व अर्थात् क्या? आत्मा का अस्तित्व अर्थात् क्या? कहो? आत्मा है अर्थात् क्या? आत्मा का अस्तित्व अर्थात् कि जानना-देखना आनन्द का अस्तित्व, वह आत्मा का अस्तित्व। अब आत्मा के अस्तित्व में तो जानना-देखना, आनन्द आदि अस्तित्व है और ज्ञेय में अस्तित्व में क्या? इस ज्ञान में प्रमेय हो, ऐसा उसमें अस्तित्व है। ऐसे अस्तित्व को जाननेरूप से न जानकर, ज्ञेयरूप से न जानकर, जाननेवाले को जानने की सत्ता के अस्तित्ववाले रूप से न जानकर उसकी सत्ता में अन्य विकृति साथ में खड़ी करना (कि) यह मुझे ठीक, मुझे ठीक नहीं। ऐसा ज्ञेय में रजिस्टर्ड है? छाप लगायी है? ज्ञेय में तो ज्ञात होनेयोग्य भी छाप है। स्वभाव में ऐसी छाप है? उसके स्वभाव में तो जानने-देखने की छाप है। ट्रेडमार्क तो ऐसा है, भगवान कहते हैं। तदुपरान्त यह छाप तूने कहाँ से खड़ी की? धर्मचन्दजी! बहुत सूक्ष्म बात है, हों! परम सूक्ष्म है। हैं? परम सत्य है? इंजेक्शन लगाने जाए वहाँ... इंजेक्शन का यह काम हुआ। कहते हैं कि इंजेक्शन की पर्याय ज्ञेय है, वह हुआ, यह ज्ञेय है, मात्र ज्ञान जानता है। उसमें इसने यहाँ किया, ऐसा कहाँ से आया? समझ में आया? आहाहा!

हाथ है, वह ज्ञान में ज्ञात होता है। यह तो जड़ मिट्टी है। इसकी (ज्ञान की) सत्ता में ज्ञात

होता है कि हाथ है। यह हाथ ऐसे हुआ, इसलिए मेरी सत्ता द्वारा ऐसे हुआ, उसे मैंने जाना, ऐसा है इसलिए ऐसा हुआ—ऐसा कहाँ से आया? यह जाननेवाला ज्ञान की सत्ता में सदा ही बैठा हुआ है। जानने के अस्तित्ववाला उस जानने के अस्तित्ववाली सत्ता, वह आत्मा, उसमें रहा हुआ है, कहीं गया नहीं। वह कर्म में भी गया नहीं, वास्तव में राग-द्वेष के आस्रव में भी गया नहीं। आहाहा! गजब बात, भाई! समझ में आया?

हाँ, भगवान आत्मा जानने-देखनेवाला जाने, उसमें जो विकार उत्पन्न करे, वह उसकी भ्रमणा। उस भ्रमणारूप होना, वह उसकी पर्याय की योग्यता। उसे छोड़कर मैं शुद्ध ज्ञानमूर्ति चैतन्य हूँ, मैं जानने-देखनेवाला हूँ—ऐसा सम्यक्रूप से परिणमन करना, यह उसका स्वभाव है। यह तो उसका स्वभाव है। सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप होना, यह तो उसका स्वभाव, यह शुद्ध परिणति है। यह शुद्ध परिणति होने पर वह अशुद्ध (परिणति) टल जाती है। समझ में आया?

ऐसा कहते हैं-'एते अज्ञानिनः किं रागद्वेषमयीभवन्ति सहजां उदासीनतां किं मुंचन्ति' देखो! यह शब्द। भाई! तत्त्व तो ऐसा है। धीर, शाश्वत् ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा है। **'एते अज्ञानिनः'** अरे! **विद्यमान हैं जो मिथ्यादृष्टि जीव...** है? जो अज्ञानी जीवों की विद्यमानता है, मिथ्यादृष्टि जीवों के समूह की (विद्यमानता) है। **'किं रागद्वेषमयीभवन्ति' 'मयी'** में जरा जोर है। यह **राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध परिणति में मग्न ऐसे क्यों होते हैं?** अरे! तू जानने-देखनेवाला भगवान आत्मा, ये पुण्य-पाप के भाव और अज्ञान में एकाकार कैसे हो जाता है? क्या है तुझे यह? समझ में आया?

जानने-देखनेवाले को जानने-देखनेवाले में न रखकर, जानने-देखनेवाले को जानने-देखनेवाले में तन्मयता न करके, जानने-देखनेवाला भगवान, इन आस्रव, पुण्य-पाप और मिथ्याभाव में तन्मय-मग्न कैसे हो जाता है? समझ में आया? भारी सूक्ष्म। धर्मी जीव ज्ञान ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में तन्मय है, मग्न है। उसे राग-द्वेष होते नहीं, होते ही नहीं। थोड़े हुए, वे भी ज्ञेय में जाते हैं। अपने ज्ञान में एकता में जाते नहीं, आते नहीं। आहाहा! भीखाभाई! आहाहा! अरे! राग-द्वेषमयी कैसे होता है? ऐसा कहते हैं। वस्तु तो ज्ञानस्वरूप है, दर्शनस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है। उसे छोड़कर यह मुझे ठीक-अठीक, ऐसी मिथ्याश्रद्धा जो इष्ट-अनिष्ट वस्तु नहीं, वह मिथ्याश्रद्धा में लीन होकर ठीक-अठीक के राग-द्वेष में क्यों लीन हो जाता है?

इस प्रकार ज्ञान... ज्ञान भगवान, इस ज्ञान में सम्यक् श्रद्धा द्वारा लीन, स्थिरता द्वारा लीन होवे, यह तो उसकी चीज़ का कार्य और स्वरूप है। ऐसी अन्तर में ज्ञानस्वरूप दृष्टा भगवान-

आत्मा में लीनता न करके, जो इसकी वास्तविक स्थिति और स्वरूप है, उसे छोड़कर पुण्य-पाप के (भाव में), इष्ट-अनिष्ट परपदार्थ को देखकर इष्ट-अनिष्ट वृत्तियाँ और मैंने यह ठीक किया, ऐसी मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेष में क्यों मग्न हो जाता है? समझ में आया? बहुत परन्तु बात जरा (सूक्ष्म है)। ओहोहो!

भाई! तेरे अस्तित्व में, तेरे अस्तित्व में तो ज्ञान, दर्शन और आनन्द है। ऐसे अस्तित्व में लीन होना, वह तो स्वरूप है। ऐसे अस्तित्व को छोड़कर यह ज्ञात होता है, उस चीज़ को देखकर यह इष्ट-अनिष्ट है और यह ठीक है, ऐसे मिथ्यात्वभाव और राग-द्वेष में मग्न क्यों हो जाता है? सम्यग्दर्शन और स्थिरतारूपी वीतरागभाव में क्यों लीन नहीं होता? ऐसा कहते हैं, लो! मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ, ऐसी भान की प्रतीति और उसके साथ स्थिरता—अराग की परिणति, ऐसा होना चाहिए उसके बदले यह तू क्या करता है? ऐसा आचार्य (कहते हैं)। आहाहा! समझ में आया? इसमें क्या करना, क्या नहीं करना? इसे कुछ खबर नहीं पड़ती।

कहते हैं कि भाई! तू ज्ञान... ज्ञान चैतन्य जानने-देखनेवाला है। उसमें तूने यह खड़ा किया कि मुझे यह ठीक-अठीक है। ज्ञेय को देखकर ठीक-अठीक मिथ्याश्रद्धा खड़ी की और इष्ट-अनिष्ट में राग और द्वेष की वृत्ति उठी, वह तेरे स्वभाव में नहीं, ज्ञेय ने कराये नहीं। मिथ्या मान्यता खड़ी करके उसमें लीन हो गया है। यह तू कर रहा है। तो अब धर्म करना हो तो कैसे होगा? यह राग और द्वेष पर की इष्ट-अनिष्टता, यह वस्तु में नहीं है, उसमें नहीं है। यह मुझे ठीक-अठीक ऐसी मिथ्याश्रद्धा स्वरूप में नहीं है, उसमें नहीं है। यह मिथ्याश्रद्धा छोड़, इससे राग-द्वेष भी छूट जायेंगे। यह मिथ्याश्रद्धा छूटने पर ज्ञानस्वरूप है, ऐसी प्रतीति होगी। प्रतीति होने पर अरागी परिणति में लीन होगा। आहाहा! यह चौथे गुणस्थान की बात चलती है, हों! आहा! समझ में आया?

'प्रभु का मारग है शूरों का, यह कायर का काम नहीं' वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा... वे तो कहते हैं, 'हरि का मारग है शूरों का' परन्तु हरि वह नहीं, हरि तो यह भगवान आत्मा है और सर्वज्ञ परमेश्वर वीतरागदेव ने कहा हुआ आत्मा। समझ में आया? यह प्रभु का मार्ग तो है शूरों का, यह कायर का काम नहीं है। हमें यह समझ में नहीं आता। हमें यह, कायर है, पामर है तू। प्रभुता छोड़कर पामरता का स्वीकार, यह तुझे शोभा देता है?

यह ज्ञान, दर्शन और आनन्द से भरपूर भगवान, ऐसे तत्त्व का स्वीकार छोड़कर पर में मेरापन मानकर इष्ट-अनिष्ट में, राग-द्वेष में लीन (होता है), भगवान! यह तुझे शोभता है?

कहते हैं। भाई! यह तो तेरी रंकाई है, हों! यह तो तूने तेरे साथ शत्रुता खड़ी की है। तेरे साथ शत्रुता खड़ी की है। आहा! राजमलजी! यहाँ क्या कहा? देखो न! **'एते अज्ञानिनः किं रागद्वेषमयीभवन्ति, सहजां उदासीनतां किं मुंचन्ति'** अन्दर आवाज और ध्वनि तो देखो! अरे! **'सहजां उदासीनतां किं मुंचन्ति'** देखो! **सहज ही है सकल परद्रव्य से भिन्नपना...** भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप चैतन्य प्रभु इन सब परद्रव्यों से भिन्न है। शरीर, कर्म, धूल, मिट्टी, पैसा सबसे भिन्न है। सहज ही स्वभाव ही उसका ऐसा परवस्तु से पृथक्पना, **ऐसी प्रतीति को क्यों छोड़ते हैं?** देखो! **'सहजां उदासीनतां किं मुंचन्ति'** का अर्थ किया। क्या कहा?

सहजरूप से परवस्तु से अत्यन्त भिन्न। इस शरीर की किसी भी जड़ की अवस्था से भी भगवान आत्मा तो भिन्न है। आहाहा! जैसे दाल, भात और रोटियाँ बर्तन में पड़ी थी, उनसे यह वस्तु भिन्न है। उससे यहाँ खड़क कर यह शरीर खड़ा हुआ। दाल, भात, रोटियों का यह शरीर हुआ, उससे तो भिन्न है। ऐसा जानने-देखने का स्वभाव, उसकी उदासीनता अर्थात् पर से भिन्नपना क्यों छोड़ता है? क्या भाषा कही, देखा? **'सहजां उदासीनतां किं'** उदास अर्थात् परद्रव्य से भिन्न, ऐसा अर्थ किया। वहाँ लगा है कि यह मेरे, यह मेरे, इसमें जो स्थिर है, लीन हुआ है... ऊपर मग्न कहा था न? यह मेरे और यह तेरे, यह ठीक और यह ठीक नहीं, ऐसे मिथ्याभाव में मग्न (हुआ है)। अरे! सहज उदासीनता को कैसे छोड़ता है? तुझमें जानने-देखने में रहना, ऐसी प्रतीति को कैसे छोड़ता है? समझ में आया? यह तू जिसमें है, जिस प्रकार से है, उमें उसकी प्रतीति को कैसे छोड़ता है? यह जानने-देखनेवाला भगवान आत्मा तो है।

राग हो, ज्ञान ने जाना। जानते हुए यह उदासीनता ज्ञान पर से भिन्नरूप से काम करता है, ऐसा तेरा स्वभाव है, ऐसी प्रतीति को क्यों छोड़ता है? यह देह की दशा होने पर (वह) मुझे हुई है, मैंने उसका ज्ञान किया, तदुपरान्त ऐसा माना कि यह मुझे हुई है, ऐसी मिथ्या प्रतीति तूने क्यों खड़ी की है? समझ में आया?

'सहजां' सहज ही सकल परद्रव्य से भिन्नपना... 'उदासीनतां' अर्थात् कि परद्रव्य से भिन्नता, ऐसी श्रद्धा। उदास अर्थात् पर से भिन्न रहना। पर से भिन्न है, ऐसा पर से भिन्न रहना, वह स्वाभाविक उदासीनता है, अर्थात् उसकी प्रतीति है। समझ में आया? **'सहजां उदासीनतां किं मुंचन्ति'** भगवान ज्ञानस्वरूप चिदानन्द प्रभु में रहना और यह मेरे आदिरूप न होना, ऐसी शुद्ध प्रतीति को इसे छोड़ देता है? यह प्रतीति क्यों खड़ी करता है? यह ठीक है, यह अठीक है - ऐसे मिथ्याभाव की प्रतीति क्यों खड़ी करता है? सूक्ष्म बात है। ऐसे कहीं

भगवान माने, ऐसा नहीं चलता। भगवान को माना, देव-गुरु-शास्त्र '....' भगवानभाई! जाओ, भगवान सच्चे।... करो, जाओ समकित हो गया।

भाई! सम्यक्त्व अर्थात् जैसा आत्मा का स्वभाव जानने-देखने का, आनन्दादि स्वभाव है, ऐसे स्वभाव का स्वीकार, स्वीकार (हो), तब तो उसकी दशा में जानना-देखना और आनन्द का परिणमन हुआ, दशा हुई। तब यह आत्मा ऐसा पूरा, ऐसा प्रतीति में आवे। ऐसी प्रतीति छोड़कर तू यह क्या करता है? परवस्तु, वह तुझे जाननेयोग्य है, उसमें मेरेपने की मान्यता खड़ी करके राग-द्वेष में क्यों लीन होता है? स्वाभाविकरूप से ज्ञानस्वरूप आत्मा, उसमें उदासीन—पर से उदासीन, पर से हटकर जैसा भिन्नरूप से है, उसकी प्रतीति क्यों छोड़ देता है? समझ में आया? अभी तक सब क्रिया की, परन्तु यह क्रिया कठिन है। भगवानभाई! यह क्या किया था तूने? भाई! तुझे खबर नहीं।

जहाँ-जहाँ शरीर की अवस्था आयुष्य हो तो बचे, आयुष्य न हो तो मर जाए, यह तो सब अवस्थाएँ पर में होती थी। उसमें तुझे तो जानना चाहिए, उसके बदले इस उपरान्त मैंने बचाया, मैंने मारा, ऐसी भ्रमणा तूने कहाँ से खड़ी की? और पर से भिन्न वे अवस्थाएँ हों, उनसे तेरी चीज़ भिन्न है, ऐसी प्रतीति को तू क्यों छोड़ देता है? यहाँ तो ऐसा कहते हैं। समझ में आया? भगवानभाई! आहाहा! इस प्रकार से लिया है न...

कहते हैं, यह शरीर की अवस्था, लो। समझ में आया? पाउ-कायमं ठाणेणं-माणेणं जाणेणं अप्पाणं वोसरामि। आत्मा को वोसराया (छोड़ा है)। ऐसा नहीं। ऐसा है कि जितनी शरीर की क्रिया होती है, वह अजीव वाणी की होती है, वह अजीव, मन की अन्दर होती है, वह अजीव। वह ज्ञान में ज्ञेय, वह ज्ञेय है, उसके बदले मैंने ऐसा किया, मैंने ऐसा किया, मैं पद्मासन रहा। कहते हैं कि वह जड़ की पर्याय तेरे ज्ञान में ज्ञात होनेयोग्य हुई। तदुपरान्त मैंने की, ऐसा लाया कहाँ से, कहते हैं। इस मिथ्याश्रद्धा के भ्रम से उत्पन्न किया हुआ मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया? आहाहा! कहो, शुकनचन्दजी! क्या करना अब? चक्की-बक्की लाकर अब आटा दलना या नहीं? क्या करना इसमें? अच्छा आटा न होवे तो परिणाम अच्छा न हो। कहाँ गया परन्तु? ... मेरे परमाणु अच्छे हो गये। यह क्या कहा है? आचार्य बड़ा नाम धरावे। वापस विरोध करे। अरे! भगवान! तेरा यह भी छल, छल। आहाहा!

भाई! तू चैतन्यस्वरूप है न! तेरे अस्तित्व में तो ज्ञान, दर्शन, चैतन्य का प्रकाश, देखने का प्रकाश भरा है। उस प्रकाश में ऐसा कहीं नहीं भरा कि इस चीज़ को देखने से यह मुझे राग-

द्वेष करती है और यह देखने से मेरी है, ऐसा कहीं वस्तु के स्वरूप में भरा नहीं है और यह देहादि की जो किया हुई, उसमें यह नहीं भरा कि तुझे वह मेरापना मनावे, ऐसा उसमें है नहीं। शरीर की यह अवस्था होती है, वाणी होती है, उसमें ज्ञेय में तुझे मेरापन मनावे, ऐसा ज्ञेय में है नहीं।

नव तत्त्व की श्रद्धा सच्ची करना, परन्तु नव तत्त्व किस प्रकार करना ? अजीवतत्त्व की जितने द्रव्य-गुण-पर्याय जो हों, उन्हें ज्ञेयरूप से रखने से, आत्मा ज्ञानरूप है, उसे ज्ञातारूप से रखना तुझे नहीं आता और इस ज्ञेयपने से मेरी क्रिया हुई, ऐसा तूने तेरी उदासीनता की प्रतीति क्यों छोड़ दी ? अर्थात ? पर से भिन्नपने की प्रतीति क्यों छोड़ी ? ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? यह तो गजब... जरा यहाँ से... महिलाएँ आ सकी न हों और पूछे, क्या कहना यह ? क्या कहते थे ? कुछ कहते थे। कभी बात को सुना नहीं।

'जड़ और चैतन्य दोनों प्रगट स्वभाव भिन्न।' 'जड़ और चैतन्य दोनों प्रगट स्वभाव भिन्न।' भगवान आत्मा का वस्तु का स्वभाव भिन्न है, इसका स्वभाव भिन्न है। उसका ज्ञात होने का और इसका जानने का। तदुपरान्त तूने तीसरा कहाँ से डाला यह ? **'सहजां उदासीनतां किं मुंचन्ति'** परद्रव्य को जानने से परद्रव्य मेरे हुए, ऐसी प्रतीति कहाँ से लाया ? और ऐसी प्रतीति क्यों छोड़ी ? कि मैं तो उसका जानने-देखनेवाला हूँ, ऐसी श्रद्धा तूने कैसे छोड़ी ? समझ में आया ? आहाहा ! भारी बात, भाई ! क्या होगा ? मणिभाई ! जय भगवान कहे, वह सच्चा, जाओ ! क्या कहते हैं, इसकी खबर नहीं।

यह, आठ वर्ष की बालिका ऐसा समझ जाए। मैं एक आत्मा जानने-देखनेवाला हूँ। ज्ञात हो चीज़, वह ज्ञात होनेयोग्य रहती है। मैं एक जानने-देखनेरूप स्वभाव है, वैसा रहता हूँ। ऐसे अन्तर में स्वभाव की प्रतीति करने से सम्यग्दर्शन की पर्याय परिणमती है। आहाहा ! उसे धर्मरूप होता है। अपने तो कहते-कहते उसे ख्याल में नहीं आता कि यह विपरीत होता है, विपरीत माना है। अरे !

'एते अज्ञानिन:' भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकर ने कहा हुआ सन्त जगत को कहते हैं। वे प्रतिनिधित्व सन्त करते हैं कि भगवान ऐसा कहते हैं, हों ! कि तेरा स्वभाव जानना-देखना है, उसमें तूने यह पर को मेरा माना। वे तो ज्ञेय हैं। भाई ! तूने ऐसा अज्ञान कहाँ से खड़ा किया ? आहाहा ! समझ में आया ? वह इन राग-द्वेष में क्यों लीन हो गया ? कि जो राग-द्वेष की वृत्तियाँ उत्पन्न हों, ऐसा तेरा स्वभाव नहीं, उस चीज़ में राग-द्वेष उत्पन्न करने की ताकत नहीं। पर से

राग-द्वेष उत्पन्न हो, ऐसी पर में ताकत नहीं और पर से अपने में विकार हो, यह अपना स्वभाव नहीं। समझ में आया? यह विकार उत्पन्न क्यों किया? कि मैं एक जानने-देखनेवाला चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ, ऐसा भूलकर, उस ज्ञात होनेयोग्य चीज़ में यह मुझे ठीक-अठीक पड़े, ऐसी मान्यता से राग-द्वेष खड़े किये हैं। अरेरे! जानने-देखनेवाले की प्रतीति उदासीनता भिन्नता क्यों छोड़ता है? ऐसा कहते हैं। समझ में आया? गजब बातें, बापू! आहाहा! इसने कभी वीतरागमार्ग क्या है, यह सुना नहीं। सुना नहीं और हम वीतराग के मार्ग में अवतरित हुए हैं, (ऐसा मानता है)। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकर देव अनन्त तीर्थंकरों ने ऐसा फरमाया है, ऐसा महाविदेहक्षेत्र में परमात्मा अभी विराजते हैं। सीमन्धर तीर्थंकर आदि बीस तीर्थंकर और लाखों केवली, वे वाणी में ऐसा फरमाते हैं, उसे सन्त प्रतिनिधिरूप से कहते हैं। समझ में आया?

भाई! तू तेरे अस्तित्व में राग-द्वेष तो है नहीं, हमने देखा नहीं। पर जो चीज़ें हैं, वे तुझे राग-द्वेष करावें, ऐसा हमने देखा नहीं। तब तेरे देखने में ऐसा कहाँ से आ गया? कि अरे! यह जानने से ऐसा मलिन हुए बिना नहीं रहते, हों! अरे! रोग को ज्ञान जानने से द्वेष हुए बिना रहे? करंट लगता है अन्दर से। और ऐसे पाँच-पच्चीस लाख की पूँजी कान से सुने, ऐसे पाँच लाख का बँगला देखे। हजीरा अर्थात् मकान। आहाहा!

श्रोता : मकान को हजीरा कहलाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह हजीरा ही है न, दूसरा क्या है? वोरा मरकर दफन करे, उसे हजीरा कहा जाता है। यह सब हजीरा ही है न? क्या मकान है, वह तो धूल है। ऐसे देखे वहाँ, आहाहा! भाई! तुझे मरते हुए छोड़ना कठिन पड़ेगा, हों! न्यालभाई! स्त्री रोवे। नहीं रोती? अरे! बापू! भरे घर में से निकलना कैसे सुहाया? वह रोवे। ढोंगढोंग सब। किसे कहना भरा घर? भगवान आत्मा तो अत्यन्त भिन्न है। वह कुछ लेकर आया था? और आया तो उसके कारण से आया था। समझ में आया?

आज ही दृष्टान्त नहीं दिया था? उन भाई ने कहा था। मोक्षमार्गप्रकाशक का दिया था। वह लड़का है न? उस पागल का। एक मनुष्य था, मनुष्य। मोक्षमार्गप्रकाशक का दृष्टान्त दिया था। एक पागल मनुष्य था, नदी के किनारे गया। यह क्या 'उतावणी' कहलाती है न? हमारे 'काणुभार' बड़ी नदी उमराला में है न? बड़ी लम्बी नदी। उसमें बहुत बड़े पत्थर होते हैं। उसमें जाकर बैठा। उसमें लगभग नौ, साढ़े नौ, दस बजे। उसमें राजा निकला, एक राजा। तब तो कहाँ

ऐसी मोटरें-फोटरें थी ? .... दरबार निकले तो घोड़ागाड़ी लेकर निकले। परन्तु वह तो उमराला आ जाए। परन्तु बहुत दूर से निकले हों और पानी बहुत देखकर दस बजे वहाँ पड़ाव डाला। हाथी, घोड़ा। पड़ाव डाला। आधे घण्टे, घण्टे, दो घण्टे (रहे)। (भोजन) करके फिर अपन चलेंगे। तम्बू लगायें हो तो सोवे। वह पागल बैठा था। ओहो! यह मेरा राजा आया, यह मेरी रानी आयी, यह मेरे हाथी आये, यह मेरे घोड़े आये। वे ऐसे खा-पीकर, सोकर जहाँ दो बजे (तो) चलने लगे। ऐ... ! पूछे बिना कैसे जाते हो ? वह कहे पागल हो, हम तो हमारे कारण से आये हैं और हमारे कारण से जाते हैं।

इसी प्रकार यह पागल कहीं से घर में आया वहाँ से यह स्त्री, पुत्र और शरीर उनके कारण से सब आये हैं और वे जहाँ अवधि पूरी हो और चलने लगे तो कहे, ऐ! कैसे चलते हो ? आत्मा तो कहीं से आया, अत्यन्त भिन्न है। हें ? आत्मा तो कहीं से आया, कर्म के रजकण साथ में थे। बस! इतना। फिर यह शरीर हुआ, फिर यह मकान। पश्चात् यह देखने लगा, बगीचा और अमुक और अमुक और यह अवसर जहाँ आया तो वह सूखने लगा, वह चलने लगा, स्त्री मर गई, लड़का मर गया। ऐ! परन्तु तुम मुझे पूछे बिना कैसे जाते हो ? परन्तु कहाँ तुझे पूछने के लिये आये थे ? तुझे पूछकर आये हैं ? हम तो हमारे कारण से आये थे। हमारी अवधि पूरी हुई, इसलिए हम जाते हैं।

यह तो 'कालुभार' ही पड़ी है यह। यह आज याद किया था, वह गोंडलवाला है न ? रास्ते में याद किया था। चीमनभाई ने दृष्टान्त दिया है। हाँ, दृष्टान्त बराबर है। क्यों पोपटभाई ? उसने लड़कों का दृष्टान्त दिया होगा। ऐसे आत्मा तो कहीं से आया। हैं ? आहाहा! यहाँ जहाँ आया और वे संयोग इकट्ठे हुए तो (कहे), मेरे आये। अवधि पूरी होकर चलने लगे तो (कहे) मेरे कहाँ गये ? परन्तु तेरे थे कब ? मिथ्याभ्रमणा खड़ी करके मेरे माने हैं। अरे! तेरा उदासीनभाव कैसे छोड़ता है ? अरे! तू तुझमें ज्ञान, दर्शन, आनन्द में है, उसकी प्रतीति कैसे छोड़ता है ? यह मेरे और मेरे गये, ऐसे भाव तूने कैसे खड़े किये ? भाई! यह तुझे शोभा नहीं देता। ऐसा यहाँ समझाकर आत्मा के स्वभाव की अनुभव, प्रतीति कर तो तुझे आनन्द की प्राप्ति होगी। परपना का मानना तुझे छूट जाएगा। तब तुझे धर्म होगा। (विशेष कहेंगे...)

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

२४ श्री पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, गाथा-२२३ से २२६, प्रवचन - ८९
दिनांक - १५-०८-१९६७

२२३ गाथा का अर्थ हो गया। उसमें क्या कहते हैं? जिसमें अपने शुद्धस्वरूप आनन्द ज्ञायकस्वरूप का अनुभव करके... यह अन्तिम सार बताते हैं न? मोक्षमार्ग का फल। अभी तक तो मोक्षमार्ग के विषय में कहा था। मोक्षमार्ग जो अपना शुद्ध चैतन्य आनन्द है, उसका आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो प्रगट हुए हैं, वही मोक्षमार्ग है। उससे मुक्ति प्राप्त होती है। उसकी बात चलती है। मुक्ति में परमात्मपद का स्वरूप कैसा है, वह कहते हैं। समझ में आया?

पहले २२२ गाथा में मुख्य-उपचार मोक्षमार्ग आ गया है न? निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग से परम पद की प्राप्ति होती है। समझ में आया? यह पहले २२२ गाथा में आ गया। वास्तव में तो अपने शुद्ध स्वरूप के आश्रय से मुक्ति होती है, परन्तु बीच में, पूर्ण वीतराग न हो, तब व्यवहार विकल्प ऐसा आता है, उस कारण से परम पद मिलता है, ऐसा आरोप से कथन किया गया है। समझ में आया? कोई तो ऐसा भी कहते हैं, भाई! कि व्यवहार है, वह जैसे हेय है तो, फिर मोक्षमार्ग की पर्याय भी समय-समय में हेय वृद्धिवाली होती है। ज़्या कहा?

श्रोता : अन्त में तो सब हेय ही है। .....करने के लिये क्या हेय है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह ऐसा कहते हैं कि जैसे... यह मुख्य और उपचार दो मार्ग कहे न? मुख्य, वह निश्चय और उपचार, वह व्यवहार है। व्यवहार, वह हेय है—ऐसा कहो तो हम तो ऐसा भी कहते हैं कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न हुए हैं, वह समय-समय की शुद्धि हेय हो जाती है। नयी-नयी प्रगट होती है और अन्तिम पर्याय जो है, मोक्ष (मोक्षमार्ग) की पर्याय का अन्त जो है, उसके पूर्व समय में जो आत्मा की सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रत्नत्रयात्मक परिणति है, मोक्ष की पर्याय उत्पन्न होने के पहले, जो रत्नत्रय की पूर्णता होती है, वही मोक्ष का कारण है।

श्रोता : वही मोक्ष का कारण है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भी है, परन्तु पहले जो छठे गुणस्थान से (निश्चय) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि हुए, वह वास्तव में मोक्ष का कारण नहीं हुआ। समझ में आया? अन्तिम पर्याय मोक्ष के कार्य का कारण हुई। क्या कहा समझ में आया?

श्रोता : कारण-कार्य तो यह ही रहेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या आया? कि मोक्ष की पूर्ण पर्याय जब हुई—केवलज्ञान, केवलदर्शन परम आनन्द—उस दशारूपी कार्य का कारण तो पूर्व समय में होता है। पूर्व समय की पहली पर्याय, वहाँ वह कारण होती है, तो उस कारण से मोक्षपर्याय हुई। उससे पहले जो निश्चय पर्याय है, वह भी हेय होती जाती है। ऐसा कहते हैं।

श्रोता : अभाव हो गया....

पूज्य गुरुदेवश्री : अभाव हुआ तो व्यवहार का भी अभाव होकर चला जाता है और यह भी अभाव होकर चली जाती है, अत: एक को हेय कहते हो और एक को उपादेय कैसे कहते हो? समझ में आया?

श्रोता : थोड़ी देर रहता है....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह चली जाती है, यह दूसरी बात है। उसका अभाव होकर। अभाव अर्थात् राग का लक्ष्य छोड़कर। यहाँ भी अपने आश्रय से जो निश्चयमोक्षमार्ग हुआ, उसका भी समय-समय में व्यय होता है और शुद्धि की वृद्धि की पर्याय का उत्पाद होता है। इस अपेक्षा से तो पूर्व की पर्याय, कारण और बाद की पर्याय, कार्य। समझ में आया? देवीलालजी! समझ में आया या नहीं?

फिर से, यह तो शास्त्र के अर्थ में कितनी गड़बड़ करते हैं। यह पाठ में भी ऐसा ही है न? कि मुख्य है, वह निश्चयमोक्षमार्ग है और उपचार, व्यवहारमोक्षमार्ग है, तो व्यवहारमोक्षमार्ग वास्तव में है ही नहीं और तुम हेय कहते हो, तो पहली जो निश्चय की पर्याय हुई, वह भी बाद की पर्याय की अपेक्षा से तो वह पर्याय भी हेय हो गयी।

श्रोता : उसे कारण कैसे कहते हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे कारण कैसे कहते हो? इसका कारण छोड़ दो और उसका कारण कहते हो तो इसका भी कारण कहो। जरा सा समझ में आया? भाई! यह राग व्यवहार है, है तो विकल्प है। वह कहीं कारण नहीं है। उसका तो अभाव होकर स्वभाव के आश्रय से

जितनी शुद्धि होती है, अभाव होकर स्वभाव के आश्रय से शुद्धि होती है, वही मोक्ष का मार्ग है और प्रगट करने योग्य तो शुद्धपर्याय ही प्रगट करने योग्य है। राग प्रगट करने योग्य है ही नहीं। समझ में आया? राग तो बीच में आ जाता है। समझ में आया? निश्चय में बीच में व्यवहार आ जाता है। (समयसार) मोक्ष अधिकार में आता है न? भाई! पण्डित जयचन्द। अकेला व्यवहार नहीं। निश्चय हो, वहाँ व्यवहार बीच में आता है। पण्डित जयचन्दजी के मोक्ष अधिकार, अर्थ में है न! कब? निश्चय हो, तब व्यवहार आता है परन्तु उन दोनों में अन्तर है। निश्चय आत्मा जो है, वह शुद्ध चिदानन्दमूर्ति है। उसका आश्रय करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय उत्पन्न हुई, वह तो प्रगट करने के योग्य थी। राग बीच में आता है, वह प्रगट करने के योग्य नहीं है परन्तु आता है। समझ में आया?

अब आगे बढ़कर भगवान आत्मा अपना उग्र आश्रय करके जो अन्तिम शुद्ध पर्याय प्रगट हुई, मोक्ष की पर्याय उत्पन्न होने से, मोक्ष का कार्य हुआ, उसके पहले की जो चौदहवें गुणस्थान के अन्त समय की पर्याय जो है, वास्तव में तो वह ही कारण है। वही रत्नत्रय कारण है और मोक्ष कार्य है, परन्तु उस पहले की पर्याय को कारण कहा परन्तु वह यथार्थ कारण है। शुद्ध है। क्या हो, परन्तु झगड़े ऐसे चलते हैं न कि तुम जब व्यवहार को हेय कहते हो तो हम तो कहते हैं, निश्चय भी हेय है। हेय की अपेक्षा से दोनों हेय हैं। हेय हैं; इसलिए उससे लाभ नहीं, ऐसा नहीं। अमरचन्दभाई! ऐसा कहते हैं कि व्यवहार हेय कहो तो उससे लाभ नहीं, ऐसा नहीं। लाभ है। लाभ है ही नहीं। इस हेय में दूसरी बात है, पहले हेय में दूसरी बात है। भाई! आहा..हा..! क्या हो? जगत को...

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन आनन्दकन्द का आश्रय करके जो निर्मल सम्यग्दर्शन - ज्ञान-चारित्र हुआ, वह तो संवर-निर्जरारूप आनन्दरूप है। उस पर्याय के बाद दूसरी पर्याय जो होती है, उसका वह कारण भले हो। विशेष शुद्धि कार्य जो हो, उसके पहली शुद्ध पर्याय कारण भले हो, परन्तु उस कारण का नाश होकर कार्य होता है, परन्तु वह कारण हितकर है।

श्रोता : इसलिए कारण कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए वास्तव में कारण है। इसलिए राग हितकर नहीं है। क्या हो? समझ में आया? समझ में आता है? थोड़ा सूक्ष्म है परन्तु यहाँ तो... आहा..हा..! ऐई पोपटभाई! बहुत सूक्ष्म मस्तिष्क करना पड़ेगा।

श्रोता : मुद्दे की बात....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहते हैं, मुद्दे की.....

भगवान आत्मा आनन्द और शान्ति के रस का पिण्ड प्रभु है। उसका आश्रय करना, वह मुद्दे की रकम है, परन्तु आश्रय करने में भी प्रथम आश्रय थोड़ा है, फिर आश्रय विशेष है, फिर आश्रय विशेष है, ऐसा समय-समय में आश्रय बढ़ता है तो शुद्धि बढ़ती है तो पहले की जो शुद्धि है, उसका व्यय होकर दूसरी शुद्धि विशेष होती है, तो पूर्व की पर्याय कारण और उत्तर की पर्याय कार्य—ऐसा यथार्थ में तो आता है, किन्तु यह मोक्ष का सीधा कारण नहीं रहा।

श्रोता : परम्परा रहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा जब उसे परम्परा कहते हो तो हम व्यवहार को भी परम्परा कहते हैं। (ऐसा वे लोग कहते हैं) अमरचन्दभाई!

श्रोता : पहले दोनों का अन्तर है, एक निश्चय परम्परा है और एक व्यवहार परम्परा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें अन्तर है, भाई! यह व्यवहार परम्परा आ जाती है। वह प्रगट करने योग्य नहीं है। अन्तर है। यह तो अन्तर आश्रय करके उग्ररूप से प्रगट करने योग्य है और जो शक्ति है, शक्ति में जो मोक्ष स्वभाव है, उस शक्ति की व्यक्तता, वह स्वभाव की व्यक्तता होती है। उस शक्ति में से राग प्रगट हो, वह शक्ति में नहीं है। आहा..हा..! मूल विवाद यह। मूल सूक्ष्म दिक्कत में इतना विवाद है कि जहाँ मूल भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति ज्ञानानन्द।.... ज्ञानमय, वह आनन्द से... २२४ गाथा में। ज्ञान और आनन्द दो ही कारण हैं यहाँ। ज्ञान और आनन्द। ज्ञान की परिपूर्णता और आनन्द की परिपूर्णता। बस, इसका नाम मोक्ष। समझ में आया? तो उसका कारण जो शक्तिरूप स्वभाव भगवान आत्मा का है, उस शक्ति की अन्तर में से व्यक्त प्रवाह आता है, वह अन्तर में से व्यक्त आता है, वास्तव में वही मोक्ष का कारण है। पहले की पूर्व पर्याय भले मोक्ष का कारण हो, परन्तु यह सब पर्यायें शक्ति में से आती हैं। समझ में आया? यह भिन्न चीज़ है। भाई!

श्रोता : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह व्यवहार तो परचीज है। अन्तर में से नहीं आया। यह तो निमित्त का लक्ष्य करके पराधीनरूप से पर्याय में राग आया है। उसे कारण कहना वह तो, भाई! सिद्धान्त क्या कहना है, वह समझ में आया? कि दोनों के स्वरूप में, दोनों के फल में, दोनों की दिशा में अन्तर है। इसलिए भगवान आत्मा अपना शुद्ध भगवानस्वरूप परमानन्दमूर्ति पूर्ण ध्रुवस्वरूप।

स्वभाव है न स्वभाव ? अकेला स्वभाव, अकेला स्वभाव। स्वभाव की महिमा क्या ? स्वभाव की अपरिपूर्णता क्या ? और स्वभाव में विपरीतता कहाँ है ? और स्वभाव की हद क्या ? ऐसा जो ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि जो स्वभाव है, उसमें से प्रगट होती है। समझ में आया ? स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट हुए, वे तो स्वभाव की जाति है। स्वभाव की जाति को मोक्ष का कारण कहना, वह यथार्थ है। समझ में आया ? उसे अन्तिम पर्याय की अपेक्षा से भले उसे परम्परा कारण कहो।

श्रोता : साक्षात् और परम्परा दो लागू पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ लागू पड़े। क्योंकि इसकी जाति है इसलिए। समझ में आया ? आहा..हा.. ! अरे ! जगत को तो अपना आश्रय लेना, उसे तो ऐसा लगता है मानो कुछ है ही नहीं। कहीं बाहर से मिल जाये, राग की क्रिया से और पर के आश्रय से हो, यह वस्तु ऐसी है ही नहीं। समझ में आया ? रतिभाई !

भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में पूर्णानन्द, प्रभु ! उसमें जो निर्मल पर्यायें हैं, वे अन्दर में पड़ी हैं। समझ में आया ? वे प्रगट होती है तो है, उसमें से प्रगट होती है। उसमें राग अन्दर नहीं पड़ा। पूँजी में वह माल नहीं। पूँजी में यह माल है। सिद्ध की, अरिहन्त की, आचार्य की (उपाध्याय की), साधु की जो पाँच पद की वीतरागी पर्याय है, वह सब वीतरागी पर्यायें अन्दर पड़ी हैं। द्रव्य में है तो सत् है तो प्रगट होगी। अन्दर सत् न हो और प्रगट हो, ऐसा है नहीं। राग है, वह सत् अन्दर नहीं। समझ में आया ? भाई ! विवाद भारी, भाई ! शास्त्र में वादभयम्... अरे... भगवान ! यह तो अन्तर का मार्ग है, प्रभु ! इसमें वाद-विवाद नहीं होता। 'सद्गुरु कहे सहज का धन्धा, वाद-विवाद करे सो अन्धा।' यह बनारसीदास में आता है। 'सद्गुरु कहे सहज का धन्धा, वाद-विवाद करे सो अन्धा।'

भगवान आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप है न, भाई ! तुझे विश्वास नहीं। तुझे विश्वास नहीं। तू विश्वास ला तो अन्दर सब शक्ति पड़ी है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की जो पर्याय है, वह कहाँ से होती है ? असत् उत्पन्न होती है ? पर्याय अपेक्षा से असत् परन्तु वस्तु में है, तब उत्पन्न होती है या नहीं ? फूलचन्दजी ! समझ में आया ? थोड़ी-थोड़ी मेहनत करते हैं। व्यापार करते हैं। व्यापारी व्यक्ति है। महाकठिनाई से न्याय का विषय चला। व्यापार में इस युक्ति की कुछ खबर नहीं पड़ती। समझ में आया ? आहा..हा.. !

कहते हैं कि अरे ! भगवान आत्मा में सब समझने की शक्ति है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-

चारित्र की जितनी पर्याय है, वह बाहर से नहीं आती। वह तो सब अन्दर में पड़ी है, इसलिए उसे प्रगट करने की ताकत है। समझ में आया? वह कहीं नयी बात नहीं है। आहा..हा..! भक्ति में नहीं आया कुछ? 'नयी-नयी बात नहीं' ऐई! कहाँ गये? हम-तुम समान हैं, नयी बात नहीं - ऐसा भजन में आया था न? कुछ आया था, वह शब्द याद रह गया। यह तो भक्ति में, नहीं? हम और तुम एक हैं, सिद्ध होना, वह कोई नयी बात नहीं। यह भक्ति में आया था। यहाँ कहीं सब याद रहता है? एक शब्द आया था। बहिन का आया था, नहीं?

श्रोता : 'जो तू है....'

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहा? 'जो तू है सो हूं, हम हैं, उसमें कोई नयी बात नहीं' यह कोई नयी बात नहीं है। भगवान! जैसे तुम हो, वैसे हम हैं, यह कहीं नयी बात नहीं है। धन्नालालजी! यह भक्ति में आता है। पढ़ते-पढ़ते भक्ति में भी फिर विचार चलते होते हैं न! वह तो यह कहते हैं। अन्दर मैं हूँ। पूरा अन्दर भरा पड़ा हूँ।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो निश्चयपर्याय है, वह तो स्वभाव शक्ति में है। वह... व्यवहार विकल्प है, व्यवहार की दशा पराश्रित है और निश्चय की दशा स्वाश्रित है। अत: स्वाश्रित है, उसका कारण? कि स्वाश्रित में सब पड़ा है, भाई! समझ में आया? भाई! बराबर है। भाई क्यों नहीं आये? बुखार आता है। समझ में आया? ऐसी बात है, भाई!

भगवान आत्मा जो कुछ पंच परमेष्ठी की पर्याय कहते हैं न? कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि वह पर्याय कहीं नयी नहीं है। वह सब आत्मा में है। वह पाँच पद की वीतरागी पर्याय आत्मा में है। समझ में आया? तो वह भी सिद्ध का-मोक्ष का मार्ग, मोक्षमार्ग भी आत्मा में है। आहा..हा..! समझ में आया? राग आत्मा में नहीं, क्योंकि व्यवहार पराश्रय है और यह स्वाश्रय है। दोनों में अन्तर है। स्व-आश्रय में भी जब तक सम्पूर्ण न हो, तब तक पहले की पर्याय का व्यय होता है। बाद की-उज़र पर्याय / कार्य होती है परन्तु वह तो स्वभाव के प्रवाह में से आती है और कारण कार्य शुरु होता है। समझ में आया? और यह पराश्रय राग। स्व-आश्रय निश्चय.. पराश्रय व्यवहार, इसका अर्थ क्या? न्याय से करना चाहिए।

पर की दिशा की ओर का राग है, वह कहीं अन्तर की दिशा का कारण नहीं होता। भाई! अन्तर के कारण में पड़ा है तो कारण होता है। राग में क्या पड़ा है? राग तो नया-नया पर दिशा से उत्पन्न होता है। समझ में आया? उसे व्यवहार कहा, वह तो आरोपित व्यवहार है। धन्नालालजी! आहा..हा..! असद्भूत है। व्यवहाररत्नत्रय असद्भूत है। यह तो प्रगट होती है,

वह सद्भूतपर्याय है। स्व-आश्रित कहो तो निश्चय है और भेद पड़े, इस अपेक्षा से सद्भूतव्यवहार है। समझ में आया?

भगवान आत्मा... आहा..हा..! अपने स्वरूप में पूर्णानन्द प्रभु 'पूर्ण इदम् ध्रुव', अकेला स्वभाव... स्वभाव... स्वभाव... इसकी हद नहीं, माप नहीं, प्रमाण नहीं, इतनी वस्तु। इसमें सब शक्तियाँ पड़ी हैं। अन्तर आश्रय करने से... समझ में आया? अकार्य-कारण याद आ गया, देखो! राग कारण और यह पर्याय कार्य, ऐसा नहीं, इसमें गुण नहीं। समझ में आया? व्यवहार कारण राग और आत्मा की पर्याय कार्य, ऐसा गुण नहीं। भावगुण तो है। अपना स्वभाव कारण और वीतरागी पर्याय कार्य, ऐसा गुण है। कर्ता-कर्म, वह षट्कारक में आता है न? वह तो अपने में है, परन्तु राग कारण और आत्मा की पर्याय कार्य, ऐसा वस्तु में नहीं है। समझ में आया? थोड़ी सूक्ष्म बात आ गयी। ऊपर मुख्य-उपचार में है न? उसका फल यहाँ बताते हैं। फल बताते हैं, उसमें वह व्यवहार तो है ही नहीं वास्तव में। यह छठे-सातवें में से निश्चयमोक्षमार्ग जब से शुरु हुआ, चौथे से शुरु हुआ, तो पूर्व की पर्याय का व्यय होता है और नयी-नयी पर्याय उत्पन्न होती है, अतः पूर्व की पर्याय कारण और उत्तर की पर्याय कार्य। उत्तर समझे? बाद की। बाद की पर्याय कार्य और पहले की पर्याय कारण। उसमें राग कारण और कार्य कहना, वह तो अत्यन्त आरोपित कथन है, क्योंकि वस्तु में ऐसा भाव है ही नहीं। समझ में आया?

यह तो वस्तु ऐसी है। यह किसी ने बनी बनायी है? बनायी है? किसी भगवान ने बनायी है? भगवान ने तो जैसा था, वैसा कहा, जाना और अनुभव किया। भगवान कहते हैं, ऐसा है, भाई! हम कुछ करता नहीं, तुम्हें कुछ करना नहीं। द्रव्य-गुण का तुम्हें करना है? ऐसा ही है। बस, अन्दर में आश्रय करके जो निर्मल प्रगट पर्याय हो, उसकी पर्याय भले अपूर्ण हो और व्यय हो जाती है, इस अपेक्षा से हेय भी कहने में आती है। परन्तु हेय है, वह दूसरी बात है। वह तो अन्तर में से दूसरी विशेष आती है तो व्यय होती है। राग के कारण से अन्दर में कोई कार्य उत्पन्न हो, ऐसा नहीं है। अब ऐसी पर्याय का फल क्या है? देखो! २२३ गाथा।

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः।।२२३।।

सिद्ध भगवान नित्य हैं। संसार अनित्य है। कहो, समझ में आया? २२३ मूल श्लोक। भगवान परमात्मदशा नित्य रहती है। है पर्याय। सिद्ध की है पर्याय, परन्तु **'नित्यम्'** ऐसी की ऐसी पर्याय कायम रहती है। पहले मोक्षमार्ग की पर्याय बदलती थी। अपूर्ण से पूर्ण (होने के

लिये बदलती थी)। यह ऐसी की ऐसी पर्याय (कायम रहती है), भाई! इसलिए नित्य शब्द पहला प्रयोग किया। व्यवहार तो अन्त में रहा, परन्तु मोक्षमार्ग की पर्याय कम थी, वह बढ़ाने की थी। यहाँ बढ़ाने का रहा नहीं, सदृश रह गयी।

सिद्ध भगवान में मोक्षमार्ग के कारण का कार्य सदृश रह गया। ऐसी की ऐसी सादि-अनन्त। समझ में आया? संसार में ऐसी दशा थी नहीं, ऐसी पर्यायदशा की बात है। ऐसी पर्याय सिद्ध में उत्पन्न हुई, उसे नित्य कहा। **'निरुपलेप:'** संसार लेपवाला है। भगवान! अभी चौदहवें गुणस्थान में उदयभाव है। सिद्ध **'निरुपलेप:'** हैं। कोई लेप नहीं। **'स्वरूपसमवस्थित:'** संसार में अभी पूर्ण स्वरूप समअवस्थित नहीं। समझ में आया? सिद्ध भगवान पूर्ण स्वरूप समअवस्थित हैं। अपने अब सीधे शब्दार्थ करते हैं। भाई! सीधे शब्दार्थ में। वह लम्बा.. लम्बा.. लम्बा.. लम्बा.. भाव है। कहो, समझ में आया?

'स्वरूपसमवस्थित:' दशा पूर्ण समअवस्थित हो गयी। परमात्मदशा समअवस्थित ऐसी की ऐसी (रहती है)। **'निरुपघात:'** नीचे तो घात होता था, पर का घात करे, पर से अपने में व्यवहार निमित्त से घात हो जाये, ऐसा वहाँ रहता नहीं। **'निरुपघात:'** किसी का घात करता नहीं, कोई इसका घात करता नहीं। ऐसे सिद्धभगवान मोक्षमार्ग का फल आ गया। **'विशदतम: परमपुरुष:'** जीव को पुरुष कहते हैं, सिद्ध को परम पुरुष कहते हैं। समझ में आया? साधारण जीव को पुरुष कहते हैं। अन्दर अर्थ में है। यह तो ऊपर से लेते हैं। **'परमपुरुष:'** सिद्धभगवान परम पुरुष हैं। लो! पुरुष होंगे ये? परम पुरुष हैं। पूर्ण दशा प्रगट हुई। **'परमपदे स्फुरति'** परम पद में रहनेवाले हैं, परम आनन्द पद में रहनेवाले हैं। **'विशदतम:'** निर्मल हैं। **'विशदतम:'** निर्मल... निर्मल... निर्मल। अकेले स्फटिकवत् सिद्धभगवान हैं। यह २२३ गाथा हुई। अब २२४ गाथा।

कृतकृत्य: परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव।।२२४।।

इस मोक्षमार्ग का फल मोक्ष आया। भगवान मोक्ष कैसा है? कृतकृत्य। पूर्ण कार्य हो गया। बाकी रहा नहीं। अभी तेरहवें गुणस्थान में भी अभी निर्मल शुद्ध का कार्य बाकी था। समझ में आया? यह कृतकृत्य हो गये। **'परमपदे'** भगवान परमपद में स्थित हो गये। नीचे तो अपरमपद असिद्धदशा थी। चौदहवें गुणस्थान तक तो असिद्धदशा था। यह सिद्धदशा। भगवान परमपद में सिद्ध हो गये। **'सकलविषयविषयात्मा'** लोकालोक जिनका विषय हो गया।

विषय तो केवलज्ञान में भी हो गया है। यह तो विशेष कहते हैं। **'सकलविषयविषयात्मा'** और **'सकल विरतात्मा'** दो शब्द लिये हैं, भाई! सबसे विरक्त हो गये हैं। परमात्मा सिद्ध भगवान सबसे विरक्त हो गये हैं। वे सबको विषय करते हैं। सबसे विरक्त हुए हैं और सबको विषय करते हैं। रागादि सबसे विरक्त हो गये हैं, उदयभाव से विरक्त हो गये हैं और सबको विषय को करते हैं - लोकालोक को जानते हैं। समझ में आया?

'परमानन्दनिमग्नः' परमात्मा परमानन्द में निमग्न है। समझ में आया? सिद्ध वहाँ क्या करते हैं? परमानन्द में निमग्न हैं। यह करते हैं। संसार में (संसारी) क्या करते हैं? राग-द्वेष में मग्न हैं। संसार में क्या करते हैं? राग-द्वेष में मग्न हैं। वे दुःख को करते हैं। ये (परमात्मा) परमानन्द में निमग्न हैं। पूर्णानन्द मोक्षमार्ग से जो फल हुआ (उसमें मग्न हैं)। **'परमानन्दनिमग्नः ज्ञानमयो सदैव नन्दति'** जिनके ज्ञान और आनन्द परिपूर्ण हो गये हैं, ऐसे सदैव—सादि-अनन्त—रहते हैं। अब २२५ गाथा।

जैन-नीति अथवा नय-विवक्षा.. इसमें जरा गड़बड़ है। यहाँ तो कुछ गड़बड़ ही नहीं।

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेणत्र।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी।।२२५।।

टीका : 'मन्थाननेत्रं गोपी इव जैनी नीतिः वस्तुतत्त्वं एकेन आकर्षन्ती इतरेण श्लथयन्ती अन्तेन जयति।' क्या कहते हैं? देखो। **दही की मथानी की रस्सी को खेंचनेवाली ग्वालिन...** ग्वालिन होती है न? वह खींचती है न? क्या कहते हैं उसे? मथनी। उस मथनी में डोरी होती है। डोरी एक है, उसके छोर दो हैं। छोर कहते हैं? क्या कहते हैं? डोरी दो नहीं। डोरी तो एक ही है। यह तुम्हारी भाषा नहीं आती। यहाँ तो दो छेड़ा (कहते हैं)? समझ में आया? ऐसे खींचे तब यह (दूसरी ओर की) ढीली रखे, ऐसे खींचे तब ढीली रखे। ऐसे डोरी तो एक ही है। इसी प्रकार ज्ञान तो एक ही प्रकार का है, परन्तु ज्ञान के दो नय हैं। यह श्रद्धा की अपेक्षा से यहाँ बात नहीं है। समझ में आया? निश्चय में किसी समय मुख्य करे और किसी समय व्यवहार मुख्य करे, ऐसा इसमें लेते हैं। ऐसा है ही नहीं। यह बात यहाँ है ही नहीं। क्यों? कि श्रद्धा है, वह निर्विकल्प है। निर्विकल्प-एक निर्विकल्प वस्तु का विषय करती है, उसमें दो प्रकार नहीं हैं। समझ में आया? व्यवहारश्रद्धा करती है, वह आता है। निश्चयनय की पर्याय नव तत्त्व की श्रद्धा करे, वह दूसरी बात है। इसका विषय तो एक अभेद

ही है। समझ में आया ? और यह तो ज्ञान की बात चलती है। धन्नालालजी ! इसमें से निकालते हैं कि यदि तुम एकदम निश्चय-निश्चय को मुख्य करते हो तो यहाँ कहते हैं कि किसी समय व्यवहार को मुख्य करे, किसी समय निश्चय को मुख्य करे। ऐसी बात है। श्रद्धा, सम्यग्दर्शन और मोक्षमार्ग की अपेक्षा से बात नहीं है। मोक्षमार्ग है, वह तो मुख्य को निश्चय करके चलता है। व्यवहार कभी मुख्य नहीं होता। यदि व्यवहार मुख्य हो जाये तो दृष्टि मिथ्यात्व हो जाती है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा अपने पूर्णानन्दस्वरूप का नाथ, उसका आश्रय मुख्य है। निश्चय को मुख्य नहीं कहा। मुख्य को निश्चय कहा है। वरना तो निश्चय तो अपने द्रव्य, अपने गुण, अपनी पर्याय तीनों को स्व-अपेक्षा से निश्चय कहते हैं। समझ में आया ? नहीं तो स्व में भी अभेद की बात है। मूल तो स्वाश्रय निश्चय है न, भाई ! स्व-आश्रय निश्चय और पराश्रय व्यवहार, इसमें भी स्व-अपेक्षा से तो अभेद ही है। आहा..हा.. ! समझ में आया ? लिखा है न वहाँ ? अभेद का डाला है न ? स्व-आश्रय निश्चय और पर-आश्रय (व्यवहार) २७२ (गाथा, समयसार) में। मूल तो अभेद का लिखा है। 'निश्चयनयाश्रित मुनिवरो (प्राप्ति करे निर्वाण की)' स्व का आश्रय, वहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों नहीं लिया है। स्व-आश्रय निश्चय अभेद लिया है। समझ में आया ? बन्ध अधिकार की २७२ गाथा। समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं कि भगवान आत्मा, जो स्वाश्रय, मुख्य जो त्रिकाल वस्तु है, उसकी दृष्टि, उसका ज्ञान और चारित्र, वही मुख्य निश्चय है और साधक को व्यवहार का विकल्प तथा पर्याय कभी मुख्य नहीं होती। समझ में आया ? पर्याय और राग गौण रहते हैं। अभाव नहीं, अभाव नहीं। वर्तमान पर्याय है, उसे गौण करके व्यवहार कहा है। अभाव करके व्यवहार नहीं कहा। अभाव नहीं। (यदि अभाव हो तो) तब तो पर्याय का नाश हो जाये। समझ में आया ?

सम्यग्दर्शन में भी मुख्य-गौण करके बात की है। भाई ने-पण्डित जयचन्दजी ने बहुत स्पष्टीकरण किया है। मुख्य बात है। गौण करके बात की है तो एकान्त नहीं ले जाना। भूतार्थ द्रव्य है और पर्याय वस्तु है ही नहीं, (ऐसा नहीं ले जाना)। समझ में आया ? यह तो मुख्य-गौण करके आत्मा में जाने के लिये और स्वाश्रय लेने के लिये बात की है। इसकी मुख्यता धर्मी को कभी नहीं छूटती। समझ में आया ? और व्यवहार की मुख्यता, सम्यग्दृष्टि को कभी नहीं होती। परन्तु व्यवहार होता अवश्य है। आहा..हा.. ! न हो तब तो वीतराग हो जाये अथवा मिथ्यादृष्टि हो जाये। व्यवहार है अवश्य।

देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा आदि भाव, पंच महाव्रत का भाव इत्यादि विकल्प होते हैं। पर्याय का भेद, वह सद्भूतव्यवहार है। पहला (राग आदि) असद्भूतव्यवहार है। व्यवहार है। बारहवीं गाथा में तो दोनों लिये हैं न? सद्भूत, वह पर्याय की शुद्धि बढ़े वह और अशुद्धता दोनों व्यवहारनय का विषय है। दोनों जाना हुआ प्रयोजनवान है - ऐसा कहा है। बारहवीं गाथा में दोनों प्रयोजनवान, ऐसा कहा है। शुद्धता का अंश जो बढ़ता है, वह भी ख्याल में रखना और अशुद्धता मिटकर अशुद्धता बाकी रही, उसका भी ख्याल रखना, इसका नाम वहाँ व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान कहने में आया है। गजब बात, भाई! झगड़ा.. झगड़ा। प्रभु! आहा..हा..! सीधा मार्ग, सरल मार्ग, सत्मार्ग। भगवान आत्मा, वहाँ दृष्टि लगा और वहाँ ज्ञान को लगा और वहाँ स्थिरता लगा, इतनी बात है। यह मुख्यरूप से कभी व्यवहार मुख्य नहीं होता। यहाँ दूसरी बात है।

यहाँ तो ज्ञानप्रधान का कथन है। अर्थ में यह लेंगे। भाई ने दूसरा थोड़ा लिया। देखो, **दही की मथानी की रस्सी को खेंचनेवाली ग्वालिनी की तरह जिनेन्द्र भगवान की जो नीति...** देखो! नीति शब्द है न? भाई! **जो नीति अर्थात् विवक्षा है वह वस्तुस्वरूप को एक नय-विवक्षा से खेंचती है,...** निश्चय से बात-नित्य आत्मा है... नित्य आत्मा है... शुद्ध आत्मा है। तब निश्चय की मुख्यता से कथन करते हैं। समझ में आया? पर्याय में अशुद्धता है। वह पर्याय अनित्य है, क्षणिक है, तो व्यवहारनय की बात करते हैं। व्यवहारनय से मुख्यता होती है। जानने में, जानने में। समझ में आया?

एक नय-विवक्षा से खेंचती है, दूसरी नय-विवक्षा से ढीला करती है... निश्चय को ढीला करना और व्यवहार को खींचना, यह बात यहाँ नहीं है। अमरचन्दभाई! यहाँ तो नित्य जो वस्तु है, द्रव्य शुद्ध है, पर्याय अशुद्ध है। द्रव्य नित्य है, पर्याय अनित्य है। द्रव्य एक है, पर्याय अनेक है। उसमें से एक बात करते हुए मुख्य को खींचते हैं और दूसरे को ढीली करते हैं और पर्याय की बात, अनेक अवस्था की बात करते हैं तो उसे मुख्य करते हैं और इसे ढीली करते हैं। ऐई.. धन्नालालजी!

श्रोता : ज्ञान में मुख्य गौण होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान में जानने में मुख्य-गौण होता है। समझ में आया?

श्रोता : ज्ञान में निश्चयनय को गौण करने का क्या अर्थ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नित्य को लक्ष्य में जानने की बात यहाँ है। जब पर्याय का ज्ञान करना

है तो नित्य को लक्ष्य में न लेना, नित्य को गौण रखना, ऐसी बात है। जानपने की बात है न! यहाँ श्रद्धा की बात नहीं है। वस्तु की सिद्धि में ज्ञान करने का प्रयोजन यह है। जानपना इतना। सम्यग्ज्ञान, वह श्रद्धा का आश्रय और ज्ञान है, यह बात अभी नहीं है। द्रव्य वस्तु नित्य है। एकान्त नित्य है, ऐसा नहीं। अनित्य को लक्ष्य में गौण करके मुख्य और नित्य का निश्चय करते हैं और अनित्य का मुख्य लक्ष्य करते हैं, तब लक्ष्य में नित्य को गौण कर देते हैं। जानने में (गौण कर देते हैं)।

श्रोता : यह ज्ञानप्रधान में है। सम्यग्दर्शन के विषय में खींचतान नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं है। यह बात है ही नहीं। यह बात यहाँ कहने में आती ही नहीं। यह तो पहले कह गये न, पहले १४वीं गाथा कह गये। आयी थी न ? देखो उसमें है न १४वीं गाथा। कहाँ है ? देखो,

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्।।१४।।

१४वीं गाथा। **'एवमयं कर्मकृतैर्भावै'** कर्म के निमित्त से हुए पुण्य-पाप के विकल्प जो हैं, और कर्म है तथा कर्म की सामग्री है। दो तरफ ले लेना। घातिकर्म है, उनके सम्बन्ध से रागादि हुए, अघातिकर्म है, उस सम्बन्ध से ये हुए। तीनों चीज उनसे **'असमाहितो'** भगवान आत्मा उनसे रहित है, रहित है। राग से, आस्रव से, अजीव से, कर्म से, शरीर से, बाह्य की सामग्री से (रहित है) **'असमाहितो युक्तः इव प्रतिभाति'** परन्तु मैं सहित हूँ ऐसा प्रतिभास है। **'बालिशानां'** अज्ञानी को जो भास है वह **'स खलु भवबीजम्'** वह भव का बीज मिथ्यात्व है। समझ में आया ?

श्रोता : नहीं, ऐसा भास नहीं हुआ ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। नहीं, उसमें है का भास हुआ। है नहीं। रागादि **'असमाहितो'** रागादि और पर से रहित है। सहित भासित होता है, वह मिथ्यादृष्टि है। **'भवबीजम्'** समझ में आया ? क्योंकि आस्रवतत्त्व, अजीवतत्त्व और ज्ञायकतत्त्व तीनों तो भिन्न है। अतः ज्ञायकतत्त्व, आस्रव और अजीवतत्त्व सहित है ही नहीं। है ही नहीं, उसे सहित मानना, वह **'बालिशानां'** अज्ञान, भव का बीज है। चार गति में भटकने का बीज है। व्यवहाररत्नत्रय राग है। रागसहित आत्मा को जानना... समझ में आया ? वह मिथ्यादृष्टि है। गजब बात, भाई! वीतरागमार्ग...

श्रोता : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : बुद्धि... साला जितनी है। ऐसा कहते हैं। उस साला की बात थी न, दो वर ले आया, ऐसा कहते हैं। दो वर की बात आती है। यह बात नहीं सुनी ? एक था साला-बहनोई, फिर उसकी बहिन कहे, परन्तु मेरे भाई को तुम कुछ काम सौंपते नहीं। भाई! वह बराबर सौंपने योग्य नहीं है। परन्तु सौंपो तो सही। कि भाई! तब अपनी कन्या की सगाई कर आओ, जाओ। एक की दो सगाई कर आया। बीस वर्ष का (वर) खोजना, तो दस-दस वर्ष के दो ढूँढ़कर ले आया। समझ में आया ? यह बातें मैंने संसार में सुनी हुई है। यहाँ तो बहुत सब सुनी हुई है न ? ६० वर्ष पहले, ६५ वर्ष पहले बात सुनी है। कि भाई! ऐसे एक बात संसार में चलती है। यह गारियाधार में सुनी थी। गारियाधार है न यहाँ ? वहाँ (सुनी थी) साला को काम सौंपा, उसकी बहिन को बहुत भाव हुआ कि तुम मेरे भाई को कुछ काम नहीं सौंपते और तुमने एक ओर ठोठ विद्यार्थी की तरह बैठा रखा है। अरे! उस तेरे भाई को रहने दे न ठीक से ऐसा का ऐसा। परन्तु कुछ सौंपो तो सही। कुछ काम करेगा। उसका शरीर बहुत अच्छा है। कहा - तब जाओ, अपनी भानेज की सगाई कर आओ कहीं। ठीक सा सुन्दर बीस वर्ष का युवक खोजना। यह चौदह वर्ष की है। फिर वहाँ जाकर दस-दस वर्ष के दो ढूँढ़ लाया। ऐसी बात तब सुनी थी।

श्रोता : बीमार पड़ा तो वैद्य को बुलाने को कहा, वह तो कफन साथ में लेकर आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, दो काम कर आया, वह मूर्ख। कहो, समझ में आया ? ऐसा नहीं, भाई! यहाँ तो जैसा स्वरूप है, उस प्रकार से उसे समझना चाहिए। खण्ड-खण्ड नहीं कर डालना चाहिए। उस बीस के खण्ड करके यहाँ दो कर दिये। संसार में सब चलता है।

यहाँ कहते हैं **'एकेन आकर्षन्ती इतरेण श्लथयन्ती'** ढीली करे। **'वस्तुतत्त्वं एकेन'** देखो! अन्त अर्थात् एक धर्म। आत्मा को द्रव्यार्थिकनय से सिद्ध करना हो तो द्रव्य है, नित्य है - ऐसा सिद्ध करते हैं और पर्याय से सिद्ध करना हो तो उत्पाद-व्यय, समय-समय की पर्याय को सिद्ध करते हैं, तो उत्पाद-व्यय को सिद्ध करने में पर्याय की मुख्यता करके द्रव्य को गौण करते हैं। एक साथ दोनों का ज्ञान नहीं होता, इस कारण (ऐसा करते हैं)। और जब द्रव्य नित्य है, ऐसा ज्ञान कराते हैं तो पर्याय को गौण कर देते हैं, शिथिल कर देते हैं। एक ओर खींचे तो दूसरी ओर ढीला। यह ग्वालिन मक्खन निकालती है। समझ में आया ?

जिनेन्द्र भगवान की जो नीति अर्थात् विवक्षा है, वह वस्तुस्वरूप को एक नय-विवक्षा से खेंचती है, दूसरी नय-विवक्षा से ढीला करती है, वह अन्ते अर्थात् दोनों

विवक्षाओं से जयवन्त रहे। अथवा एक-एक धर्म से जिस नय से बात कहनेवाली है, वह जयवन्त रहो। नित्य द्रव्य से नित्य कहते हैं, वह भी जयवन्त रहो, पर्याय से अनित्य कहते हैं, वह भी जयवन्त रहो। एक-एक धर्म को बतानेवाला नय है, वह जयवन्त रहो। समझ में आया?

श्रोता : पर्याय का स्थान बदल जाये न?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय का स्थान नहीं बदलता। है, ऐसा ख्याल रह जाता है। है, ऐसा स्थान होता है। आश्रय करनेयोग्य है, यह तो प्रश्न है ही नहीं। यहाँ तो ज्ञान की बात है। दुनिया एकान्त मानती है। वेदान्त आत्मा को एकान्त कूटस्थ मानता है, यह मिथ्या है और बौद्ध एकान्त क्षणिक मानता है, यह मिथ्या है। इसलिए यहाँ बात की है। स्वभाव नित्य सिद्ध करने में पर्याय को गौण करना, पर्याय को सिद्ध करने में ज्ञानी को एकसाथ लक्ष्य नहीं जाता। द्रव्य को गौण करके पर्याय को मुख्य करना। किसी को छोड़ना नहीं। समझ में आया? यह लिखते हैं, देखो।

भगवान की वाणी स्याद्वादरूप अनेकान्तात्मक है। वस्तुस्वरूप का निरूपण प्रधान तथा गौणनय की विवक्षा से... देखो! प्रधान कहो या मुख्य कहो। **गौणनय की विवक्षा से करने में आता है।** परन्तु इस प्रकार से, हों! जानने में। नित्य-अनित्य, एक-अनेक, शुद्ध-अशुद्ध, भेद-अभेद ऐसा ज्ञान करना। **जैसे कि जीवद्रव्य नित्य भी है और अनित्य भी है।** देखो! **द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा से नित्य है और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से अनित्य है, यही नय-विवक्षा है।**

ग्रन्थ पूर्ण करते हुए आचार्य महाराज अपनी लघुता बताते हैं:- वास्तव में तो वे कर्ता नहीं, ऐसा बताते हैं। लघुता तो... समझ में आया? इस ग्रन्थ के शब्द मैंने नहीं बनाये। आहा..हा..! ये वापिस ऐसा अर्थ करते हैं, लघुता बताते हैं, उसका क्या अर्थ करते हैं? कि अहंकार नहीं करना, कर सकता है। इसके लिये... वे इसमें से लघुता में से निकालते हैं। उसमें लघुता लिखा है न? कलश-टीका में राजमलजी ने लघुता लिखा है। लघुता अर्थात् अपना निर्मानपना रखना, अभिमान नहीं करना। इस प्रकार पर को मार सकता है, बचा सकता है, सुखी-दु:खी कर सकता है—ऐसा अहंकार नहीं करना। यहाँ कहते हैं कि यह तेरी बात ही मिथ्या है। पर को मार नहीं सकता, बचा नहीं सकता, सुखी-दु:खी नहीं कर सकता। मैं सुखी करता हूँ, यही मिथ्यात्व का अहंकार है। समझ में आया? यहाँ कहते हैं।

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः।।२२६।।

आहा..हा..! देखो! शब्दों ने यह पवित्र शास्त्र बनाया है, मैंने नहीं। आहा..हा..!

स्वामी अमृतचन्द्र महाराज ग्रन्थ पूर्ण करते हुए अपनी लघुता बताते हैं और कहते हैं कि यह ग्रन्थ मैंने नहीं बनाया। तो फिर किसने बनाया है?–तो कहते हैं कि अनेक प्रकार के स्वर, व्यंजन, वर्ण अनादि काल के हैं... 'सिद्धो वर्ण समामनाय:' यह मोक्षमार्गप्रकाशक का पहला बोल है। पहला बोल है न? ऐसा कहते हैं, शब्द तो वे हैं परन्तु जैसे मोती तो ऐसे के ऐसे हैं, परन्तु कोई मोती यहाँ रखे, यहाँ रखे। रखे का अर्थ कि कोई कहीं रचने में निमित्त हो, कोई कहीं रचने में निमित्त, ऐसा। ऐसे कि ये पद तो हैं परन्तु इस पद में कोई आचार्य एक-साथ रचते हैं, अमुक शैली में रचने में निमित्त हूँ ऐसा। यह कहीं आत्मा रच सकता है, ऐसा भी नहीं है।

वर्ण की आम्नाय अनादि से है। कैसी भाषा बोली जाती है, यह भाषा पर्याय में होना यह अनादि से है। आत्मा नया नहीं बना सकता। आहा..हा..! पहले कहा था न? पहले जब हम विद्यालय में गये थे। (संवत्) १९५२-५३ का वर्ष होगा। संवत् १९५२-५३। तब हमें खबर है। पहले अध्यापक ने हमें ऐसा सिखाया। सीखो। क्या? 'सिद्धो वर्ण समामनाय:' मैंने कहा यह क्या करते हैं? अपने को एक (अंक स्वर-व्यंजन) भी आता न हो। ऐ... तुम्हारे था या नहीं तब? खबर नहीं? यहाँ तो बराबर खबर है। यह मोक्षमार्गप्रकाशक में है। ग्रन्थ की प्रामाणिकता। देखो! 'सिद्धो वर्ण समामनाय:' वर्ण के उच्चारण का सम्प्रदाय स्वयंसिद्ध है। अक्षर की ध्वनि की पर्याय उठना, वह स्वयंसिद्ध है। आत्मा कर्ता-हर्ता नहीं है। आहा..हा..!

श्रोता : शुरुआत से ही ऐसा हाथ में आया?

पूज्य गुरुदेवश्री : पहला शब्द आया। मुझे बराबर याद है। जब याद आवे, तब पहले आया था। यह अन्दर याद आता है। बराबर ख्याल है। बहुत छोटी उम्र लगभग छह वर्ष की होगी। परन्तु बराबर जब मैंने याद किया तब अ.. हो...

श्रोता : अध्यापक को तो खबर होगी न?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसने सिखाया था, भाई! 'नथु' मास्टर था बेचारा। गरीब व्यक्ति था, नथु मास्टर। उसे एक लड़का मणिलाल था, अविवाहित। हम यह ले जायें। सीधा अथवा आटा दें, वह खाये। उसे कोई वेतन-वेतन नहीं होता। आटा ले जाये और कोई विवाह हो, मृत्यु हो तो सीधा (भेंट में दी जानेवाली खाद्य सामग्री) दें। बस, पहले इतने पर ही निभाव था, भाई! न्यालभाई! गाँव के मास्टर का निभाव इस पर था। पैसे-वैसे का कुछ नहीं था।

श्रोता : एकान्त मनुष्यों की, तब सरकारी स्कूल नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। यह तो धूलीशाला, यह तो धूलीशाला की बात है। एकदम धूलीशाला। पहले धूल में लिखावे। धूल में लिखावट लिखे। अंक लिखावे ऐसे घोंटे तो इतना मोटा हो। यह सब खबर है। हाथ का घुमाव (मोड़) न आवे तो मास्टर हाथ पकड़कर (ऐसा करावे)। यह सब खबर है, हों! इतना मोटा। देखो! ऐसा लिखा।

वर्ण के उच्चारण का सम्प्रदाय स्वयंसिद्ध है और **तथा उन अक्षरों से उत्पन्न सत्य अर्थ के प्रकाशक पदों के समूह का नाम श्रुत है...** मिला। अक्षरों से उत्पन्न सत्य अर्थ के प्रकाशक। वास्तव में तो ऐसा है कि जब जो भाषा पर्याय होनी हो, शब्द पर्याय। पूर्व की पर्याय भाषा में उपादानता ऐसी है। शब्दवर्गणा में पहली पर्याय में ऐसी उपादानता है कि फिर उसका उत्तरी भवन... उत्तरी भवनं, यह भाषा की पर्याय में उपादान है, वह पलटकर शब्द पर्याय हो जाती है। यह आत्मा कारण-फारण नहीं है। समझ में आया? भाषावर्गणा में, यह जो भाषावर्गणा अन्दर है, उस भाषावर्गणा में शब्द होने की पर्याय पहले उसमें उपादानता ऐसी है। वह उपादान-पर्याय पलटकर भाषा हो जाती है। आत्मा से नहीं।

श्रोता : परन्तु आत्मा संग में न हो तो क्यों नहीं होती?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आत्मा संग में है नहीं।

श्रोता : परपदार्थ संग में कहाँ से आया?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाषा को स्पर्श किया है? आत्मा भाषा को स्पर्श करता है? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श ही नहीं करता।

श्रोता : स्पर्श नहीं करता परन्तु साथ में तो रहता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : साथ में रहता है, इसका अर्थ क्या? साथ में तो छहों द्रव्य हैं। एक आकाश के प्रदेश में छहों द्रव्य हैं। एक आकाश प्रदेश है न यहाँ? जीव के अनन्त प्रदेश हैं। परमाणु के अनन्त प्रदेश हैं। धर्मास्तिकाय का एक है, अधर्मास्तिकाय का एक है, काल का एक है। समझ में आया? है तो क्या हुआ? किसी को स्पर्शता नहीं। समयसार की तीसरी गाथा में आया है न? **'एयत्तणिच्छयगदो'** कोई द्रव्य किसी द्रव्य को कभी भी स्पर्श नहीं करता। प्रत्येक पदार्थ अपने गुणधर्म को स्पर्श करता है। परस्पर अपने गुणधर्म को स्पर्श करता है परन्तु परस्पर एक द्रव्य को कभी भी स्पर्श नहीं करता। आहा..हा..! देखो! समझ में आया? **सत्य अर्थ के प्रकाशक पदों के समूह का नाम श्रुत है...** बाकी मोती का दृष्टान्त दिया है। उसमें

भी यह न्याय है, मोती है परन्तु मेरे निमित्त में जो कोई मोती ऐसे रचने में आनेवाले हैं न, भाई! उस प्रकार से यह निमित्त आया। किसी के दूसरे प्रकार से रचने के हों। यह हेतु जरा अन्तर डालते हैं। कहो, समझ में आया?

कहते हैं, मैंने तो कुछ किया नहीं। अर्थात् आत्मा में स्व-पर प्रकाशक शक्ति है। अपने को जाने, राग को जाने, होती हुई क्रिया को जाने। शब्द में स्व-पर स्वरूप कहने की ताकत है। समझ में आया? बड़ी गड़बड़ी। हम बोलते हैं, हमने शब्द बनाये। अरे... मिथ्यात्व है, भाई!

श्रोता : मोक्षमार्गप्रकाशक में स्पष्ट लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : समझ में आया? परन्तु यहाँ तो ये शब्द स्पष्ट हैं न? मैं बोला, मैं बोलता हूँ, मैं बराबर धारावाही उपदेश दे सकता हूँ। भगवान! यह तेरी चीज़ नहीं है। जुगराजजी!

श्रोता : यह तो वर्ण की समामनाय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो उसकी आमनाय है भाई! भगवान! एक परमाणु, ऐसे अनन्त परमाणु मिलकर स्कन्ध बनते हैं और स्कन्ध में से शब्द-पर्याय उत्पन्न होती है। वह कहीं आत्मा से है? आत्मा उसका कर्ता है? आहा..हा..! प्रतिक्षण मैं बोलूँ, वैसा बोला जाता है। भाई! ऐसा नहीं, प्रभु! वह भाषा की पर्याय, भाई! उसके कारण से होती है, आत्मा के कारण से नहीं। आहा..हा..! समझ में आया? लघुता नहीं परन्तु यथार्थता बताते हैं। मैंने कुछ नहीं किया।

कहते हैं कि यह ग्रन्थ मैंने नहीं बनाया। भाषावर्गणा। तेईस प्रकार की वर्गणायें हैं न? परमाणु के समूह तेईस प्रकार के हैं। उसमें जो भाषावर्गणा है, उसमें ही शब्द बनने की पूर्व पर्याय में उपादानता है। मनोवर्गणा में नहीं, श्वास वर्गणा में नहीं, आहार वर्गणा में नहीं। आत्मा में तो कहाँ से होगी? समझ में आया? यह होंठ हैं न होंठ? वह भी उसकी पूर्व पर्याय से भाषा होती है, ऐसा नहीं है। यह जो है, इसकी पूर्व पर्याय से इसकी उत्तर पर्याय होती है। भाषा की पर्याय इस कारण से उत्पन्न होती है, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहा..हा..! आत्मा से भाषा होती है? कितना अभिमान?

मैं उपदेशक हूँ, मैं ऐसा उपदेश करता हूँ। भगवान! उपदेश की भाषा तो जड़ की है न प्रभु! तू कहाँ उसका मालिक हो गया? जड़ का स्वामी हुआ। भाई! इस प्रकार से वस्तु नहीं है। आहा..हा..! रामचन्द्रजी! समझ में आया? भाषा आत्मा नहीं कर सकता, ऐसा कहते हैं। यह शरीर से ऐसा होता है, वह (आत्मा से) नहीं। इस शरीर से ऐसा होता है, वह इसकी पूर्व

पर्याय उपादान से होता है, आत्मा से नहीं। आहा..हा.. ! समझ में आया ? कहते हैं कि मैंने तो पुरुषार्थसिद्धि-उपाय बनाया नहीं। आहा..हा.. ! अरे, पोपटभाई ! यहाँ तो थोड़ा काम करे तो कहे, मैंने बनाया, मैंने बनाया, वहाँ मैं उपस्थित था, इसलिए काम हुआ।

श्रोता : देखरेख तो रखे न !

पूज्य गुरुदेवश्री : देखरेख उसकी पर्याय में रही। वहाँ बाहर में देखरेख कहाँ रहती है ? बाहर की पर्याय तो जो होनेवाली है, वह तो पूर्व पर्याय के उपादान से (होती है)। निश्चय से तो वह पर्याय उस पर्याय के कारण से होती है। मोक्ष में भी जो कहा है कि पूर्व की पर्याय से मोक्ष हुआ है, वह भी एक व्यवहार की बात है। और मोक्ष की पर्याय से तो नहीं, परन्तु द्रव्य के कारण से हुआ, वह भी अपेक्षित भाव है। वर्तमान मोक्ष की पर्याय स्वयं से हुई है। ऐई ! अरे ! वीतराग का मार्ग तो देखो !

कहते हैं कि इस भाषावर्गणा में हमारा काम बिल्कुल नहीं। प्रवचनसार में लिया है न, हे जनो ! शब्दवर्गणा भाषारूप परिणमती है न ? मैंने बनाया नहीं। इसमें बहुत विशेष स्पष्ट किया है। प्रवचनसार में है न ? वास्तव में पुद्गल स्वयं शब्दरूप परिणमते हैं। आत्मा उन्हें परिणमित नहीं कर सकता। आहा..हा.. ! आत्मा यह होंठ हिला सकता है, हाथ हिला सकता है, ऐसा तीन काल में नहीं है। तत्त्व की खबर नहीं कि क्या तत्त्व है ? इसी प्रकार वास्तव में सर्व पदार्थ तो स्वयं ज्ञेयरूप से परिणमते हैं। अपनी पर्यायरूप से। शब्द उन्हें ज्ञेय बनाकर समझा नहीं सकते। इस शब्द की पर्याय से इसमें ज्ञान नहीं होता। शब्द को सुननेवाले को (शब्द से) ज्ञान नहीं होता, ऐसा कहते हैं। उसके ज्ञान की पर्याय से ज्ञान होता है। आहा..हा.. ! शब्द से नहीं। शब्द को आत्मा कर नहीं सकता। शब्द, ज्ञेय की पर्याय को कर नहीं सकता। आहा..हा.. !

आत्मा सहित विश्व वह व्याख्येय (समझाने योग्य) है, वाणी का गुंथन, वह व्याख्या है और अमृतचन्द्रसूरि वे व्याख्याता हैं, इस प्रकार जन मोह से मत नाचो। (प्रवचनसार, कलश २१) मैंने नहीं किया, भगवान ! यह वाणी मेरी नहीं। वह तो अनादि शब्द की परिणति है, उससे बनता है। मेरा कुछ कार्य नहीं। **स्याद्वादविद्याबल से विशुद्ध ज्ञान की कला द्वारा इस एक समस्त शाश्वत स्वतत्त्व को प्राप्त करके आज (जन) अव्याकुलरूप से नाचो (-परमानन्दपरिणामरूप परिणत होओ।)** (प्रवचनसार, कलश २१) अव्याकुलरूप से परिणमो। मैं ज्ञातादृष्टा हूँ। समझ में आया ? मैं तो राग का भी कर्ता नहीं और वाणी का भी कर्ता नहीं। भगवान ! ऐसा निर्णय करके ज्ञानरूप परिणम जाओ। पर के परिणमन का अभिमान न करो। मिथ्यात्व छोड़ दो, नहीं तो तुम्हें बहुत नुकसान होगा। भाषा तो भाषा की

तरह से परिणमित होगी परन्तु मैंने परिणमाया है, मैंने किया है, मैंने ऐसा किया है, ऐसा बोलते हैं न कितने ही ? मैंने उसे ऐसे समझाया, ऐसे समझाया, परन्तु तू समझानेवाला कौन ? इतना सब अभिमान ! मैंने ऐसे समझाया, इसलिए ठीक है । मैंने ऐसा किया मैं... मैं... जहाँ-तहाँ भाषा का अभिमान है । समझ में आया ? कहते हैं कि मैंने नहीं बनाया ।

स्वर, व्यंजन, वर्ण अनादि काल के हैं, उन वर्णों से पद अनादि के हैं तथा पदों से वाक्य बनते हैं और उन वाक्यों ने यह पवित्र शास्त्र बनाया है, हमने कुछ भी नहीं बनाया। आहा...हा.. ! समझ में आया ? ऐसा वस्तु का स्वरूप है, प्रभु ! एक-एक परमाणु की पर्याय स्वयं से होती है तो अनन्त परमाणु की भाषावर्गणा की पर्याय आत्मा किस प्रकार कर सकता है ? ईश्वरकर्ता कहनेवाले ऐसा कहते हैं कि ईश्वर पर को करता है । जैन ऐसा कहें कि हम वाणी के कर्ता हैं, दोनों समान मिथ्यादृष्टि हैं । दोनों एक वर्ग में बैठनेवाले हैं । इसलिए ऐसा कहते हैं कि यह शास्त्र मैंने नहीं बनाया । वाणी से बना है, ऐसे समझो, समझने से तुम्हें लाभ होगा, हमें कुछ नहीं । (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

२५

श्री समयसार कलश टीका, कलश-२६४, प्रवचन - ५१९
दिनांक - २२-०९-१९७७

कलश-टीका, साध्य-साधक अधिकार। कलश-टीकाकार ने यहाँ से साध्य-साधक अधिकार शुरु किया है। (वैसे तो) साध्य-साधक अधिकार दो कलश के बाद २६६ से शुरु होगा। २६४ कलश। २६४ और २६५, यह अधिकार अनेकान्त का है। जो यह शक्तियों का वर्णन किया न? ऐसा अनेकान्त का वर्णन है। उस अनेकान्त में से दो श्लोक हैं, परन्तु टीकाकार ने उन्हें साध्य-साधक में डाला है। बाकी अनेकान्त यहाँ २६५ कलश में पूरा होता है। २६६ से उपाय-उपेय, साध्य-साधक से २६६ से शुरु होता है। यहाँ उन्होंने यह किया है।

इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्भरोऽपि
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः।
एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं
तद्द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्ति वस्तु।।१-२६४।।

अन्तिम शक्ति आयी न? स्वस्वामीसम्बन्धशक्ति। इत्यादि-ऐसा करके। है तो अनन्त शक्तियाँ परन्तु वर्णन ४७ शक्ति का किया। अनन्त शक्ति का वर्णन करे तो कहीं पार नहीं आता। इसलिए ४७ शक्ति का किया। दूसरे ग्रन्थों में है। ऐसा करके लगभग ५४ शक्तियाँ हैं। परन्तु दो, चार शक्ति वह की वह होगी।

यहाँ कहते हैं कि स्वस्वामीसम्बन्धशक्ति अन्तिम है। उसका अर्थ यह कि आत्मा शुद्ध विज्ञानघन वीतरागस्वरूप है। उसकी दृष्टि करने से, उसका अनुभव करने से जो पर्याय में शुद्धता, आनन्द का भाव आता है, उस पर्यायसहित, गुणसहित पूरे समुदाय को आत्मा कहते हैं। क्या कहा? स्वस्वामीसम्बन्ध कहा न? तो जो द्रव्य आत्मा है, और उसमें अनन्त गुण-शक्ति है। उसमें अन्तिम शक्ति को स्वस्वामीसम्बन्धशक्ति कहा। उसके साथ स्वस्वामीसम्बन्धशक्ति साथ में है। अर्थात् आत्मा चिदानन्द भगवान में अनन्त शक्तियाँ हैं, वे अक्रम हैं और परिणमन है, वह क्रम है। यह क्रम परिणमन यहाँ निर्मल लेना है, मलिन नहीं। क्योंकि मलिन परिणाम

ज्ञाता का परज्ञेयरूप से सम्बन्ध है और निर्मल पर्याय, निर्मल गुण और निर्मल द्रव्य का स्व-रूप से स्व-स्वामी सम्बन्ध है। आहाहा! ऐसी बात है। समझ में आया?

भगवान आत्मा... आज उस दरबार का पत्र आया है। हरिसंग दरबार आते हैं न? यहाँ आता है। यहाँ बैठता है। अभी गये। यहाँ बैठता है। उसका पत्र आया है कि मुझे वहाँ धंधुके बुलाया था। धंधुका रामविजय का कोई शिष्य है, श्वेताम्बर। वहाँ बुलाया था। फिर उन्होंने मुझसे पूछा कि तुम सोनगढ़ जाकर क्या ले आये? सोनगढ़ तुमने क्या सीखा? ऐसा उस शिष्य ने पूछा। भाई! पत्र है। वहाँ पड़ा है न, अन्दर? तब उसने कहा कि भाई! वहाँ तो ऐसा कहते हैं... वह गरासिया है। गरासिया (जमींदार) दरबार। यहाँ बैठता है। गरासिया का गाँव है। अपने तो पच्चीस हजार का आसामी समझते थे परन्तु लोगों ने वहाँ इतना कहा कि दरबार! तुम्हें पचास हजार की आमदनी थी, वह सोनगढ़ जाने लगे, तब से दो लाख की आमदनी हुई। एक तो यह लिखा है।

दूसरा, तुम वहाँ गये तो क्या सीखे? तो दरबार ने कहा... सादा व्यक्ति है। वहाँ वापस बैठता है। वहाँ तो ऐसा कहते हैं कि आत्मा भगवानस्वरूप है, वीतरागस्वरूप है। उसकी प्राप्ति कोई राग से नहीं होती। कोई भी राग है, वह घातक है। अत: राग से नहीं परन्तु वीतरागभाव से आत्मा का भान होता है। ऐसा वहाँ सोनगढ़ में कहते हैं। ऐसी कितनी ही बातें उसने की हैं। तब लोगों ने बहुत प्रसन्नता बतायी। भाई! ऐसा है अन्दर। सब श्वेताम्बर सेठिया थे, साधु थे, उन सबने प्रसन्नता बतलायी। उसे अभिनन्दन दिया। अभिनन्द अर्थात् हम तुम्हें अभिनन्दन करते हैं कि ओहो! तुम इस प्रकार से दरबार गरासिया होकर वहाँ जाते है। इस प्रकार तुम सीखे। ऐसा मार्ग तो वहाँ है।

आत्मा वीतरागस्वरूप है, अनन्त शक्तियाँ वीतरागस्वरूपी है। आहाहा! वह स्वस्वामीसम्बन्धशक्ति भी वीतरागी शक्ति है, तो उस वीतरागी शक्ति को धरनेवाला द्रव्य, वह शक्ति / गुण और उसकी प्रतीति, अनुभव करने से पर्याय में जो शुद्धता, आनन्द, ज्ञान-दर्शन आता है, वह पर्याय। वह पर्याय क्रमवर्ती, गुण अक्रमवर्ती, उसका समुदाय वह आत्मा। यहाँ प्रमाण का विषय बतलाना है, यहाँ निश्चयनय का विषय अकेला बताया नहीं है। समझ में आया? निश्चयनय का विषय तो अकेला द्रव्यस्वरूप अभेद है। परन्तु अभेद में से अभेद का भान हुआ तो परिणति में जो निर्दोष सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुआ, उस परिणतिसहित आत्मा को यहाँ प्रमाण का ज्ञान कहा है। समझ में आया? वह शुद्ध परिणति हुई वह, गुण और द्रव्य—

तीनों स्व है और उस स्व का स्वामी आत्मा है, वह पर्याय स्वामी है। तीनों की। आहाहा! स्वस्वामीसम्बन्ध अपने द्रव्य-गुण और पर्याय के साथ स्व और स्वामी का सम्बन्ध है। आहाहा!

अकारणकार्य शक्ति में भी... आत्मा में अकार्यकारण नाम का गुण है। जिस प्रकार स्वस्वामीसम्बन्ध कहा, उसी प्रकार अकारण में महा सिद्धान्त है कि जो अकार्यकारण नाम का गुण है, वह गुणी जो आत्मा, उसके आश्रय से है। जब उस द्रव्य का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि (प्रगट) हुए तो उस पर्याय में राग व्यवहाररत्नत्रय का, वह पर्याय कारण नहीं और वह पर्याय व्यवहाररत्नत्रय का कार्य नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। समझ में आया? अकार्यकारण शक्ति पहले आ गयी है। इस स्वस्वामीसम्बन्ध में अकार्यकारण शक्ति का भी रूप है और अकार्यकारण शक्ति में भी स्वस्वामीसम्बन्ध का रूप है। आहाहा! कहते हैं कि अपना द्रव्यस्वभाव ज्ञायक, उसमें अनन्त शक्तियाँ पड़ी हैं। उसका जब सम्यग्ज्ञान, भान होता है, उस ओर ढलने पर वर्तमान ज्ञान की पर्याय निर्मल सम्यक् प्रगट होती है, वह पर्याय स्व है और वह पर्याय राग का कार्य नहीं।

व्यवहाररत्नत्रय राग है। उसकी यह निर्मल पर्याय स्वद्रव्य के आश्रय से हुई तो वह निर्मलपर्याय जो मोक्ष का मार्ग, वह व्यवहाररत्नत्रय का कारण नहीं और व्यवहाररत्नत्रय का कार्य नहीं। आहाहा! ऐसी बात स्पष्ट है। परन्तु लोगों को... वे लोग भी प्रसन्न हो गये। श्वेताम्बर लोग। 'धंधुका-धंधुका' हैं! गजब बात, भाई! तुम दरबार होकर... तुम्हें तो यह लाभ मिला परन्तु तुमको तो पचास हजार की आमदनी थी और सोनगढ़ जाने के बाद दो लाख की हुई। ऐसा कहते हैं। अपने को अभी तक पच्चीस हजार की खबर थी। जमींदार है, पच्चीस हजार का आसामी है। परन्तु ऐसा डाला है अन्दर। पत्र आया है। अरे! भगवान! इस आत्मा की लक्ष्मी प्राप्त, वही धन है। बाहर की धूल हो, दो लाख हो या करोड़ हो... आहाहा! वह कहाँ इसकी थी? यहाँ तो राग भी आत्मा का नहीं है।

श्रोता : अधूरी पर्याय भी आत्मा की नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अधूरी पर्याय, वह तो स्व में यहाँ लेनी है। अपूर्ण पर्याय, वह भी स्व में लेनी है। दृष्टि के विषय में नहीं परन्तु यहाँ स्वस्वामीसम्बन्ध में जितनी निर्मल पर्याय उत्पन्न हुई, वह अपने में—स्व में है, ऐसा लेना है। आहाहा! दृष्टि के विषय में वह पर्याय निर्मल हो अपूर्ण या पूर्ण, वह द्रव्य के विषय में—समकित के विषय में नहीं आती। परन्तु यहाँ तो प्रमाण का विषय बनाना है। सूक्ष्म बात है, भाई!

वर्तमान में जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वद्रव्य के अवलम्बन से प्रगट हुए, वह पर्याय स्व, गुण स्व, द्रव्य स्व। उनका स्वामी। स्व का स्वामी। समझ में आया? तो राग-व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प होता है, परन्तु वह स्व नहीं है और धर्मी उसका स्वामी नहीं है, आत्मा उसका स्वामी नहीं है। आहाहा! विकल्प राग है। आहाहा! समझ में आया? स्वस्वामीसम्बन्ध में अकार्यकारणपना उसमें है। जिसके कारण से व्यवहार विकल्प जो राग है, उसका निर्मल पर्याय कार्य है—ऐसा भी नहीं और मलिन पर्याय है, उसकी निर्मल पर्याय कारण है, ऐसाभी नहीं। ऐसी बातें हैं। आहाहा! वीतराग मार्ग है, भाई! आहाहा! ऐसी चीज़ सर्वज्ञ के अतिरिक्त, वीतराग के अतिरिक्त कहीं नहीं है। यह आगे कहेंगे। सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा हुआ है। यह आगे कहेंगे। **'जिननीतिमलंघयन्तः'** २६५ है न? २६५। उसमें कहते हैं।

'जिननीतिम' केवली का कहा हुआ जो मार्ग। 'जिननीतिम' है। चौथी पंक्ति है। २६५ की चौथी पंक्ति। **'जिननीति'** २६५ की चौथी लाईन। नीचे। **'जिननीति' 'जिननीति'** नीचे-नीचे। इससे नीचे। नीचे, चौथी लाईन। **'जिननीति'** यह नहीं, यह नहीं। नीचे इसका अर्थ। चौथी लाईन का अर्थ। **'जिननीति'** सम्यग्दृष्टि जिननीति को उल्लंघन नहीं करते। आहाहा! समझ में आया? इसका अर्थ? कि जिननीति अर्थात् जिनेश्वर ने कहे हुए वीतरागी मार्ग, उसको उल्लंघन नहीं करते। वे राग से आत्मा का धर्म नहीं मानते और वीतरागी पर्याय में राग आता है, उसके ज्ञातारूप से रहते हैं। वह ज्ञाता की पर्याय स्व और स्वामी है। परन्तु राग का स्व और स्वामी आत्मा में है ही नहीं। आहाहा! लोगों को भारी सूक्ष्म पड़ता है। क्या हो? बापू! मार्ग अन्दर...

अत्यन्त शुद्ध चैतन्य वस्तु, उसमें वर्तमान में ज्ञान की पर्याय को सूक्ष्म, अन्तर में सूक्ष्म उपयोग करने से उसका द्रव्यस्वभाव ख्याल में आता है। आहाहा! द्रव्यस्वभाव असंख्य प्रदेश में पर्याय है। असंख्य प्रदेश में पर्याय है न? यह बात एक बार कही थी। यह ऊपर-ऊपर आत्मा की पर्याय है, यह जड़ की तो नहीं परन्तु असंख्य प्रदेश जीव के हैं, तो ऊपर-ऊपर की पर्याय, ऐसा नहीं। अन्दर यहाँ असंख्य प्रदेश हैं अन्दर, उन असंख्य प्रदेश में भी ऊपर पर्याय है। असंख्य प्रदेश में अन्तिम के एक क्षेत्र के अंश में पर्याय है। वह पर्याय ध्रुव में नहीं। यहाँ जीव के असंख्य प्रदेश हैं, तो ऊपर-ऊपर अर्थात् यह आत्मा के प्रदेश बाह्य हैं, इनके ऊपर पर्याय है, ऐसा नहीं। पूरे असंख्य प्रदेश में, अन्दर में पूरे असंख्य प्रदेश में, उन सबमें ऊपर पर्याय है और अन्दर में ध्रुव में नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। समझ में आया? क्या कहना है?

फिर से कहते हैं। पहले कहा था। थोड़े दिन पहले। ये भाई नहीं होंगे। यह शरीर नहीं। जैसे एक लोटा होता है न? पानी का लोटा। उसमें अन्दर पानी है। पानी का आकार लोटे के आकार होता है परन्तु लोटे के आकार के कारण से पानी का आकार नहीं है। लोटे का आकार भिन्न और पानी का आकार भिन्न है। ठीक! अब पानी के आकार की जो पर्याय है, वह आकृति बाहर से है, इतनी नहीं। अन्दर पानी के दल में जो ऊपर-ऊपर पर्याय है, वह उसकी आकृति है। बहुत सूक्ष्म, बापू!

अन्दर में ध्रुव... इन असंख्य प्रदेश में जो पर्याय है... देखो! यहाँ प्रदेश है न? यह नहीं। यह अंगुली नहीं। अन्दर असंख्य प्रदेश हैं। तो असंख्य प्रदेश में प्रत्येक प्रदेश में पर्याय ऊपर है। इन असंख्य प्रदेश में ऊपर की पर्याय है, ऐसा नहीं। इन असंख्य प्रदेश में प्रत्येक प्रदेश में ऊपर पर्याय है। आहाहा! यह तो ठीक। यह तो असंख्य प्रदेश में सब स्थान के ऊपर है। सूक्ष्म बात पड़े, भाई! यह तो मार्ग ऐसा है। कभी विचार किया नहीं। समझ में आया? देखो! यह है न? देखो! यह ऊपर-ऊपर की पर्याय है, तो यह पर्याय ऊपर की है, ऐसा नहीं। वहाँ अन्दर दल है न? उसके ऊपर पर्याय है। अन्दर दल है न? उसमें ऊपर पर्याय है। यह तो अनन्त परमाणु हैं। सबमें ऊपर-ऊपर की पर्याय है। बाह्य, अन्दर, यह, इन सबमें ऊपर है। इस ऊपर-ऊपर की पर्याय का ध्यान ध्रुव में जाना चाहिए। आहाहा! चन्दुभाई! पहले एक बार कहा था। पहले आ गया है। आहाहा! रात्रि चर्चा में आया था।

यह है न? ऊपर की पर्याय इतनी पर्याय है, ऐसा नहीं। अन्दर में दल जो है, उसमें भी ऊपर-ऊपर पर्याय है। वह ऊपर-ऊपर की सर्व प्रदेश पर्याय अन्दर ध्रुव में नहीं है। उस सब पर्याय को ध्रुव सन्मुख झुकाना। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! ज्ञान की पर्याय असंख्य प्रदेश में ऊपर है। उस पर्याय को अन्दर में ध्रुव (सन्मुख झुकाना)। प्रत्येक पर्याय के स्थान में अन्दर ध्रुव है। प्रत्येक पर्याय के स्थान में ध्रुव अन्दर है, तो प्रत्येक पर्याय को अन्दर ध्रुवसन्मुख झुकाना। शान्तिभाई! यह ऊपर-ऊपर पर्याय है, ऐसा नहीं। उसमें दल है न? उन सबमें ऊपर पर्याय है। यह ऊपर है, ऐसा नहीं। अन्दर जो अनन्त रजकण हैं, उन प्रत्येक रजकण के ऊपर पर्याय है। आहाहा! पर्यायदृष्टि छोड़ना और द्रव्यदृष्टि करना, उसका यह अधिकार है।

प्रत्येक प्रदेश में... वास्तव में तो प्रदेश का क्षेत्र भी भिन्न है, पर्याय का क्षेत्र भी भिन्न है। अरे! ऐसी बातें! असंख्य प्रदेश जो दल पूरा है, वह रजकण से भिन्न, राग से भिन्न और पूरे आत्मा के असंख्य प्रदेश के ऊपर जो पर्याय निर्मल है, वह पर्याय असंख्य प्रदेश में अन्दर में भी पर्याय

असंख्य प्रदेश में भिन्न है। अन्दर असंख्य प्रदेश हैं। यहाँ भी असंख्य प्रदेश हैं। असंख्य, इससे भिन्न। प्रत्येक प्रदेश में पर्याय भिन्न ऊपर है। अन्दर ध्रुव में नहीं। अरे! इस पर्याय का स्वामी। अन्दर में ढलने पर स्व निर्मल पर्याय होती है। वह अनादि काल की ऊपर की पर्याय मलिन है। और जितना उघाड़ है, उतनी निर्मल भी है, परन्तु अब जब वह मलिन पर्याय ऊपर है, उसे छोड़ देना। ज्ञान की जो पर्याय जो असंख्य प्रदेश में ऊपर में उघाड़ है, उस पर्याय को ध्रुव में झुकाना। ऐसी बातें।

श्रोता : .... समुद्र की लहर ऊपर-ऊपर है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऊपर-ऊपर नहीं, वह नहीं। अन्दर में सबमें है। मात्र ऊपर नहीं, समुद्र में अन्दर भी है। समुद्र में जो तरंगें उठती हैं, वह ऊपर का बाहर का भाग है, परन्तु वह पर्याय तो अन्दर समुद्र दल में भी है। पूरा ध्रुव जैसे पड़ा है, वैसे ध्रुव के ऊपर असंख्य प्रदेश में पर्याय पड़ी है। समझ में आया ? यह तो विषय (सूक्ष्म है)। एक बार रात्रि चर्चा हुई थी। रात्रि हुई थी।

यहाँ तो दूसरा कहना था। यह जो पर्याय है, उसके ऊपर जब तक दृष्टि है, तब तक वह मिथ्यादृष्टि है। पर्यायमूढा परसमया। समझ में आया ? आहाहा! उसमें भी आता है, 'चेतनरूप अनूप अमूरत सिद्ध समान सदा पद मेरो।' पर्यायबुद्धि नहीं। 'सवार्थ के साचे, परमार्थ के साचे... साचे साचे वेण कहे, साचे साचे जिनमति एक।' पर्यायबुद्धि नहीं, ऐसा आता है। 'ऋद्धि सिद्धि वृद्धि दिसे घट में प्रगट सदा।' पर्याय की बुद्धि नहीं। समकिती की पर्यायबुद्धि है नहीं। आहाहा! समझ में आया ? सूक्ष्म बात, भाई! अभी चलते विषय को लोगों ने बहुत स्थूल कर डाला। यह तो अन्दर में भगवान... आहाहा!

यह परमाणु तो भिन्न है। अन्दर जो प्रदेश है, असंख्य प्रदेश का दल है, वह ऊपर की पर्याय इतनी परन्तु वह असंख्य प्रदेश है, उसमें पर्याय ऊपर है। अभ्यास नहीं। यहाँ तो यह कहना है कि पर्याय ऊपर-ऊपर है और पर्याय ध्रुव में प्रवेश नहीं करती। यह कलश में आता है न ? भाई! पहले कलश में आता है। ऊपर-ऊपर पर्याय है, वह द्रव्य में प्रवेश नहीं करती। समझ में आया ? पहले (शुरुआत के) कलश में आता है। शुरुआत में। निर्मल पर्याय हो, मलिन पर्याय की तो यहाँ बात है ही नहीं; वह निर्मल पर्याय जो है, वह भी द्रव्यस्वभाव के ऊपर तैरती है। द्रव्यस्वभाव जो ध्रुव है, उसमें पर्याय का प्रवेश नहीं। आहाहा! समझ में आया ? कितना कलश है ?

श्रोता : अबद्धस्पृष्ट, ११वाँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : कैसा है बद्धस्पृष्ट आदि विभावभाव? 'स्फुटं' प्रगटरूप से उपजे हुए विद्यमान ही हैं तो भी ऊपर-ऊपर ही रहते हैं। ओहो! है? आहाहा! ऊपर-ऊपर रहते हैं। वे तो हैं परन्तु दूसरे में अन्दर प्रवेश नहीं करते, यह शब्द है। दूसरे में। ऊपर-ऊपर रहते हैं, वह आत्मज्ञान है न? यह कहीं विशेष है।

श्रोता : समयसार शास्त्र में ११वें श्लोक में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, उसमें होगा। यह ११वाँ कलश। बीच में है। **प्रतिष्ठा नहीं पाते, (पर्याय) क्योंकि द्रव्यस्वभाव तो नित्य है, एकरूप है और ये भाव अनित्य हैं, अनेकरूप हैं। पर्यायें द्रव्यस्वभाव में प्रवेश नहीं करती,...** ११वाँ कलश है। विशेष स्पष्ट इसमें कहा है। है? **पर्यायें द्रव्यस्वभाव में प्रवेश नहीं करती, ऊपर-ऊपर रहती है।** आहाहा! समयसार में तो पूरा... 'ग्रंथाधिराज तारामां भावो ब्रह्माण्डना भर्या' है। क्या कहते हैं?

यहाँ तो स्वस्वामीसम्बन्ध का अर्थ करना था। जो द्रव्य है, उसमें अनन्त शक्तियाँ है, उसमें स्वस्वामीसम्बन्ध नाम की शक्ति है। परन्तु उस शक्ति का जो शुद्ध परिणमन है, वह परिणमन ऊपर-ऊपर रहता है, ध्रुव में प्रवेश नहीं करता। तथापि वह ऊपर की पर्याय भी स्व है और आत्मा उसका स्वामी है। उसका स्वस्वामीसम्बन्ध है। आहाहा! और राग के साथ स्वस्वामीसम्बन्ध नहीं है। वह तो ज्ञान—ज्ञेय सम्बन्ध है। इसी प्रकार स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, देव, गुरु, शास्त्र... आहाहा! उनका आत्मा के साथ तादात्म्यसम्बन्ध नहीं परन्तु ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है। वे जाननेयोग्य हैं और आत्मा जाननेवाला है। बस, इतना। आहाहा! स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, देव, गुरु, शास्त्र भी परज्ञेयरूप से जाननेयोग्य है। मेरे माननेयोग्य वह चीज़ नहीं है। देव, गुरु, शास्त्र को भी मेरा मानना, ऐसा भी अन्दर नहीं है। उनके साथ तो ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है। आहाहा! शरीर, वाणी, मन, स्त्री, कुटुम्ब, धन्धा, व्यापार, पैसा, धूल... आहाहा! इनके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। प्रभु! यह तो पृथक्-भिन्न चीज़ है। आहाहा! सम्बन्ध होवे तो वह स्वस्वामीसम्बन्ध नहीं परन्तु ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध है, जाननेयोग्य है। आहाहा!

श्रीमद् ने एक दृष्टान्त दिया है कि एक गली हो, गली। उसमें पचास घर हैं। उस गली में इसका पच्चीसवाँ घर हो। देखने में तो पचासों ही घर ज्ञेयरूप से जानता है। उसमें यह घर मेरा, यह मेरा कहाँ से आया? गली में पचास घर थे, यह आत्मा जानता है कि ये हैं। ये हैं, इतना। उसमें यह मेरा, यह कहाँ से आया?

श्रोता : नया खड़ा किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : भ्रमणा से खड़ा किया। आहाहा! समझ में आया?

पचास लड़के हों। विद्यालय में साथ में पढ़ते हों न। उसमें इसका एक लड़का हो परन्तु वास्तव में तो पचास लड़के हैं, ऐसा ज्ञान में जानता है कि ये हैं... हैं... हैं... उनमें 'यह मेरा' ऐसा कहाँ से आया? आहाहा! समझ में आया? यह हसमुख वहाँ खड़ा हो तो कहे, यह मेरा... परन्तु कहाँ से आया मेरा? तेरा कहाँ से हो गया? एक साथ पचास लड़के खड़े हों तो जानता है। यह है.. है.. है.. है.. उनमें लड़कों में ऐसा स्वभाव है? अथवा ज्ञान में ऐसा स्वभाव है कि यह मेरे हैं? उसका ऐसा स्वभाव है कि यह मेरे हैं, ऐसा माने? और ज्ञान का ऐसा स्वभाव है कि यह लड़का मेरा है, ऐसा माने? आहाहा!

यह तो ठीक, परन्तु दया, दान, व्रत, भक्ति, भगवान के स्मरण का राग—यह राग भी यह मेरा, ऐसा स्वरूप में है ही नहीं। जैसे परज्ञेय है, वैसे राग भी परज्ञेयरूप से जाननेयोग्य है। आत्मा जाननेवाला और वह ज्ञेय, उसमें 'राग मेरा' यह आया कहाँ से? समझ में आया? ऐई! शान्तिभाई! भ्रमणा खड़ी की है। आहाहा! पचास लड़कियाँ चलती हों, उसमें इसके लड़के की बहू हो। अब उसमें इसने पाँच हजार की साड़ी दी हो। ऐसे सबको देखता है। उसमें यह मेरे लड़के की बहू, यह आया कहाँ से? समझ में आया? वह तो ज्ञेयरूप से पचास लड़कियाँ चलती हैं तो वे हैं, ऐसा जाने। उसमें यह मेरी, ऐसा आया कहाँ से? आहाहा! ऐई! पोपटभाई! उसमें भी वापस दृष्टिभेद। इसने पाँच हजार की साड़ी दी हो। छोर होता है न छोर? साड़ी के छोर में सोने के वे होते हैं न? क्या कहते हैं? पल्लू। वह पल्लू ऊपर रखे। दूसरों को दिखाने के लिये। पाँच हजार की हो, दस हजार की हो। बड़े गृहस्थ के पास होती है न? परन्तु दूसरे लड़के उसके ऊपर नजर करें, वह दूसरी दृष्टि है। और उसका ससुर ऐसा मानता है कि मेरे लड़के की बहू ने पाँच हजार की साड़ी पहनी है, वह बाहर आती है, ऐसा मानता है। आहाहा! मैंने पाँच हजार की साड़ी बनाकर दी, वह बाहर आती है। देखो! लड़के देखते हैं। वे दूसरी दृष्टि से देखते हों। यह जगत की भ्रमणा... आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं कि यह गुरु ऐसा माने कि ये शिष्य मेरे, ये आया कहाँ से? ऐसा कहते हैं। आहाहा! जीवरूप से पर हैं, उसे ज्ञेयरूप से जानता है। आहाहा! उसमें यह शिष्य मेरा और मैं उसका गुरु, यह आया कहाँ से? यह कहते हैं। ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि स्वस्वामीसम्बन्ध में राग नहीं आता, शरीर, वाणी, मन, लक्ष्मी, मकान

नहीं आते। मात्र मोक्षमार्ग की निर्मल पर्याय जो शुद्ध चैतन्य के अवलम्बन से प्रगट हुई दशा स्व में आती है, उसका स्वामी आत्मा, बस। वह पर्याय राग का कारण नहीं, निर्मल पर्याय ने व्यवहार राग उत्पन्न किया, ऐसा नहीं (और) व्यवहाररत्नत्रय ने निर्मल पर्याय उत्पन्न की, ऐसा भी नहीं। आहाहा! समझ में आया?

स्वस्वामीसम्बन्ध में तो बहुत (भरा है)। सम्बन्ध लिया है न? स्व-स्वामीसम्बन्ध, तो पर के साथ परज्ञेयसम्बन्ध, परज्ञेयसम्बन्ध। बस। स्वज्ञेय तो इस ओर रहा। अपना शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय तो स्व में रहे, तो स्वस्वामीसम्बन्ध और राग से लेकर सब चीज़ ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध, उसमें यह, मेरा यह सम्बन्ध आया कहाँ से? समझ में आया? जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव मेरा, ऐसा आया कहाँ से? धर्मी को ऐसा भाव, ऐसा विकल्प आता है परन्तु वह उसे ज्ञेयरूप से ज्ञान में जानता है। आहाहा! गजब बात है! षोडशकारण भावना भाय... क्या है पण्डितजी! दर्शनविशुद्धि। दर्शनविशुद्धि भावना भाय, सोलह तीर्थंकर पद पाय। प्रभु! सुन तो सही।

जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव भी तेरे ज्ञान का स्व नहीं, उसका तू स्वामी नहीं। आहाहा! यहाँ तो जहाँ हो वहाँ मैं... मैं... मैं... मैं... मैं.. मैं... मैं... उसका रक्षक, उसका भक्षक। आहाहा! वे कहते हैं कि आहार निश्चय से किया नहीं जा सकता, परन्तु व्यवहार से तो आत्मा आहार करे न? अरे! भगवान! यह प्रश्न अभी साधु में से आया था। आहार का। नहीं? ऐसा कि यह अभी के साधु ऐसा बोलते हैं कि भाई! आहार निश्चय से आत्मा नहीं कर सकता परन्तु व्यवहार से कर सकता है या नहीं? अरे! भगवान!

यहाँ तो निर्दोष आहार लेने का जो विकल्प-राग आया, उसे भी अपना मानना, वह विपरीत है। उस राग को भी ज्ञान के ज्ञेयरूप से जानने में आता है। ज्ञान में यह स्व है, ऐसा जाने तो मिथ्यादृष्टि है। ऐसी बात है। आहाहा! बारीक सूक्ष्मता से भिन्न करे। ऐसा मार्ग है, प्रभु! समझ में आया? कहो, हसमुख! यह पुत्र मेरा, स्त्री मेरी, पैसा मेरा, दुकान मेरी... मार डाला।

प्रभु तो ऐसा कहते हैं... स्वस्वामीसम्बन्ध की बात चलती है। अन्तिम शक्ति के बाद यह लिया है। आहाहा! तेरी शक्ति में तो ऐसी शक्ति पड़ी है कि उसमें वर्तमान निर्मल पर्याय वह स्व, गुण स्व, द्रव्य स्व—उसका स्वामी। बस, यहाँ मर्यादा रुक गयी। अब वहाँ रागादि आये वह स्व और स्वामीसम्बन्ध राग के साथ भगवान कहते हैं कि स्वस्वामीसम्बन्ध शक्ति के कारण पर के साथ हमारा सम्बन्ध है, ऐसा है नहीं। आहाहा! भारी मार्ग भाई! आहाहा! इन

सेठिया को पाँच-पचास करोड़, दो-पाँच-दस करोड़ हो फिर बैठे हों दो व्यक्ति। शाहूजी सेठ को मैंने कहा था। वहाँ फतेपुर में (कहा था)। शाहूजी आये थे न? चालीस करोड़ रुपये। फतेपुर आये थे। जयन्ती पर आये थे। वैसे नरम व्यक्ति हैं परन्तु अभी... फिर बैठे थे। ऐसे पाट पर हाथ रखकर नीचे बैठे। कोई नहीं था। मैंने कहा—सेठ! शाहूजी! यह जिन्दगी चली जा रही है, भाई! तुम पैसेवाले, इसलिए जहाँ हो वहाँ सामने रखे, सभा में प्रमुख बनाओ, सभा में प्रमुख ठहराओ, सेठ साहब को प्रमुख ठहराओ। उस सभा में जाकर प्रमुख होने में यह काल चला जाता है। अपने हित का काल चला जाता है। हमें कहाँ उनसे पैसा-वैसा लेना था। चालीस करोड़ हो या धूल हो। कहा, यह समय चला जाता है, भाई! बड़े व्यक्ति हों, इसलिए जहाँ-तहाँ सामने बैठावे। यह हमारे सेठ भगवानदास हैं, इन्हें जहाँ हो वहाँ बड़ा ठहरावे। उन्हें सेठ कहे। फतेपुर है न? वे तब अकेले आये थे। दोपहर को अकेले आये थे। ऐई! शाहूजी! इस परवस्तु में पैसे के माहात्म्य से तुम्हें सभा में बड़ा प्रमुख ठहरावे तो जहाँ-तहाँ सभा भराये, वहाँ तुम्हारा काल चला जाताा है, प्रभु! तुम्हारे हित की बात तो रह जाती है और इस अहित के मार्ग में सामने करते हैं। आहाहा! मोढा आगण को क्या कहते हैं? आगे रखते हैं, आगे करते हैं। सामने करते हैं अर्थात् सामने। ठीक। आहाहा!

प्रभु! सामने तो तेरी पर्याय, गुण और द्रव्य यह सामने है। आहाहा! उसमें राग को मुख्य करना, वह तेरी चीज़ में नहीं है। तेरे गुण में नहीं, तेरी निर्मल पर्याय में वह नहीं। निर्मल पर्याय अपनी है, राग अपना नहीं। आहाहा! अब अभी तो यह बड़ा झगड़ा है कि व्यवहार करते हैं, व्रत करते हैं, अपवास करते हैं, त्याग करते हैं, यह करते हैं-ऐसा करते-करते समकित होगा, निश्चय होगा। आहाहा! यह उपाय-उपेय में भी ऐसा आता है। गाथा है। उपाय-उपेय की शुरुआत करते हैं न, वहाँ व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पराकाष्ठा आती है न? यह तो वहाँ था, यह बतलाते हैं। पहला एकदम निश्चयस्वरूप सातवें गुणस्थान की भूमिका नहीं, तब उसे सम्यग्दर्शनसहित शुभराग होता है, उस शुभराग का पाक होते... होते... होते... अभाव करते-करते वीतरागता होती है। उपाय-उपेय में शुरुआत में यह लिया है। आहाहा! यह उपाय-उपेय। जिनेश्वरदासजी! यह उपाय-उपेय। इस गाथा के बाद आयेगा। संस्कृत में ऐसा पाठ है कि व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र की परम्परा के पाक से निश्चय होता है। इसका अर्थ कि जिसे अपने निश्चय आत्मज्ञान-दर्शन-चारित्र तो हुए हैं। अन्दर है, उपाय-उपेय की शुरुआत में है, परन्तु वहाँ आगे राग-भाग है, उसका नाश करते... करते... करते... वीतरागभाव होगा। तो व्यवहार के पाक से वीतरागभाव हुआ, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! अब यहाँ इनकार

करते हैं कि व्यवहार तेरी चीज़ नहीं है और उससे तुझे लाभ कहाँ से होगा ? समझ में आया ? आहाहा ! शास्त्र के अर्थ करने की पद्धति अपनी स्वच्छन्द दृष्टि से करे, ऐसा नहीं चलता। भाई ! यह तो वीतराग तीन लोक के नाथ सिर पर है। आहाहा ! गणधरों ने शास्त्र रचे, सन्तों आदर किये और केवलियों ने कहे। यहाँ कहते हैं, संस्कृत है। आ गया न ?

खण्डान्वय सहित अर्थ–'इह तत् चिद् वस्तु द्रव्यपर्ययमयं' देखा ! दोनों। अकेला द्रव्य यहाँ नहीं लेना। यहाँ प्रमाण का विषय लेना। समझ में आया ? क्यों ?—कि अनन्त शक्तिसम्पन्न द्रव्य जो वस्तु है, उसका भान हुआ तो वह अनन्त शक्तिसम्पन्न है, ऐसा आया। तो भान की पर्याय भी साथ में लेना है। समझ में आया ? **'द्रव्यपर्ययमयं अस्ति'** यह आत्मा द्रव्य-पर्यायमय है। अकेला द्रव्य यहाँ नहीं लेना। आहाहा ! सम्यग्दर्शन का विषय द्रव्य, परन्तु द्रव्य के साथ जो सम्यग्ज्ञान हुआ, वह द्रव्य और पर्याय दोनों को जानता है। समझ में आया ? निर्मलपर्याय, हों ! मलिनता की बात नहीं है। यह उसका अर्थ किया। **(इह) विद्यमान (तत्) पूर्वोक्त (चिद्वस्तु) ज्ञानमात्र जीवद्रव्य... 'चिद्'** अर्थात् ज्ञान। ज्ञानमात्र जीवद्रव्य। यहाँ ज्ञान की मुख्यता से कहा है न ? इसके ऊपर से तो अनेकान्त शुरु किया। कि तुम ज्ञान-ज्ञान करते हो तो एकान्त हो जाता है। उसमें सब गुणों की पर्याय नहीं आती। (तो कहते हैं) उसमें आ जाती है। इसलिए तो यह शक्तियों का वर्णन किया है। समझ में आया ?

जीवद्रव्य... द्रव्यपर्यायमय। आहाहा ! **'द्रव्यपर्ययमयं अस्ति'** देखो ! यहाँ द्रव्य-गुण-पर्यायमय जीवद्रव्य लिया। निर्मल अक्रम जो गुण है, उनकी क्रमवर्ती निर्मल पर्यायसहित द्रव्य-गुण-पर्याय का आत्मा लिया है। आहाहा ! पाठ वापस ऐसा है— **'द्रव्यपर्ययमयं'** आत्मा द्रव्य, उसमें अनन्त शक्ति और उनका परिणमन में भान हुआ, वह निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान की पर्याय, वह जीवद्रव्यमय। आहाहा ! वह द्रव्य-पर्यायमय। वह द्रव्य अपनी निर्मल पर्यायसहित। आहाहा ! समझ में आया ? आहाहा !

सवेरे पहले यह कहा कि गुणी आत्मा शुद्ध है, ऐसा भेद भी निकाल डालना। क्योंकि उसका त्रिकाल शुद्ध स्वरूप ही है। आत्मा शुद्ध, ऐसा भी भेद निकाल डालना। यह दृष्टि का विषय बतलाना है। समझ में आया ? यहाँ तो दृष्टि के साथ जो ज्ञान हुआ, उस ज्ञान में द्रव्यपर्यायमय जीवद्रव्य को जानता है। अकेली पर्याय है... यहाँ तो अनेकान्त है। पर्याय है ही नहीं, ऐसा कहते तो एकान्त हो जाता है। आहाहा ! यहाँ अनेकान्त सिद्ध करना है। द्रव्य भी है और पर्यायमय द्रव्य है। आहाहा !

जीवद्रव्य द्रव्य-गुण-पर्यायरूप है। एक ओर ऐसा कहते हैं कि पर्याय द्रव्य में प्रवेश नहीं करती। अभी कहा न? ऊपर-ऊपर रहती है। तथापि प्रमाणज्ञान के विषय में जीवद्रव्य पर्यायमय है। आहाहा! अब ऐसी बातें। अनेकान्त है। आहाहा! भगवान आत्मा पवित्र प्रभु, उसकी अनन्त शक्तियाँ जो यह सैंतालीस कहीं, वे सब पवित्र है और उनकी परिणति भी पवित्र है। ऐसा जीवद्रव्य पर्यायमय जीवद्रव्य है। आहाहा! वह सम्यक् प्रमाणज्ञान का विषय है, उसे यहाँ द्रव्यपर्यायमय कहने में आया है। दृष्टि के विषय की बात अभी नहीं है। समझ में आया? आहाहा! घड़ीक में कुछ, घड़ीक में कुछ (कहते हैं)। यह तो प्रमाण का विषय है न? और लोग एकान्त जो कहते हैं कि पर्याय है ही नहीं और वेदान्त कहता है कि पर्याय नहीं। बुद्ध कहता है कि पर्याय है, द्रव्य नहीं। यह एकान्त का निषेध करने के लिये जीवद्रव्य पर्यायमय है, ऐसा कहा। समझ में आया? आहाहा! ऐसा समझना... समझना... समझना... अकेला। आहाहा! यह समझना, वह करना नहीं है? आहाहा! परन्तु यह समझने की क्रिया तो उसे भासित नहीं होती। राग और बाह्य क्रिया करे तो कुछ करता हूँ, ऐसा भासित होता है। आहाहा!

श्रोता : व्रत, तप करे तो भासे।

पूज्य गुरुदेवश्री : तो भासित हो कि यह व्रत किये, शरीर सुखाया, आहार नहीं लिया, शरीर से ब्रह्मचर्य पालते हैं। यह सब बाहर का सूझे। आहाहा!

परमार्थ वचनिका में कहा है कि आगम की पद्धति का भाव व्यवहार का जगत को सरल है, वह इसे भासित होता है परन्तु अध्यात्म का व्यवहार इसे भासित नहीं होता। अध्यात्म का व्यवहार अन्दर निर्मलपर्याय अध्यात्म का व्यवहार है। समझ में आया? परमार्थ वचनिका में मोक्षमार्गप्रकाशक में है। परमार्थ वचनिका है, उसमें है। आहाहा! आगम की व्यवहार शैली जो है, वह लोगों को सरल पड़ती है। दया, व्रत, भक्ति, पूजा, दान। परन्तु अध्यात्म के व्यवहार की भी उसे खबर नहीं है। अध्यात्म का निश्चय तो द्रव्य है परन्तु द्रव्य के आश्रय से मोक्षमार्ग की जो वीतरागी पर्याय उत्पन्न होती है, वह व्यवहार है। अध्यात्म का व्यवहार वह है। आहाहा! समझ में आया? उसे प्रवचनसार में आत्मव्यवहार कहा है और रागादि का व्यवहार मनुष्यव्यवहार कहा है। मनुष्य का व्यवहार, संसारी का व्यवहार है। आहाहा! समझ में आया?

ज्ञेय अधिकार की ९४ गाथा। पहली। ज्ञेय अधिकार है न? ज्ञान अधिकार ९२ गाथा में पूरा किया, पश्चात् ९३-९४। आहाहा! भगवान आत्मा... यह तो द्रव्यपर्यायमय आया न,

उसकी बात चलती है। वस्तु जो त्रिकाली प्रभु है, उसके आश्रय से, अवलम्बन से निर्मल पर्याय हुई, वह निर्मल पर्याय ही अध्यात्म का व्यवहार और आत्मव्यवहार है; राग, वह आत्मव्यवहार नहीं। आहाहा! समझ में आया? ज्ञेय अधिकार में (यह बात है)। ज्ञेय-आत्मज्ञेय के अधिकार में... आहाहा! राग, वह आत्मा का व्यवहार ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? आत्मव्यवहार तो उसे कहते हैं कि राग है, उसे जाननेवाली निर्मल पर्याय है, वह आत्मव्यवहार है और राग है, वह मनुष्यव्यवहार, संसारी का व्यवहार, भटकने का व्यवहार है। आहाहा! ऐसा है। आहाहा!

ज्ञानमात्र जीवद्रव्य 'द्रव्यपर्ययमयं अस्ति' है। आत्मद्रव्य, **द्रव्य-गुण-पर्यायरूप है।** अकेला द्रव्यमय अस्ति है और अकेली पर्यायमय अस्ति है, ऐसा नहीं; तथापि द्रव्य-गुण और पर्याय जीवद्रव्य की अस्ति है तो वे तीनों सम्यग्दर्शन का विषय है—ऐसा नहीं। द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह भी विकल्प है। निर्विकल्प अभेद दृष्टि करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा! इस नियमसार के आवश्यक अधिकार में आता है। समझ में आया? द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करके विकल्प उठाना, वह आवश्यक नहीं, वह पराधीन है। आहाहा! यहाँ तो द्रव्य-गुण-पर्याय जो निर्मल प्रगटी, उसे प्रमाण का विषय बताकर द्रव्य और पर्याय दोनों इसकी चीज़ है, यह ऐसा अनेकान्त सिद्ध करना है। समझ में आया? आहाहा!

द्रव्य-गुण-पर्यायरूप है। भावार्थ इस प्रकार है कि जीवद्रव्य का द्रव्यपना कहा। कैसा है जीवद्रव्य? देखो! **कैसा है जीवद्रव्य? 'एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं'** आहाहा! जीवद्रव्य कैसा है? कि **पूर्वोक्त प्रकार 'क्रम'** है न? **'क्रम'** अर्थात् पर्याय का कालकृत भाग। **पहला विनशे तो अगला उपजे...** पहली पर्याय जाए, बाद की पर्याय उत्पन्न हो। यह क्रमसर कालकृत भेद। पर्याय में कालकृत भेद पड़ता है। एक समय की पर्याय दूसरे समय में नहीं है, तो कालकृत भेद में पर्याय क्रम में आती है। आहाहा! ऐसा एक-एक का।

और 'अक्रम' द्रव्य के **विशेषणरूप...** द्रव्य विशेष, उसका विशेषण गुण। ज्ञान-दर्शन-आनन्द एक साथ अक्रम। यह द्रव्य विशेष का विशेषण-यह गुण और द्रव्य की क्रमवर्ती कालकृतभेद, वह पर्याय। बहुत सूक्ष्म बात, बापू! भाई! आहाहा! सन्तों ने काम किया है न! मार्ग सरल कर दिया है। बहुत सादी भाषा में इससे पकड़ा जा सके ऐसी शैली ली है। समझ में आया? **'क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं' पूर्वोक्त प्रकार... 'क्रम'** अर्थात् कालकृत

भेद। **पहला विनशे तो अगला उपजे और 'अक्रम' विशेषणरूप है...** अर्थात् गुण। **परन्तु न उपजे, न विनशे, इस रूप है...** यह ध्रुव। गुण है, वह न उपजे, न विनशे। पर्याय है, वह उपजती-विनशती है। समझ में आया? यहाँ निर्मलपर्याय की बात है, हों! निर्मलपर्याय भी उपजे-विनशे, उपजे-विनशे, उपजे-विनशे, उपजे-विनशे, व्यय-उत्पाद, व्यय-उत्पाद। गुण, वह न उपजे, न विनशे। यह अक्रम है। ऐसा है।

परन्तु न उपजे, न विनशे-इस रूप है, अंशरूप भेदपद्धति उससे... परिणति की अंशरूप भेदपद्धति। क्रम की पर्याय की। भेद है न, भेद? **अंशरूप भेदपद्धति उससे प्रवर्त रहा है...** परिणति में प्रवर्त रहा है। पर्याय में अंशभेद से प्रवर्त रहा है। आहाहा! अंशीरूप से तो द्रव्यवस्तु और पर्याय अंशरूप से परिणमन कर रहा है। समझ में आया? ऐसा उपदेश अब! इसमें कहाँ...

श्रोता : अल्प काल में कल्याण हो ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा है। बात तो यह है। आहाहा! कठिन लगे, न सुनी हो, इसलिए एकदम समझने में मुश्किल पड़े परन्तु यह करने से ही छुटकारा है। इसके बिना जन्म-मरण नहीं मिटेंगे, प्रभु! समझ में आया? आहाहा!

'विवर्त' आहाहा! है? **'चित्रं'** अर्थात् विचित्र प्रकार। परम अचम्भा। अचम्भा अर्थात् कि द्रव्य ध्रुव रहे, उसमें परिणति अचम्भा है। यह ध्रुव और यह परिणमे, ऐसा। क्षण-क्षण में भिन्न-भिन्न परिणति, वह अचम्भा है। अथवा **'चित्रं'** विचित्रता है। पर्याय गुण की विचित्र परिणति है। **भावार्थ इस प्रकार है कि...** पश्चात् भावार्थ लेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)